साहित्य-तरंग
सद्गुरुशरण अवस्थी

साहित्य-तरंग

हिंदी साहित्य का एक अध्ययन

और

उसकी प्रगति पर कुछ विचार

लेखक

सद्गुरुशरण अवस्थी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड,

इलाहाबाद

१९५९

मूल्य ५)

स्वर्गीय बाबू हरिकेशव घोष (पटल बाबू)

अपने परम हितैषी और मित्र
स्वर्गीय पटल बाबू की
पुण्य स्मृति में

समर्पित
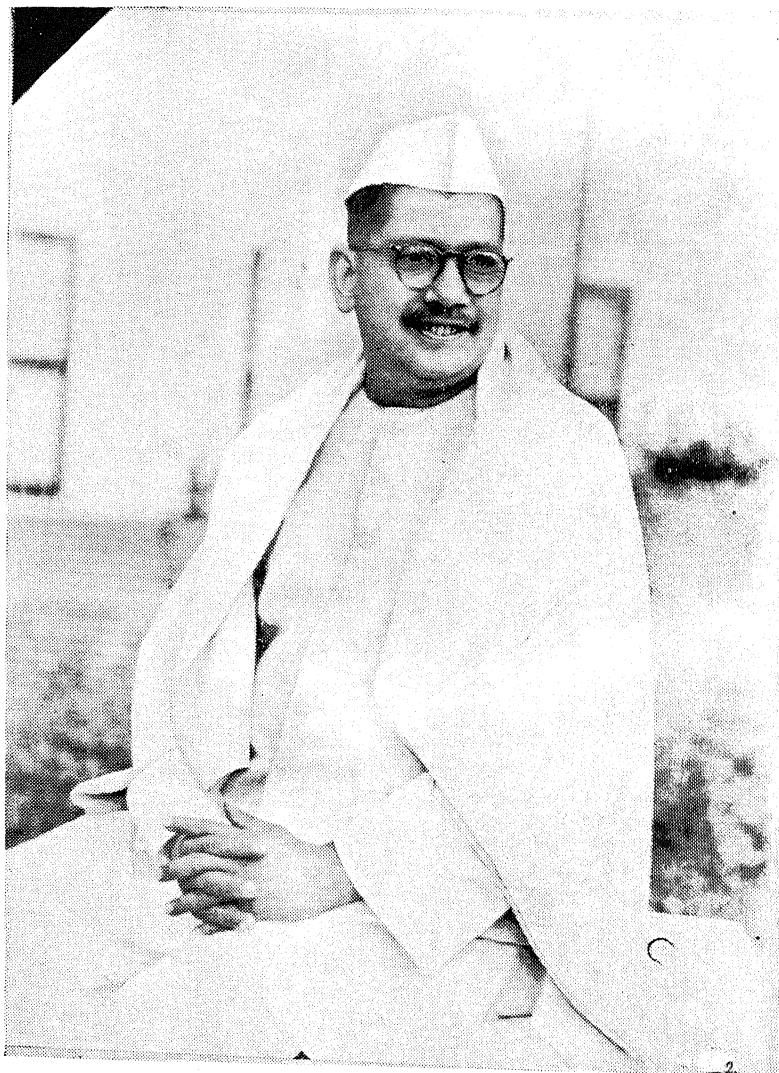
लेखक श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी

साहित्य-तरंग की चरचा

पटल बाबू कितने साहित्य-मर्मज्ञ थे यह उनके साथी भली प्रकार जानते हैं। मुझे तो उनके पास घंटों बैठकर साहित्यिक चरचा करने का अवसर मिला है। अपने अवसान के थोड़े समय पूर्व वे कानपुर पधारे थे और मुझे उनके सत्संग का पर्याप्त अवसर मिला था। इसी समय उन्होंने मुझे एक ऐसी साहित्य-समीक्षा संबंधी पुस्तक लिखने की प्रेरणा दी जिसका थोड़ा-बहुत स्वरूप 'साहित्य-तरंग' में उतारने का मैंने प्रयास किया है। उन्हें इसका विश्वास था कि इस कार्य को मैं उचित रूप से सम्पादित कर सकूँगा। मेरे लेखों और ग्रंथों को वे हमेशा पढ़ लिया करते थे और मिलने पर उन पर अपना मत व्यक्त करते थे। मुझे इसका स्वयं बड़ा आश्चर्य था कि इतने व्यस्त और बहुमुखी कार्य-क्रम के बीच उन्हें कुछ मित्रों की कृतियों को पढ़ने का अवकाश कैसे मिल जाता था। मैं इसे फिर स्वीकार करता हूँ कि स्वर्गीय पटल बाबू ही 'साहित्य-तरंग' के प्रेरक थे और उनके ही संकल्पों को इस पुस्तक में साकार करने की चेष्टा की गई है। यदि वे आज होते तो वे ही कह सकते थे कि उनकी प्रेरणाएँ कहाँ तक सफलतापूर्वक ग्रहण की जा सकी हैं।

'साहित्य-तरंग' में कोई बड़े भारी अध्ययन का बोझ और गौरव है, ऐसा मेरा आग्रह नहीं। उसमें सर्वत्र ही निर्मल विवेक और पक्षपात-शून्य तर्क मिले, ऐसा भी मैं नहीं कह सकता। कुछ प्रबंधों में विचारों और भावों की आवृत्ति भी मिलेगी, क्योंकि वे समय-समय पर लिखे गये हैं। यह पुस्तक काफी समय पूर्व तैयार हो चुकी थी। इसके कुछ प्रबंध तो मित्रों ने पढ़े भी होंगे। कुछ अनिवार्य कारणों से इसके छपने में दो वर्षों से अधिक लग गया। अतएव, सम्भव है, उसमें नितांत नवीन समीक्षा-पद्धतियों के नये प्रकाश का यथेष्ट आलोक न मिले। मुझे एक ऐसे शिक्षालय के मुख्याचार्य-पद पर विगत कई वर्षों से कार्य करना पड़ रहा है जिसमें लगभग सैंतालीस सौ छात्र हैं और जो इस प्रदेश का सबसे बड़ा इंटरमीडियट कालेज है। हर समय जन-सम्पर्क की विवशता, संस्था के विकास के लिए निर्माण-योजनाओं की व्यवस्था, छात्रों का अनुशासन, अध्यापकों की कार्य-विधि और सुख-शांति के प्रबन्ध, शासन से सम्पर्क रखने की आवश्यकता और प्रति वर्ष प्रदेश में समस्त बड़े-बड़े शिक्षालयों में सबसे उत्तम परीक्षा-फल निकालने की परम्परागत परिपाटी—इन सब व्यस्तताओं से मुझे बहुत कम समय साहित्य के अध्ययन

के लिए मिल पाता है। फिर भी अपने पुराने अध्ययन को थोड़े बहुत नये अनुशीलन ने बूढ़े शरीर की बुद्धि के सहारे जो व्यवस्था दे पाई है वह आपके सामने है। यह भी पहाड़ों पर गर्मियों की छुट्टियों में बन पड़ा है।

कृपालु पाठक यह समझ लें कि 'साहित्य-तरंग' के प्रबंधों में लेखक की अपनी साहित्यिक मान्यताओं की तरंगें ही अधिक मिलेंगी। उसने जो कुछ भी जैसे समझा है, उसी की व्याख्या की है। अतएव साहित्य-मनीषियों की धारणाओं से उसके सब विचार मेल खा सकें, यह सम्भव नहीं और न इस ओर लेखक का प्रयास ही है। उसका यह आग्रह भी नहीं है कि उसके निष्कर्ष मान्य हैं। विचारों और निष्कर्षों में यदि बल है और उनमें त्रिकालव्यापी शाश्वत तत्त्व हैं तो वे किसी व्यक्ति, राष्ट्र अथवा जाति की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। वे स्वयं अपनी शक्ति पर टिके रहते हैं और उन पर किसी महान् विभूति की मुहर लगाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

यदि इस पुस्तक में साहित्य-मर्मज्ञों को कोई नई दिशा, कोई नई परिपाटी अथवा कोई उत्तम निष्कर्ष दिखाई दे तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

'जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं,
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।'

सद्गुरुशरण अवस्थी

विषय-सूची

पहला भाग

दूसरा भाग

तीसरा भाग

चौथा भाग

पहला भाग

कला और साहित्य

कला का जन्म

दृश्य जगत परिवर्तनशील है यह हम स्पष्ट देखते हैं। परिवर्तन को स्वीकार करना विकासवाद को मानना है। भौतिक विकास के साथ-साथ चेतना का विकास भी होता चलता है। चेतना चिंतना बनकर बुद्धि और विवेक को पोषित करती है। चिंतना उलझनों को जन्म देती है और उलझनों के सुलझाव में रस लेती है। उलझाव और सुलझाव के इस व्यापार में उसका विकास होता है और इनके द्वंद्व में स्रष्टा और सृष्टि का रूप स्पष्ट होता चलता है। सबसे बड़ा प्रश्न जो चिंतना के सामने युगों से खड़ा है वह सृष्टि का रहस्य है।[१] समस्त निसर्ग की उत्पत्ति और उसके लय का कारण और केंद्र ढूँढ़ निकालने के प्रयास में चिंतना ने विज्ञान को जन्म दिया और विज्ञान के आज तक के इतिहास की विफल गाथा में यही सफल प्रयास की प्रेरणा दिखाई देती है। खंडन-मंडन, तर्क-वितर्क, प्रतिपादन और मीमांसा—सभी उपादानों को बुद्धि ने विवेक को बल देने के लिए ढूँढ़ निकाला। विज्ञान का यह सारा प्रयास बाहिरी जगत में हल ढूँढ़ने का प्रयत्न है। जब चिंतना पूरी-पूरी अंतर्मुख होकर इसी हल का अन्वेषण करती है तो दर्शन-शास्त्र अपनी समस्त शाखाओं के साथ सामने आता है। अस्तु निसर्ग के रहस्य को दृश्य-जगत में, भौतिक उँगलियों से सुलझाने का नाम विज्ञान है और वास्तविकता के रहस्य की सहेतुक व्याख्या का नाम विज्ञान शास्त्र है। उसी प्रकार प्रकृति के रहस्योद्घाटन के लिए मानसिक जगत में, शुद्ध चिंतना के सहारे, 'कोऽहम्' 'कस्त्वम्' के उत्तर में हम जिस विस्तार तक पहुँचते हैं उसे दर्शन कहते हैं और निसर्ग के रहस्य की शुद्ध मानसिक व्याख्या का नाम दर्शन शास्त्र है।

मन सृष्टि से लेकर सृष्टिकर्ता तक की इस उभय प्रकार की व्याख्या से ही परितुष्ट नहीं होता। वह सृष्टा का उत्तराधिकारी बनकर स्वयं सृजन करता है और फिर अपनी सृष्टि की व्याख्या भी करता है। मानव सृष्टि विधाता का प्रयास है अतएव उसकी व्याख्या विज्ञान अथवा दर्शन है परंतु मानवीय प्रयास की सृजन विधि की मीमांसा का नाम कला है। अपनी घोर ऐहिक आवश्यकताओं के कारण ही मानव ने

---

[१] "पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति"

निर्माण-कार्य आरम्भ किया है। आतप और शीत, वर्षा और बयार से अपनी 'झीनी चदरिया' की रक्षा के लिए ही उसने घर बनाये। 'स्थिति धारणा' की नियोजना से ही उसने आखेट विधि, फिर कृषि विधि और फिर तंतुवाय व्यवसाय को जन्म दिया। अतएव कला का स्थूल और आदिम रूप इन्हीं ऐहिक आवश्यकताओं के सँजोने में उत्पन्न हुआ। परंतु कला इस शारीरिक उपयोग से आगे बढ़ चुकी है। ऐहिक आवश्यकताओं में समय के साथ वैविध्य और अनेकरूपता आई अतएव भौतिक साधनों में भी उनकी योजना परमावश्यक हुई। इस व्यापार ने कला के स्वरूप को विकसित किया। उपयोगिता ऐहिकता से ऊपर उठकर मानसिक जगत् तक पहुँची अतएव कला को मानसिक उपयोगिता और आवश्यकता की निबंधना भी करनी पड़ी। साधनों में भौतिक उपकरणों के स्थान में मानसिक उपकरणों की योजना होने लगी। कला ललित-कला बनी। आगे चलकर कला वह चातुरी रह गई जिसके द्वारा भौतिक पदार्थों अथवा मानसिक उपकरणों में वह विशेषता आ जाय कि मानव कृति का महत्त्व बहुत बढ़ जाय। इस विशेषता को सौंदर्य संज्ञा मिली।[१] जिस प्रयास से मानव कृति में सौंदर्य की योजना की जाती है उसको ही आजकल कला कहते हैं। अतएव कला मानव कृति की सहेतुक व्याख्या बनी।

भारतीय ग्रंथों में कला की चर्चा

भारतीय ग्रंथों में कला शब्द का प्रयोग बराबर मिलता है। चौसठ कलाएँ अथवा सोलह कलाएँ विधि चातुरी की ही व्याख्याएँ हैं।[२]

संस्कृत ग्रंथों में 'कला' शब्द कई विशेष अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। चंद्रमा की सोलह कलाएँ प्रसिद्ध हैं। उनके नाम किसी भी ग्रंथ में मिल सकते हैं। पुराणों के अनुसार चंद्रमा में अमृत का आवास है। शुक्ल पक्ष में वह कला कला (अर्थात् थोड़े थोड़े भाग द्वारा) बढ़ता है। कृष्ण पक्ष में उसकी संचित कला राशियाँ देवतागण एक एक करके पी लेते हैं। अग्नि, सूर्य, विश्वेदेवा, वरुण, वषट्कार, इंद्र, देवर्षि, अज एक-

---

[१] सौंदर्य लावण्य का पर्य्यायी है और वह तरल और अग्राह्य है—

मुक्ताफलानां छायासु तरलत्वमिवान्तर।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

[२] 'कल' और 'कला' शब्द का सानिध्य है। 'कं' (सुखम्) लाति (ददाति आदत्तेवा) इति कलम्। कल कल नाद उस शब्द को कहते हैं जिसमें अल्हाद, मनोहरता और रमणीयता तो हो परंतु अर्थ समझ में न आवे। नदियों और पक्षियों की कल कल ध्वनि प्रसिद्ध है।

पात, यम, वायु, उमा, पितृगण, कुबेर, पशुपति तथा प्रजापति क्रमशः पंद्रहों कलाओं को एक एक करके पान करते हैं। सोलहवीं कला ओषधियों में प्रवेश कर जाती है जिसके आहार से पशुओं में दूध होता है और मानव को आहुति के लिए घी मिलता है। चंद्रमा को कलापूर्ण होने के कारण ही कलानाथ कहा है।

सूर्य के बारहवें भाग को भी कला कहते हैं। वास्तव में सूर्य की बारह संक्रांतियों के कारण सूर्य के बारह नाम हैं। जायसी एक स्थल पर लिखते हैं—

अब दस मास पूरि भई घरी।
पद्मावति कन्या अवतरी।
जानो सुरज किरन हुत गढ़ी।
सूरज कला घाट वह बढ़ी॥

इसी प्रकार अग्नि कुंड के दस भागों में से एक को कला कहते हैं। राशि के अंशों को भी कला कहते हैं। उपनिषदों के अनुसार पुरुष के देह के सोलह अंश व उपाधि को भी कला कहते हैं। चिकित्सा शास्त्र के अनुसार शरीर के मांस, रक्त, मेद आदि स्वरूपों को भी कला संज्ञा दी गई है। छंद शास्त्र (पिंगल) में मात्रा को भी कला कहते हैं। मानव शरीर के आध्यात्मिक विभाग भी संख्या में सोलह गिने जाते हैं। पाँच ज्ञान, पाँच कर्म तथा पाँच प्राण और मन ये सोलह होते हैं। पाशुपत दर्शन के अनुसार शरीर के अंश वा अवयव को भी कला कहते हैं। उसमें कला दो प्रकार की मानी गई है एक कार्य्याख्या, दूसरी कारणाख्या। इनके भेद भी गिनाये हैं। वैसे कला शब्द का प्रयोग शोभा, तेज, छटा के अर्थ में भी होता है। मंत्र हव्य और श्रद्धा ये वेदों के तीन अंग कहलाते हैं। इन्हें वेदों की कला कहते हैं। कला एक प्रकार का वर्णवृत्त भी होता है। जैनियों के दर्शन ग्रंथों में भी कला शब्द का पारिभाषिक प्रयोग मिलता है। वह अचेतन द्रव्य जो चेतन के अधीन रहता है उसे कला कहते हैं।

चौसठ कलाएँ

संस्कृत में कला के अनेकार्थी प्रयोग के कुछ रूप ऊपर दिखाये गये हैं; परंतु आजकल इस शब्द का जिस भाव में प्रयोग होता है वह केवल कार्य को नैपुण्य के साथ सम्पादित करने के ही अर्थ में होता है। कामशास्त्र में जहाँ चौंसठ कलाओं को गिनाया गया है वहाँ भी कार्य-सम्पादन-कौशल ही को कला संज्ञा मिली है। गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य तथा आलेख्य अर्थात् चित्रकारी ये पाँचों तो प्रसिद्ध कलाएँ हैं, तिलक के साँचे बनाना (विशेषकच्छेद्य) चावल और फूलों का चौक पूरना (तंडुल-कुसुमावलि-विकार)

फूलों का विस्तर बनाना (पुष्पास्तरण) इत्यादि भी चौंसठ कलाओं में हैं। शरीर शृंगार और स्वच्छता के कौशल की भी कलाएँ हैं। 'दशनवसनांगराग' उसी को कहते हैं। 'मणि-भूमिका (कर्म)' वास्तव में समयानुकूल घर सजाने को कहते हैं और उसी के साथ 'शयन-रचना' (पलंग बिछाने की कला) भी एक कला है। 'उदकवाद्य' तो जल तरंग बजाने की कला हुई परंतु ग्रीष्म काल में किस नैपुण्य और सावधानी से गुलाब जल छिड़का जाता था उस कला को 'उदकघात' कहते हैं। 'चित्रयोग' वास्तव में अवस्था परिवर्तन की कला है और देवताओं तथा प्रिय जनों को पहनाने के लिए माला गूँथने की कला को 'माल्य-ग्रंथ विकल्प' कहते हैं। यह जो आजकल रमणियाँ और कन्याएँ अपनी वेणी को पुष्पमालों के साथ गूँधती हैं वह भी पुरानी परिपाटी है और उसे 'केश-शेखरापीड़-योजन' नामक कला कहते थे।

अभिनय करने के लिए अथवा यों ही भावारूढ़ होकर देश काल के अनुसार वस्त्र आभूषण आदि पहिनने को 'नेपथ्ययोग' कहते हैं। 'कर्णपत्र भंग' में कर्णाभूषणों के बनाने तथा गंधयुक्त सुगंधित पदार्थ बनाने का नैपुण्य है। जिन विधानों से ऐसे पदार्थ बनते हैं जिनके प्रयोग से कुरूप भी सुरूप बन सकता है उन्हें 'भूषणभोजन', 'इंद्रजाल' तथा 'कौचुमारयोग' कहते हैं। 'हस्तलाघव' तो एक कला है ही अनेक प्रकार की तरकारियाँ और भोजन की सामग्री बनाने की भी एक कला है जिसे 'चित्रशाकापूपभक्ष्य-विकार-क्रिया' कहते हैं। यह वास्तव में सूप कर्म कौशल है। इसी प्रकार पीने के लिए अनेक प्रकार के शर्बत, अर्क और आसव आदि को सुंदरता से बनाने को 'पानकरसरागासव-योजन' कहते हैं। सीने-पिरोने के कौशल को 'सूची कर्म कला' कहते हैं और काढ़ने इत्यादि को 'सूत्र कर्म' कहते हैं। पहेली बनाना और बुझाना दोनों ही में नैपुण्य समझा जाता था। उसे 'प्रहेलिका' कला कहते हैं और आज जो छात्रों में अंताक्षरी का कौशल देखने में आता है उसे 'प्रतिमाला' कहते हैं। समीक्षक जिस नैपुण्य के साथ कठिन शब्दों का अर्थ ग्रहण कराता था उसे 'दुर्वाचक योग' कहते हैं। पुस्तकाध्ययन की भी एक शास्त्रीय परिपाटी थी। उसे 'पुस्तकवाचन कला' कहते थे। इसी प्रकार अभिनय देखने और दिखाने को 'नाटिकाख्यायिका-दर्शन' कहते हैं। 'काव्यसमस्यापूर्ति' भी चौंसठ कलाओं में एक समझी जाती थी। शुद्ध मानसिक प्रयोग की और भी कलाएँ हैं। नेवाड़, बाध वा बेंत से चारपाई, मोढ़े आदि बिनने के नैपुण्य को 'पट्टिकावेत्रवाणविकल्प' कहते हैं। विवाद और हेतुवाद की चातुरी को 'तर्ककर्म' कहते हैं। बढ़ई और संगतराश आदि के कार्य को 'तक्षण' कहते हैं। 'वास्तुकला' भी चौंसठ कलाओं में एक गिनी जाती है। सोने चाँदी तथा रत्नों की परीक्षा में जिस चातुरी की आवश्यकता होती है उसे 'रूप्यरत्नपरीक्षा'

कहते हैं। 'धातुवाद' द्वारा कच्ची धातुओं को अलग और स्वच्छ किया जाता है। रत्नों के रंगों के ज्ञानवाली कला को 'मणिराग-ज्ञान' कहते हैं। खानों का पता जिस साधना से लगता है उसे 'आकर-ज्ञान' कहते हैं। वृक्षों का ज्ञान और उनका चिकित्सा में प्रयोग तथा उनके रोपने के साधन यह सब 'वृक्षायुर्वेदयोग' कहलाता है।

इसके अतिरिक्त विनोद के नाना साधनों के नैपुण्य की कला भी चौंसठ कलाओं में है। 'मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध विधि' तथा 'शुक-सारिका-प्रलापन' (पढ़ाना) भी कलाएँ हैं। मानव शृंगार की योजनाओं की भी कलाएँ हैं। उबटन लगाना तथा हाथ-पैर सिर दबाना केश मलना इत्यादि को 'उत्सादन' और 'केशमार्जन-कौशल' कहते हैं। 'अक्षर मुष्टिका कथन' भी एक कला है। विदेशी भाषाओं के सीखने की निपुणता को 'म्लेच्छित कला विकल्प' और प्राकृतिक बोलियों को जानना 'देशभाषा-ज्ञान' कहलाता है। दैवी लक्षणों का ज्ञान जैसे बादल की गरज, बिजुली की चमक-द्वारा भावी घटनाओं के लिए भविष्यद्वाणी करना भी एक कला है और इसे 'पुष्पशकटिकानिमित्त-ज्ञान' कहते हैं। यंत्र निर्माण कौशल को 'यंत्रमातृका' कहते हैं। स्मृति-शक्ति को बढ़ाना, दूसरे की पठित सामग्री को तुरंत स्मरण कर लेना दूसरे का अभिप्राय समझ कर आशु कविता करना इत्यादि को 'धारणमातृका', 'सम्पाठ्य' तथा 'मानसी काव्य-क्रिया' कहते हैं। 'क्रिया विकल्प' वास्तव में क्रिया के प्रभाव को पलटने की कला है। चोरी, छल अथवा ऐय्यारी नामक कौशल को 'छलितकयोग' कहते हैं। 'अभिधानकोष-छंदोज्ञान' भी एक कला है और 'वस्त्रगोपन' भी एक कला है। जुआ खेलने की चातुरी को 'द्यूतविशेष' कहते हैं और पासा आदि फेंकने के नैपुण्य को 'आकर्षणक्रीडा' कहते हैं। बच्चों के खिलाने की कला को 'बालक्रीडाकर्म' कहते हैं तथा व्यवहार और शिष्टाचार को 'वैनायिकी विद्या ज्ञान' कहते हैं। इसी प्रकार 'वैजयिकीविद्या-ज्ञान' और 'वैतालिकीविद्या ज्ञान' भी कलाएँ हैं।

ऊपर चौंसठ कलाओं की सरसरी व्याख्या केवल इसलिए की गई कि भारतीय मनोभाव में कला की क्या मीमांसा थी, इसका दिग्दर्शन हो जाय। जहाँ कहीं भी मानव प्रयास में नैपुण्य चातुरी, अथवा असाधारणता दिखाई दी वहीं प्रयास विशेष के नाम पर कला का नामकरण किया गया। आज दिन विषयों की जानकारी विज्ञान के अंतर्गत समझी जाती है उन्हें भी कला नाम से ही बोध किया गया है। परंतु विज्ञान के प्रयोगात्मक-नैपुण्य की ओर ही ध्यान है उसके ज्ञान-तत्त्व की ओर नहीं। निपुणता और नैतिकता एक ही रेखा पर सर्वत्र नहीं रहती अतएव अनैतिक व्यापारों में भी जहाँ नैपुण्य दिखाई दिया उसको कला संज्ञा मिली। ऊपर गिनाई हुई चौंसठ कलाओं में कई

ऐसी कलाएँ हैं जो किसी प्रकार से भी नैतिक नहीं कही जा सकतीं। कोष में भी कला का अर्थ छल और प्रवंचना भी लिखा गया है।

ललितकलाएँ

कलाओं का सबसे उत्तम रूप ललितकलाएँ हैं। ललितकलाएँ अँगरेजी के Fine Arts शब्द का सीधा अनुवाद है और उनकी व्याख्या भी अँगरेजी ग्रंथों से ली गई है। भारतीय परम्परा में ऐसा कोई भेद नहीं है। यहाँ ललित और अललित दो प्रकार की कलाएँ नहीं हैं। वास्तव में Fine शब्द का ललित अनुवाद भी सुबोध नहीं। फिर भी यह शब्द अब रूढ़ि हो गया है और वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला इन पाँचों कलाओं के लिए प्रयुक्त होता है। इनके प्रसिद्ध व्याख्याता ने इनमें ऊँची-नीची श्रेणी-विभाजन भी किया है। जिस कला में जितने अधिक मूर्त आधार की आवश्यकता होती है उतनी ही वह कला निम्न स्तर की बतलाई गई और जितना न्यून मूर्त आधार का प्रयोग होता है उतना ही वह कला उत्तम प्रमाणित की गई। अँगरेज व्याख्याता ने इसी सिद्धांत के अनुसार वास्तुकला को सबसे हेय और काव्यकला को सर्वोत्तम स्थान दिया है। वास्तुकला के निर्माण में ईंट पत्थर गारा चूना इत्यादि जितने पदार्थों की आवश्यकता होती है उनमें भौतिक नाप-जोख की लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई तीनों प्रत्यय रहते हैं अतएव उनको नापकर आकार देने में कोई अधिक कौशल की अपेक्षा नहीं होती। ऐसी कोई सुविधा काव्यकार अथवा संगीतकार के सामने नहीं होती। मूर्तिकार को वास्तुकार से श्रेष्ठ इसलिए बतलाया गया कि उसमें वास्तुकार की अपेक्षा सजीवता की अनुरूपता लाने का प्रयास कलाकार को करना पड़ता है। सजीवता में प्रतिक्षण की संचरणशीलता रमण करती है जिसके उपादान जड़ पदार्थ, मिट्टी, पत्थर, लोहा अथवा उस धातु में नहीं मिलते जिससे मूर्ति बनाई जाती है। चित्रकार के पास लम्बाई-चौड़ाई तो है पर मुटाई का नियोजन रंग द्वारा ही करना पड़ता है अतएव यह वास्तुकला और मूर्तिकला दोनों से उत्तम कही गई। संगीत-कला में तूलिका और रंग का भी वाह्य आश्रय मिट जाता है अतएव यह उससे भी श्रेष्ठ है। काव्यकला में उन स्वर साँचों का भी नितांत अभाव हो जाता है जिनके सहारे संगीत-कला का आविर्भाव होता है अतएव काव्य-कला सर्वश्रेष्ठ है। यही ललितकलाओं के संबंध में अँगरेज व्याख्याता का तर्क है।

इस तर्क में एक भारी भ्रम है। कलाकार के मन में पहले यह रूप जन्म लेता है जिसे वह वाह्य साधनों द्वारा व्यक्त करता है। साधनों की सफलता और निर्बलता पर

आभ्यंतर के स्वरूप की महत्ता को तोलना शुद्ध भ्रम है। साधन तो स्वरूप-दान के लिए उपादान-मात्र है महत्ता तो कला की उस मूर्ति की है जो कलाकार के भीतर जन्म लेती है। यह उसी प्रकार की, थोड़ी बहुत बात हुई कि कहानी लिखनेवाला एकांकी लिखनेवाले से श्रेष्ठ है अथवा नाटककार उपन्यासकार से बड़ा होता है। देखना यह है कि नाटक में, उपन्यास में, एकांकी में अथवा आख्यायिका में लिखा क्या गया है। उनमें कला के कितने महान रूप को पकड़ा गया है और उसे कैसे व्यक्त किया गया है। ठीक इसी प्रकार ताजमहल बनानेवाले अथवा उसकी कला को किसी भी प्रकार से चंदबरदाई अथवा बिहारी के पृथ्वीराज रासो से अथवा बिहारी सतसई से हेय नहीं कहा जा सकता।

एक प्रसिद्ध वास्तुकार किसी महान नगर का मानचित्र अपने भीतर कल्पित करता है। विद्यालयों, पुस्तकालयों, क्रीड़ाभूमियों, उद्यानों, चिकित्सालयों नहरों, सरों, बड़े और छोटे मार्गों, घंटाघरों, बाजारों, मिलों, कार्यालयों, न्यायालयों, आमोद-प्रमोद के स्थानों, रेलवे स्टेशनों, ट्रामवे तथा बसों की व्यवस्थाओं और न जाने कितने प्रकार के प्रयोजनों को बड़े और छोटे धनी और मध्यम वर्गीय नागरिकों के आवासों की व्यवस्था के बीच कल्पित करता है और मानचित्र में उन्हें बिठाता है। समस्त नगर अपने सारे वैभव के साथ उसकी प्रतिभा में जन्म लेकर कागज में उतरता है। उसे वह बना हुआ देखता है और उस महान् योजना master plan के अनुसार नगर भी बनकर प्रस्तुत होता है। यह कौन कहेगा कि इस वास्तुकार का अथवा उसकी कृति का स्थान नपी तुली शब्द स्थापना करनेवाले किसी कवि से हेय है। यह दूसरी बात है कि कविता पढ़ अथवा सुनकर जो तात्कालिक आनंद मिलता है वह वास्तुकार की इस महान् योजना में न मिले। परंतु विशालता और विशदता को समेटनेवाली व्यापक और अनेकरूपी व्यवस्था में रमण करने के लिए स्वभाव का परिष्कार चाहिए। यह अभ्यास उच्चाशयता और अध्यवसाय से आता है। सारांश यह निकला कि कोई भी कला अथवा कलाकार किसी से बड़ा अथवा छोटा नहीं है। यही बात पाँचों ललितकलाओं के लिए भी है। उपादानों अथवा उपकरणों की सुगमता से वस्तु का महत्त्व न बढ़ता है और न घटता। कला और कलाकार का महत्त्व उसकी देन की ऊँचाई से ही आँका जा सकता है।

संगीतकला के संबंध में भी कुछ चलताऊ चर्चा अप्रासंगिक न होगी। संगीत और काव्य अन्योन्याश्रित हैं। विवाह के समय वर वधू से कहता है—

'सामहम् ऋग्त्वम्'

अर्थात् मैं गान हूँ; ऋचा तुम हो।

में तुम उसी प्रकार से एक हैं जैसे गान और काव्य। अर्थात् एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं होती।

ऊपर की उक्ति केवल अवसर की सजावट नहीं है। काव्य वास्तव में पत्नी की रमणीयता रखता है। उसका रसास्वादन इंद्रियपरक है और जो स्थूल इंद्रियपरक नहीं भी है वह भी भौतिक सुखातिरेक-जन्य स्थिति का मनोरंजन करनेवाला है। हम ऊपर के लहलहाते फूलों को देख लेते हैं, पृथ्वी में शिराएँ गड़ी हैं और वहीं से सुंदरता को भोजन मिल रहा है यह देख नहीं पाते। इसी लिए भारतीय संगीत-मर्मज्ञों ने उन समस्त अर्थवाची नादों और उनके संयोगों से संगीत को अछूता करके उसे केवल स्वर और निरर्थक नाद के अवरोहों और आरोहों पर खड़ा कर दिया। स्वर के इन साँचों में काव्य की सरस इंद्रियपरक चोट के लिए कोई अवकाश नहीं और भौतिक गुद्‌गुदी के बिना भी नाद के स्वतंत्र आघात से नये प्रकार की आनंद-योजना कर दी। इन्हीं को तो हम पक्का संगीत कहते हैं जिनमें ऊँचे संगीत-रसिक रमण करते हैं। फिर काव्य कला को संगीतकला से ऊँचा क्यों कहा जाय? साम से ऋचा अथवा वर से वधू को बड़ा बनाने का प्रयास युक्तियुक्त नहीं।

और फिर शब्दों की सार्थकता स्वयं एक उपादान है जिसे कवि पकड़ता है। सार्थक शब्द समूहों और संकेतात्मक ध्वनियों का सहारा लिये बिना आभ्यंतर की प्रतिमा बाहर आ ही नहीं सकती। शब्द भी तो एक प्रकार का मूर्त आधार ही हुआ। यह दूसरी बात है कि इसका भौतिक रूप स्थूल नहीं है और उसमें लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई नहीं है। और फिर सोचना यह है कि शब्दों में अर्थत्व कहाँ से आया? अर्थ का प्रवेश नाद के सहारे ही शब्द में हुआ है। अथवा यों कहिए कि सार्थक नाद को ही शब्द कहते हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि संगीत और काव्य दोनों को प्राण नाद से ही मिलते हैं। फिर इन दो कलाओं में बड़े छोटे का निर्धारण बुद्धि संगत प्रतीत नहीं होता है।

साहित्य

साहित्य भी एक कला है।

साहित्य दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। उसका एक व्यापक अर्थ है जिसके अनुसार समस्त ज्ञातव्य तत्त्व साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने एक स्थान पर लिखा है—"ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम साहित्य है।" संचित वही पदार्थ किया जाता है जिसमें कोई विशेषता हो और कोष में उसी संचय को हम रखते हैं जिसका चिरंतन मूल्य हो। अतएव वह समस्त ज्ञान राशि, जो अपनी

विशेषताओं के कारण संचित किया गया है और चिरंतनता के कारण संगृहीत होता है, साहित्य कहलाता है। घर के जीने में कितनी सीढ़ियाँ हैं इस ज्ञान को कोई न संचित करता है और न स्मृति कोष इसे संगृहीत रखता है। अतएव यह साहित्य के महत्त्व का नहीं। किसी ज्ञान प्रत्यय के महत्त्व का निर्धारण और उसकी विशेषता का निर्धारण हमेशा सापेक्षिक हुआ करता है। सम्भव है, किसी वास्तुकार के समक्ष, घर के जीने की सीढ़ियों की संख्या का ही महत्त्व हो और उस प्रकार के घर के मानचित्र में सीढ़ियों की कितनी संख्या होनी चाहिए, यह संग्रह करने की वस्तु हो। अस्तु ज्ञान प्रत्यय अपने शुद्ध एकांत रूप में साहित्य का अंग नहीं, वह साहित्यकार के महत्त्व प्रदान से साहित्य में प्रवेश कर सकता है। परंतु जैसा ऊपर कहा गया है साहित्य शब्द का यह प्रयोग उसका व्यापक प्रयोग है।

'मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।' इस उक्ति में साहित्य के अंतर्गत, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, अंकगणित, जीवशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, काव्य, कथा, नाटक, इतिहास और इसी प्रकार के सारे साहित्य के स्वरूप सम्मिलित रहते हैं। ज्ञानराशि का यही संचित कोष है। भारतीय साहित्य में, काव्य को, बहुत समय तक, साहित्य के व्यापक स्वरूप के समकक्ष प्रयोग करते रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन ज्ञानराशि के संचित कोष के लिए ही कहा गया है। संस्कृत में समस्त शास्त्र छंदबद्ध थे भी और उनमें काव्य-छटा भी बिखरी रहती थी। काव्य के रचयिताओं को कवि कहा जाता था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सबका लक्ष्य आनंदप्राप्ति है। कवि का अर्थ है—कं० (सुखम्) वांति (विस्तारयंति) इति कवयः अर्थात् (सुख का विस्तार करनेवाले) इसीलिए कवि का अर्थ पंडित और ज्ञानी भी है। गीता में एक स्थान पर लिखा है—

'कवयोऽप्यत्र मोहितः'

यहाँ कवि ज्ञानी के लिए ही प्रयुक्त है छंद रचनेवाले तुक्कड़ के लिए नहीं।

परंतु साहित्य का एक सीमित अर्थ भी है। वही अर्थ आजकल सभी भाषाओं में प्रचलित है। पाठक अथवा दर्शक के भावरूप पर प्रभाव डालने के कारण जो आलेख उसकी हृदय वृत्ति को प्रधानतया परिचालित करता है उसे साहित्य कहते हैं। साहित्यिक शैली भी उस अभिव्यंजन प्रणाली को कहते हैं जो भावप्रधान हो। इस परिभाषा के अनुसार चिंतना प्रधान अथवा बुद्धिप्रधान विषय साहित्य के अन्तर्गत नहीं आते केवल रागप्रधान अथवा भावप्रधान विषय आते हैं। प्रधान रूप से काव्य, नाटक, कथा, कहानी,

गद्यकाव्य—इत्यादि विषय साहित्यिक विषय समझे जाते हैं। राग पूर्ण आकर्षक शैली में लिखे हुए प्रबंध, जीवनियाँ, इतिहास, आलोचनाएँ भी साहित्यिक विषय समझे जाते हैं। संक्षेप में, वे समस्त विषय जो ज्ञानप्रधान हैं, जिनका विस्तार बुद्धि तत्त्व के सहारे बढ़ता है, जिनका आकर्षण और जिनकी रुचि बुद्धि तत्त्व के नैरंतर्य की अपेक्षा करती है, जो भावरस से परे चिंतन वृत्ति पर टिकना और टिकाना सिखाते हैं, वे साहित्य की इस परिभाषा के अंतर्गत नहीं आते। विज्ञानशास्त्र, गणितशास्त्र, खगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद इत्यादि-इत्यादि ऐसे ही विषय हैं। परंतु यह अंतर लेखक के अभिव्यंजन प्रणाली पर बहुत कुछ आश्रित है। विज्ञान के मैंने ऐसे लेखक देखे हैं जिन्होंने अपनी साहित्यिक शैली के बल पर बुद्धिप्रधान शुष्क विषयों को हृदयग्राही और सरस बना दिया है। स्वर्गीय श्री रामदास जी गौड़ का नाम ऐसे लेखकों में प्रमुख है। निष्कर्ष यह निकला कि साहित्य के लिए विषय से कहीं अधिक मूल्य अभिव्यंजन का है। यद्यपि नितांत शुष्क चिंतनाप्रधान विषयों को बलात् काव्यमय बनाने की चेष्टा उपहास्यात्मक होती है तथापि, कहीं-कहीं पर, कुछ मानसिक तत्त्वों को भावात्मक प्रतिपादन पद्धति में रखकर आकर्षक बनाया जा सकता है।

चिंतना और भावना का संगम

चिंतना और भावना के स्थूल भेद खड़े करके ऊपर जो साहित्य का द्वैत दिखाया गया है वह मनोवैज्ञानिक नहीं है। वह तो केवल प्रचलित पद्धति की सूचना मात्र है। हृदयवृत्ति और बुद्धिवृत्ति सजगता की पृथक्-पृथक् अवधारणाएँ नहीं हैं। वे तो एक ही जागरूक स्थिति की आवांतर परिस्थितियाँ हैं, एक ही चेतना के प्रवाह के अवस्थागत अभिधान हैं। मानव अपने विकास के साथ-साथ पाशव भावरूप और पाशव प्रेरणावृत्ति (instinct) पर भी अधिकार और नियंत्रण करता चला आया है। भावरूप की प्रेरणा-वृत्ति ने ही स्थूल चेतना को सहेतुक सजगता के मार्ग पर चलाकर उसे चिंतना बनाया। अथवा यों कहिए कि पाशव प्रेरणावृत्ति ही आगे बढ़कर चिंतना और बुद्धि बनी। हृदयवृत्ति और बुद्धिवृत्ति में बराबर एकतानता बनी रही। वे नितांत पृथक-पृथक चेतना नहीं हैं। मानवत्व के विकास में चिंतना और बुद्धि का जो अधिकार जागरूकता पर बढ़ता जाता है उसका नियंत्रण प्राणी के समस्त सांसारिक सम्पर्कों में स्पष्ट काम किया करता है। अतएव ऐसे प्राणी की अनुभूतियाँ अवचेतन और अचेतन तलों में बुद्धिप्रधानता खो नहीं सकती। दूसरी ओर भावुक मानवों की अनुभूतियाँ हृदयप्रधान रहती हैं और उनका भावरूप अवचेतन और अचेतन स्वरूपों में बराबर जैसे का तैसा बना रहता है।

बुद्धि का परिष्कार और उसकी उन्नति तो होती है भावना का परिष्कार और विकास भी होता चलता है। चेतना के ये दोनों स्वरूप पृथक-पृथक न होकर भी पृथक-पृथक दिखाई देते हैं। इनकी वास्तविक एकरूपता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि मानव का कोई विचार कथन अथवा कार्य ऐसा नहीं होता जो एकदम मानसिक प्रत्यय-मात्र हो अथवा इस प्रकार भावात्मक हो जिसकी प्रेरणा के इतिहास में चिंतना का नितांत अभाव हो।

रही रमणशीलता की बात उसे भी समझ लेना चाहिए। हृदयप्रधान साहित्य अधिक आकर्षक, अधिक रुचिपूर्ण, अधिक सरस और अधिक तन्मयशील होता है यह सब कहते हैं। बुद्धिप्रधान साहित्य में रूखापन अधिक रहता है यह भी सबकी धारणा है। साधारणतया ये कथन ठीक ही हैं। परंतु समझना यह है कि पाशव रूप से उठते-उठते मानव पर प्रेरणा और भाववृत्ति के व्यापक अधिकार को उसकी नसों से निकाल फेंकना सम्भव नहीं। वह उसकी सजगता से अभिन्न रूप से लिपटा है। अतएव उसका परिष्कार केवल सम्भव है और उसी को मानव ने अपने विकास के साथ अपनाया। चिंतना का उदय बाद का वरदान है; उसका सान्निध्य थोड़े काल का आशीर्वाद है। उतना ही अधिकार अभी मानव पर हो पाया है कि विकसित और समुन्नत मानव में बुद्धि के प्रति अनुराग और बौद्धिक परिचालना के महत्त्व का स्वीकार संभवत: सजग रहता है। उसे गणितशास्त्र, भौतिकशास्त्र अथवा जीवशास्त्र की नीरस कही जानेवाली पुस्तकों में वैसा ही रस आता है जैसा किसी को गोस्वामी तुलसीदास के पढ़ने में आता है। उसके अवचेतन और अचेतन तलों से तादृश विचारों की शिराओं को पोषण, चिंतना रूप से, उसी प्रकार से मिलता चलता है जिस प्रकार कवि, भाव-प्रधान परिस्थितियों के लिए, अपने भीतरी तादृश भाव—परिष्कृत रूप से, बल लेता रहता है। रमणशीलता का क्षेत्र भीतरी सजगता का परिष्कार है। वहीं से रस मिलता है। प्राणी के निजी विकास—भावक्षेत्र अथवा बुद्धिक्षेत्र—के अनुसार ही वह आनंद ले सकता है। इसी प्रकार भावक्षेत्र और बुद्धिक्षेत्र के सबके अनुभव कोष एक प्रकार के नहीं होते। उनमें ऊँचा-नीचापन होता है। इसीलिए सबकी रसप्राप्ति क्षमता एक-सी नहीं होती। वह अधिकतर निजी होती है। अश्लील गानों के रसिक इक्केवाले, भद्दी और कामुक कहानियों को रेल में बड़े चाव से पढ़नेवाले बिगड़े रईस, रात भर नौटंकियों के नगाड़े सुननेवाले मजूर, चलचित्रों के सितारों के रति-प्रधान रागों से रेडियो में राग मिलानेवाले मनचले तरुण, सुंदर रमणियों के चित्रों से घर सजानेवाले ओछे कलाकार भी इसी देश में मिलेंगे और इन्हीं अभिरुचियों से घोर घृणा करनेवाले परिष्कृत स्वभाव के सज्जन भी मिलेंगे जिनकी भावुकता की मात्रा में कोई कमी नहीं है परंतु उनकी रुचि परिवर्तित है। वे

रामचरितमानस में आनंद लेते हैं; वे उत्तर रामचरित पढ़कर रोते भी हैं और अभिज्ञान शाकुंतल पढ़कर शृंगार में भी रमण करते हैं। बुद्धि के क्षेत्र का उतार-चढ़ाव तो तुरंत दिखाई दे जाता है। भूगोल और खगोल की साधारण व्याख्या में थोड़ी बुद्धिवाला भी रमण कर लेता है परंतु गणितशास्त्र के सूक्ष्म विन्यास और उसके जटिलतम प्रश्न को हल करने में विरले ही बुद्धिशील रस ले पाते हैं।

भावप्रधान साहित्य

जिसे दूसरे कोटि का साहित्य कहते हैं—अर्थात् हृदय-प्रधान आलेख—वह भी एकदम बुद्धि-विहीन नहीं होता। ऊँचे साहित्य में चिंतना और भावुकता का उचित और पूर्ण सोहाग होता है। एकांगी चिंतना काव्य को नीरस और रूखा बना देती है और एकांगी भावुकता उसे सस्ता और बाजारू। पहले प्रकार में सार्वजनीनता का अभाव उसे लँगड़ा कर देता है दूसरे प्रकार में विज्ञों का आशीर्वाद न प्राप्त होने के कारण वह उत्तमता प्राप्त नहीं कर सकता। अनेकार्थी बौद्धिक सम्पर्क जब चिंतना का विस्तार करता है और साथ ही साथ उसमें गंभीरता आती है तब दर्शनशास्त्र का जन्म होता है। उसी प्रकार अनेकार्थी रागात्मक सम्पर्क जब भावना का विस्तार करता है और उसमें गहनता आती है तब काव्य-साहित्य की सृष्टि होती है परंतु उत्तम साहित्य और उत्तम दर्शन के लिए यह परमावश्यक है कि उसमें बुद्धि और हृदय का पूर्ण सोहाग हो। चिंतना की सजगता जगाती चले और हृदय की मस्ती सुलाती चले यही उसका शृंगार है। ऊँचा साहित्य उदात्त विचारों की भावपूर्ण व्याख्या है। ऊँची से ऊँची चिंतना जब हृदय-सिक्त होकर बाहर आती है तभी ऊँचे साहित्य का जन्म होता है। बुद्धि के प्रत्ययों में घुलावट का सन्निवेश आभ्यंतर के रागतत्त्व और बुद्धितत्त्व के अद्वितीय संगम की अपेक्षा करता है। अतएव किसी काव्य को दार्शनिक कहकर कोसना बुद्धि और हृदय के अपने उचित समन्वय के अभाव को दिखाना है। हाँ, यह दूसरी बात है कि साहित्य में केवल मानसिक तत्त्व जैसे के तैसे रक्खे हों वे भाव-सिक्त न हों।

साहित्य में कल्पना और वास्तविकता

बुद्धितत्त्व और रागतत्त्व की समन्वयकारिणी एक और वृत्ति है उसे कल्पना कहते हैं। सद्य-उत्पन्न परिस्थिति को औचित्य के साथ अभिव्यक्त करने के लिए साहित्यकार इसका प्रयोग करता है। कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा अतीत की अनुभूतियों को कलाकार सामने लाता है। कल्पना के द्रुतवान वेग को मेधा कहते हैं। साहित्य का बनाव और बिगाड़ इसी कल्पना के आनीत चित्रों पर बहुत कुछ सम्भव है। आभ्यंतर

में कल्पना ने यदि बुद्धितत्त्व और रागतत्त्व का ठीक-ठीक मेल कर रक्खा है और उसका मंथन दराड ऐसे बुलावटवाले रूप-व्यापारों के नवनीत को निकाल सका है तो साहित्य में जो सूझ कवि देगा वह असम और उत्तम होगी। रागतत्त्व कल्पना तत्त्व और बुद्धितत्त्व का मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या है और साहित्य के निर्माण में उनका योग किस प्रकार का होता है यह लेखक ने अपनी अन्य पुस्तक 'तुलसी के चार दल' में विवरण के साथ लिखा है अतएव उसे यहाँ दुहराया नहीं जाता।

यह न भूलना चाहिए कि साहित्य का आधार भी ठोस जगत है और उसके उपकरण भी ठोस जगत में ही मिलते हैं। सारी ललितकलाओं की यही स्थिति है। उनमें जो ऐसे उलटे-सीधे रूप-व्यापार दिखाई देते हैं जिनका मेल वास्तविकता से नहीं खाता वे भी वास्तविकता के ही विकृत अथवा सुकृत अनुकृति मात्र हैं। वास्तविकता का रूप-ग्रहण सबका अपना-अपना होता है। प्रत्येक कलाकार की अभिव्यक्ति उसकी आभ्यंतर की ग्राहिका शक्ति पर आश्रित रहती है। रूपदान देने का व्यापार भी भीतर ही पहले सम्पादित होता है। न जाने कितनी वास्तविकताओं की अनुभूतियाँ कलाकार में संगम किया करती हैं। उसकी निजी चिंतनावृत्ति और भाववृत्ति की बलवती आकांक्षा भीतर ही भीतर, एक नई परिस्थिति का निर्माण करके उसे बाहर भेजती है। यह परिस्थिति सम्भव है, किसी बाहरी अकेली यथार्थता से मेल न खाये परंतु उसमें अनेक यथार्थताओं का मेल रहता है। इस मेल में सत्यता निवास करती है। यही इसका बल है। घटित परिस्थितियों को वास्तविक कहते हैं और घटनीय परिस्थितियों को सत्य। काल्पनिक सम्भाव्य में भूत से अधिक रस होता है इसीलिए सत्य वास्तविक से अधिक रुचता है। वास्तविकता में रूप व्यापारों के परिस्थिति विशेष के भीतर की एक सीमित अभिरुचि रहती है जिसमें न सार्वजनीनता रहती है और न सार्वकालीनता। परंतु आभ्यंतर की एक सी परिस्थितियों के समन्वय से जो सत्य सामने आता है उसमें अनेक वास्तविकताओं के कण मिले रहने के कारण बहुतों को समय, व्यक्ति और देश की रेखाओं का अतिक्रमण करनेवाला रस मिलता है। यही कला की सार्वकालीनता, सार्वजनीनता और विश्वव्यापकता है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम को और उनकी लीलाओं को वाल्मीक में पढ़ा, प्रसन्न राघव और हनुमन नाटक में देखा, रघुवंश और उत्तर रामचरित में समझा, आध्यात्म रामायण तथा अन्य अनेक ग्रंथों में अनुशीलन किया। यही नहीं अपने गुरु से शूकर-क्षेत्र में भी उसे सुना तथा साधु-महात्माओं के सत्संग से उसे प्राप्त किया। इन सब रामों और रामलीलाओं का संगम उनके भीतर हुआ और फिर उनकी चिंतनावृत्ति और

भाववृत्ति ने अपने बलवान मंतव्य से उन्हें जो रूप दिया वह हम तुलसीकृत रामचरित मानस में देखते हैं। उसमें अतीत के समस्त आवश्यक कण संग्रहीत हैं।

"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।"

यह "अन्यतोऽपि" उनकी निजी देन है। वास्तव में कलाकार का महत्त्व उसकी यही निजत्व की छाप है।

वैसे कलाकारों का कोई वर्ग नहीं होता उनके सम्प्रदाय और वाद भी नहीं होते। वे तो अखंड, अविभाज्य और निस्सीम की झाँकी देखते और दिखाते हैं। सम्प्रदायों और मतमतांतरों के घेरे, परम्परा और गतानुगति की रूढ़ियाँ, देश और प्रदेश की मेड़ें, समय और इतिहास को बाँधनेवाली रेखाएँ सच्ची कला के प्रवाह में टिक नहीं सकतीं। इनकी उपस्थिति को कलाकार की वाणी की हकलाहट समझनी चाहिए; उसकी लेखनी की असावधानी को लाचारी के रूप में देखना चाहिए। अरूप को सरूप बनने की हिचक को जब कवि दूर नहीं कर पाता और उसका प्रयास ध्यान को मनुहार देने में और आकार को सौंदर्य से सजाने में जब काँपने लगता है तभी वह अभिव्यक्ति को अँधेरे में टटोलता है और संसार की संकीर्णता उसका अभिशाप बन जाती है। इस बेबसी का लाभ उठानेवाले समीक्षक अपने मन का मैल मिलाकर सीमाओं की दीवारें खड़ी कर देते हैं।

हिंदी में इधर समीक्षकों का एक ऐसा दल खड़ा हो गया था जो कविता को अपार्थिव रूप देने में ही अपना और कविता का महत्त्व समझता था। ऊटपटांग चित्रों पर वाह वाह करना उनकी भरमार को प्रोत्साहित करना है। कबीर और रवींद्र जैसे पहुँचे हुए संतों की वाणी में साधना के स्वरूपों और साधन परम्परा की जटिलताओं तथा साधक, साध्य और साधना के दूरत्व से लेकर एकत्व तक के प्रयासों का जो अलौकिक निदर्शन मिलता है उसका बहाना ढूँढ़कर बे सिर पैर के चित्रों को अतींद्रिय अनुभूतियाँ कहकर चलाने का प्रयास करना उन्हें काव्यसिद्ध नहीं कर सकता। समीक्षकों का इस दिशा का प्रयत्न भी बुद्धि का अपव्यय ही समझना चाहिए। कबीर के चित्रों में अनुभूतियों की निश्छलता है। उनकी आध्यात्मिक उड़ान में ऐहिकता की प्रतिक्रिया है। अतएव सारे ऐहिक स्वरूपों की निस्सारता में आध्यात्मिक सत्यता और सुखपूर्ण अलौकिक परिस्थिति की कामना में जो जगत संत लोग रचते हैं वह अनुभूति की परिधि में चमकता है—

"साँझ भये दिन अथवा चकई दीन्हा रोय।
चल चकवा वा देस को, जहाँ रैन नहिं होय॥"

परंतु उनकी सृष्टि में पुष्टता और मांसलता निवास करती है। विराग उतना ही सत्य है जितना अनुराग। हम बिना देखे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उसके बुद्धि संगत और विश्वास संगत निवासों का भी निर्माण करते हैं। उस तक पहुँचने की साधना को भी सत्य मानते हैं। यही तो कबीर ने किया। परंतु समस्त प्रसंगों में दुख-सुख, मानवीयता, सांसारिकता उसकी ऊब और खीज इत्यादि ही तो काम करते हैं। इस रहस्यवादी काव्य को रस नीचे ही से मिलता है। इधर तो बेलगाम की उड़ान ही कविता समझी जाने लगी। यह प्रसन्नता की बात है कि प्रगतिवाद ने इस भ्रम का निराकरण कर दिया है यद्यपि प्रचारवाद की धुन के कारण उसमें एक दूसरा दोष समा गया है।

साहित्य और सत्य

साहित्य और सत्य का संबंध क्या है इस विषय में साधारण व्यक्ति में एक भ्रम है। वह सत्य और वास्तविकता को एक समझकर वास्तविकता से मेल न खाने पर काव्य को अनर्गल प्रलाप कहने लगता है। वास्तव में सत्य और वास्तविकता एक नहीं हैं। वास्तविकताओं में चिरंतनता के स्वरूप का नाम सत्य है। यह सत्य किसी एक वास्तविकता के अनुसार हो सकता है और सबसे निराला भी हो सकता है। इस सत्य का स्वरूप-निरूपण आभ्यंतर की संस्कृति करती है। यथार्थता के ढेर से रुचि की सार्वभौमिकता और सार्वकालीनता की अमर प्रतिमा ढूँढ़ निकालना उसी का काम है। इस ढूँढ़ निकालने से भी बड़ा काम उसका व्यक्तीकरण है। वास्तविक सत्यता इसी व्यक्तीकरण में निवास करती है। अतएव साहित्यिक सत्यता का संबंध बाह्य यथार्थता से न होकर आभ्यंतर की अनुभूति की यथातथ्य अभिव्यंजना और निश्छल व्यक्तीकरण से है। काव्यगत सत्यता वह निश्छल अभिव्यक्ति है जो कवि मन की अनुभूति को यथातथ्य प्रकट करे। बाह्यरूप व्यापारों से मेल खाना उसके लिए आवश्यक नहीं। गोस्वामी जी कहते हैं—

"बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्न जल, उलट उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहुँ लगी न खोंच॥"

इस दोहे में एकांत और अनन्य प्रेम की तीव्र व्यंजना कवि की बलवती अनुभूति है। जिन सारे रूप-व्यापारों का सहारा लिया गया है वे केवल उपकरण मात्र हैं। उनका काम अनन्य और एकांत प्रेम को सामने रखना है। ये रूप-व्यापार नितांत अवास्तविक हैं। चातक स्वाति-जल का अनन्य भक्त है यही घटना नितांत अवैज्ञानिक है। केवल

कवि-परम्परा ने उसे यथार्थ बना रक्खा है। और फिर चातक का बधिक द्वारा मारा जाना, गंगाजी के प्रवाह में गिरना, यह गंगाजल है मरते समय इसके मुख में पड़ने से मुक्ति मिलती है इसका मरते चातक को ज्ञान, चोंच को उलटकर ऊपर कर लेना—ये समस्त व्यापार शुद्ध कल्पना मात्र हैं। उनकी वास्तविकता पर कोई भी विश्वास नहीं करता। फिर भी गोस्वामीजी की इस उक्ति को कोई असत्य न कहेगा। कारण स्पष्ट है कि इसमें कवि की अनुभूति की निश्छल अभिव्यक्ति है। समस्त अयथार्थ उपकरण भी इस बलवती सत्यता के वेग में, यथार्थ के रूप में, सामने दिखाई देते हैं।

एक दूसरी उक्ति देखिए। यह महात्मा कबीर की है—

"वैद मुआ, रोगी मुआ, मुआ सकल संसार।
एक कबीरा न मुआ, जाके राम अधार॥"

साधारणतया वैद्य वह व्यक्ति कहलाता है जो समझता है कि मैं रोग और रोगी को अच्छा कर सकता हूँ। तत्त्वों के सांघातिक स्तूप का नाम व्यक्ति है। संघात में विघटन की अमर परम्परा का नाम मृत्यु है। अतएव व्यक्तियों में विघटन शाश्वत है। विघटन की सूचना का नाम रोग है और रोग के अधिकरण को रोगी कहते हैं। व्यक्ति कहीं का विघटन यहाँ का संघटन है। अतएव विघटन की सूचना को (रोग को) निसर्ग का विधान न समझकर उसे अच्छा करने का दावा करनेवाला अवश्य मरता है अथवा मिथ्या भ्रांति में पड़कर मृत्यु को विनाश मानकर सत्य समझता और उसे भोगता है। मृत्यु विनाश नहीं है परिवर्तन है। इसी प्रकार अपनी देह के भीतर के विघटनशील तत्त्व को बिना परखे हुए, उसे नैसर्गिक न समझकर, आरोपित समझ बैठना और उसे दूर कराने के लिए भ्रम में पड़े हुये वैद्य के पास जाना मृत्यु को विनाश समझने के सदृश है और वास्तव में ऐसे व्यक्ति का विनाश ही होता है। संसार शब्द का अर्थ ही है चलनेवाला। इस गति अथवा परिवर्तन के रहस्य को बिना समझे हुए उसे मृत्यु कह बैठना जान-बूझकर अपने को भ्रम में डालना है। अतएव संसार के वे समस्त प्राणी जो इस भ्रम में पड़े हैं। मरते हैं। कबीर ने उस अमरतत्त्व 'राम' (जो सबमें रमा हुआ है जो परिवर्तन और गतिस्वरूप है) समझ लिया है अतएव सांसारिक व्यक्ति जिस अर्थ में मरना अनुभव करते हैं वह नहीं करता।

इस उक्ति में 'वैद', 'रोगी', 'संसार' तथा 'राम' ये सारे शब्द विशेष संकेत में प्रयुक्त हैं। अतएव इनका यथार्थ भाव ग्रहण नहीं करना है।

"खाल काढ़ि विस्तर करहु, माँस भूनि कै खाहु ।
जब लग तन में जीव है, बीन बजाये जाहु ।।"

यह किसी साधारण कवि की उक्ति है। इसमें भी प्रेम की अद्वितीय व्यंजना सामने रक्खी गई है। संगीत के प्रति हिरन का अनुराग प्रतीक रूप में प्रयुक्त है। शेष सब कल्पना मात्र है। हिरन का कथन अवास्तविक अयथार्थ और अवैज्ञानिक होने पर भी उस व्यंजना को बल देने के लिए आवश्यक साधन है। अतएव अवास्तविक होकर भी असत्य नहीं है।

इसी प्रकार चकोर का अँगार चुगना, चकोर का चंद्रमा की ओर टकटकी लगा कर देखते रहना, चम्पा के वन में भँवर का न बैठना, चकवा चकवी का रात्रि में वियोग, हंस का मोती चुगना, सारस का जोड़े से बिछुड़ जाने पर रो-रोकर प्राण दे देना, राहु का सूर्य चंद्रमा को ग्रस लेना इत्यादि कुछ ऐसी अयथार्थ, अर्ध-अयथार्थ अथवा आंशिक अयथार्थ घटनाएँ हैं जिन्हें कवि यथार्थ रूप में युगों से व्यक्त करता चला आ रहा है। ये कवि प्रौढ़ोक्तियाँ अभिव्यंजन की निश्छलता से जहाँ युक्त रहती हैं सत्य ही कही जायँगी।

नाटक में किसी भी अभिनेत्री को हम सीता, मधुबाला अथवा शकुंतला मान लेते हैं। इस भ्रम की ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता। इसी प्रकार सुंदर महाकाव्य के रचित संसार में हम सत्य की रमणशीलता से प्रवेश करते हैं। किसी भी रचना के उपादान, पाठक, श्रोता अथवा दर्शक की रसानुभूति के लिए सीढ़ियाँ-मात्र हैं। कवि और पाठक में एकतानता लाने के लिए कवि को जीवन के समस्त सम्भाव्य स्रोतों से ही, जहाँ तक सम्भव हो, जल लेना चाहिए जिससे उसके सीकर दूसरे के सम्भाव्य तत्त्वों पर ही गिरें; और जहाँ वस्तुस्थिति केवल अन्योक्तिमात्र है और साधन के रूप में गृहीत है वहाँ साध्य को इतने बलवान् रूप में सामने लाना चाहिए और मंतव्य को इतने राग के मधुर परिवेष्ठन में रखना चाहिए जिससे वस्तुस्थिति की सम्भाव्यता और असम्भाव्यता पर ध्यान ही न जाय। उसकी व्यापकता और रोचकता के मार्मिक रूप पर मन रम कर रह जाय। परंतु जहाँ कलाकार की सबसे बड़ी विशेषता यह समझी जाती है कि उसकी सृष्टि में जागरूकता को सुलाने का अनुपम बल रहता है और उसके निदर्शित रूप व्यापारों में सत्य का इतना गहरा परिवेष्ठन होता है कि सभी लोग उसमें निर्विशेष रूप में, यथार्थ और अयथार्थ के किसी अंतराय के बिना, रमण करते हैं वहाँ श्रोता, दर्शक और पाठक की भी सबसे बड़ी सहृदयता यह है कि वे मन और हृदय को सर्वथा खुला रक्खें और कवि जिस इंद्रजाल को खड़ा करता है उसमें चेतना को अनन्यभाव से

मिला दें। उन्हें चाहिए कि अपनी रमणशील वृत्ति के प्रवाह को इतना चेतन रखें कि कृति की कल्पना जिस समूचे संसार को खड़ा करना चाहती हो उसे चिंतना धूमिल न करे। जिस व्यक्ति में कला की मादकता में मस्त होने की बान नहीं है, जिस व्यक्ति में कृति के निरूपित भ्रम में भ्रमण करने का सौहार्द्र नहीं है, जो कवि के मायाजाल में फँसना नहीं जानता और जो तर्क और विवाद का अहंकारी मुकुट उतार नहीं पाता वह नितांत बुद्धिजीवी काष्ठ-मानव है। ऐसे अरसिक को ऊँचे से ऊँचे काव्य में आनंद नहीं आ सकता। हाँ, जहाँ भी कवि अनुभूति कुंठित है वहाँ अवास्तविक रूप व्यापार असत्य होकर अखरने लगते हैं। उनकी अभिव्यंजना शिथिल और अशक्त दिखाई देती है।

कभी-कभी अत्युक्ति और अतिशयोक्ति अथवा और इसी प्रकार के अभिव्यंजना के अलंकारिक साधनों द्वारा अनुभूति को सीमा से बाहर ले जाकर व्यक्त करना कवि-कर्म समझा जाता है। ऐसी दशा में अनुभूति गौण और अभिव्यंजना प्रधान रूप में आघात करती है। अतएव सहानुभूति की उपयुक्त मात्रा उत्पन्न नहीं होती और अयथार्थ उक्तियाँ सत्य नहीं बन पातीं। कला के नाम पर ऐसी उक्तियों को हिंदी में बहुत चलाया गया है पर वे साहित्य का उत्तम रूप नहीं बन सकीं। परंतु यह देखिए—

"उष्णकाल, अरु देह खिन, मग पंथी तन ऊख।
तुलसी बतियाँ न रुचीं, अनजल सीचे रूख॥"

इस दोहे में भी आदि से अंत तक कोरी कल्पना का विस्तार मिलेगा परंतु किसी अभिव्यंजन विधान की पूजा नहीं है। हाँ, अनन्यभाव के प्रेम प्रतिष्ठा की ही एकांत साधना का बल है। यह काव्य की उत्तम उक्ति समझी जायगी।

साहित्य के लिए यह उत्तम है कि वह विज्ञान के प्रदर्शित यथार्थ पर ही चले। अवैज्ञानिक उक्तियाँ, केवल अनुभूति की निश्छल अभिव्यक्ति होने के कारण, पंडितों में समादृत नहीं होतीं। जहाँ अनुभूति विज्ञान के बताये यथार्थ से नितांत भिन्न है वहाँ की बात दूसरी है। फिर भी इन अनुभूतियों में चिंतकों और भावुकों को एक प्रकार से संतुष्ट करने का बल होना चाहिए। अन्यथा वे सब पर समभाव से अपना कार्य न कर सकेंगी।

साहित्यकार का उत्तरदायित्व

साहित्यकार को अपनी उक्तियों में बड़ा सावधान रहना चाहिए। बहुत बार ख्यातनामा कवियों और लेखकों के अर्धसत्यों और आंशिक सत्यों का मूर्खों और अर्ध-शिक्षितों पर सम्पूर्ण सत्य का सा प्रभाव पड़ता है और वे उसे आप्त वाक्य समझकर

आचरण करते हैं। गोस्वामी जी की इस उक्ति को कितने ही अशिक्षित भक्त-जन पूर्ण सत्य समझते और आचरण करते हैं—

"ढोल गँवार सूद्र पसु नारी,
ये सब ताड़न के अधिकरी।"

शेक्सपियर की यह उक्ति की दुर्बलता तेरा ही दूसरा नाम नारी है बहुतों के विश्वास की परम्परा है और गोस्वामी जी की "सहज अपावन नारि" अथवा "औगुन आठ सदा उर बसहीं" अथवा "जानि न जाय नारिगत भाई" अथवा 'नारि हानि विशेष क्षति नाहीं',—इत्यादि उक्तियों को पुरुष क्या बहुत-सी अशिक्षित और अर्धशिक्षित स्त्रियाँ भी पूर्ण सत्य समझती हैं। कितने ही लोग "हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि हाथ," को आप्त-वाक्य समझकर अकर्मण्य बने रहना अच्छा समझते हैं।

लेखकों की बहुत-सी परिभाषाएँ, व्यवहार-पक्ष की बहुत-सी अनुभूतियाँ, तात्कालिक परिस्थितियों पर प्रासंगिक उद्‌गार, जीवन की सी जीवन के लिए जीवित प्रेरणाएँ, सांदर्भिक गतिविधियाँ, जीवन के घोर वातचक्र की वैयक्तिक परंतु बलवान् साधनाएँ, कवि के रूप व्यापारों के भीषण प्रवाहों के संगम और उनकी निजी चाल, भावद्वंद्व और विचार द्वंद्व के अपने रूप और उनका अपना मूल्यांकन, इत्यादि सभी में कुछ-न-कुछ एकांतता और असार्वभौमिकता होती है। इन उक्तियों को समूचे सत्य का गौरव यदि मिल जाय तो भारी अहित होने की संभावना हो जाती है। यही उन्हें कलकार के महत्त्व के कारण मिल जाता है और उनका प्रभाव बड़ा विस्तृत पड़ता है। अतएव जहाँ एक ओर पाठकों को बड़ी सावधानी से ऐसे स्थलों को समझने और समझाने का प्रयास करना चाहिए वहाँ लेखक और कवि को भी जन-साधारण की प्रभाव-दुर्बलता को न भूलना चाहिए।

साहित्य में मौलिकता

यह भी समझ लेना है कि साहित्य में मौलिकता किसे कहते हैं। संसार के बड़े बड़े कलाकार, साधारण अर्थ में, मौलिक नहीं थे। गोस्वामी तुलसीदास और कविवर सूरदास की प्रतिभा पुराने लिखे कथानकों और काव्यों पर आश्रित है। रामचरित मानस के तो स्थल के स्थल प्राचीन ग्रंथों पर आधारित हैं। सूरदास श्री मद्‌भागवत के ऋणी हैं। संस्कृत के असम कवि कालिदास के समस्त काव्य महाभारत, रामायण तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों पर आधारित हैं। शेक्सपियर के अधिकांश नाटक प्लूटार्क,

मिरर आव मेजिस्ट्रेट्स इत्यादि पर आधारित हैं और नाटकीय विशेषताएँ मारलो से और सिनेकन ट्रेजडीज से ली हैं। फिर भी ये चारों कलाकार संसार के प्रसिद्ध कलाकारों में हैं। अतएव समझना यह है कि मौलिकता है क्या और उसका महत्त्व किस सीमा तक साहित्य में स्वीकार करना चाहिए।

मानव ज्ञानकोष और मानव अनुभूति कोष इसी ठोस जगत के सम्पर्क से निर्मित होते हैं। सम्पर्क उसका साक्षात् और परोक्ष दोनों प्रकार का होता है। उसकी निजी वृत्ति जब विश्व के रूप व्यापारों से उसका सम्पर्क स्थापित करती है तथा उसके ज्ञान और अनुभूति निधि में नया निष्कर्ष संग्रहीत होता है तो उसे साक्षात् अनुभव कहते हैं। दूसरे के सम्पर्कों, ग्रंथों अथवा साथ से रूप व्यापारों का जो परिणाम मानव चिंतना और भावना में एकत्र होता रहता है वह परोक्ष निधि कहलाती है। पहले में समस्त इंद्रियों के संकुलित प्रयत्न का निष्कर्ष रहता है दूसरे में इंद्रिय अनुभूति गौण रहती है केवल मन की तादृशी स्थिति से ज्ञानकोष और भावकोष को तत्त्व मिलते रहते हैं। यह बात जितनी साधारण व्यक्ति के लिए सत्य है उतनी ही कलाकार के लिए। हाँ, कलाकार की अनुभूतियाँ अधिक गहरी, अधिक चिरकालीन, अधिक स्पंदन-शील तथा कसमसाहट की अधिक वेदना से युक्त रहती हैं। साहित्य इन्हीं अनुभूतियों की यथेष्ट अभिव्यंजना है। अतएव किसी भी कृति के विश्लेषण में इन्हीं अनुभूतियों को समझना और समझाना, उनके कारण और मूल को खोलकर रख देना, परिस्थिति के भीतर उनके स्वरूप निर्माण के समस्त उपकरणों को ढूँढ़ निकालना, अभिव्यंजन की अनेकरूपता के टुकड़ों को मूल लेखकों के पास तक पहुँचा कर उनमें कृतिकार के प्रयास का संबंध और एकरूपता स्थापित कर देना, यह सब जहाँ सम्भव नहीं हो पाता अथवा समीक्षक इन तत्त्वों की व्याख्या नहीं कर पाता और कृति के निर्माण का इतिहास धुँधला अथवा ओझल रहता है वहाँ लोग कृति के लिए मौलिक मौलिक का हल्ला मचाने लगते हैं। साहित्य पादप की कितनी शिराएँ हैं और वे वसुंधरा के किस स्थल से कितना रस ग्रहण करती हैं इसकी सम्यक जानकारी समीक्षक के लिए परमावश्यक है। वास्तव में किसी कृति को मौलिकता का वरदान देने का अर्थ है उस कृति के तत्त्वों के इतिहास के प्रति निज का अज्ञान। जिस प्रकार मानव मन की गति-विधि का अध्ययन एक शास्त्र है उसी प्रकार मानव कृति का इतिहास भी एक शास्त्र है। बिना उसके कोई सच्चा समीक्षक नहीं बन सकता।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब मौलिकता की स्थापना इस प्रकार से निरापद नहीं है तो क्या साहित्य में मौलिकता ऐसा कोई गुण है ही नहीं। इसका उत्तर उतना

कठिन नहीं है जितना साधारणतया दिखाई देता है। साहित्य की मौलिकता कलाकार का व्यक्तित्व है। वह व्यक्तित्व जो उसकी कृति में उतरा है। उसके वास्तविक व्यक्तित्व से कृति का कोई सीधा सरोकार नहीं। शेष और अशेष का जो सम्पर्क हुआ करता है और भावनिधि और ज्ञाननिधि तक जो मंतव्य पहुँचा करते हैं वे शेष की निजी वृत्ति द्वारा संगठित होते हैं। वृत्ति का स्वरूप व्यक्ति के स्वरूप से बनता है और सबका अपना निजी होता है। पैतृक गति, व्यक्ति का स्वभाव, सांस्कृतिक निर्माण, वातवरण की सीमाएँ और न जाने कितने और तत्त्व बचपन से मानववृत्ति का निर्माण करते चलते हैं। अतएव उसमें केवलता होती है। वृत्ति की यही केवलता बाहरी सम्पर्क के अनुभव व्यापार में अपनापन रखती है। इस अपनेपने के द्वारा जो ज्ञान और भाव भीतर पहुँचाये जाते हैं उनमें माध्यम का आकार रहता है। अतएव प्रत्येक कलाकार दूसरे से, अपनी अनुभूति और संवेदन में, भिन्न रहता है। यहीं उसकी मौलिकता के दर्शन होते हैं। कलाकार की वृत्ति के निजत्व के तत्त्वों का भी विश्लेषण हो सकता है और उनके इतिहास का पता लगाया जा सकता है। वे भी अतीत से अनाश्रित नहीं होते, परंतु वह विश्लेषण मानवत्व का विश्लेषण होगा साहित्य का नहीं और फिर व्यक्ति की वैयक्तिकता अक्षुण्ण ही रहेगी। इसी वैयक्तिकता को कलाक की मौलिकता समझनी चाहिए। जब कलाकार अपनी अनुभूति से काम नहीं लेता अथवा उसके पास कोई अनुभूति ही नहीं होती, अथवा दूसरे की अनुभूति से अत्यंत प्रभावित होकर वानरी वृत्ति से काम लेता है तब वह कभी मौलिक नहीं हो सकता। ऐसी कृति का सम्मान नहीं होता। वृत्ति में अनुभव अपने मूल और एकाकी रूप में ही नहीं आते वे मंतव्य बनते चलते हैं। वृत्ति ही उनको आकार देती है; अनुभूतियों की सारी गुम्फना, रूप-व्यापार की सारी सजावट, वस्तु का पूरा विस्तार, यही नहीं कृति की समूची गति-विधि, केवल कलाकार की वृत्ति अथवा उसकी 'मति' निर्धारित करती है। वृत्ति की निजी परिस्थिति के निर्माण-स्थल का नाम 'मति' है।

यह निश्चय रूप से समझ लेना है कि समस्त कृति में कलाकार का व्यक्तित्व ही उसे महत्त्व देता है। इसी में नवीनता अथवा मौलिकता निवास करती है। जैसा पहले कहा गया है यह व्यक्तित्व कलाकार का यथार्थ ऐहिक व्यक्तित्व नहीं है उसका साहित्य में उतरा हुआ व्यक्तित्व है। अधिकांश में कलाकार की देन उसकी रहन से भिन्न होती है। साहित्य के विसर्जन क्षणों में वह खूब ऊँचा उठ जाता है, वह खूब ऊँचे स्थान से बोलता है। उसमें लोक को आलोकित

करने का आलोक होता है। उसकी यथार्थता नीचे झुककर पतितों को ऊपर उठाने का साधन-मात्र होती है। परंतु समकालीन कृतिकारों में जब साधारण व्यक्ति साहित्य के व्यक्ति और यथार्थ के व्यक्ति में भारी वैषम्य देखता है तो उनके साहित्य का प्रभाव बिलकुल हल्का पड़ जाता है; वह केवल उन्माद के क्षणों का प्रलाप-मात्र प्रतीत होने लगता है। ऐसा लगता है कि कोढ़ी अपने अंग को रेशम से ढककर घूमने निकला है। वह हैजलीन से झुर्रियों को ढकना चाहता है और कपोलों में सुंदरता लाने के लिए काला तिल निर्माण करता है। सरल व्यक्ति उसके पाप की अग्नि की उड़ी हुई चिनगारियों से दग्ध हो चुके हैं। वही पापी जब कलाकार बनकर सरस्वती अथवा वाणी के वायुयान पर ऊपर उड़कर निर्मल पंक्तियाँ लिखने लगता है अथवा पुण्य के गान गाने लगता है तो उन उदात्त क्षणों की अमृत-वर्षा से शीतल होकर लोग वाह-वाह करने लगते हैं। परंतु वे ही शीतल सीकर ठगे हुए जनों के दग्ध अंगों पर फफोले खड़े कर देते हैं। वे पाप और पुण्य की चौड़ी खाई को पाट नहीं पाते। वे छल को देखते और कह उठते हैं—वाह ! आप हैं !! कलाकार अपने मन के पाप के ही झटके में झट नीचे गिर पड़ता है। अतएव सच्चे जनहितैषी कलाकार अपने जीवन को वैसा ही पवित्र, तपस्या-शील, जनहितरत एकनिष्ठ, निश्छल और निर्मल बनाने का अभ्यास करते हैं जैसा वे अपनी वाणी में दिखाई देते हैं। यह एक साधारण मनोवैज्ञानिक सत्य है कि यदि व्यक्ति ऊँचे स्तर से बोलता और सोचता है तो उसका धीरे-धीरे प्रभाव उसके कर्मपक्ष पर भी पड़ेगा और कर्म की निर्मलता का भी उदय होगा। मन, वचन और कर्म—एक ओर की भी शुद्धता सब ओर पवित्रता फैलाती है। फिर भी कलाकारों का उत्तरदायित्व जनसाधारण से कहीं अधिक है। उन्हें साधना करनी ही है; उन्हें निर्मल और पवित्र बनना ही है। कला की अवधारणा से कला का जन्म कहीं अधिक महत्त्व रखता है। अवधारण में उमंग, उन्मेष और उन्माद सब क्षम्य है परंतु कला की प्रसूति में मातृत्व की सारी पवित्रता और कर्तव्यनिष्ठा ही कार्य करती है। पश्चिम की नैतिकता भिन्न है। शेक्सपियर, मिल्टन, शैली, कीट्स और वहाँ के आज के कवियों और लेखकों की जीवनी भारतीय साधक के बिलकुल अनुकूल नहीं। यहाँ गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, कबीरदास ही उत्तम गिने जायँगे यद्यपि समाज तंत्रों की परम्परा के प्रतिकूल चलनेवाले कलाकारों की यहाँ भी कमी नहीं है। पश्चिम कलाकार को कला से अलग रक्खे और लेखक की तटस्थता को कला का भारी वरदान कहे परंतु पूर्व तो जीवन को साहित्य से पूरा-पूरा अभिन्न समझता है। यहाँ की कलाकार विषयक तटस्थता का केवल यह अर्थ है कि कृतिकार निज के राग-द्वेष के ऊपर उठकर ही कला की सृष्टि करे।

साहित्य और जीवन

दूसरे की देखा-देखी जो यह चिल्लाते हैं कि कला कला के लिए उसका उदय और विलय एक दूसरे लोक में होता है, इस जीवन के विधि-निषेध के पचड़ों में उसे बाँधकर उसे पंगु कर देना है, व्यवहार-जगत में कला को घसीटना उसके महत्त्व को कम करना है इत्यादि वे कला की भारतीय परिपाटी को नहीं समझते। उसके सच्चे मर्म से वे अनभिज्ञ हैं। कला ही नहीं इस जगत के समस्त उत्पीड़न भारतीय परिपाटी और भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन का अभिन्न अंग हैं। यहाँ किसी भी विचार किसी भी भाव और किसी भी सिद्धांत का कोई भी मूल्य नहीं है यदि वह जीवन से अछूता है। साहित्य न नट की उछल-कूद है और न जादूगर का असम्भाव्य प्रदर्शन। उसका मनोरंजन हल्का चमत्कार नहीं है। उसमें जीवन के गहरे स्वरूपों की परिस्थितियाँ और जीवन के उदात्त रूप की आकांक्षाएँ होती हैं। यहाँ के संत-साहित्य और कुछ सीमा तक भक्ति-साहित्य को कुछ लोग पलायनवादी साहित्य कहकर उसे जीवन के अन-अनुकूल बतलाते हैं। पलायनवाद जीवन के घुस-पैठ की परेशानी है। उसमें भी जीवनयापन की एक विधि है। वह जीवन के साधारण रूप व्यापारों की ओर से वितृष्णा सिखाती अवश्य है परंतु शांतिमय जीवन व्यतीत करने की एक बलवती परिपाटी भी सामने रखती है। जीवन के पापों, मलिनताओं तथा क्षुद्रताओं से जो रहन-सहन में एक घिनौनापन आ जाता है और जिसके कारण प्राणी इंद्रियमुख होकर स्वान की भाँति भागता फिरता है उस अशांत वृत्ति को सामने रखना और भोगों की निस्सारता को समझाते हुए उनके त्याग में सच्चे जीवन को समझाना और उसे ईश्वराभिमुखी करके परम शांति की योजना उपस्थित करना क्या जीवन संस्तरण कला की एक व्याख्या नहीं है? फिर यह साहित्य जीवन से दूर क्यों समझा जाता है! जीवनयापन विधियाँ अनेक और अनेकार्थी हैं। उनमें परस्पर एक दूसरे से विरोध भी हैं। साहित्य सबका मर्म उद्घाटन करता और व्याख्या करता है। ऐसा कोई भी साहित्य जीवन से अभिन्न नहीं।

जीवन को इतना महत्त्व देने के कारण ही यहाँ के साहित्य में जीवन की संभाव्य उच्चता को व्यवहार-क्षेत्र के भीतर देखने और दिखाने की चेष्टा की गई है। इसी को साधारण भाषा में आदर्शोन्मुख साहित्य कहते हैं। घिसी हुई जीवन-लोक की यथार्थ भूमि से थोड़ा भी पग इधर-उधर हुआ कि कुछ पश्चिम की परिपाटी में पले हुए साहित्य-व्यवसायी नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। ऐसी कृति को वे अयथार्थ अवास्तविक कहकर कृतिकार की अनुभूति को विकृत कहते हैं। परंतु वे भूल जाते हैं कि विकृति

और सुकृति को प्रकृत और अप्रकृत वही कह सकता है जिसकी निर्णयवृत्ति पक्षपातशून्य है और जो साहित्य के विस्तृत स्वरूप को समझता है और उसे पूर्व या पश्चिम के घेरे में बँधा नहीं देखता। अनुकृत से कोई कृति प्रकृत नहीं होती। साहित्य बिंब-प्रतिबिंब रूप-व्यापार ग्रहण व्यवस्था नहीं है। वह कला न होकर कुछ और होगी। वाह्य पदार्थों के सम्पर्क से वृत्ति के सहारे हृदय में जो नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं उनके गहरे स्वरूपों को अनुभूतियाँ कहते हैं। अनुभूतियाँ, जैसा पहले बताया जा चुका है, निज की ग्राहिका शक्ति से स्वरूप प्राप्त करती हैं और वे बाहर के यथातथ्य रूप व्यापार नहीं होतीं अतएव यथार्थ साहित्य का केवल यही अभिप्राय हो सकता है कि अभिव्यक्ति में जीवन जैसा है वैसा अंकित करने की ओर विशेष ध्यान रक्खा जाय। उसमें आदर्श की प्रेरणा की मोड़ न हो। वैसे किसी भी दिशा की ओर कृति को मोड़ने के प्रयास से रसास्वादन में किरकिराहट आ जाती है और प्रचारवाद की पुकार से कला अपनी तन्मयता खो देती है। परंतु सच्चे साहित्यकार का मंतव्य भीतर ही भीतर पकता और बनता है। उसकी आदर्श योजना का सारा ताना-बाना पूरी घुलावट के साथ भीतर ही निर्मित होता है और वह कृति से एकाकार होकर बाहर आता है। अतएव इस व्यवस्था में कलाशैथिल्य का कोई प्रश्न ही नहीं होता।

अनुभूति

साहित्य और काव्य के निर्माण में सबसे प्रमुख तत्त्व को अनुभूति कहते हैं। अनुभूति के संबंध में बहुत से विद्यार्थियों और समीक्षकों का मत धूमिल और अस्पष्ट है। यहाँ वैज्ञानिक पद्धति से अनुभूति की व्याख्या कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सम्पर्क ही जीवन है और सम्पर्क का ही फल अनुभूति है। पशु की सजीवता उसके वातावरण के सम्पर्क की चेतना है; मानव की सजीवता उसके वातावरण के सम्पर्क की चेतनता है; परंतु किसी महान् व्यक्ति की सजीवता उसके वातावरण के सम्पर्क की चिंतना है। इंद्रियों का विषयों के साथ शरीर-प्रधान और भावशून्य सम्पर्क ही पशुजीवन है; इंद्रियों का विषयों के साथ रमण प्रधान और रससिद्ध सम्पर्क मानव जीवन है और इंद्रियों का विषयों के साथ विवेकपूर्ण और ज्ञानप्रधान सम्पर्क महान जीवन की विशेषता है।

पशु की चेतना मानव में चेतनता बनते बनते चिंतना के रूप में परिवर्तित हुई। यही चिंतना जागरूक स्वरूप का अपरिहार्य लक्षण है। चिंतना वातावरण के प्रत्येक सम्पर्क का मूल्य स्थिर करती चलती है; प्रत्येक विषयज्ञान को स्थिर करती चलती है।

राग और भाव की विषयप्रधान रमणशील परिस्थितियों के निष्कर्ष चितना जागरूक मन से नीचे भेजती रहती है और वे अवचेतन और अचेतन तलों में संग्रहीत रहते हैं। इन्हीं को अनुभूतियाँ कहते हैं। स्वयं जागरूकता भी इनकी उपस्थिति जान नहीं पाती। समय पड़ने पर, तादृश परिस्थिति के सहसा उपस्थित होने पर, उसी प्रकार की अनुभूतियाँ उमड़कर व्यक्ति को ओत-प्रोत कर देती हैं और वह वाणी आलेख अथवा चित्र में उनका सहारा लेता है।

बाह्य पदार्थों का सम्पर्क दो प्रकार का होता है—इंद्रिय-सम्पर्क और मन-सम्पर्क। जहाँ इंद्रियाँ विषयों से केवल बाह्यार्थी लगाव मात्र द्वारा उनके स्वरूप के कौंध को ही आलोकित करके रह जाती हैं वहाँ सम्पर्क इंद्रियों तक ही सीमित रहता है। यह सम्पर्क अनुभूति नहीं बन पाता। परंतु जहाँ इंद्रियों का विषयों के साथ का संगम मन की समस्त शक्ति के सहारे आभ्यंतर में पैठ जाता है वहाँ यह सम्पर्क अनुभूति बनता है। एक उदाहरण देकर यह अंतर सिद्ध करने का प्रयास किया जायगा।

एक व्यक्ति घर से अपने कार्यालय चलता है। उसे बहुत से व्यक्ति, बहुत सी सवारियाँ, मोटरें, गाड़ी सभी मिलते हैं। वह नेत्र मूँदकर नहीं चलता और वास्तव में सभी को देखते ही चलता है। परंतु कार्यालय पहुँचने पर यदि कोई उससे पूँछे कि क्या तुम्हें मार्ग में कोई हिलमन गाड़ी मिली थी तो वह न बतला सकेगा क्योंकि उसका यह सम्पर्क केवल बाह्यार्थशील था। वह नीचे उतरकर ऐसे तलों में नहीं पहुँचा था जहाँ स्मृति में गड़ सकता। यही बात उस व्यक्ति के लिए कही जा सकती है जो अपने उद्यान में प्रतिदिन भ्रमण करता और समस्त वातावरण में रमण भी करता है परंतु यह नहीं बतला सकता कि उस उद्यान में कितने वृक्ष हैं। प्रतिदिन कई बार अवरोहण और आरोहण करने पर भी हम अपने घर की सीढ़ियों की संख्या सहसा नहीं बतला सकते क्योंकि नित्य देखने और स्पर्श करने पर भी मनोयोगपूर्ण सम्पर्क उनसे नहीं होता।

जब मन इंद्रियों के द्वार पर बैठकर विषयों का सजग सम्पर्क करता है तो उसका ज्ञान आभ्यंतर में संग्रहीत होता जाता है। यही अनुभूति कोष है। मन दो कारणों से किसी पदार्थ के साथ सजग सम्पर्क करता है। प्रथम कारण विषयों का आकर्षण है। बाह्य पदार्थों अथवा परिस्थितियों में साक्षात् अथवा परोक्ष सम्पर्क के नैरंतर्य के कारण एक परिचय उत्पन्न हो जाता है जो मन को अपनी ओर बुलाता है। इसी परिचय को हम उनका आकर्षण और सौंदर्य कहेंगे। आकर्षण और सौंदर्य को पदार्थों और परिस्थितियों की केवल लावण्यमयी अथवा मधुर भावना ही न समझनी चाहिए। सफाई के दरोगा का आकर्षण कूड़े का ढेर अथवा पुरीष-स्तूप भी हो सकता

है। दार्शनिक दृष्टि से यही उसकी वृत्ति को आकर्षित करनेवाला सौंदर्य है। दूसरा कारण स्वयं मन की स्थिति है। मन किसी विषय में किसी समय रस लेता है और किसी समय नहीं। एक ही विषय में परिस्थिति विभेद से वह रसता और विरसता का अनुभव करता है। मन के इस पारद परिवर्तन का कारण उसका संस्कार और उसकी परम्परा है जो परिस्थिति के साथ उसके सम्पर्क का मूल्य स्थिर करती रहती है।

निष्कर्ष यह निकला कि वाह्य पदार्थों और परिस्थितियों के साथ इंद्रियों के मनोयोग-पूर्ण सम्पर्क से हृदय में नाना प्रकार के भाव उदय हुआ करते हैं। संपर्क अनुकूलात्मक और प्रतिकूलात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। शरीर को कष्टसाध्य परिस्थितियों में [illegible]लनेवाले विषय प्रतिकूल भाव उत्पन्न करते हैं और मधुर और सुषुमापूर्ण परिस्थितियों [illegible] प्रवेश करानेवाले भाव अनुकूल भाव जागरित करते हैं। अनुकूलता में सुख और [illegible]कूलता में दुख की प्राप्ति होती है। यह दूसरी बात है कि अपनी मानसिक साधना और ज[illegible]नयापन कला के कोण परिवर्तन के कारण कोई व्यक्ति त्याग और विराग में रस ले[illegible] अभ्यासी हो जाय और उसे उन विषयों में सुख न मिले जो शरीरानुकूल हैं और उ[illegible]यों में दुख की अनुभूति न हो जो शरीर प्रतिकूल है। एक तपस्वी अथवा साध[illegible]रीर को कष्ट देकर भी आनंद अनुभव करता है।

[illegible] भी हो प्रतिकूलात्मक और अनुकूलात्मक निवृत्यात्मक और प्रवृत्यात्मक, विरा[illegible] और अनुरागात्मक, दुखात्मक और सुखात्मक सम्पर्कों का नाम अनुभूति है। [illegible]पर्क के अंतर जो परिस्थिति आभ्यंतर में उत्पन्न होती है उसे अनुभूति कहते [illegible]नु' पीछे भव उत्पन्न होना अनुभव हुआ और इसी से अनुभूति शब्द बना है। य[illegible] कहा गया है कि अनुभूतियाँ अवचेतन और अचेतन तलों में संचित होती रहती [illegible] मानव का चेतन रूप उनकी उपस्थिति तभी समझ पाता है जब वैसा ही रूप [illegible] अथवा वैसी ही परिस्थिति सामने आ जाने के कारण वे उद्दीप्त हो उठती हैं। मा[illegible] अवचेतन और अचेतन रूप उसके चेतन रूप का विस्तार मात्र है जिसे चेतनता [illegible]ता परख नहीं पाती, परंतु सजग असजग और अर्धसजग सभी रूप परस्पर सं[illegible] पारस्परिक रूप से क्रियमाण हैं।

अ[illegible]पनी अपनी शिराओं में अलग अलग स्पंदित रहती हैं। ये शिराएँ चेतना-पि[illegible]ी कोष में संरक्षित रहती हैं। ये कोष स्वयं वर्गीकृत रहते हैं। यह विभाजन [illegible]न नहीं है यद्यपि भौतिक अवश्य है। इन वर्गों की अवस्था अत्यंत सूक्ष्म भाव[illegible]में होती है और तादृश बाहरी परिस्थिति के उत्पन्न होने पर उनमें सादृश्य की [illegible] विघटित होती है जिनमें नाना प्रकार के वर्गीकृत कोष बनते और

बिगड़ते हैं। जब हम किसी विषय पर लिखते, बोलते अथवा सोचते हैं तब उसी विषय को पुष्ट करनेवाली अनुभूतियाँ एक-एक करके अपने-अपने कोषों से निकल-निकलकर प्रयोग के लिए सजती चलती हैं। यही अनुभूतियों का प्रयोग पक्ष है। अनुभूतियाँ भावमय होती हैं। वर्गीकृत होते-होते उनका सुलझा हुआ बुद्धिसंगत रूप बाहर ही रह जाता है। उनकी तीव्रता और शिथिलता उनके भावरूप के वेग और उसकी मंदता पर आश्रित है।

अनुभूतियाँ निज की और पर की दोनों की होती हैं। इन्हें साक्षात् और परोक्ष अनुभूतियाँ कहते हैं। दूसरे की अनुभूतियाँ उसकी वाणी, उसकी लेखनी और उसकी मुद्रा से उतरकर हम पर उसी प्रकार आघात करती हैं जिस प्रकार अपने आभ्यंतर के तलों से निकलकर हमारी अनुभूतियाँ हम पर तादृश्य परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने पर करती हैं। अनुभूतियाँ व्यक्तित्व में घुली मिली रहती हैं। एक उदाहरण देकर हम अपनी बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

मोटर से लोग आहत होकर मर चुके हैं ऐसा हमारा अनुभव है। 'हार्न' बजने से आहत होने के भय की सूचना भी हमारी अनुभूति ही देती है। हार्न बजते ही भागकर हम दूर चले जाते हैं। ऐसा कोई विचार अपने विस्तार के साथ सामने नहीं आता कि हार्न बजने पर भागना चाहिए अन्यथा मोटर आहत कर देगी। बात यह है कि किसी समय की यह अनुभूति। अपने चिंतना संयत रूप को बाहर छोड़कर, केवल भावमय निष्कर्ष की प्रेरणा लेकर भीतर पैठ गई है और वह सारे शरीर-तंतुओं में व्याप्त हो गई है। यही कारण है कि हार्न बजते ही वह शरीर को सबसे पहले क्रियमाण कर देती है; जागरूकता बाद में उदय होती है। शरीर का समस्त स्नायुपुंज अनवरत रूप से नितांत स्पंदनशील और स्फुरणशील है। वह बाहर देखने में चाहे जितना स्थूल प्रतीत हो। अनुभूति की एक साधारण प्रेरणा विद्युत् प्रवाह की भाँति उसके समस्त स्वरूप को एक दम संचलित कर देती है।

एक प्रकार की अनुभूतियों का नैरंतर्य व्यक्ति में एक ही सी प्रक्रिया उत्पन्न करता है और मनुष्य में एक विशेष ढंग से सोचने और काम करने का स्वभाव बन जाता है। यह स्वभाव जब स्थायी रूप ग्रहण कर लेता है तो इसे भाव ग्रंथि कहते हैं। किसी विशेष प्रकारवाली भावग्रंथिवाला व्यक्ति और व्यक्तियों से पृथक सा आचरण करने लगता है और उसका अकेलापन स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

ललित कलाओं के निर्माण में अनुभूतियाँ ही प्रधानतया काम करती हैं। साक्षात और परोक्ष अनुभूतियाँ ही तादृश उत्पन्न परिस्थिति से क्षुब्ध होकर अनेकानेक

विलोड़नों द्वारा कवि हृदय में वह कसमसाहट उत्पन्न कर देती हैं कि उसके आभ्यंतर में वे अट नहीं पातीं। उनका विस्फोट लेखनी अथवा तूलिका की लाचारी बन जाती है। परंतु यह विस्फोट अपने एकांत रूप में ललितकला के उपयोग का नहीं होता। उसके औचित्य के स्थिर करने के लिए उसके अंतरगत समस्त अनुभूतियों की प्रासंगिकता सद्य उत्पन्न वाह्य परिस्थिति के मेल में स्थिर करनी पड़ती है। कौन अनुभूतियाँ परिस्थिति को भाव बल और रस बल देनेवाली हैं और कौन यों ही सी पीछे अनावश्यक रूप से चिपकी हुई हैं इनको विस्फुटित अनुभूति-पिंड से पृथक् पृथक् करना पड़ता है। जिस वृत्ति द्वारा यह व्यापार सम्पन्न होता है वह भी अतीत की अनुभूति ही है। विषय सम्पर्क की स्थूल सुख दुख परक भावना से लेकर विवेक और तर्क परक सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि वैभव सभी तो अनुभूति का ही परिणाम हुआ करता है। अतएव अनुभूति के सांदर्भिक औचित्य को भी अनुभूति ही निश्चय करती है। हृदय प्रधान से लेकर निरानिर बुद्धिप्रधान रूप तक पहुँचते-पहुँचते अनुभूतियों का भी परिष्कार होता चलता है। जो अनुभूति भावप्रधान अनुभूति का मूल्य और उसकी प्रासंगिकता का निर्णय करती है वह स्वाभाविक रूप से बुद्धिप्रधान होती है। अतएव ललित कलाओं में भावप्रधान और बुद्धिप्रधान दोनों ही प्रकार की अनुभूतियाँ प्रयोग में आती हैं।

कल्पना अनुभूति का वह रूप है जिसके निर्णयानुसार पूर्व अनुभूतियाँ एक एक करके सामने आती हैं। इसी की द्रुति गति को मेधा कहते हैं ऐसा बतलाया गया है। कल्पना का कार्य दो प्रकार का होता है। जैसे के तैसे रूप व्यापारों को सामने लाना कल्पना का सरल विधान है और उनमें वाह्य परिस्थितियों से अलग का फेर फार करना उसका मिश्रित विधान है। एक उड़ते हुए मनुष्य की अथवा मानवीय भाषा में एक बानर को व्याख्यान देते हुए कल्पना करना इस मिश्रित विधान कल्पना का परिणाम है। केवल गहरी अनुभूतियों से ऊपर और इंद्रियपरक सम्वेदन से नीचे झीनी और हलकी अनुभूतियों का एक और तल है। इन्हें वाह्य सम्पर्कों की केवल झाईं मात्र समझना चाहिए। इसके द्वारा दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है सामान्य और विशेष। मनुष्य कहने में कल्पना जिस मूर्ति को सामने लाती है वह मनुष्य के सामान्य गुणों से समन्वित होने के कारण सबका अपना अलग-अलग होता है परन्तु मोहन कहने से सबका ध्यान विशिष्ट व्यक्ति मोहन की ही ओर जायगा और किसी ओर नहीं।

यह विचित्र बात है कि जीवन का अनेकार्थी फँसाव जहाँ एक ओर अनुभूतियों

का विस्तार और जीवन को अमीर बनाने में योग देता है और मानव का महत्त्व बढ़ाता है वहाँ दूसरी ओर उसे आनंद रंक और घिनौना बनाकर क्षुब्ध भी बना देता है। आदर्श व्यक्ति वह है जो अनुभूतियों को केवल मानसिक स्तर पर पढ़ना और पढ़ाना जानता है और उनके भावविभोर रूप को तटस्थ भावना से देख सकता है। अनुभूतियों में वेग हो, विस्तार हो और गहराई भी हो; परंतु उनमें फँसाव न हो। यह परिस्थिति किसी विरले ही प्राणी में उदय हो सकती है। जब हम अपने खंड व्यक्तित्व को नीचे छोड़कर अखंड व्यक्तित्व में स्थित होना सीख लें तभी यह उदासीन आसक्ति सम्भव है। यही अनुभूति का सच्चा और आदर्श रूप है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन अनुभूतियों को काव्य में कैसे सजाया जाय जो ये काव्य के लिए उपयोगी हो सकें। अनुभूतियों का निर्माण वृत्तियों से होता है और अनुभूतियाँ वृत्तियों का निर्माण करती हैं। व्यक्ति की समस्त वृत्तियों का उदय, जागरण, पोषण और अवसान भोग भावना की प्रेरणा से होता है। स्थूल भोग भावना से अभ्यास वृत्तियों को ऊपर उठाकर केवल अनेकार्थी चेतना के रूप में उनका परिष्कार कर देता है। वृत्तियों के मूल में भोग की पार्थिव रस लिप्सा सुसंस्कृत होकर केवल अपार्थिव सौंदर्य मुग्धता के रूप में रह जाती है। इस साधना में काव्य बड़ी भारी सहायता देता है। कृति की संतुलित वृत्ति साधक में वृत्ति-संतुलन का अभ्यास जागरित कर देता है। वह अपनी किसी भागवृत्ति का अकेला पक्ष नहीं लेता। वह तो सारी वृत्तियों में भोग सामंजस्य उपस्थित करता है। इस साधना के लिए वृत्तिनियंत्रण प्रथम अभ्यास है। यही जीवन को एकांगी होने से बचाता है और उसे आदर्श गतिविधि की उत्तम कला प्रदान करता है।

उत्तम काव्य अनुभूतियों के ही औचित्यपूर्ण प्रयोग द्वारा वृत्तियों में भोग भूख का जागरण भी करता है और वृत्तियों की आकांक्षाओं में संतुलन का जागरण कर भोग-भूख में नियंत्रण भी सिखाता है। यही नियंत्रण मानव का परिष्कार करता है जिससे वृत्तियों की स्थूल भोगलिप्सा सौंदर्यलिप्सा में विकसित होकर पहुँच जाती है। मानव अपने शुद्ध रूप में आकर टिकता है।

आदर्शोंमुख साहित्य को भारतवर्ष ने क्यों आरंभ से ही पसंद किया इसकी थोड़ी बहुत चर्चा की गई है। हाड़-मांस के पिंड को यहाँ कभी महत्त्व नहीं मिला। बड़े-से-बड़े महात्मा, योगी, विद्वान तथा कवि ने अपने परिचय में बहुत कम लिखा है। बहुतों ने तो बिलकुल ही कोई चर्चा नहीं की। इसी लिए इस देश में इतिहास का वह मूल्य नहीं रहा जो दूसरे देशों में है। भविष्य को आलोक देने के लिए अतीत का जो वर्त्तमान मूल्यांकन करता है उसे यहाँ इतिहास कहते हैं। इसमें तो जीवन से

भिन्न आदर्श से असंबद्ध इतिहास का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। यहाँ मूर्त व्यक्ति से अमूर्त महत्त्व को अधिक बल देते थे। जिस किसी कलाकार ने किसी मानव में महत् के दर्शन भी किये और उसे दिखाने की चेष्टा की उसमें अधिकतर या तो इतिहास की प्रेरणा रही या साधारण जीवन के उत्थान का ध्यान रहा। महत को गरिमादान करने की व्यवस्था में ही क्षुद्रों को उठने के साधन मिलते चलते थे। हिंदी में ऐसे चाटुकार आश्रित कवि भी देखने में आते हैं जिन्होंने अपने आश्रयदाताओं को बड़ा बनाने में अपनी सारी प्रतिभा व्यय कर दी पर न वे उठ सके और न उनके अन्नदाता। यह परिपाटी अहितकर ही रही। महत के अभाव से न तो कलाकार में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है और न उसकी अनुभूतियों में ईमानदारी आ सकती है। जन-साधारण भी किसी काक को धवल आवरण देने से हंस नहीं मान सकता। फिर इस प्रकार के काव्य की हँसी ही होती है। यह यथार्थ साहित्य भी नहीं कहा जा सकता।

पूर्व और पश्चिम का जो सांस्कृतिक भेद है उसके दर्शन दोनों साहित्यों में स्पष्ट होते हैं। उसी भेद के कारण यथार्थ और आदर्श साहित्य का नामकरण हुआ है।

भारतीय संस्कृति

संस्कृति के चरम रूप में राष्ट्रीयता अथवा जातीयता के नाम पर देश-देश अथवा जाति-जाति को पृथक करनेवाले चिह्न नहीं होते फिर भी प्रत्येक राष्ट्र अथवा जाति की संस्कृति की कुछ विशेषताएँ होती हैं। ये विशेषताएँ सार्वभौमिक गुणों से समन्वित तो होती हैं पर किसी देश अथवा जाति के विशेष संस्कारों और परम्पराओं से पोषित होने के कारण उस देश अथवा जाति में विशेष रूप से दृष्टिगत होती हैं। भारतवर्ष की संस्कृति की कौन ऐसी विशेषताएँ हैं उनका उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता उसके स्वतंत्र विचार-पद्धति की है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यहाँ के छः दर्शन हैं। विचार-स्वातंत्र्य के लिए विचार-सहिष्णुता और उदारता की बड़ी आवश्यकता है और ये सब गुण यहाँ की संस्कृति में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इतिहास के उस अँधेरे युग में जब संसार के और देश सीधे सोचना भी नहीं जानते थे और परस्पर की मार-काट और नोच-घसोट मची हुई थी यहाँ ईश्वर के अस्तित्व तक पर भी खुलकर ऊहापोह किया गया है और तर्कयुक्त चिंतनप्रणाली के मार्ग से सारे अवरोधों को भ्रांत प्रमाणित किया है। इसके लिए न रक्तपात हुए और न विरोध हुआ। यहाँ की संस्कृति में असहिष्णुता कभी नहीं आई। जहाँ कहीं, जब कभी

देश में कट्टरता दिखाई दी तब संस्कृति के और सभ्यता के ह्रास का युग रहा है अथवा कुछ मुसलमान शासकों की क्रूरता और कट्टरता की प्रतिक्रिया-मात्र थी। बौद्धों का विरोध [illegible] राजनैतिक था। बौद्धों की अराष्ट्रीयता और उनके मठों के दुराचार के कारण यहाँ के कुछ शासक उनसे रुष्ट थे और उनसे उनका संघर्ष हुआ। पर यह संघर्ष विचारों और सिद्धांतों का नहीं था दुराचारों और सदाचारों का था जिनके मूल में राष्ट्रीयता और जातीयता काम करती थी। यहाँ के युद्ध नियमों को ही ले लीजिए। संसार की इतनी विकसित सभ्यता में भी युद्ध नियम इतने उदार और इतने उदात्त नहीं हैं और प्रतिपक्षी का उतना ध्यान नहीं रखा जाता है जितना महाभारत के उस प्राचीन युग में भारतवर्ष में रखा जाता था। अवध्य व्यक्तियों की जितनी बड़ी संख्या यहाँ की युद्धनीति के अंतर्गत आपको मिलेगी उतनी अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी।

विचार-स्वातंत्र्य की सांस्कृतिक देन ने ही भारतीय चिंतना को अनेकमुखी किया और ज्ञान की सार्वभौमिक प्रतिभा के दर्शन हुए। कला की अनेकरूपता इसका प्रमाण है। वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला का इतना विकास और संगीतकला का इतना सूक्ष्म विन्यास कदाचित ही कहीं मिले। साहित्य में तो इस स्वतंत्र वृत्ति ने न जाने कितने प्रकारों की सृष्टि की और साहित्य शास्त्रों की मीमांसाओं ने न जाने कितनी पद्धतियों को जन्म दिया। चाहे प्रयोग को सामने रखकर रीतिकार, वक्रोक्तिकार, अलंकारवादी अपने कोण से काव्य की प्राण-प्रतिष्ठा करें चाहे प्रभाव को आगे करके रसकार और ध्वनिकार काव्य के प्राण कहीं अन्यत्र बतलावें परंतु विचार-स्वातंत्र्य की विचित्र प्रतिष्ठा सबने की है और अपने अपने कोण से सब ने सत्य को देखा है।

हमारी संस्कृति का सबसे बड़ा गुण उसकी समन्वय भावना है। यह गुण आरम्भ से लेकर आज तक अबाध गति से चला आ रहा है। गोस्वामी तुलसीदास 'जीवन संस्तरण कला' की सुंदर भूमिका अपने समन्वय भावना के ही कारण देते हैं—

"घर कीन्हें घर जात है, घर छाड़े घर जाय।
'तुलसी' घर वन बीच रहु, राम प्रेम पुर छाय॥"

साधना, तपस्या, भक्ति को किस सुंदरता के साथ गृहस्थ-जीवन के साथ मिलाया है और 'घर' में ही 'वन' की साधुता प्रस्तुत कर दी है। ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों विधान अपने अपने रूप में बिलकुल स्वतंत्र और कहीं-कहीं परस्पर विरोधी भी दिखाई देते हैं। परंतु जीवन की नियोजना में अथवा सत्य के अनुसंधान में किस प्रकार एक हो जाते हैं और हमारे सामुहिक और वैयक्तिक जीवन में कैसे सामंजस्य स्थिर कर लेते हैं

यह हमारी संस्कृति की व्यापक पृष्ठभूमि के ही कारण संभव है। ज्ञान, भक्ति और कर्म की परम्परा आज की नहीं भारतीय योग विधान की बड़ी पुरानी परिपाटी है। इन तीनों योगों का उद्देश्य सत्य की प्रतिष्ठा है, वह सत्य जिसमें शिव और सुंदर सम्मिलित हैं। इस देश में बिना शिव और सुंदर के सत्य की कल्पना ही नहीं हुई और न बिना सत्य और शिव के सुंदर की कल्पना की गई। कर्मयोग, व्यवहार पक्ष में, विज्ञान के अनुसंधान का मार्ग खोल देता है और सत्य की ही प्रतिष्ठा के लिए भौतिक विज्ञान की उन्नति होती है। ज्ञानयोग मानसिक क्षेत्र को विस्तृत करके दर्शन की प्रतिष्ठा द्वारा उसी सत्य को सामने रखता है। भक्तियोग कला और साहित्य के रूप में उसी सत्य को निरूपित करता है। जब तक सत्य लक्ष्य के रूप में स्थिर है तब तक समन्वय भी उपस्थित है और यही लक्ष्य हमारी संस्कृति की देन है। अच्छी संस्कृति का सबसे उत्तम लक्षण उसकी ग्राहिका-शक्ति और लोच है। भारतीय संस्कृति में ये दोनों गुण हैं। इतिहास के जिस युग में भी भारतीय संस्कृति का यह रूप धूमिल पड़ा उसी युग में भारी अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो गई थी। जहाँ कहीं अच्छे गुण और अच्छे विचार सामने आये भारतीय चिंतन परिपाटी ने उन्हें आत्मसाद किया और पचा लिया। जिधर की दिशा झुकने योग्य हुई उधर हमारी संस्कृति झुकी भी। जिस साम्यवाद और समाजवाद की आज बड़ी धूम है और जिसके प्रणेता एंजिल और कार्ल मार्क्स का आज सब लोग गुण गाते हैं यदि उनके विचारों की पृष्ठभूमि की भौतिकता, अनीश्वरवाद, इहलोकवाद, अनाध्यात्मिकता हटाकर उन्हें केवल साम्य के आधार पर खड़ा किया जाय और उस साम्य का लक्ष्य केवल अर्थ ही न हो, तो हम लोगों को वह इतनी असाधारण न दिखाई पड़े। यहाँ का साम्यवाद आध्यात्मिक बटवारे की ओर लक्ष्य करता है। सबको वह एक प्रकार की दैवी सुविधा देने की व्यवस्था करता है। कार्ल मार्क्स भौतिक सुखों का समान बटवारा चाहता है। पर हम उन्हें अनित्य कहते हैं। यह तो पश्चिम के इतिहासकारों ने भी माना है कि जनसत्तात्मक भावना अद्वैत चिंतना की ही देन है। सारे समवितरणवाद के मूल में यही जन-सत्तात्मक भावना ही है। जिस धर्म और ईश्वर की आस्था को साम्यवादी मानव मन की सबसे बड़ी दुर्बलता कहता है वही यहाँ की संस्कृति की सबसे बलवती आधार-शिला है। अंतर केवल यह है कि हम मानव-शक्ति की इयत्ता को स्पष्ट देखते हैं और अपार्थिव सहायता पग-पग पर अनुभव करते हैं। साम्यवादी मानव बल पर ही पूरा विश्वास करता है।

यह असत्य है कि भारतीय संस्कृति ने अपने इतिहास में कभी भी कर्म को हेय स्थान दिया है। कर्मकाण्ड तो मुक्ति का एक साधन माना गया है। वर्ण-व्यवस्था समाज

का बटवारा मात्र था। शूद्रों का सामाजिक स्तर मानसिक ह्रास का निर्णय था और वह भी सार्वभौमिक अप्तवाक्य के रूप में न था।

भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता जीवन कला की लम्बी योजना (The Long term planning of life) है। हम जीवन की सामनेवाली दृश्य-जगत की सीमाओं को ही सब कुछ नहीं समझते। आत्मा की अमरता, जीव के आवागमन, जीवन का आनंद की ओर नैसर्गिक बढ़ाव, इंद्रिय संस्पर्श जन्य सुख-दुख की अनित्यता—इत्यादि इत्यादि पर हम विश्वास करते हैं। अतएव इस जीवन को हम आगे के जीवन को बनाने के लिए प्रयोग करते हैं। इस लोक के भीतर रहकर यहाँ के साधनों और उपकरणों का निसंग भाव से अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए ही प्रयोग करते हैं जिससे विकसित स्वरूप आगे के जीवनों में उन्नति ही करता चला जाय। आत्मा के उदय और अस्त, अलय और विलय दोनों के बीच का अवकाश इतना अधिक लम्बा है और उसकी एकतानता निस्संदेह है कि किसी भी जीवन के इस लोक के समस्त वर्षों का योग भी मेल ट्रेन में पड़नेवाले एक छोटे स्टेशन से अधिक नहीं। यहाँ इंजन की देखभाल हो सकती है, स्टेशन से कोयला और पानी ले सकता है। यात्री उतरकर कुछ खाने को ले सकते हैं। इसी जीवन को सब कुछ समझनेवाले पाश्चात्य भौतिक दार्शनिकों का यहाँ के चिंतकों से यही बड़ा भेद है। इसी ने जीवन के आदर्श को भी परिवर्तित कर रखा है। एक संस्कृति में भौतिक भोग, ऐहिक सुख, पार्थिव श्रेष्ठता, समस्त साधनों और वैज्ञानिक शोधों का मूल वैभव लिप्सा, पशुबल का उपार्जन, इसी जगत को सुंदर बनाना, वास्तविकता और यथार्थता को ही सब कुछ समझना है और दूसरी ओर भौतिक भोगों से वितृष्णा, शारीरिक तपस्या और संयम, पार्थिव हेयता, विज्ञान की शोधों में रहस्य विदीर्ण करने का कौतूहल, आध्यात्मिक शक्ति की साधना, इस जगत को सुंदर बनने में उपयोग करना, सत्य और आदर्श की प्रतिष्ठा करना है। इस सांस्कृतिक वैभिन्य ने विचार और व्यवहार दोनों में अंतर उपस्थित कर रखा था। भारतीय विचार-परम्परा से होकर कला और साहित्य में भी इसकी अपनी छाप है।

आरंभ से लेकर आज तक के कलाकार अपनी कृति को एक सुनिश्चित आदश की ओर मोड़ने में ही अपनी कला की कृतकार्यता समझते हैं। वास्तविकता को केवल उतना ही पकड़े हैं जिसमें जीवन की यथार्थता बनी रहे और असंभाव्य दोष न आ पाये। यह योजना जीवन के लम्बे सूत्र को साधने के ही कारण है जिसके दोनों छोर इहलोक के बहुत परे दोनों ओर फैले हैं। नाटकों में अवसादांत अभिनयों के अभाव का भी यही कारण है। नाटककार इस जीवन के दुखपूर्ण अंत को वास्तविक अंत नहीं समझता।

उसकी दृष्टि जीवन के दोनों ओर बहुत दूर तक पहुँचती है और उसकी व्यवस्था में पुण्यात्मा का अवसान दुखपूर्ण हो ही नहीं सकता। भारतीय संस्कृति ऐसे ही दूरद्रष्टा कलाकारों को जन्म देती रही है। कला का जो एक मादक और विस्मरणशील प्रभाव पड़ता है; जो वाह्य वातावरण के साथ चिंतना बुद्धि और विवेक तक को बहा ले जाने-वाला प्रवाह उत्पन्न हो जाता है; डुबानेवाला रस आनंद तक पहुँचा देता है; जिसमें चेतनता चेतन नहीं रहती उस सबका जीवन की मूल प्रेरणाओं में; बेजान में, गहरा असर पड़ता है। स्फूर्ति केंद्र की शिराएँ उसी गति-विधि से भोजन लेने की बान डाल लेती हैं। इस मानसिक सत्य को कलाकार खूब समझता है। ऐसी दशा में त्यागी, तपस्वी, पूतामा परहितरत नायक दुख में कैसे समाप्त हो सकता है। हमारी संस्कृति के कलाकार का विधि-विधान मर्त्यलोक की सीमाओं के परे की सोचकर इसी लोक में ही सारी लम्बी व्यवस्था का सफल स्वप्न देख लेता है। इस छोटे जीवन को अधिक महत्त्व न देने ही के कारण यहाँ के लोग अत्यंत सरल जीवन में ऊँची चिंतना को उतार सके। ऐसे कवियों को छोड़ दीजिए जो सांसारिक वैभव से अभिशप्त धनिक की ठसक की भाँति अपने पुस्तकीय पांडित्य का अभिशाप मस्तक पर हमेशा धारण किये रहते हैं। यहाँ के सबसे बड़े संस्कृत कवि कालिदास की वाणी सुनिए—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

देखिए गोस्वामी तुलसीदास जी क्या कहते हैं—

निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं,
तातें विनय करउँ सब पाहीं।
करन चहहुँ रघुपति गुन गाहा,
लघु मति मोरि चरित अवगाहा।
सूझ न एकउ अंग उपाऊ,
मन मति रंक मनोरथ राऊ।
कवि न होउँ नहिं वचन-प्रवीनू,
सकल कला सब विद्या हीनू।

हमारे यहाँ के संस्कृति में डूबे कवि एक ऊपर से गिरती हुई दैवी निर्झरनी में स्नान करते हैं। वे इस जीवन के परे के द्रष्टा होते हैं। यदि हमारे इस भाव रूप और विचार रूप पर आघात पड़ा तो भारतीयता ही नष्ट हो जायगी। वास्तव में राजकीय विजय, कोई विजय नहीं है, आर्थिक दासत्व भी कोई दासत्व नहीं है, सांस्कृतिक पराभव ही सबसे बड़ी हार है। सब प्रकार की अधीनता से देश उबर सकता है परंतु मानसिक दासता और सांस्कृतिक ध्वंस का कोई उपचार नहीं।

कुछ विदेशी चिंतकों ने और कुछ उन्हीं की विचारशैली में पले हुए भारतीय विचारकों और इतिहासकारों ने भारतीय दर्शन-पद्धति और कर्म-साधना को इसलिए बुरा कहा है कि यह व्यष्टि प्रधान है। उनका कहना है कि व्यक्ति को प्रधान केंद्र बनाकर जो विधि-विधान और विचार-पद्धति भारतीय ऋषिमुनियों ने सामने रखी उसके फलस्वरूप समष्टि पक्ष निर्बल हो गया। भारतीयों की संगठन-वृत्ति जागरित नहीं हुई और उनकी सामुहिक चेतना का न संगठित जागरण हुआ और न उनमें सामूहिक बल का ही संगठन हुआ। व्यक्ति निज की साधना में इतने रत हुए कि उन्होंने लोकधर्म की उपेक्षा की और इसीलिए इतिहास के किसी युग में भी हमारा संगठन पुष्ट नहीं हो सका।

स्वर्गीय प्रोफेसर रामदास जी गौड़ विज्ञान और भारतीय दर्शन के अच्छे जानकार थे। उन्होंने हमारी नीति-पद्धति का परिचायक निम्नलिखत श्लोक अपने एक लेख में उद्धृत किया है—

आपदर्थे धनं रक्षेत्, दारा रक्षेतधनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेत्, दारैरपि धनैरपि॥

इसकी व्याख्या में उन्होंने प्राणीमात्र के—जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है—स्वार्थी स्वभाव को प्रमाणित किया है। उनका कहना है कि मनुष्य के विकसित रूप में भी, उसके नीति ग्रंथों तक में, उसको स्वार्थ परायण होने की आज्ञा है। धन आपत्ति-काल के लिए रखा जाता है परंतु धन का मोह छोड़कर भी स्त्री को बचाना कर्त्तव्य है; पर जहाँ अपने ऊपर आँच आ जाय वहाँ स्त्री को भी उत्सर्ग करने में न हिचकना चाहिए। अपनी रक्षा तो प्रत्येक परिस्थिति में करनी ही चाहिए।

श्लोक की यह मीमांसा वास्तव में बड़ी स्वार्थी है। स्वर्गीय गौड़जी डारविनके 'विकासवाद' की यथार्थता उस लेख में समझा रहे थे। 'विकासवाद' के दो आधार सबसे प्रबल हैं—जीवन संघर्ष (Struggle for existence) और योग्यतमावशेष

(survival of the fittest) इन दोनों को आरंभ से ही मानकर चलनेवाले वाद में प्राणी का घोर वैयक्तिक और स्वार्थी होना नितांत स्वाभाविक है। इस श्लोक की गौड़जी ने जो व्याख्या की है उससे डारविन विचारधारा की संगति भी बैठ जाती है।

परंतु मानव पशु नहीं है। पशु से मानव बनते-बनते मानव ने अपने 'स्व' का भी विकास किया है। स्वार्थ का अर्थ आज केवल भौतिक शरीर रक्षा नहीं है। 'स्व' में वे समस्त उदात्त प्रेरणाएँ और समुन्नत विचार सम्मिलित रहते हैं जिनके कारण मानव ऊपर उठा है। यही 'स्व' उसकी 'आत्मा' है। अतएव 'आत्मानम् सततं रक्षेत्' का भाव अपने भौतिक स्वरूप की सर्वदा रक्षा करनी चाहिए यह नहीं है। यहीं गौड़जी ने भ्रम किया है। 'आत्मानम्' तो 'स्व' का वह रूप है जिसमें मानव की समस्त उच्चता मान्यता उसके संकल्प, मंतव्य इत्यादि सभी सम्मिलित रहते हैं। जब उस पर आघात लगे अथवा 'स्व' का रूप बिगड़े तो सचमुच ही आदर्श मानव को किसी के विनाश की चिंता न करनी चाहिए चाहे वह पत्नी हो अथवा पुत्र। जिस 'आत्मा' की रक्षा के लिए आघातों से तिलमिलाने पर भी सत्य हरिश्चंद्र ने शैव्या की ममता छोड़ दी; जिस 'आत्मा' की रक्षा के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्रजी ने पहले राज्य छोड़ा और फिर सती साध्वी पत्नी सीता का त्याग किया; जिस 'आत्मा' की रक्षा के लिए शक्ति संपन्न होने पर भी युधिष्ठिर ने अपने नेत्रों के सामने द्रौपदी के प्रति सभा में किये गये अनाचार को देखा; उसी 'आत्मा' की ओर संकेत है और वही मानव संकल्पों का घना कल्पवृक्ष है। संस्कृत की उन्नति के साथ साथ सभ्यता का भी विकास होता चलता है। शील के विस्तार में व्यवहार पक्ष के अनेक सौंदर्य फूट निकलते हैं। बड़े-से-बड़े कवि के नाटकों में, आगे चलकर, व्यवहार पक्ष का यही पिछड़ापन खटकने लगता है। समय भेदी दृष्टि साहित्यकार में वह क्षमता दे देती है जिससे वह सभ्यता का स्वरूप निर्माण करता चले और उसके पात्रों के आचरण में पिछड़ापन न आये। अन्यथा समय स्वयं व्यक्तित्व के शील का स्वरूप दान करता चलता है और उन्हें माँजकर पुरानेपन का मैल सामने दिखा देता है। ऊँची से ऊँची कृतियों में सभ्यता और नागरिकता का अशोभन रूप खटकने लगता है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र जी छिपकर आक्रमण किये हुए बालि के प्रति क्या कहते हैं सुनिये—

"मूँढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना"
"अनुज बधू भगिनी सुत नारी,
सुन, सठ ये कन्या सम भारी।"

बालि आहत है, मरणासन्न है। उसके प्रश्नों में नम्रता है। वह 'गोसाईं' सम्बोधन का प्रयोग करता है। यदि वह उत्तेजित होकर रोषपूर्ण भाषा का प्रयोग करता तो भी क्षम्य था। परंतु मर्यादा पुरुषोत्तम के लिये शील के ये उत्तम सम्बोधन कदापि नहीं कहे जा सकते। इन सम्बोधनों की ध्वनि, इनका उद्‌गार, इनके प्रयोग का ढंग सभी अशोभन है। यह नहीं कि हिंदी के इस अद्वितीय कवि को नागरिकता और सभ्यता के ऐसे अवसरों का परिचय न हो। देखिये हनुमान रावण से क्या कहते हैं —

'सब कहँ देह परमप्रिय स्वामी।'

हाँ, अंगद-रावण-संवाद में सभ्यता के भावी प्रकाश की किरणों को शील के ऊपर डालने में सावधानी नहीं बरती गई और कथोपकथन में उत्तम सभ्यता के रूप की रक्षा नहीं हो सकी।

सभ्यता के चिरंतन स्वरूप की रक्षा करना और उसे नागरिकता के आलोक में निर्माण करते चलना प्रत्येक ऊँचे कलाकार का काम है।

जिस प्रकार सामूहिक चेतना पर बल देनेवाली विचारधारा से व्यक्ति को निरखने, उच्च बनने और साधना के ऊँचे से ऊँचे सोपान पर चढ़ने का बहुत कम अवकाश मिलता है क्योंकि सारा समाज एक प्रकार से साधु न होने के अभाव में और सबको पग मिलाकर आगे बढ़ाने की प्रेरणा में असाधारण योग्यतावाले प्राणी कुंठित अवश्य हो सकते हैं; उसी प्रकार व्यष्टि को साधना का केंद्र माननेवाली चिंतना प्रणाली में समष्टि भावना का पीछे रह जाना भी स्वाभाविक है। परंतु देखना यह है कि क्या हमारी व्यष्टि भावना ने निज की साधना और निज के सुधार की बलवती प्रेरणा को इस सीमा तक स्वार्थी बना रखा है कि हम पड़ोसियों का हित देख भी नहीं सकते। यह आरोप बिलकुल निराधार है।

"सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु, मा कश्चिद् दुखमाप्नुयात्॥"

हमारी संस्कृति की यह वाणी केवल विचार का अलंकार नहीं है वह कर्म की स्फूर्त्ति है। जिस देश का चिंतक ऊँचा उठकर विराट की कल्पना कर सकता है और समस्त सृष्टि को एक रूप में देख सकता है वह व्यक्तिवाद के स्वार्थ रूप से परिचालित कदापि नहीं हो सकता। कितने अणुओं ने मिलकर इस विराट को बनाया होगा? परंतु जिन देशों में अणुओं की क्षमता विराट के निस्सीम बल के नापने की कल्पना में न प्रयोग की जाय वरन् उन्हें क्षुब्ध कर के विराट को ही लुंज-पुंज किया जाय उन देशों

की चिंतना को विराट का रूप समझाना बड़ा दुस्तर है। विश्व की किस दर्शन प्रणाली में मानव से भी नीचे उतरकर प्राणी मात्र को भी बीच में ही छोड़कर समस्त दृश्य और अदृश्य जगत को एक रूप समझने और व्यवहार करने की दीक्षा दी गई है ?

सिया राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

क्या समाज के एक-एक व्यक्ति का सुधार और संस्कार समस्त समाज का सुधार नहीं है ? यदि हम सब अपना सुधार अलग-अलग कर सकें तो क्या हमारा समाज ऊँचा न उठेगा ? क्या उन्नत व्यष्टि से ही समष्टि उन्नत नहीं होती ?

हमें भारतीय कला और साहित्य की सांस्कृतिक विशेषता की भी रक्षा करनी है। हमें जीवन के लिए जीवन का साहित्य देना है। यथार्थ केवल साधन है। वास्तविकता केवल प्रतीक मात्र है, वर्तमान केवल निमित्त भेद है। जीवन की समस्त वस्तुस्थिति को जीवन के चढ़ने की सीढ़ी बनाना है। यही साहित्य का उत्तम प्रयोग है। मार्ग पर घूमते हुए व्यक्तियों और घटनाओं की दौड़ धूप पर प्रसन्न होना कलाबाजी देखने और नट की उछल कूद पर विनोद लेने के छिछले मनोभाव का मनोरंजन हैं। सच्चा मनो-रंजन वर्तमान को छेद कर पीछे की प्रतिमा को झाँकता है और उसकी सुंदरता पर मुग्ध होता है। दृश्य जगत एक आलोक परिधि के भीतर चमक उठता है। यही सच्ची कला है और कला कला के लिए है इसका भी सच्चा रहस्य यही है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास की ओर ध्यान दीजिए।

गोस्वामी तुलसीदास की समाजिक दृष्टि

गोस्वामी जी के काव्य ने एक संसार दिया है। उसमें व्यष्टि और समष्टिका समान महत्त्व है। व्यष्टि के प्रयास में साधना की परम्परा है और समष्टि के निर्माण में समाज का समन्वय है। उनके समाज में अक्षमता और असाधुता का प्रतिरूप शुद्र है और समस्त उदात्त प्रेरणाओं से समन्वित ज्ञान और संतत्व का प्रतिनिधि ब्राह्मण है। इसीलिए उसके रोष में प्रलय के वेग की कल्पना की गई है—

"इंद्र कुलिस सम सूल विसाला, काल दंड हरि चक्र कराला।
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई, विप्र रोस पावक सो जरई ॥"

अतएव समाज के चलन को ही सामने रख कर वे कह देते हैं—

"पूजिय विप्र ज्ञान गुन हीना, सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना"

इसमें जाति गत पक्षपात नहीं है वरन जन्म गत वैपरीत्य से शाश्वत नियमों को बचाये रखने की बात कही है। शरीर पुष्टि का साधन गौ और मानसिक पुष्टि का साधन ब्राह्मण रहा है। इसी लिए इस देश में गो-ब्राह्मण हमेशा पूज्य समझे गए हैं।

यदि शूद्रों को उठाने वाली और बराबर समझने वाली वाणी सुनना है तो शबरी के प्रसंग में देखिये—

"कहा राम सुनु भामिनि बाता, मानहुँ एक भक्ति कर नाता।

यही नहीं समाज का शीर्षस्थान ब्राह्मण और ब्राह्मण के परमोत्तम स्वरूप ब्रह्मर्षि वशिष्ठ केवट की साधुता के ही कारण—

"प्रेम पुलकि केवट कहि नामू, कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू
राम सखा ऋषि बरबस भैंटा, जनु महि लुटत सनेह समेटा
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं, बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं"

केवट का भाव देखिये—"कीन्ह दूरिते दण्ड प्रनामू"

गोस्वामी जी की सामाजिक जीवन दृष्टि में व्यक्ति को अपनी हेयता का और दूसरे के महत्त्व का ज्ञान परमावश्यक है। यह हेयता अथवा शालीनता वृत्तियों की है अर्थ अथवा समृद्धि की नहीं। मूर्ख और पंडित, ऊँच और नीच में समत्व के व्यवहार द्वारा भारी अस्त व्यस्तता उत्पन्न हो सकती है।

"ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसर बात।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहि विप्र गुरु घात॥"
"वादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि॥"

समाज की परिचालना में व्यवहार पक्ष को सामने रख कर अनुचित आचरण करने वाले के लिये दण्ड विधान की भी उन्होंने व्यवस्था की है—

'जो नहिं दण्ड करौं खल तोरा, भ्रष्ट होहि श्रुति मारग मोरा।'

परंतु गोस्वामी जी प्राणी मात्र की मौलिक एकता और तात्विक समत्व पर विश्वास करते थे। भारतीय संस्कृति में ब्राह्मण, गौ, हाथी, चाण्डाल और पंडित में अभेद दृष्टि की शिक्षा दी गई है। सब में ही ब्रह्म की स्थिति मानी गई है। वर्तमान जन सत्तात्मक प्रणाली तो केवल मानव मानव में ही समबुद्धि रखने की बात कहती है गोस्वामी जी तो जड़ चेतन की एक तत्वात्मकता देखते हैं और अभेद भाव से कहते हैं—

"सियाराम मय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।"

गोस्वामी जी ने जहाँ एक ओर वर्णाश्रम धर्म को कड़ाई से पालन करने की सामाजिक योजना सामने रक्खी है, जिसके मूल में वृत्तियों की ऊँची नीची स्थिति और ज्ञान तथा साधना के उतार चढ़ाव के भेद के कारण समाज संगठित रहने के लिए बँट-

सा गया, वहाँ दूसरी ओर, व्यक्ति के अधिकार में ऊँचे से ऊँचे स्थान तक पहुँचने का साधन प्रदान किया। किसी भी प्रकार के अवरोध को उन्होंने नहीं माना। शबरी, केवट, गीध, सुग्रीव, विभीषण और हनुमान इत्यादि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। गोस्वामी जी ने साम्य स्थापित करने के लिए एक जनसत्तात्मक प्रयोग सामने रक्खा। गोस्वामी जी के पहले श्री मद्भागवत् में आर्थिक शोषण और धन के केंद्रीकरण के संबंध में देखिये क्या लिखा है—

यावद् भ्रियेत उदरं तावत्सत्त्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

पेट भर अन्न से अधिक पर अधिकार करने वाला चोर है उसे दण्ड मिलना चाहिये। इससे अधिक आज का साम्यवादी क्या कह सकता है! परंतु गोस्वामी जी की समवितरण भावना आर्थिक साम्य के लिए सशस्त्र क्रांति न थी। वह एक सुधा थी जिसे गोस्वामी जी ने समान रूप से सब के लिये वसुधा में सुलभ कर दिया॥ वह है उनकी भक्ति की देन। राजकीय गणतंत्र शासन स्वातंत्र्य का विधान, विकास औ व्यवहार है; भक्ति का गणतंत्र आध्यात्मिक स्वातंत्र का विधान विकास और व्यवहार है पंडित और मूर्ख, ब्राह्मण और शूद्र सब इसके समान रूप से अधिकारी हैं।

भक्ति के लिए भक्त और भगवान दो पक्ष होते हैं। पूर्णत्व के स्वरूप का नाम भगवान है और अपूर्णत्व के प्रतीक का नाम भक्त है। अपूर्ण में अक्षमता अयोग्यता, कुवासना सभी निवास करती हैं, पूर्ण में निखिल गुणों का आरोप रहता है। अपूर्ण को पूर्ण बनने के प्रयास का नाम भक्ति है। भक्त के लिए निजी हेय रूप का परिचय उतना ही आवश्यक है जितना भगवान के गुणों के विराट रूप का आभास। इस परिचय के व्याख्याता का नाम गुरु है। परिचित ही परिचय करा सकता है अतएव स्वर्ग और मर्त्य के क्षितिज का नाम गुरु है। हेयता के त्याग के प्रयास का नाम साधना है और महत्त्व की अवधारणा के योग का नाम आराधना है। साधना और आराधना को उचित प्रगति देना गुरु का व्यवहार पक्ष है। इसीलिए गुरु का महत्त्व गोस्वामी जी की समाज योजना में विशेष स्थान रखता है। भक्ति के उदय और विकास के लिए भगवान के प्रति अनन्य भाव का आकर्षण चाहिए। इसी को प्रेम कहते हैं। राम को यह सब से प्यारा है—

"रामहि केवल प्रेम पियारा, जान लेहु जो जाननहारा।"

परिमाणुओं का चिरंतन तत्व उनके अभ्यंतर की अमर सजगता है। गोचर ज्ञान पर ही विश्वास करने वाले परिमाणुओं से निर्मित व्यक्तियों के स्थूल स्वरूपों पर ही पूर्ण

रूप से टिक कर रुक जाते हैं और ऊपरी आवरण के जड़त्व को विदीर्ण कर भीतरी चेतना को नहीं देख पाते और न उनके आरोप की आवश्यकता ही समझते हैं। उन्हें गति का अनश्वर रूप समझाने के लिए प्रेम की अवतारणा नियति ने की है। प्रेम स्थूल परि-माणुओं को मथकर प्रकम्प के सिद्धांत और झकझोर में भीतरी सजीवता के रहस्य को दिखलाता है। मर्त्य और परिवर्तन शील के भीतर अमर, और चिरंतन तत्व को सजग कर देता है। परंतु भगवान की अनुरक्ति के लिए विश्व की विरक्ति चाहिए। ध्यान की अनन्यता के लिए सब ओर से खिचाव चाहिए। अतएव भक्त की साधना लोक वाह्य और समाज वाह्य रूप धारण कर लेती है। गोस्वामी जी के पूर्व भक्तों ने यही शिक्षा देकर संसार को माया जाल कहा है। परंतु गोस्वामी जी की सब से बड़ी देन भक्ति के लोक वाह्य रूप को लोकोपकारी और लोक व्यवहारी रूप में सामने रखना है। एक स्थान पर गोस्वामी जी ने जो यह कहा है—

"अब प्रभु कृपा करौ यहि भाँती, सब तजि भजन करहुँ दिनराती।"

तो इसमें 'सब' से भाव उन झंझटों से है जो भक्ति के आड़े आते हैं। कभी-कभी सांसारिकता सामने तन जाती है और आध्यात्मिकता को बढ़ने नहीं देती। उसी के प्रति कहा गया है—

"सो सब धरम करम जरि जाऊ, जहँ न रामपद ओर निबाहू।"

अथवा—"जरउ सो सम्पति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद, करै न सहज सहाइ॥"

गोस्वामी जी का महत्त्व काव्यकला की यह नई टीका है। उनकी कविता में स्वर्ग और पृथ्वी का सोहाग है। वह क्षितिज की चमकीली रेखा पर निर्मित है। उनके पार्थिव रूपव्यापार आध्यात्मिक रेखाओं के रंगों में चित्रित हैं। उनका सारा समाज पृथ्वी पर चलता और साँस लेता है फिर भी उसके प्राणों का खिचाव ऊपर की ओर है। वह पूरा पूरा दैवी सहारे पर टिका हुआ है और फिर भी सम्भाव्य मानव है। गोस्वामी जी की सृष्टि इसी द्वैत रूप के अविभाज्य अद्वैत का निर्माण है जिसकी प्रेरणा में संसार का महान कल्याण निहित है। नर और नारायण का पूरा पूरा समन्वय है और किसी पर आवश्यकता से अधिक संस्थान नहीं दिया गया कि दूसरे का स्वरूप धूमिल पड़ जाय और सृष्टि की प्रणोदना अथवा आध्यात्मिकता का प्रयोजन ही नष्ट हो जाय। जीवन

से प्रथक आध्यात्म अथवा आध्यात्म से प्रथक जीवन का कोई रूप उन्होंने सामने नहीं रक्खा। गोस्वामी जी की सामाजिक जीवन दृष्टि उनकी इस उक्ति में संग्रहीत है—

"घर कीन्हें घर जात है, घर छाड़े घर जाय।
तुलसी घर वन बीच रहु, राम प्रेम पुर छाय॥"

सामाजिक प्रगति के लिए जिस जीवन संस्तरण कला की आवश्यकता है उसका स्पष्ट रूप इस सूत्र में मिलेगा।

'घर' के इस लाक्षणिक प्रयोग में सारा कुटुम्ब और सारा समाज सम्मिलित है। 'घर' मानव निर्मित आतप शीत और वर्षा से रक्षा के लिए एक उपाय है। स्थिति धारणा की व्यवस्था का यह पहला प्रयास है। स्थिति धारणा के मूल में सृष्टि सम्वर्धन का प्रयोजन है। अतएव 'घर' की रक्षा विधि विधान की पूर्ति का साधन है। परंतु इस पूर्ति के मूल में यदि केवल सृष्टि चेतना ही काम करती रही तो मानव पार्थिव होकर रह जायगा और अपने सच्चे रूप को भूल जाने के कारण घोर सांसारिक संघर्ष के अकांड तांडव में व्यस्त हो जायगा। जीवन की इस परिपाटी में आध्यात्मिक प्रयोजन के ओझल हो जाने से पार्थिव साधना भी कुण्ठित ही रहेगी। इसीलिए गोस्वामी जी कहते हैं कि इस स्वनिर्मित 'घर' पर अनन्य भाव से आस्था दिखाने से यह रक्षित नहीं रह सकता है और न इस 'घर' की रक्षा में एकांत भाव से संलग्न मानव आध्यात्मिक शांति, अथवा पारलौकिक निवास-रूप (घर) को ही सुरक्षित रख सकता है। यह जीवन-यापन-कला सदोष है। इस उपदेश द्वारा गोस्वामी जी समस्त भौतिक वादियों तथा केवल दृश्य जगत पर ही विश्वास करने वालों को सामाजिक जीवन दृष्टि की नास्तिक विचार धारा की अक्षमता प्रदर्शित करते हैं।

दूसरी ओर सृष्टि के प्रयोजन से अनविज्ञ इसकी घुस-पैठ से ऊबे हुए पलायन वादियों की जीवन विधि को भी सदोष प्रमाणित करते हैं। उनका कहना है यदि हम अपनी उत्पत्ति की आज्ञा को बिना समझे हुए अपने घर और समाज को छोड़कर अकेले कहीं चिमटा वजाते हुए गंगा के किनारे अलख अलख चिल्लाने लगते हैं और बाहर से नितांत ध्यान हटाकर घर के भीतर ही ध्यान लगाने की एकांत और कड़ी परिपाटी चला देते हैं तो हमारा यह घर नष्ट हों जाता है, अर्थात सृष्टा का प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। इन साधुओं की आध्यात्मिकता और साधना के नाम पर बाढ़ सी आ रही थी। उन्हें फटकारने के लिए ही उन्होंने कहा है—

"हम लख, हमहिं, हमार लख, हम हमार के बीच।"

संसार में पहले अपनी सृष्टि के उद्देश्य को देखना चाहिए फिर विश्व और अपने संबंध के प्रयोजन को समझना चाहिए और अंत में ईश्वर भक्ति के साथ उसका सामंजस्य स्थिर करना चाहिए। भाग कर घट के भीतर झाँकने वाले से बाहर देखने वाला अधिक उपयोगी है।

"अंतरजामिहुं ते बड़ बाहरजामी।"

ईश्वर विश्व में ही बिखरा पड़ा है--

"पैज परे प्रहलादहुँ के प्रकटे प्रभु पाहनते न हिए ते।"

दोहे की दूसरी पंक्ति में सामाजिक जीवन की अपनी निजी दृष्टि की उन्होंने चरचा की है।

'घर' सांसारिकता और अनुराग का चिन्ह है और 'वन' आध्यात्मिक तपस्या और विराग का प्रतीक है। मानव को सांसारिकता और आध्यात्मिकता, अनुराग और विराग में पूर्ण समन्वय स्थिर करना चाहिए। राम-प्रेम आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा है। उसी के सहारे, जगत और ईश्वर के पूरे मेल में, मर्त्य और स्वर्ग के संधिस्थल पर, अकेले नहीं, सारे समाज का निर्माण करना चाहिए। यही उनका 'राम-प्रेम-पुर' है।

कवि और मानवीय प्रवृत्तियाँ

गोस्वामी जी ने अन्यत्र एक स्थल पर लिखा है--

'कीन्हे प्राकृत नर गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।'

इस उक्ति से केवल यही अभिप्राय नहीं है कि सब कवियों को भगवान का ही कथा गान करना चाहिए। भाव यह है कि जो कलाकार 'प्राकृत नर' (साधारण नर) में गुणों को ढूंढ़ ढूंढ़ कर उनकी प्रशंसा में अपनी वाणी का अपव्यय करते हैं उनकी प्रतिभा उनकी बुद्धि पर तरस खाती है और विलाप करती है। प्रेमचंद की सुमन, जैनेंद्र कुमार की सुनीता, जयशंकर प्रसाद की देवसेना, रविबाबू का काबुली वाला इत्यादि पात्रों को सजीव बनाने में और अमर करने में इन महान कलाकारों को कितना परिश्रम करना पड़ा फिर भी कालिदास की शकुंतला, भवभूति के राम, तुलसीदास के भरत अथवा मैथिली शरण गुप्त की उर्मिला अधिक विश्व व्यापक हैं। कारण यह है कि शकुंतला, राम, भरत और उर्मिला के पीछे एक इतिहास की परम्परा है जिसके साथ हमारा सांस्कृतिक संबंध है। अतएव हमारी चेतना में उसे समझने और समझाने के लिए एक गहरी पृष्ठ भूमि रहती है। ऐसे पात्रों की अनेक रूपता और अनेकार्थता यदि समझाई जा सके तो गतानुगति की डोर के सहारे लोगों का

कहीं अधिक लाभ हो सकेगा। कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि कवियों और लेखकों को नई उद्भावनाओं के लिए नये नाम व्यापार चुनना ही न चाहिए। समझना केवल यह है कि जहाँ अनुभूति की अनेक रूपता भरपूर और पक्की न हो वहाँ प्रतिभा को निराश्रित दौड़ाना उचित नहीं।

इन पंक्तियों के लेखक का कोई यह अभिप्राय न समझे कि वह केवल सुवृत्तियों की व्याख्या को ही ऊँचा साहित्य समझता है। संसार के निर्माण में उदात्त और निम्न वृत्तियाँ दोनों का योग अभिन्न रूप से मिला है। गोस्वामी जी ने कहा है—

"जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।"

काव्य, संसार और उसके रहन सहन की प्रतिष्ठा है। अतएव उसका संबंध वृत्तियों की अनेक रूपता से अनिवार्य है। निस्सीम व्यवस्था के भीतर सबका उचित स्थान है और सबकी आवश्यक उपयोगिता है। यदि मत्सर और डाह संसार में न हों तो बड़े-बड़े अपराधों का पता ही न चले। सत्य छिपा ही पड़ा रहे। परस्पर के संघर्ष से पापों के बहुत रहस्य खुलते हैं। संतों और साधकों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार आदि पाँच वृत्तियों को बहुत कोसा है। वास्तव में साधक को ऊँचा उठने के लिए सबसे अधिक यही बाधाएँ हैं। परंतु महान व्यवस्था में इनकी भी उपयोगिता है अन्यथा निखिलनायक इन्हें विश्व में प्रश्रय न देता। काम की उपयोगिता तो प्राणी को सक्रिय करने की चाह है और विश्व के विस्तार का साधन है। यह सत्य है कि काम की भौतिक सफलता की संतान लोभ और विफलता की संतान क्रोध है, परंतु उसका आध्यात्मिक प्रयोजन भी है जिसे प्रेय कहते है जिसमें वह कर्तृत्ववृत्ति और भोग वृत्ति दोनों से ऊपर उठ कर शुद्ध साधना मात्र हो जाता है। क्रोध में अत्याचार को विनाश करने की तिलमिलाहट है। लोभ में पदार्थों के प्रति चिपकाव और राग है जिसकी प्रेरणा से ही समस्त भौतिक पदार्थों का रहस्योद्घाटन और वैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव है। मोह ही मानव तक मानव को ले जाता है। अन्यथा मानव मन और मानव वृत्तियों की सुंदर व्याख्या साहित्य में न मिल सकेगी। 'अ' वर्ण माला का पहला अक्षर है 'ह' अंतिम अक्षर है। 'अहम्' का भाव 'अ' से लेकर 'ह' तक का ज्ञान है जिसका अर्थ ज्ञान की पूर्णता है। अहम् भाव का सात्विक अर्थ पूर्णत्व का अखण्डत्व का अनुभव है, "अहम् ब्रहास्मि" का आभास है। अहंकार का अर्थ इसी भावना का क्रियात्मक और व्यवहारात्मक रूप है। इसकी सच्ची अनुभूति तभी होती है जब पेड़ पर पड़ने वाली कुल्हाड़ी से साधक का शरीर कँप उठे, गिरते हुए पत्ते से शरीर सहम जाय।

अहंकार की उपयोगिता उस समय होती है जब कुमार्ग पर पग धरते-धरते मानव अपने महत्व को स्मरण कर सहम उठता है।

कुवृत्तियों का यही सुवृत्तिरूप है। यही उनकी उपयोगिता और मानव महत्व की गतिविधि के साथ सामंजस्य है। यदि कुवृत्तियाँ कही जाने वाली भावनाओं के निर्विशेषरूप के महत्व से गोस्वामी जी का परिचय न होता तो वे उन्हें अच्छे प्रसंगों में उदाहरण के रूप में प्रयोग न करते। वे कहते हैं—

"अस सज्जन मम उर बस कैसे,
लोभी हृदय बसइ धन जैसे।"

और सुनिये, वे कहते हैं—

"कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी प्रिय जिमि दाम।"

उसी प्रकार भगवान आप मुझे प्रिय लगें। साहित्य में इनका और इनके विस्तार का उतना ही महत्व है जितना किसी भी सुवृत्ति का। 'कु' और 'सु' अपने निर्विशेष-रूप में एक हैं। साहित्य में उनकी विवृति और 'कु' और 'सु' में उनकी अवतारण, कलाकार की प्रस्तावित प्रतिभा के अनुरूप होती है। फिर भी अश्लील और घासलेटी कहा जाने वाला साहित्य इसलिए निंद्य समझा जाता है कि उसमें मानव स्वभाव की अधोगामिनी और मानव समाहार की विच्छिन्न कारिणी वृत्तियों को पोषण और बल मिलता है। छंद और तंत्र को उन्मूलित करने वाली तरुणों की नैसर्गिक उच्छृंखलता को शक्ति मिल जाती है और आदर्शों पर धक्का लगता है। तरुणों की कृतियों की लाली की उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिये जैसे उनके कपोलों की लाली की। जिस वृत्ति से कपोलों की लाली फीकी पड़े उसे कदापि न पनपने देना चाहिये। 'मेरे लाल की लाली' के अनुरूप ही उसका विकास होना चाहिये। शील और अश्लील कलाकार की अवधारण मति और अभिव्यंजन-साध पर अश्रित है। घिनौने मन और कर्म से घिनौने बचन निकलना अस्वाभाविक नहीं है। परंतु घिनौना प्रचार अक्षम्य है। पापों की तालिका और उनकी अनेकरूपता किसी भी दण्ड शास्त्र में मिल सकती है। काम व्यापार का विभिन्न आघात और अन्य कुवृत्तियों का नग्न व्यापार न्यायाधिकरण के संरक्षित प्रपत्रों में मिल सकते हैं। जानकारी को लम्बा करने वाले ज्ञान व्यवसायी उन्हें देखें और अनुशीलन करें। साहित्यकार अपना विशेष अनुराग दिखा कर इन्हें काव्य का बल और महत्व क्यों प्रदान करें?

स्वांतः सुखाय

इधर के काव्य में बहुत कुछ अंश ऐसी कृतियों का मिलेगा जिनमें वस्तु की लम्बी गुम्फना के स्थान में कल्पना का अनेकार्थी किंतु छोटा विस्तार गीतों में रक्खा गया है। यह भी परिपाटी पुरानी ही है परंतु इधर इसके रूप और आकार में फेरफार हुआ है। पुष्ट और मांसल भावों के वेग, जीवन की कसमसाहट, अथवा भविष्य के लिये वर्तमान की बनाई हुई अतीत की प्रतिमा के स्थान में हल्का भाव का झोंका, कल्पना का नवीन लदाव और अभिव्यंजन चेतनाएँ, कुछ पंक्तियों में बँध कर गीत का रूप ग्रहण करती हैं। इनमें एक हल्का मानसिक टिकाव होता है। बस उतना ही इनका उपयोग है और उतनी ही इनकी मनोरंजकता है। बीच-बीच में तथ्य निरूपक धीमें-धीमें उक्ति-सूत्र भी मिलते चलते हैं और उनमें आंशिक सत्य के दर्शन होने के कारण भावुक पाठक इन्हें कण्ठस्थ कर लेते हैं। ये रंगीन टुकड़े बोधवृत्ति की कोरी सौंदर्य-लिप्सा को सजग कर देते हैं और जो कुछ भी थोड़ा बहुत जीवन का अंश उनकी पकड़ में आ पाता है उतने ही के कारण पाठक स्वस्थता की भावना अनुभव कर लेता है। इन गीत-काव्यकारों में ऐसे भी कवि हैं जो केवल चित्रकारी बनाते हैं काव्य नहीं लिखते। कुछ लोग ऐसी पंक्तियों को गोस्वामी जी की उक्ति 'स्वांतः सुखाय' की आड़ में काव्य घोषित करते हैं।

वाह्य स्वरूप व्यापारों के सम्पर्क से निर्मित प्राणी के सजग व्यक्तित्व का नाम 'स्व' है। 'स्व' का अर्थ स्वेतर सृष्टि से नितांत प्रथक अथवा विरोधमूलक व्यक्ति की स्थिति नहीं है। समष्टि के साथ व्यष्टि की एक सहयोगी और हिल मिल वर्तन नीति होती है। वह 'स्व' की वाह्य परिस्थिति है। 'स्व' की एक आंतरिक परिस्थिति भी है जहाँ वह वाह्य बंधनों से मुक्त अपने निर्विशेष रूप में रमण करती है। उस स्थिति के अनुकूल परिस्थिति को ही 'स्वांतः सुखाय' की अवस्था कहते हैं। बाहर की निंदा स्तुति वहाँ पहुँच नहीं पाते। बाहरी महत्व और नीति-ज्ञान का प्रवेश वहाँ नहीं होता। न आश्रयदाता की चाटुकारिता है और न विफल दुर्गुणों का दुराव। गोस्वामी जी का 'स्वांतः सुखाय' आभ्यंतर की इसी रमणशीलता का नाम है। कलाकार का 'स्व' बाहरी जगत को और कल्पना के व्यापार को अपने ढंग से अपनी चयन पद्धति से पकड़ता है और अपनी ही प्रेरणा-विधि के अधीन स्वरूप दान देता है। परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उसका 'स्व' संकीर्ण अव्याप्त और स्वरैण्य होता है अन्यथा वह बड़ा कलाकार रह ही नहीं सकता। महान कलाकार का 'स्व' विस्तृत और

व्यापक होता है। उसमें निखिलत्व रमण करता है और वह निखिलत्व में रमता है। शेष और अशेष के रमणशील तत्व मिलजुल कर एक बन जाते हैं। 'स्व' का अंतस निखिल का अंतस बन जाता है और 'स्वांतः सुखाय' काव्य सबके ही भीतरी तलों को छूकर गुदगुदा देता है। इस प्रकार के समीकृत रूप व्यापारों में साधारणीकरण की अनुपम युक्ति मिलती है और वे सबको सब समय रुचते हैं। स्वार्थ और परमार्थ एक हो जाते हैं।

कला का उद्देश्य ही कलाकार से बाहर निकल कर दूसरे से संबंध स्थापित करना है। साहित्यकार में बंद साहित्य, साहित्य नहीं है। उसका मूल्य बाहर निकलने ही पर है। मुद्रा का मूल्य उसका व्यवहार पक्ष है तिजोरी में सर्वदा के लिये कारावास प्राप्त करने से नहीं। अतएव 'स्वांतः सुखाय' का इससे उत्तम कोई अर्थ हो ही नहीं सकता कि 'स्व' का अभिप्राय 'स्व' का विस्तार है और उसका संकोच किसी बाहरी बंधन अथवा व्यवधान से दूर रहना तो हो सकता है परंतु स्वेतर का नितांत वहिष्कार नहीं है।

साहित्यकार की कृतियों में बहुतों के स्पंदन होते हैं। वह ब्रह्मा का सीधा उत्तराधिकारी है। ब्रह्मा ने संसार रच कर मृत्यु दिखाई, कलाकार कल्पना देकर अमरता समझाता है। ब्रह्मा ने ठोस वास्तविकता दी परंतु उसे माया कहा गया। कलाकार शुद्ध माया सामने रखता है परंतु उसे ठोस यथार्थ समझा जाता है। ब्रह्मा के जगत के मंथन से जो सत्य निकलता है वह भंगुरता का गरल है। कलाकार की रचना के मंथन से जो सत्य निकलता है वह नित्यता का अमृत है। स्रष्टा प्राणी को पैर पर चला देता है परंतु उसे रहने का रहस्य कलाकार ही सिखाता है। अच्छे काव्य के लिए किसी ने उचित ही कहा है—

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः
वमति श्रवति सुधा मधुः

विराट का सबसे बड़ा काव्य यह विश्व है। इसके वैषम्य में अनुपम सौंदर्य है। उसे देखने और दिखाने के लिए प्रतिभा चाहिये। और फिर वैषम्य की समता प्राप्त करने की निरंतर चेष्टा और साम्य का फिर वैषम्य के चित्र में फिसल जाने की धुन इस गति के नैरंतर्य में अनुपम कर्म सौंदर्य है उसे कलाकारों को परखना और परखाना है।

कला की माता और कला का निर्माता दो पृथक-पृथक व्यक्ति होते हैं। पहला कलाकार और दूसरा समीक्षक कहलाता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

"मनि मानिक मुकता छबि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृपकिरीट तरुनी तनुपाई, लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकवि कवित बुध करहीं, उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं" ॥

'नृप किरीट' और 'तरुनी तन' वास्तव में समीक्षक के निर्माण किये हुए वतावरण की व्याख्या है जिसके भीतर कृति को सजाकर उसका मूल्य समीक्षक बढ़ाता है। समीक्षा-कार्य गुणों की तालिका उपस्थित करना नहीं है वरन उनका ताना बाना सजाना है। कृति के अक्षरों के परे एक अलिखित रूपरेखा होती है। कृति उसी के भीतर चमकती है। यह रूपरेखा सबको नहीं दिखाई देती। इस सीमा को और उसके भीतर के समस्त तत्वों को इस प्रकार स्पष्ट कर देना कि कृति का महत्व एक दम चमक उठे सच्चे समीक्षक का काम है। यह तभी सम्भव है जब कृति के प्रति समीक्षक का अनुराग हो। तभी वह उसके प्राणों तक पहुँच कर रमण कर सकता है और तभी उसकी चमकीली सीमाएँ उसे दिखाई देने लगती है। कृति अपने समस्त संकुलरूप से उस पर प्रभाव डालती है। वैसे तो माता को अपने सभी पुत्र प्रिय होते हैं परंतु धात्री जिसे प्यार करके पोषित करे वही सौभाग्यशाली है। जिस व्यक्ति में मातृत्व का वात्सल्य नहीं है और संतति के उत्संग में आते ही उसका मन थिरक नहीं उठता वह धात्री होने का अधिकारी नहीं। गोस्वामी जी कहते हैं—

"निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होहु अथवा अति फीका।
जे पर भनिति सुनत हरषाहीं, ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं॥"

अपनी कृति की अपने मुँह से वाह-वाह करने वाले और अपनी रचनाओं की आकाशवाणी द्वारा स्वयं मीमांसा करने वाले इस युग में बहुत मिलेंगे।

"जग बहु नर सर सरि सम भाई, जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई।"

परंतु किसी पुण्यात्मा की कला पर मुग्ध होकर रसमग्न होने वाले और उसे छूने के लिए ऊपर उठने वाले समालोचक कम मिलते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी की निम्नलिखित उक्ति में कलाकार और कलापारखी की एक साथ एक ही सूत्र में व्याख्या की गई है—

"कवि बियास रस कमला पूरी, दूरि सो नियरु नियरु सो दूरी।
दूरि सो नियरे जस गुड़ चाँटा, नियरु सो दूरि फूल जस काँटा॥

भँवर आय वनखंड से, लेइ कमल कर बास।
दादुर बास न पावई, रहहि जो आछहिं पास ॥"

जिस प्रकार कवि के लिए—ऐसे कवि के लिए जो व्यास के सदृश वाणी के वरदान से पूर्ण हैं—उसी प्रकार सरस्वती से पुरस्कृत समीक्षक के लिये भी निकट की अभद्रता और असौंदर्य अदृश्य रहता है और दूर से दूर की रमणशील परिस्थिति और उसका सौंदर्य स्पष्ट दिखाई देता है। निकट के काँटे का प्रभाव गुलाब पर नहीं पड़ता परंतु दूर की मिठाई चींटे को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

रसहीन छंद व्यवसायी को उसी प्रकार आस पास का सौंदर्य आविभूत नहीं करता जिस प्रकार मेढक को पास के कमल की सुगंध नहीं मिलती और उससे भी अधिक अरसिक समीक्षक को कृति में गुण के दर्शन ही नहीं होते। सच्चा कलाकार और सच्चा आलोचक दूर से ही गुप्त से गुप्त सौंदर्य को खोज निकालता है और उसमें तल्लीन हो जाता है। भ्रमर वृत्ति लेकर ही समीक्षा क्षेत्र में उतरना चाहिए दादुर वृत्ति लेकर नहीं।

गोस्वामी जी की देवत्वस्थापना

समीक्षा की कई पद्धतियाँ पश्चिम से भारत में आई हैं और उनका आगमन साहित्य जगत के लिए अच्छा ही हुआ। हमारी पूर्वीय पद्धतियों का उनसे संगम भी हुआ और नई पद्धतियाँ उत्पन्न हुईं। इस छोटे लेख में उन सब की मीमांसा अभीष्ट नहीं है। विदेशी भाषाओं में इस विषय पर अनेक ग्रंथ हैं। उनकी पुस्तकों में प्रवाह और अद्भुत वेग हैं। अपने साथ बुद्धि को लेते जाना साधारण बात है। भारतीय साहित्य शास्त्र के ग्रंथों में भी अनुपम बल है। प्रत्येक प्रकार की काव्य मीमांसा को पढ़ते समय वही और केवल वही सत्य प्रतीत होती है। अँगरेजी और संस्कृत आलोचना ग्रंथों को पढ़ते-पढ़ते विश्वविद्यालय के छात्र और अध्यापक अपनी निजी और अकेली धारणा बना लेते हैं। जिस ग्रंथ और परिपाटी का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है उसी के अनुकूल उनकी मति बन जाती है। जो मन में आता है बेधड़क लिख डालते हैं। मुझे अच्छी प्रकार स्मरण है, और मैंने पहले लिखे हुए अपने समीक्षा-ग्रंथों में इसकी चरचा भी की है, कि गोस्वामी तुलसीदास के मानस का सबसे बड़ा दोष उसमें स्थान-स्थान पर कवि द्वारा अपने नायक में देवत्व का आरोप है। आज भी मेरे बहुत से ख्यातनामा आलोचक मित्र इसी धारणा को सत्य मानते हैं कि काव्य की अद्वितीय मस्ती में, उसके रसास्वदन में, उसके यथार्थता के रमणीयत्व

में, सबसे बड़ा अंतराय देवत्व की स्थान-स्थान पर अवतारणा है। परंतु आज थोड़ी गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचरितमानस का मुख्य उद्देश्य ही राम में देवत्व की अवतारणा है। यदि कहीं 'नरलीला' में नरत्व की यथार्थता नारायणत्व को भुला देने में काव्य की सहायता करने लगती है तो उसे गोस्वामी जी काव्य की दुर्बलता समझते हैं और नायक के स्वरूप निरूपण की अक्षमता स्पष्ट कर देना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। राम में ब्रह्म किसी भी परिस्थिति बस न देख पड़े यह उन्हें असह्य था। राम की लीलाओं में मानवत्व के दर्शन अवतार की लाचारी थी। सबको उसे इसी रूप में देखना चाहिए। अन्यथा भाव उत्पन्न हो जाना असत्य है। अतएव उनकी दृष्टि में कला का सबसे बड़ा कार्य सत्य की स्थापना है यथार्थता के साथ क्षणिक रमणशीलता नहीं। जो समीक्षक देवत्व की स्थान-स्थान पर स्थापना को काव्य दोष समझते हैं वे सत्य के विपरीत वास्तविकता के साथ क्षणिक रमणशीलता को ही सब कुछ समझते हैं और सत्यनिरूपण तथा आदर्श स्थापना के प्रयास को महत्व नहीं देते। चेतनता की कोमल और मधुर देख-भाल के भीतर जो कला फूलती फलती है वह मनीषियों की ममता प्राप्त करती है। बुद्धि को पूरा-पूरा डुबा देनेवाली, ज्ञान को पूरा-पूरा बहा ले जाने वाली प्रयोजन शून्य कविता केवल ऐहिक वृत्तियों की उदीप्ति की गुदगुदी मात्र है। कला की उत्तमता भूत और वर्तमान को भविष्य के निर्माण में नियोजित करती है, पार्थिव व्यवस्था को ही सब कुछ नहीं समझती। हिंदी के दूसरे श्रेष्ठ कवि सूरदास ने तो कृष्ण के भागवत रूप को यथार्थता के परिवेष्टन में इतना भीतर कर दिया है कि उन्हें देवत्व की घोषणा और आवश्यक हो गई थी। गोस्वामी जी के अवतार तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे। उनकी यथार्थता आदर्शोन्मुख होने के कारण ऊँचे स्तर की हैं। परंतु सूरदास के भगवान तो अति प्राकृत मानव बने। बाल कृष्ण और युवा कृष्ण दोनों ही छोटे छोटे गीतों में यही रूप धारण किये हैं। अतएव उन्हें भी देवत्व की स्थापना करनी पड़ी। विनय के पदों के अतिरिक्त भी उन्होंने पाठकों को स्थान स्थान पर स्मरण कराया है कि कृष्ण जी नर लीला कर रहे हैं; वे भगवान हैं। इन दोनों महाकाव्यकारों के इन स्थलों को काव्यादर्श पूर्त्ति का महान साधन समझना चाहिए अतएव वे कला की कृतकार्यता के प्रमुख स्थल हैं। वे काव्य दोष के रूप नहीं। गोस्वामी तुलसीदास तो देवत्व स्थापना और राम के निस्सीम महत्व के साथ-साथ निज की हेयता भी स्थान-स्थान पर दिखलाते चलते हैं। अक्षमता, अयोग्यता, दुर्बलता तथा हेयता की आत्म स्थिति परमात्मा की पूर्ण शक्ति सम्पन्नता के ज्ञान के

पश्चात ही उदय होती है। इस भाव को बिना समझे गोस्वामी जी के इस मंतव्य को कला के स्वरूप निरूपण में बिना प्रयोग किये किसी समीक्षाकार को प्रचलित काव्य विशेषताओं से मेल न खाने के कारण उनके काव्य पर टीका टिप्पणी न करनी चाहिए।

रीतिकारों का काव्य

हिंदी काव्य में एक दूसरा पक्ष देखिये। वह रीतिकारों का है। इन लोगों ने अलंकारों और छंदों के मोह से और उनकी अनेक रूपता प्रदर्शित करने के लिए कविता की है। गद्य में भी कुछ ऐसे लेखक हैं जो अभिव्यंजन का कौशल प्रदर्शित करने के लिए आलेख लिखते हैं और लिखा है। इनका, नैसर्गिकरूप से, वस्तु की ओर ध्यान अप्रधान है। महा कवि केशव तथा अन्य रीतिकाल के कवियों का मंतव्य आदर्श अथवा पुष्ट नायक देने का उतना न था। इसीलिए उन्होंने नायक को घात-प्रतिघात और अंतरद्वंद्व के भीतर अधिकतर नहीं डाला और न घटनाओं की गुम्फना इस प्रकार रची जिसमें उनका रूप निखरे। कथा की मनोरम परिस्थितियाँ और रमणशील स्थलों की ओर भी उनका ध्यान कम था। इसीलिए उनकी योजना कम की गई। वे तो पंडित थे और शास्त्रीयता को प्रगति देने के लिए उन्होंने लिखा। इन्हें हृदय हीन अथवा अमार्मिक अथवा अरसिक कहना उचित नहीं। कथित अरसिक केशव की एक उक्ति सुनिये। वे रामचंद्रिका में एक स्थल पर कहते हैं—

"सकल कर्म जो कीजिये,
सफल तरुनि के साथ।
ताबिन जोई कीजिये,
निस्फल सोई नाथ॥"

इसमें पत्नी के लिए 'तरुनि' शब्द का प्रयोग देखिये। यह साभिप्राय है और कवि के शृंगारिक मनोभाव का द्योतक है। यह वही मनोभाव है जिसने उनके धवल केशों को पनघट पर बैठकर कोसा है। यह कवि हृदय-हीन कैसे कहा जा सकता है? उसी तरुणी के लिए गोस्वामी जी कहते हैं—

'दीपशिखा सम जुवति जन'

इन दोनों महाकवियों की भावनाओं के विशाल अंतर को समझकर उनकी समीक्षा करनी चाहिये। उनके काव्य सिद्धांत को सामने रख कर ही उनकी समीक्षा करनी चाहिए। जिसके काव्य का उद्देश्य और मंतव्य ही केवल अलंकार और छंद निरूपण है, रस, भाव, नायक, कथानक और घटनाचक्र की ओर उसका ध्यान कम है, उसे उनके अभाव के लिए

कोसना ठीक नहीं है। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ऐसे मार्मिक कवि ने कहीं-कहीं मौज में आकर अलंकारों के फेर में रीतिकारों की सी उक्तियाँ कह डाली हैं। विरह के कारण सीता की स्वाँस इतनी ऊष्ण कर दी गई है कि पत्ती पुराने-पुराने घर छोड़ कर भाग जाते हैं और वायु भी एक बार आकर फिर उधर नहीं आती। विरह में विक्षिप्त रामचंद्र को सीता के अंगों के उपमानों का पूरा-पूरा ध्यान रहता है और वे उनका एक-एक करके नाम लेते हैं और सीता के खो जाने के कारण उनका हर्ष व्यक्त करते हैं। सीता जी पलंग, पीठ, गोद अथवा हिंडोले से कभी उतरती नहीं। इससे उनकी सुकुमारता व्यक्त की गई है। कँगुरिया की मुँदरी दुबले पन के कारण कंकन हो गई है। परंतु ये प्रयोग उनके काव्य के अंग नहीं अतएव समीक्षक को खटकना उचित है।

नया काव्य

हिंदी काव्य का एक तीसरा रूप भी देखिये। प्रसाद जी की 'कामायनी' लीजिए वह एक सुंदर काव्य है यह सब कहते हैं। उसे पुरस्कार मिला है। उसके लेखक हिंदी साहित्य के अमर कलाकार समझे जाते हैं और हैं भी। वास्तव में प्रसाद जी ने अपने नाटकों में, एकांकियों में, उपन्यासों और कहानियों में इतिहास और पुराणों के इतने नायक और कथानक पकड़े हैं और जीवन की घोर वास्तविकता के इतने थपेड़ों में उन्हें आदर्श तक बढ़ाया है कि अंत तक पहुँचते-पहुँचते वे सारे अतीत का नया मूल्यांकन कर देते हैं। जीवन के मांसल रूप व्यापार भरे पड़े हैं जिनके रससिक्त अभिव्यंजन में सार्वजनीनता और सार्वकालीनता बिखरी पड़ी है। 'कामायनी' के पूर्व के उनके गीतकाव्यों और मुक्तकों में जीवन के कठोर और कोमल पत्त और खण्ड, पूरी मार्मिकता के साथ भावनाओं की अनेकरूपी अंतरदशाओं को स्पष्ट करते हुए अभिव्यक्त किए गये हैं। 'कामायनी' तक पहुँचते-पहुँचते कवि पूरा-पूरा दार्शनिक हो गया है, यद्यपि दार्शनिकता के तत्व उसकी कला में आरंभ से ही विद्यमान हैं। मानसिक विचारों की एक व्याख्या होती है; मनोदशाओं और अंतरदशाओं की एक मीमांसा होती है; शरीर अवयवों का नई उपमाओं और प्राकृतिक परिधि के प्रतीकों के सहारे सौंदर्य निरूपण होता है; भीतर के वेगपूर्ण मनोभावों के सात्विक विकारों का संकुल विश्लेषण होता है। पर ये सब कृति के शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व के सहारे अपना यथास्थान प्राप्त करते हैं। 'कामायनी' काव्य की परिपाटी में न तो व्यक्तित्व के स्पष्ट और अमिट निर्माण की ओर कवि का ध्यान है और न कथा वस्तु का रेखानुरेखा विस्तार है। मानव के उत्थान-पतन में सहारा देनेवाली और झगड़नेवाली परिस्थितियों की व्यापक और खंड योजना भी

इसीलिए नहीं है। उनका ध्यान किसी भी पात्र को पुष्ट रूप देने की ओर न था। इन योजनाओं के बिना ही, सीधे खड़े हुए व्यक्तियों के अनाश्रित, गीत काव्यों की परिपाटी के अनुसार, स्थूल स्वरूप वर्णन तथा मनकी हलकी और झीनी अंतरदशाओं को सूक्ष्मता से अधिकाधिक उतार लाना और सात्विक भावों को नये ढंग के काव्य पूर्ण चमत्कार के साथ रसात्मक झोंकों के सामने रखना अत्युत्तम बना है। यह परिस्थिति साध्य अथवा यथार्थ—साध्य—परिस्थिति की अपेक्षा काव्य साध्य अधिक है और प्रसाद जी का इसके साथ महान मोह है। अलंकार के मोह ने केशव की रामचंद्रिका को काव्य साध्य ग्रंथ बना कर छोड़ दिया और समीक्षक इसकी कड़ी आलोचना करते हैं। इसी प्रकार मन और रूप के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को रागात्मक और काव्यमय रूप देने की धुन ने 'कामायनी' में इतने विषयांतर और अलग-अलग खड़े हुए प्रसंग प्रविष्ट कर दिये जिनके कवित्वपूर्ण होने में तो कोई संदेह नहीं है पर वे जीवन संस्तरण के लिए संसार के महाकाव्यों की भाँति कोई सहारा नहीं देते और भारतीय काव्य के शुद्ध आदर्श की सिद्धि भी नहीं होती। गोस्वामी जी की रामायण तो दूर की वस्तु है। गुप्त जी के महाकाव्यों की सार्वजनीनता भी भारतीय संस्कृति के लिए अधिक उपयोगी है। फिर भी 'कामायनी' की एक काव्य परिपाटी है। नाद को काव्य रूप देने में प्रसाद की वाणी अनुपम सौकर्य रखती है। वह स्वरों में सस्वरता के साथ-साथ काव्य गरिमा की प्रतिष्ठा करती है। नाद की उलझी भंगिमाओं की भूलभुलैया में स्वर के नाना प्रकरण शील अवरोह और आरोह की सार्थक यात्रा साधारण प्रतिभा के लिए सम्भव नहीं। इस अनूठे संगीत की मिठास में उनके शब्द थिरकते हैं और रूप व्यापारों का प्रतिबिंब देते हैं। अतएव 'कामायनी' की आलोचना में इस विशेषता को ही खोलना चाहिए। किसी दूसरी परिपाटी के आरोप की आवश्यकता नहीं है।

काव्य और शृंगार

कुछ विदेशी दार्शनिकों का कथन है कि काव्य में सार्वभौमिकता और सार्वजनीनत लाने के लिए मानव स्वभाव की सबसे बलवती और व्यापक वृत्ति शृंगार का विस्तार के साथ सन्निवेश होना चाहिए। यह सत्य है कि सृष्टि का प्रयोजन सृष्टि विस्तार है और सृष्टि संवर्धन के मूल में काम भावना रहती है। संवर्धन के लिए शरीर धारण उसकी कक्ष भावना है। ऐहिक साधना से संतति की उत्पत्ति होती है और मानसिक साधना से कला और काव्य का जन्म होता है। दोनों ही उसकी अमरत्व की साध हैं। यह भी सत्य है कि सौंदर्य का प्रकम्पनकारी प्रभाव भी सब पर पड़ता है और

सौंदर्य से आकृष्ट होकर सुंदर प्राणी का स्पर्श सुख आनंददायक होता है यह भी काव्य में स्वीकार किया गया है। गोस्वामी जी के सदृश पवित्र शृंगार का अंकन करने वाले कवि रामचंद्र जी के सुंदर शरीर को स्पर्श करके सुखानुभूति अनुभव करने वाले बालकों के चित्रण में नवीन के निष्कर्षों के कितने निकट पहुँच जाते हैं जब वे लिखते हैं—

"सब सिसु एहि मिस प्रेम बस, परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हिय, देखि देखि देउ भ्रात॥"

स्त्री के नैसर्गिक स्वभाव की चरचा करते हुए कहते हैं—

"भ्राता पिता पुत्र उरगारी,
पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होइ विकल सक मनहिं न रोकी,
जिमि रबि मनि द्रव रबिहिँ बिलोकी॥"

पुरुष के लिए लिखा है—

कोउ जानहि नहिं अनुजा तनुजा।

परंतु समझना यह है कि काम भावना की अनेकार्थी अभिव्यंजना काव्य का गुण नहीं हो सकता और शिष्ट समाज का अनुमोदन अप्राप्त होने के करण उसमें सार्वजनीनता भी न आ सकेगी। हाँ, कामभावना के परिष्कार में शृंगार भावना की अवतारणा द्वारा काव्य का जो रूप सामने आवेगा उसमें सार्वजनीनता के साथ-साथ उपकारिता का गुण भी मिलेगा। मानव हित वाला ऐसा काव्य समाज का उत्थान करता है। वह मानव स्वभाव पर प्रभाव डाल कर उसकी वृत्तियों का परिष्कार करता है।

काव्य का आनंद

काव्य का प्रभाव व्यापक करने के लिए कलाकार रूप व्यापारों का साधारणीकरण करता है। यह व्यापार अधिकतर अवचेतन तलों में सम्पन्न होता है। संसार की एक प्रकार की घटनाओं की प्रतिक्रियाओं में भारी अंतर रहता है। इस वैविध्य में समान रूप से सबकी प्रतिक्रिया ढूँढ़ना साधारणीकरण है। वास्तव में विश्व के नाना रूप व्यापारों के लिए अच्छे कवि के पास एक निजी ग्राहिका विधि होती है। यह ग्राहिका विधि विविध स्वरूपों और व्यापारों में वह एकस्वरूपता देख लेती है जो सब में समान है और जो सब को समानरूप में स्पर्श करती है। जैसा अन्यत्र संकेत किया गया है यह कवि का सचेतन व्यापार नहीं है। श्रोता, पाठक अथवा दर्शक के

आभ्यंतर के तादृशस्वरूप को कवि का यह प्रयास स्पर्श करता है। कवि के दिखाये रूप व्यापार तो निमित्त मात्र होते हैं। वे बाहर ही रह जाते हैं। श्रोता पाठक और दर्शक के जो तादृश रूप व्यापारों की प्रतिक्रियाओं की अपनी निजी अनुभूतियाँ होती हैं वे उद्दीप्त हो उठती हैं और रस की उपलब्धि होती है। अभिनव गुप्त, शंकुक, लोलट्टभट्ट इत्यादि रस मीमांसकों ने जो रस संबंधी विवेचना की है उसका ऊहापोह इस लेख को बहुत बड़ा कर देगा, परंतु एक बात समझ लेना है। रसानुभूति को जो ब्रह्मानंद सहोदर और जाने क्या क्या कह कर एक अपार्थिव रूप प्रदान किया गया है उसने साधारण बुद्धि वाले समीक्षकों में एक भ्रम अवश्य उत्पन्न कर दिया है। स्वर्गीय पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भी रस संबंधी इस कवितामयी और इतर लोकीय कल्पना की उड़ान को समझाया नहीं वरन, किसी अंश तक, उसका साथ ही दिया। हाँ, ब्रह्मानंद का यदि अर्थ ठोंस जगत से प्राप्त आनंद से है तो कोई आपत्ति नहीं। 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' के अनुसार तो यह सारा जगत ब्रह्म ही है। परंतु साधारतया लोग काव्यानंद को एक नितांत अभौतिक सुख और अपार्थिव आनंद समझते हैं जिसका लगाव व्यक्त जगत से बिलकुल नहीं है।

कविता अनुभूतियों का यथेष्ट व्यक्तीकरण है यह सब मानते हैं। अनुभूतियों का समाहार इसी ठोस जगत के समागम से मिलता है यह बतलाया गया है। कवि की सिहरन, पुलक उसका हर्ष विषाद, सभी ठोस संसार के संपर्क का प्रतिफल है। उसकी ग्राहिका शक्ति का निर्माण भी यहीं होता है। परिस्थितियाँ जब अनुभूतियों को मुखर कर देती हैं तो व्यक्ति कवि बन जाता है। जब परिस्थितियाँ केवल सात्विक भाव पुलक सिहरन, गुदगुदी, अश्रु तक ही सीमित रह कर व्यक्ति में केवल अनुभूतियों को जन्म देती रहती हैं और वह उसमें रमण करता रहता है तब तक वह केवल सहृदय मानव मात्र बनता रहता है। समय पड़ने पर, कला के किसी भी रूप में, निजी अनुभूतियों के अंशों से झंकृत होकर उनसे एकतानता स्थापित कर लेता है। इसी एकतानता को उसका आनंद कहेंगे। इसके उद्दीप्त रूप को रसानुभूति कहेंगे। एकतानता भौतिक तत्वों से उत्पन्न होती है, भौतिक प्रेरणा से प्राण ग्रहण करती है, भौतिक पिंडों को सचेतन करती है, भौतिक उपादानों द्वारा अनुभव की जाती है और स्वयं भी पूर्ण रूप से भौतिक है। उसका घोर पार्थिव विकारात्मक प्रभाव भी होता है और अत्यंत सूक्ष्म और नितांत अतर्क्य और वर्णनातीत रूप भी होता है। इसके तंतुओं और निर्माणक प्रेरणाओं के विश्लेषण की अक्षमता उसे तथाकथित ब्रह्मानंद सहोदर नहीं बना सकती; जिस प्रकार प्रेम के लम्बे-चौड़े उड़ान के आख्यान, विरह की परेशानियों की

प्रतिक्रिया वाले शून्य की अराधना के गीत उसे दैवीरूप नहीं दे सकते। रसानुभूति का कारण मन है। वह भौतिक है। हृदय चेतन मन का आवास है वह भी भौतिक है। इंद्रियों द्वारा मन रसानुभूति करता वे भी भौतिक हैं। वाह्य पदार्थ भी भौतिक है जिनके संपर्क से मन में रसानुभूति शीलता आती है। जिसने काव्यानंद को रति सुख के सदृश कहा है वह केवल उपमा ही नहीं देता। हमें यह उदाहरण खटकता इसलिए है कि रतिसुख की स्थूलता, काम भाव की पशुता, वासना की अनागरिकता और ऐहिक व्यापार की अभद्र व्यंजना द्वारा काव्यानंद के मार्दव, उसकी सुकुमारता और महीन योजना को मिलाना रुचता नहीं। तत्वदर्शी समीक्षक को काव्य के इस मूल को समझ कर ही अपनी लेखनी चलानी चाहिए।

रसानुभूति होती कब नहीं है जब कवि अपनी ऐसी मानसिक भावग्रंथियों को खोलने लगता है जिनमें एकदेशीयता होती है। माशूक के रूमाल पर पंक्तियाँ की पंक्तियाँ लिख मारना, अथवा प्रिया की अँगूठी पर महाकाव्य लिखने बैठना, अपने रुग्ण मस्तिष्क की व्याख्या करने के बराबर है। भक्ति और आराधना के नाम पर अलौकिक भूमियों की ऊटपटांग बातें कहना, जिनका दर्शन अथवा अनुभूति दूसरे के लिए नितांत असम्भव है विक्षिप्तों का प्रलाप मात्र है। कुशल कवि अपनी प्रौढ़ोक्ति द्वारा ऐसे स्वरूपों को भी आकर्षक और मार्मिक बना देते हैं जो रससिक्त नहीं हैं। केशवदास जी ने सीता जी द्वारा अशोक वन में वृक्ष के ऊपर से हनुमान द्वारा विसर्जित रामचंद्र जी की मुँदरी के प्रति क्या कहलाया है—

> "श्रीपुर में, वन मध्य हौं, तू मग करी अनीति,
> कहु मुँदरी अब तियन की को करिहै परतीत।"

मुँदरी के स्त्रीलिंग होने का लाभ उठाकर कितना सुंदर चमत्कार कवि ने उत्पन्न कर दिया है! इस स्थान पर, परिस्थिति में विश्वव्यापकता नहीं है परंतु अभिव्यंजन चमत्कार में अवश्य है जिसके कारण यह उक्ति सबको रुचती है।

विश्वव्यापकता और विश्वरोचकता के साथ साथ भारतीय साहित्य परिपाटी विश्व-हितैषिता की भी अच्छे काव्य में आशा करती है। गोस्वामी जी कहते हैं—

> "कीरत भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई"

ये तीनों गुण तभी आ सकते हैं जब काव्य में ऐसी परम्परा बाँधी जाय जिसमें सार्वभौमिक संस्कृति के तत्त्व हों और उसका आधार एक लम्बी योजना हो। भारतीयता के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रतीक राम हैं जिनके आस-पास एक लम्बी परम्परा लिपटी है। इसीलिए गोस्वामी जी ने इन्हें चुना। उनके देवत्व और अवतारत्व में भी भारतीय

धर्म-भावना आदि काल से आस्था रखती है। इस आस्था का लाभ उठाना कलाकार की चातुरी है। गोस्वामी जी तो यहाँ तक चाहते हैं कि सारे कवि अपनी सारी प्रतिभा रामचरित्र-वर्णन करने ही में व्यय करें—

"भनिति विचित्र सुकबि कृत जोऊ, राम नाम बिनु सोह न सोऊ"

राम समस्त पवित्रता और समस्त दैवी स्फूर्ति हैं। वे विषय भी है और प्रेरणा भी है। गोस्वामी जी अन्यत्र कहते हैं—

"सारद दास नारि सम स्वामी, राम सूत्र धर अंतरजामी।
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी, कवि उर अजिर नचावहिँ बानी॥"

सभी ऊंचे कवियों के विषय-वस्तु भी होते हैं और प्रेरणा भी। वह वस्तु शव मात्र है जिसमें प्रेरणा नहीं। मृत अश्व पर कशाघात करना प्रतिभा का अपव्यय है। हाँ, कभी-कभी प्रेरणा स्पष्ट अनुभव नहीं हो पाती और कवि क्षुब्ध हो उठता है—

"मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मन बानी॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुप्रेम प्रकट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई॥"

और कभी-कभी अपनी अभिव्यक्ति की इयत्ता में उसे समेट नहीं पाता—

"कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग की गाँडर ताँती॥"

आगे और भी कहा है—"किमि कबि कहै मूक जिमि स्वादू।"
यहीं पर कवि का कौशल और उसका बड़प्पन सामने आता है। अग्राह्य वस्तु-स्थिति को पकड़ना, प्रकाश की लपक को बाँधना, भावनाओं की झिलमिल कौंध को दिखा सकना, विचारों की लोच को सीधा करना तथा अरूप का सरूप बनाने की आनाकानी का सामना करना कुशल कवि की प्रतिभा का वरदान है। तभी वस्तु और अभिव्यंजन में पूरी-पूरी एकतानता आ जाती है। अर्थ और नाद लिपटकर एक हो जाते हैं—

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

ऐसे कवि की प्रतिभा अग्राह्य को सुग्राह्य करके भी उसे अनेक झिलमिल अंतराय के भीतर से भी स्पष्ट दिखा सकती है। समस्त विरोधी गुणों का एक रूप में समन्वय उसकी सबसे बड़ी विशेषता है—

"सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे ॥
ज्यों मुख मुकुर मुकुरु निज पानी, गहि न जाइ अस अद्भुत बानी ॥"

वाणी के इस महत्त्व के भीतर, यह न भूलना चाहिए, कि साहित्य का असली मंतव्य जीवन संस्तरण कला के विकास का अमर साधन है। वह उसका मूल्यांकन और मार्ग-निर्देश साथ-साथ करता है। ज्ञानकोष और भावकोष की अभिवृद्धि के साथ-साथ वह भावना और चिंतना का परिष्कार भी करता है और आनंद के अनेकार्थी स्वरूप से परिचय कराता है। समीक्षक के लिए जिस मनोभाव के साथ कृति की मीमांसा में प्रवेश करना चाहिए उसका सुंदर निदर्शन गोस्वामी जी कराते हैं—

"सज्जन सुकृत सिंधु सम कोई, देखि पूर विधु बाढ़इ जोई।"

पूर्ण चंद्रमा देखकर समुद्र उससे संगम के लिए उमड़ता है। सुंदर रचना पढ़कर सहृदय समीक्षक उसमें रमण करने के लिए नाच उठता है। निसर्ग ने इस निस्सीम नील पत्रक के भीतर सूर्य, चंद्र, ग्रह, तारे और न जाने कितने आलोक पिंड सजा रखे हैं। एक व्यवस्था ने इन्हें अपने और दूसरे के लिए गुरुत्वाकर्षण देकर साध रखा है। वे अमरत्व लेकर घूमते फिरते हैं फिर भी लड़ नहीं जाते। परस्पर एक दूसरे को प्रकाश पहुँचाते हैं। ठीक उसी प्रकार निर्मल बुद्धि समीक्षक साहित्य के निस्सीम आकाश में बड़ी छोटी सभी कला की कृतियों को सुंदरता की पृष्ठ भूमि में इस प्रकार सजा देता है कि वे परस्पर आलोकित होती रहें। उनमें इतना बल भर देता है कि वे अपने मूल्य पर, अमरत्व के वरदान के साथ, चलती रहें। उनमें परस्पर के लिए पूर्णता का गुरुत्वा-कर्षण है परंतु विनाश की टक्कर पर उन्हें रपटने से रोका जाय।

समीक्षा स्वयं एक कला है और उसे इसी प्रकार से विकसित करना चाहिए।

महाकाव्यों में नाद-योजना और उनकी सांस्कृतिक परम्परा

महाकाव्यों का सार्वभौमिक प्रभाव

कवि सृष्टा की सबसे कोमल देन है। वह कहेगा कि अपनी होड़ा-होड़ी में विधाता ने उसे बनाया है। सृजनशीलता उसका वरदान है। ब्रह्मा का विस्तार ब्रह्माण्ड है; माया उसकी कला है। कवि की कला उसकी माया है। माया को परखना उसकी मीमांसा करना दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का काम है। कला को परखना उसकी व्याख्या करना साहित्य-समीक्षकों का व्यापार है। यह व्यापार दोनों चिरंतन काल से करते आ रहे हैं और अभी चिरंतन काल तक करते जायँगे। फिर भी बहुत से प्रश्न विराम ज्यों के त्यों खड़े हैं। इसीलिए दार्शनिकों और वैज्ञानिकों तथा साहित्य समीक्षकों के कुल और बुद्धि की वृद्धि भी साथ साथ होती जा रही है। मानव ज्ञान का विकास हो रहा है। एक निर्णय होते ही दूसरी समस्या जटिल होकर सामने आ जाती है और कभी-कभी पूर्व निर्णय संदिग्ध होकर परित्यक्त कर दिया जाता है। ज्ञान का हनुमान जितना ही अपना विस्तार करता है प्रश्नावली की सुरसा उससे दुगुना मुँह खोल देती है। प्रश्नों के हल मिलते हैं पर उलझाव उनसे अधिक मिलते हैं। परिभाषाएँ बनी, टीकाएँ रची गईं, अनुवाद हुए, व्याख्याएँ सामने आईं परंतु मूल वैसा ही उलझा बना रहा। यही बात निसर्ग की है और यही बात साहित्य की है। विज्ञान और साहित्य-समालोचना का विस्तार सृष्टि गति की भाँति अमर है।

साहित्य का सबसे उदात्त रूप महाकाव्यों में होता है यह सभी देशों की बात है। महाकाव्यों की मीमांसा में साहित्य-समीक्षकों ने यह ढूँढ़ने का प्रयास किया है कि यह उदात्त रूप उन्हें कैसे मिलता है। इसके दो स्थूल कारण ढूँढ़े गये हैं—उनकी सार्वजनीनता और उनकी सार्वकालीनता। उनमें कुछ ऐसे तत्व अवश्य रहते हैं जिनके कारण वे अधिक से अधिक लोगों को अच्छे लगते हैं और बड़े लम्बे युग तक उनकी लोकप्रियता बनी रहती है। अच्छे महाकाव्य देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके सभी का सभी समय अनुरंजन करते हैं। चाहे जितने ऊँचे विचारों और भावनाओं

की योजना की गई हो और चाहे जितनी उदात्त शैली में वे सामने रक्खे गये हों, यदि वे केवल किसी वर्ग विशेष की—चाहे वह बड़े से बड़े विद्वानों का ही हो, रुचि साध सकें तो उनका केवल कुछ विशिष्ट लोगों में ही आदर रहेगा। उन्हें सबकी उपासना प्राप्त न हो सकेगी। इसी प्रकार अत्यंत सरल और सुबोध भावों और विचारों का नितांत बोल-चाल की अभिव्यक्ति में जन-रुचि की परितुष्टि विशेषज्ञों को आकृष्ट न कर सकेगी। जन-ज्ञान आवृत्ति और नैरंतर्य्य से परितुष्ट होता है और विशिष्टों का परितोष अनावृत्ति और अनैरंतर्य्य से होता है। दोनों बुद्धियों में बड़ा उतार-चढ़ाव है। हृदय के स्वरूपों में हल्का और गहरापन है। दोनों वर्गों की रुचि में ही भारी भेद नहीं है उनकी मति में भी आकाश-पाताल का अंतर है।

जिस कृति पर विशिष्ट ज्ञानी रीझकर सिर हिलाते हैं उसे जन-साधारण समझ ही नहीं पाते और मूढ़वत् उसकी प्रशंसा दुहराते रहते हैं और जिस कृति पर जन-रुचि वाह-वाह कहती है उसे वे लोग नगण्य, अभद्र, ग्रामीण और अत्यंत प्राकृत कहकर विनोद करते हैं। हिंदी में बाजारू नौटंकियोंवाली अभिनय पुस्तकें अथवा बाजारू रामायणें कितने पढ़े लिखे देखते हैं और केशव की रामचंद्रिका अथवा प्रसाद की कामायनी कितने मार्ग यात्रा पर गाते हुए चलनेवाले हल्की बुद्धि के पथिकों का मनोरंजन करती है? परंतु फिर भी गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' सबको ही एक प्रकार से अच्छा लगता है। विद्वान उसके विचार, भाव, प्रतिपादन विधि, निष्कर्ष, मंतव्य, अलंकार, रस, छंद, ध्वनि, सामूहिक प्रभाव, पात्र, वातावरण कथा गुंफना, घटनाचक्र इत्यादि इत्यादि की प्रशंसा करता है और मुग्ध होता है और साधारण जन चौपाइयों और दोहों की नाद-योजना, संगीत मधुरिमा, अर्थ सारल्य, छोटे-छोटे भाव और सरल कथन उनके पीछे का रंग देखकर इसी में सुख अनुभव करता है।

अब देखना यह है कि महाकाव्यकार किन तत्त्वों की योजना करता है जिससे सार्वजनीनता और सार्वकालीनता का उसकी कृति में समावेश होता है। कोई ऐसी रेखा अवश्य है जहाँ वर्ग-रुचि और जन-रुचि मिलती हैं, चाहे वह रेखा कितनी पतली क्यों न हो। महाकाव्य का रचयिता इस महीन रेखा को बिलकुल स्पष्ट देखता है और इसी के सहारे वह दोनों रुचियों का सामंजस्य स्थिर करनेवाला असम्भव वैचित्र्य को सम्भव कर दिखाता है। उस पतली मेड़ को तोड़ कर समस्त कलाप्रासाद उसी पर निर्माण करना सर्वसुलभ कार्य नहीं है। संसार के न जाने कितने कलाकार एकवर्गीय होकर रह गये और उनके विचारों की सार्वभौमिक पहुँच कुंठित ही रही। महीन रुचि और बुद्धि की अनेकार्थी एषणाओं को यदि किसी कृति के रंगीन स्वरूपों में विश्राम मिलता है तो

स्थूल समझ उससे असंतुष्ट ही रहती है और इसी प्रकार इसका विपरीत भी सत्य है।

वह रेखा कैसी और कहाँ है यदि यह स्थूल नेत्र न देख सकें तो यह तो जान ही लेना चाहिए कि यह मेलकारिणी रेखा किन तत्त्वों से बनती है। महाकाव्यों की योजना में, सबसे प्रमुख तत्व, नाद का रहता है।

नाद तत्त्व

संसार गतिशील है। गति का अगति से अवरोध-विरोध है। अवरोध में संघर्ष है। संघर्ष में नाद है। नाद का दूसरा नाम शब्द है। विश्व निस्सीम है। गति और अगति निस्सीम है। अवरोध और संघर्ष भी नित्य है। नाद भी निस्सीम है परंतु शब्द विराट है। विराट की मुखर ध्वनियों को साकार करने की व्यवस्था का दूसरा नाम संगीत है। वेदों को श्रुति कहा है। निराकार नादतरंग शब्द द्वारा ही साकार बनकर साकार को स्पंदित, झंकृत और द्रवित करते हैं।

नाद के इस विराट रूप ने समस्त विश्व को परिव्याप्त कर रक्खा है। मूर्ख और पंडित सभी इसमें साँस लेते हैं। इसका प्रभाव जागरूक तथा विवेकपूर्ण विवेचन और कार्यकारण वृत्ति पर उतना शीघ्र नहीं पड़ता जितना शीघ्र अवचेतन-परिचालन, स्पंदन और शरीर साध्य सात्वकी वृत्ति पर पड़ता है। चेतना के ऊपर के इस आघात को ज्ञानगम्य करने के लिए बुद्धि की प्रखरता की आवश्यकता नहीं, उसे भावगम्य करने के लिए सबके पास हृदय रहता है। सबका हृदय अधिकतर एक प्रकार के स्वराघात के नाद-झंकार से विचलित होता है—हाँ, यदि बुद्धि बीच में न आवे। नाद-तरंगों में स्थूल चोट मारने की क्षमता होती है। नाद के धीमें और गहरे आकार का अपना-अपना प्रभाव होता है। स्वर-बुदबुद, स्वरलहरी, स्वर-प्रवाह और स्वर-संगम सब नाद के क्रम-विस्तार के सोपान हैं और वे सब अपने वेग के अनुसार प्रभाव डालते हैं। अर्थ निर्गति और अर्थ प्राप्ति नाद के बाद का रूप है और चेतनता को बुद्धि की ओर बढ़कर पहुँचने का अनुष्ठान है। यह व्यापार मूर्खों में कम सम्भव है। उन्हें केवल नाद की चोट ही सब कुछ कर देती है। यह नाद-योजना शब्दों द्वारा ही सम्भव है। अर्थ से पृथक शब्द का यह नादरूप उसके प्राण हैं। इसी शब्दत्व का महाकाव्यकार की कला में प्रथम स्थान रहता है। साहित्य-शास्त्रियों ने शब्दालंकार, छंद, ध्वनि, लय और संगीत का जो विस्तार किया है वह इसी तत्त्व को स्वरूप दान देने के लिए। परंतु समस्त शास्त्रीय स्वरूपों के अतिरिक्त भी नाद का विराट रूप है और उसके अनेक अंश महाकाव्यकार

की पकड़ में जब तब आया करते हैं। वैसे भी प्रत्येक शब्द में एक नाद-चमत्कार होता है, एक लय होती है या यों कहिए कि एक संगीत संसार होता है। शब्द का यह मीठा भार उसके अर्थ आघात से कहीं अधिक तिलमिलानेवाली चोट करता है। शब्द-नाद ब्रह्म का रूप माना गया है। उचित-ढंग से प्रयुक्त शब्द न जाने कितनी संगीत-लहरियाँ उत्पन्न करके भाव रूप पर आघात करता है और तादृश भाव-लहरियों को जन्म देता है। इस मीठी सिहरन को समझना और समझाना सरल नहीं, इसकी मीमांसा करना और भी कठिन है। शब्द-नाद के किस रूप से किस प्रकार की गुद्गुदी उत्पन्न होती है, मन कैसे उठता है, व्यक्तित्व कैसे ओत-प्रोत हो जाता है, अर्थ की बिना अवगति के चेतना कैसे हिलने, डुलने लगती है, जैसे वह अर्थ समझ रही है—इन परिस्थितियों की तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती। हाँ, यह निश्चय है कि कुशल कलाकार की कला प्रत्येक शब्द की इस क्षमता से भली प्रकार परिचित रहती है और भीतर के संगीत शस्त्रालय से एक-एक गिन-गिनकर ऐसे शब्द फेंकती है जो बिना गहरा आघात किये रह नहीं सकते। जैसा ऊपर बतलाया गया है कि हम साधारण प्रकार से देखते हैं कि जहाँ कहीं रामायण की कथा होती है वहाँ ऐसे अनेक व्यक्ति कथा सुनते हैं जिन्हें महाकाव्य में संकेत की हुई अर्थ-भूमियों तक पहुँचने की क्षमता नहीं रहती। फिर भी शब्दों के नाद सौकर्य से सजाये हुए दोहों और चौपाइयों की सस्वरता में ही उनके मन लटककर रह जाते हैं। वे वाह-वाह करते हैं। सिर हिलाते हैं और उस नाद निर्झरिणी में स्नान करके ऐसा अनुभव करते हैं मानो सब कुछ समझ रहे हैं। बड़े-बड़े वाक्यों में भी शब्दों के लय और उनके संगीत में अर्थानुगमन कराने की अपूर्व शक्ति रहती है। बिना पढ़े हुए और बिना समझे हुए अर्थ कण्ठ से नीचे उतर जाते हैं।

मानस में नाद-तत्त्व की योजना

इस नाद-प्रभाव को हम महाकवि गोस्वामी के रामचरितमानस से उदाहृत करने की चेष्टा करेंगे। लक्ष्मण का क्रोधपूर्ण रूप देखिए—

"माखे लखन कुटिल भई भौंहैं,
रदपट फरकत नैन रिसौहैं।"

होंठ कितनी शीघ्रता से फड़कते हैं उसका व्यक्तीकरण ह्रस्व मात्रावाले 'फरकत' से किया गया है। सात्विक भाव तभी प्रकट होते हैं जब रस का पूर्ण अधिकार हो। लक्ष्मण खूब देर तक क्रुद्ध रहे होंगे। 'माखे' में दोनों गुरु मात्राएँ हैं जिससे क्रोध की दीर्घकालीनता प्रकट होती है। और देखिए—

"निकसि वसिष्ठ द्वार भये ठाढ़े ।"

रामचंद्र को अयोध्या छोड़ने में कितनी उतावली थी, कहीं कोई नया व्याघात उपस्थित न हो जाय और उन्हें रुकना पड़े यह ह्रस्व नादवाले शब्द 'निकसि' से व्यक्त होता है। 'निकसि' में मानो त्वराभावना भरी पड़ी है। इसी प्रकार वशिष्ठ के द्वार पर, जो नगर से बाहर था, बड़ी देर तक खड़े रहने की ध्वनि 'ठाढ़े' दोनों दीर्घ नादवाले अक्षर-प्रयोग से व्यक्त होता है।

"कहि न सकत रघुबीर डर
लगे बचन जनु बाण।"

'कहि न सकत' में सुकुमारता व्यक्त करने के लिए कोमल नाद-योजना है और 'बाण' में वचनों की दीर्घकालीन और गहरे-प्रभाव की सूचना मिलती है।

"लखन लखेउ रघुवंश मणि
ताकेउ हर को दण्ड।"

'ताकेउ' में दीर्घ नाद-योजना से क्रोधपूर्ण और दर्पपूर्ण दीर्घकालीन दृष्टि-विक्षेप व्यक्त होता है जिससे सीता जी को साहस मिले, लक्ष्मण उनका मंतव्य समझ लें और समाज उनकी वीरता का उपोद्घात अवगत कर ले। यह साधारण देखना नहीं है।

"निमिष विहात कलप सम तेही"

ऊपर के वाक्य में 'विहात' क्रिया की दीर्घ योजना भी द्रष्टव्य है। धीरे-धीरे व्यतीत होने की भावना सामने आती है। क्षण भी बहुत धीरे-धीरे 'कल्प' की भाँति बीत रहा है।

"तनु परिहरि रघुपति विरह"

'तनु' से हल्के का भाव भी व्यक्त होता है और ह्रस्व नाद की योजना से शीघ्रता भी व्यक्त होती है। 'परिहरि' में भी जल्दी छोड़नेवाली ह्रस्व नाद पद्धति है।

"कहु केहि रंकहि करहुँ नरेसू"

इस अर्धाली में अधिकतर ह्रस्व वर्ण के प्रयोग से ऐसा भाव झरने लगता है कि मानो कैकेयी के मुँह से नाम निकलने भर की देर है और महाराज दशरथ उसे राजा बना देंगे। यही उनका मंतव्य भी है।

"सुरपति बसहिं बाहु बल जाके,
नरपति सकल रहहिं रुख ताके।
सो सुनि तिय रिसि गयेउ सुखाई,
देखहु काम प्रताप बड़ाई।"

आगे कहा है—

"सूल कुलिस असि अगवनि हारे,
ते रतिनाथ सुमन सर मारे।"

पहली दो पंक्तियों में दशरथ का शौर्य विस्तार किया गया है। उसके विराट महत्त्व में उनकी दुर्बलता और चमक सके और मानव-स्वभाव का वैपरीत्य सामने आ जावे तथा काम के शाश्वत प्रभाव को भी लोग समझ सकें इसलिए 'तिय' शब्द की नाद-योजना द्वारा नगण्यता सामने रक्खी गई है। इस शब्द में नादहीनता द्वारा क्षुद्रता व्यक्त की गई है। इसी प्रकार 'काम' शब्द द्वारा नाद के विस्तार में मानो प्रभाव-विस्तार दिखलाकर प्रताप और बड़ाई की संगति बैठाई गई है।

'रतिनाथ' में 'रति' शब्द में भी सुकुमारता और कोमलता की योजना करके वैपरीत्य की साधना द्वारा नाद-प्रयोग से सौंदर्य साधा गया है।

और देखिए—

"लेत चढ़ावत, खैंचत गाढ़े
काहु न लखा देखि सब ठाढ़े।"

इन पंक्तियों में श्वासावरोध और आशंका की अद्वितीय अभिव्यक्ति नाद-योजना की साधना से सम्पादित की गई है।

जिस समय आशंका की परिस्थिति से श्वासावरोध होता है उस समय के सारे रूप व्यापार दीर्घकालीन और विस्तारपूर्ण होने पर भी श्वासावरोधित और आशंकित व्यक्ति को, आँख खोले रहने पर भी, दिखाई नहीं देते। स्वयंवर का समस्त समाज रामचंद्र, के उस आश्चर्यपूर्ण शौर्य (धनुष भंग) को आशंका से देख रहा था अतएव व्यापारों के ब्योरेवार सम्पादन को उसने आँख खोले रहने पर भी कुछ नहीं देखा।

एक कमरे में सहसा सर्प घुस आता है। आप भयभीत होकर रह जाते हैं। वह इधर-उधर खूब घूमता है। दीवालों पर चढ़ने का प्रयास करता है। विस्तर में घुसना चाहता है। और फिर द्वार से बाहर निकल जाता है। भय के कारण आपका श्वासावरोध हो जायगा और उसके ये समस्त व्यापार नेत्र खोले भी, आप अच्छी तरह देख न सकेंगे।

ऊपर तीन क्रियाएं प्रयुक्त हैं—'लेत,' 'चढ़ावत,' 'खैंचत' तीनों की नाद-साधना विस्तार की है अर्थात् ये व्यापार देर तक होते रहे। उनकी अलग अलग गिनती यह व्यक्त करती है कि ये तथा इसी प्रकार के अनेक व्यापार हुए। 'न लखा' में 'न' का और 'ल' का ह्रस्व रूप यह व्यक्त करता है कि थोड़ा भी किसी ने नहीं देखा, यद्यपि

'ठाढ़े' की दीर्घ नाद वाची क्रिया यह स्पष्ट कहती है कि पूरे समय तक खड़े सब रहे। नेत्र सबके खुले थे।

"जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ,
तब पथ परत उताउल पाऊँ।"

'तब पथ परत उताउल पाऊँ' में कितनी सुंदर नाद-योजना है। मानो भरत उन्माद के साथ भागने लगते हैं।

'घन घमंड गरजत नभ घोरा' में शब्दों का नाद ही बादल की गरज सामने सुना देता है और 'दामिनि दमकि रही' में 'दमकि' के ह्रस्व नाद-योजना में लुकना-छिपना स्पष्ट सामने आ जाता है।

'जरत जंतु जलनिधि तब जाने' में 'ज' द्वारा समान नाद-योजना ही नहीं की गई है वरन 'जरत' की ह्रस्वपदी योजना द्वारा शीघ्र जले जा रहे हैं यह भी घोषित किया गया है।

समुद्र कहता है—

'यह लघु जलधि तरत कति बारा' यदि यहाँ 'जलधि' के स्थान में 'समुद्र,' 'वारीस,' 'सागर,' 'अर्णव' कोई भी दीर्घ नादवाला शब्द प्रयुक्त होता तो 'लघु' के साथ उसकी नाद-संगति न बैठती और अर्थ का नादानुकूल व्यक्तीकरण भी न होता। 'कति' का नाद-सौंदर्य भी सामने न आता।

अपितु "जेहि वारीस बँधायेहु हेला" में 'वारीस' के स्थान में यदि जलधि लिखा जाय तो नाद-हेयता के कारण वह गुरुता न आती जो यहाँ अपेक्षित है।

और देखिए—

"प्रौढ़ भये मोहि पिता पढ़ावा"
समझहुँ सुनहुँ गुनहुँ नहिं भावा।"

'पढ़ावा' का विस्तारपूर्ण नाद, आकलन पढ़ाने की क्रिया का दीर्घकालीन अध्यवसाय व्यक्त करता है; उसी प्रकार तीन क्रियाओं का पृथक-पृथक उल्लेख बुद्धि क्षमता भी प्रकट करता है परंतु फिर 'भावा' में नाद का दीर्घ प्रयोग यह जना देता है कि कभी भी उसे पढ़ना अच्छा नहीं लगा।

नाद-योजना अर्थ को बुद्धि प्रयोग के बिना सामने तो रख ही देती है बहुत बार चित्र-योजना भी करती है। स्पष्ट रूप से व्यापार और रूप सामने खड़े हो जाते हैं।

देखिए—

"अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा,
फिर-फिर चितउ राम की ओरा।"

यहाँ, 'फिर-फिर' नादावृत्ति ने अंगद को बार-बार मुँह फेर कर राम को देखने-वाला सारा रूप खड़ा कर दिया है।

उदाहरणों की यह तालिका बहुत बढ़ाई जा सकती है। विश्व के समस्त महाकाव्यों में ऐसे उदाहरण मिलेंगे। रामायण हम लोगों का नित्य पढ़ा जानेवाला ग्रंथ है इसीलिए उसके उदाहरण यहाँ दिये गये हैं। हिंदी में भी आजकल के ख्यात-नामा कवियों के ग्रंथों में भी ऐसी ही सुंदर नाद-योजनाएं मिलेंगी।

श्री मैथिलीशरण जी गुप्तने साकेत में लिखा है—

"पाकर विशाल कच भार एड़ियाँ धँसतीं,
तब नख ज्योतिर मिसि मृदुल अँगुलियाँ हँसती।"

'विशाल' के दीर्घ नाद में केशों का लम्बा रूप स्वयं प्रतीत हो जाता है और 'धँसती' के नाद से बोझ भी यथातथ्य व्यक्त हो जाता है। "मृदुल" नाद की योजना ने उँगलियों की सुकुमारता और छोटापन बढ़ा ही नहीं दिया उन्हें ध्वनित कर दिया है।

प्रसाद जी ने स्कंदगुप्त में एक स्थल पर लिखा—

"मैंने निज दुर्बल पद बल पर"

'निज' से लेकर अंत तक की इस पंक्ति की बिना मात्रा की द्विअक्षरी शब्द-योजना सारी दुर्बलता को खोल कर नाद तरंगों से भीतर पहुँचा देती है।

अंगरेजी साहित्य के रसिक मिल्टनकृत पैरेडाइजलास्ट में नाद-योजना का सौंदर्य देखकर अद्वितीय आनंद अनुभव करते हैं।

नाद-योजना की व्यवस्था

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कलाकार इस प्रकार की नाद सौंदर्यवाली पद-योजना सचेतन व्यापार से सम्पन्न करता है अथवा किसी और प्रयास से यह संगठित होती है। इसका उत्तर कवि-कर्म की ओर हमें प्रेरित करता है। सजग प्रयास से यदि अर्थ, बुद्धि व्यापार और बुद्धि प्रयोग से है तो वह तो कविता को कृत्रिम बना देता है। कविता तो कलाकार के व्यक्तित्व में घुलीमिली रहती है और नैसर्गिक उत्स की भाँति बाहर निकलती है। भीतर के भाव में बाहर का अर्थ और वाणी का नाद अभिन्न रूप

से मिला रहता है। नाद के चिरंतन तत्त्व ही उसके भावों और अनुभूतियों के लिए भीतर शरीर बनाते हैं और आकार देते हैं। बिखरे हुए नाद-तरंगों के ये चिरंतन तत्व धनी, निर्धन, बड़े, छोटे, बुद्धिमान, मूर्ख सबको एक प्रकार से आलोड़ित-विलोड़ित करते हैं। कलाकार भी सभी व्यक्तियों की भाँति उन्हीं नाद-तरंगों को साँस से खींचता है जो दूसरे खींचते हैं। वाणी की मुखरता और श्रुति की स्पंदन शीलता भी दूसरों ही की भाँति होती है। अतएव जब उसकी कला इन्हें पकड़ पाती है तो उसका प्रभाव सार्व-जनीन होता है। नाद-तत्त्वों के भीतर क्या कहा गया है यह तो बुद्धि के उतार चढ़ाव के साथ ही अवगत हो सकेगा परंतु सामूहिक प्रभाव एक सा ही सब पर पड़ेगा।

भारतवर्ष में संस्कृत भाषा का समस्त शब्द-समूह क्रियापदों से निर्मित हुआ है। क्रियापद के मूल में संसार के व्यापार अथवा क्रियाएं हैं। क्रियाओं में नाद अनिवार्य है इसीलिए शब्द भी नाद का ही दूसरा नाम है। जब 'पतति' में गिरने का नाद है तो उससे बननेवाले पत्र अथवा पत्ते में नाद का अंतरहित रहना स्वाभाविक है। इसी प्रकार प्रतिदिन 'का' 'का' करनेवाला काक पक्षी अपने अभिधान में ही नाद समेटे रहता है। नाद और शब्द की इस व्यापकता को जो श्रवणों से पी कर मन पर अंकित कर सके और वाणी की मुखरता और लेखनी की गति में उसे फिर भर सके वही सच्चा कलाकार है और ऊँचा महाकाव्य लिख सकता है।

महाकाव्य और देश की संस्कृति

नाद के अतिरिक्त एक दूसरा भी तत्त्व है जो नाद के समान ही व्यापक और शब्द के स्वरूपों पर ही आश्रित है। वह है देश की संस्कृति का। किसी समाज, जाति अथवा राष्ट्र के समस्त व्यक्तियों के उदात्त संस्कारों के पुंज का नाम संस्कृति है। उदात्त विचारों और संस्कारों में देशगत, राष्ट्रगत, जातिगत तथा समाजगत विशेषताएँ भी हो सकती हैं और वही उस वर्ग की संस्कृति की विशेषताएँ समझनी चाहिए। पर अभद्र, अशुभ, अपवित्र, अशुद्ध, असुंदर इत्यादि परिस्थितियाँ किसी भी संस्कृति का अंग नहीं हो सकतीं। विचार और भावना के क्षेत्रों में एक-एक व्यक्ति की अर्जित उत्कर्षपूर्ण मनोदशाओं का योग संस्कृति कहा जायगा। व्यवहार क्षेत्र में ये दशाएँ कर्म को भी उज्ज्वल बनाती हैं और ये पवित्र कर्मों की प्रतिक्रिया विचारों और भावों को और निखारती हैं। चिंतना और व्यवहार भावना और कर्म में एक परम्परा की एकतानता उत्पन्न हो जाती है और निर्मलता रूढ़ि बन जाती है। रूढ़ि में फँसे हुए उत्तम विचार और कर्म किसी जाति की संस्कृति कहलाते हैं। संस्कृति का बाह्य सौंदर्य कला और साहित्य

है। कला के सार्वभौमिक प्रभाव के मूल में यही संस्कृति काम करती है और यही उसे अमरता प्रदान करती है। वर्ग-चेतना और जन-चेतना दोनों का समन्वत संस्कृति में ही सम्भव है। संस्कृति से आलोकित और पूर्ण रूपेण पोषित साहित्य और कला का ही विस्तृत प्रभाव पड़ता है। विश्व का समस्त उदात्त साहित्य संस्कृति की ही व्याख्या है। विश्व में विचारों के संघर्ष में वही विचारधारा सीधे खड़ी रह सकती है जिसमें ऊँची संस्कृति की शक्ति होती है और ऊँची कला और ऊँचे साहित्य का भी वही निर्माण करती है। कर्म के रूप में पकड़ा गया संस्कृति का सौंदर्य सार्वभौमिक शील की सृष्टि करता है और विश्व का मन अपनी ओर बलात आकृष्ट कर लेता है। साहित्य में महान नायकों का निर्माण यही तत्त्व करता है जिनमें कोमलता और कठोरता, मृदुता और तीखापन, परदुःखकातरता और दुखवहन क्षमता, निर्भयता और नैतिक संकोच, दया और कर्तव्य की उग्रता, प्रेम का प्रवाह और आदर्श की बाँध—इत्यादि इत्यादि अपने पूरे निरोध में उत्तम शील के रूप में सामंजस्य स्थिर करते मिलेंगे। यह सब संस्कृति की ही देन है। श्रद्धा प्राप्त अतीत के आख्यान, आदर प्राप्त अतीत के नायक, आकर्षण प्राप्त अतीत की घटनाएँ तथा प्रगति प्राप्त अतीत के स्वरूप-विधान जिस प्रेरणा से गतानुगति प्राप्त करते हुए यहाँ तक आये हैं वह संस्कृति की ही देन है। साहित्य इस परम्परा का माध्यम है। कला इस परम्परा की पृष्ठ भूमि है। किसी देश का, किसी राष्ट्र का, किसी जाति का एक सांस्कृतिक इतिहास भी होता है। परम्परा इसे निर्माण करती है। देशवासियों की हृदयभूमि में इसका जन्म होता है। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य प्रकार के उत्पीड़न मिलकर एक अक्षुण्ण वातावरण बनाते हैं और ये सब संस्कृति की भूमि पर सजते हैं। इस वातावरण में जन-साधारण और तनी भ्रू वाले सभी साँस लेते हैं। अपनी आस-पास की समस्तता और संलग्नता के बीच ही प्राणी का अस्तित्व है। शरीर-साधना और विकास के लिए अन्न और जल की अनिवार्य आवश्यकताएँ आस-पास की भूमि पूरी करती है। हृदय और मस्तिष्क साधना और विकास के लिए संस्कृति की परम्परा खाद्य का काम करती है। बुद्धि में धनिक, धन में धनिक, बुद्धि में दरिद्र और धन में दरिद्र, बुद्धिविहीन और धनिक, धनविहीन और बुद्धिमान सभी देश का पानी पीते हैं देश का अन्न खाते हैं। देश के समस्त प्राकृतिक वैभव से समान रूप में लाभ उठाते हैं। निसर्ग की उन्मुक्त बिखेर को जी भर पीते हैं। उसी प्रकार सांस्कृतिक वातावरण से भी सब एक प्रकार से छकते हैं। इस वातावरण मण्डल के साथ रमण करने और तन्मय होने का जिस कलाकार ने स्वभाव डाल रक्खा है उसी के भीतर ऐसे चित्र ऐसी मूर्तियाँ, ऐसे आकार, ऐसे भाव, ऐसे विचार, ऐसे घात-प्रतिघात

और ऐसे अंतरद्वंद्व स्पष्ट हो सकते हैं जिनमें व्यक्ति व्यक्ति की पहुँच का भेद न हो और मानव मानव, एक प्रकार से रसलीन हो सके। संस्कृति को सामने रखनेवाले शब्द हुआ करते हैं।

शब्दों का सौंदर्य

कविता किसी आकार-प्रकार की हो उसके उपादान शब्द हुआ करते हैं। महाकाव्यों में भी शब्दों का विशेष महत्त्व रहता है। शब्दों में एक राष्ट्रीयता और एक जातीयता होती है। उनका एक देश गत इतिहास होता है और उनकी एक सार्वभौमिक याख्या होती है। सांस्कृतिक परम्परा इस सबका निर्माण करती है। यह केवलता की व्मुहर उन्हें किसी देश की मुद्रा से छाप छाप कर पृथक करती है। उन्हें प्रयोग में लाकर महाकाव्य भी देशगत विशेषताओं को व्यक्त करने लगते हैं। परंतु यह न समझना चाहिए कि ये तत्त्व देश के संकीर्ण भावना का प्रतिरूप हैं। अन्यथा ये संस्कृति का रूप नहीं पा सकते। इनमें विशेषत्व होता है परंतु सार्वदेशीयता और सार्वजनीनता से उसका विरोध नहीं होता। यही कारण है कि महाकाव्यों का सर्वत्र और सब समय आदर होता है।

शब्दों में जो देशगत इतिहास अथवा सार्वकालीन परम्परा होती है उसकी पूरी-पूरी रक्षा उनका महाकाव्यों में प्रयोग करता रहता है। वह 'स्वर्गवासी' हुआ न लिखकर यदि हम यह लिखें कि वह 'मर गया' तो स्वर्ग और नरक संबंधी हमारी विचार परम्परा और उसका पुराना इतिहास कैसे संरक्षित रह सकेगा। हमारा सारा धर्म-रूप इसमें संरक्षित है। इस एक शब्द में इतर लोक में इहलोक के बाद की यात्रा का सत्य और श्वासों के उतार-चढ़ाव जैसे आवागमन की व्यंजना का भार समेटने के साथ-साथ भारतीय जीवन कला के विकास पर भी प्रकाश निक्षेप होता है।

'कुशल' शब्द का अर्थ घिसते-घिसते संकुचित भले ही हो गया हो परंतु य ह उस सुनहले युग का इतिहास अपने तीन अक्षरों की लघु सीमा में बाँधे है जब चार आश्रमों में जीवन विभक्त था और कुशलाने में जो नैपुण्य होता था उसे लक्ष्यार्थ शक्ति यहाँ तक उतार लाई है। 'कुशलवन' का पाटव ही आज भी प्रयोग में सामने है।

पाठशाला में 'शाला' शब्द पर्णगृह को कहते हैं। यदि इस शब्द का प्रयोग आज स्थिर न होता तो यह कौन बतलाता कि इस देश की समस्त सभ्यता वन में पनपी है और वन व्यवस्था देता था और नगर इसका परिपालन करता था। चिंतक का आवास पर्णगृह रहा है वास्तुकला की संतान नहीं।

इसी प्रकार यह 'द्विज' शब्द वर्ग-विशेष की संस्कारात्मक व्याख्या के साथ समाज की सभ्यता का रूप भी सामने रखता है। 'दण्डवत्' शब्द से भूलग्न होकर प्रणाम करने की प्राचीन परिपाटी व्यक्त होती है। 'ताण्डव' शब्द में विश्व के संहारक शक्ति के साथ-साथ उत्पादक और संस्थापक शक्तियों का स्मरण आ जाता है और संसार संबंधी हमारी धारणा भी सामने आती है। 'संसार' तथा 'जगत्' इत्यादि शब्दों में सृष्टि की चिरंतन गतिमत्ता का व्यक्तीकरण हमारी एक प्रकार की विचार-परिपाटी सामने रखता है।

गोस्वामी जी की एक चौपाई देखिए—

"विरह अगिनि तन तूल समीरा,
स्वास जरइ छन माँह सरीरा।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी
जरै न पाव देह बिरहागी॥"

पहले 'तन' शब्द पर ध्यान दीजिए। इस शब्द का भाव हलकेपन का है। यह जिस धातु पद से बना है उसका भाव हलका है अतएव 'तूल' के साथ इसकी पूरी-पूरी संगति बैठ जाती है और अनुप्रास भी आ जाता है। और शब्द यहाँ नाद-साम्य संघटित नहीं कर सकता है। भाव और अर्थ सामंजस्य बैठा सकता है।

दूसरा शब्द 'शरीर' है। यह शब्द जिस धातुपद से बना है उसका अर्थ है धीरे-धीरे क्षय होना। विरही धीरे-धीरे सुलग कर जलता है। पर यहाँ क्षण माँह जलने की बात कही है। जलकर क्षय होने के लिए 'शरीर' शब्द का प्रयोग अत्यंत उपयुक्त है।

तीसरा शब्द 'देह' है। 'देह' शब्द जिस धातु-पद से बना है उसका भाव दीर्घत्व का, तथा स्थूलत्व का है। न जल सकनेवाली भावना के साथ विग्रहवाले ऐसे शब्द का प्रयोग करना जिसमें मोटापे का भाव हो बिलकुल समीचीन है। जलकर वह भस्म नहीं होता अतएव उस पर खीज कर उसे कोसना और मोटा कहना 'देह' शब्द द्वारा ही बिलकुल स्वाभाविक रूप से व्यक्त होता है।

कुछ और फुटकर शब्दों के अर्थ चमत्कार देखिए—

निरीक्षण शब्द का अर्थ है अधिकारपूर्ण ढंग से किसी वस्तु की जाँच करना। इसमें कर्तृत्व का अहंभाव रहता है। इतिहास के स्वरूप पर ध्यान दीजिए। इति (यह) ह (भूतकाल) आस (है) यह भूतकाल है। ऐसा सुबोध शब्द दूसरी भाषा में कठिनता से मिलेगा। उपनिषदों में 'दहर' शब्द निरंतर मिलता है। यह ईश्वर का निवासस्थान कहा गया है। विपर्यय से यही शब्द हृदय बन गया और हृदय ही ईश्वर का निवासस्थल समझा जाता है। एक साधारण-सा शब्द 'उत्सव' है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार है—

'उत्कृष्टः सवः उत्सव'

सूयते (फल प्राप्यते) इति सवः

जिसके द्वारा फल प्राप्ति हो उसे 'सवः' अर्थात् यज्ञ कहते हैं। जो यज्ञ से भी श्रेष्ठ हो उसे उत्सव कहेंगे। यज्ञ में दान और कर्म इसलिए किया जाता है कि उसका फल मिले। परंतु उत्सव में फल प्राप्ति की कोई आशा नहीं होती। कृष्ण शब्द लीजिए। 'कृ' कण्ठवर्ण है और 'ष्ण' मूर्धा से उच्चारण होता है। 'कण्ठ' जीव का स्थान है 'मूर्धा' ईश्वर का स्थान है। 'कृष्ण' जीव को ईश्वर से मिलाने का साधन है। इसीलिए इस नाम को लोग जपते हैं। 'गोप' शब्द को देखिए। 'गोपयतीत गोपः'—जो कृष्णविषयक अनुराग छिपाये रहें; अर्थात् जो अत्यंत प्राकृत रूप में मक्खनलीला और रासलीला में कृष्ण को आमंत्रित करके उनके शत्रुओं (कंस इत्यादि को) से उनका भगवत रूप छिपाये रहें वे गोप अथवा गोपी हैं।

हमारी भाषा का प्रसिद्ध शब्द 'पुरुषार्थ' है।

साधारण भाषा और संस्कृति में पुरुषार्थ शब्द का "परिश्रम" अर्थ लिया जाता है। यह वास्तव में 'पुरुषार्थ' शब्द का रूढ़ि अर्थ है। यदि इस शब्द के अर्थ यौगिक किये जायँ तो यह दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पुरुष + अर्थ जिसका अर्थ पुरुष के लिए होगा। सांख्य मतानुसार दार्शनिक भाषा में इसका परिणाम "त्रिविध दुःखात्यंत निवृत्तिः" अर्थात् दैहिक, दैवी और भौतिकत्रय तापों का निवारण माना जाता है। यदि पुरुष और अर्थ शब्द के समुच्चय को और विषद रूप दिया जाय तो वैदिक निरुक्ति के अनुसार 'पुरुष' शब्द का अर्थ 'पुरिसेते' अर्थात् पुरुष वह है जो अप्रत्यक्ष रूप में प्रत्येक प्राणि के शरीर और ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर स्थित है और जिससे अप्रत्यक्ष रूप में यह दृश्य संसार प्राणित है। इस दृष्टि से 'पुरुषार्थ' शब्द का अर्थ होगा "पुरुष अर्थात् ईश्वर के निमित्त श्रम"। सांख्यमत के इसी 'पुषारुर्थ' शब्द की पुष्टि के लिए योग दर्शनकार ने "पुरुष विशेष" को ईश्वर माना है जैसा कि योग की ईश्वर की परिभाषा से हमको स्पष्ट हो जाता है। योग दर्शनकार ने ईश्वर की परिभाषा करते हुए बतलाया है "क्लेश कर्म विपाकाशय्यापरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" अर्थात् क्लेश तथा कर्म फल से विमुक्त पुरुष एक विशेष शक्ति है जिसको ईश्वर कहा जाता है। वैदिक मतानुसार इस शक्ति को "हृत्प्रतिष्ठम्" कहा गया—इसी "हृत्प्रतिष्ठ" के वैदिक सिद्धांतानुसार गीता ने सांख्य के 'पुरुष' और योग के ईश्वर को "हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इस प्रकार विशद व्याख्या की। मोक्षविषयक गीता का कर्म सिद्धांत "पुरुषार्थ" शब्द पर ही आश्रित है क्योंकि यह संसार-चक्र शारीरिक और मानसिक कर्म-परिणाम पर ही आश्रित है। पूर्व से मानसून के बादल उठते हैं उनका

परिणाम पृथ्वी पर वर्षा होकर पृथ्वी का पुष्पित और पल्लवित होना है। वर्षा के शीतल प्रभाव द्वारा भूमि नवोढ़ा वधू के आकार के समान वातावरण को प्राणिमात्र के लिए आकर्षक बना लेती है। इसी प्रकार जीवन में किया हुआ प्रत्येक फल प्राप्ति की दृष्टि से मानसिक कर्म शरीर स्थित आत्मा व पुरुष को बार-बार संसार की ओर आकृष्ट कर लेता है। गीता ने इसी वैदिक सिद्धांत को विषद किया है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन"। यह गीता का बड़ा प्रबल सिद्धांत है जिसके द्वारा मोक्ष का मार्ग समाज की प्रत्येक स्थिति में कार्य करते हुए मनुष्य के लिए खुला हुआ है। वैदिक सिद्धांत के आधार पर ब्राह्मण, उपनिषद् स्मृतियों ने चारों वर्णों के कर्म पृथक पृथक निश्चित किये लेकिन प्रत्येक के लिए आदेश दिया कि प्रत्येक वर्ण अपनी श्रेणी में रहते हुये अपने प्रत्येक कार्य को "पुरुषार्थ" अर्थात् ईश्वर को अर्पण करते हुए सम्पन्न करे। इसका परिणाम प्रत्येक वर्ण के लिए पुरुष अर्थात् ईश्वर की प्राप्तिस्वरूप होगा जहाँ किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती। पुरुष एक अंतिम सागर है जहाँ सब नदियाँ एक रूप हो जाती हैं। यही दार्शनिक और वैदिक दृष्टि मे 'पुरुषार्थ' का अर्थ है।

नीचे की अर्धाली पर ध्यान दीजिए—

"तेहि वन निकट दशानन गयऊ, तब मारीच कपट मृग भयऊ।"

यहाँ 'दशानन' शब्द का प्रयोग उपयुक्त ही नहीं वरन् रावण का दसों दिशाओं की ओर से चौकन्नापन व्यक्त करता है। जो चोरी करने जाता है वह सब ओर से कितना सजग रहता है यह भाव यहाँ 'दशानन' शब्द प्रकट करता है। एक स्थान पर रामायण में आया है—"इहाँ सम्भु अस मन अनुमाना, दच्छसुता कर नहिं कल्याना।" महादेव जी द्वारा 'दच्छसुता' शब्द का प्रयोग कितना साभिप्राय है। राजा दक्ष महादेव जी से वैर मानते थे। वे अहंकारी थे। इस शब्द के प्रयोग से मानो सती में आत्मीयता का अभाव और दक्ष की भाँति आचरण करने का उनका शील महादेव जी व्यक्त करना चाहते हैं।

गोस्वामी जी अन्यन्त्र कहते हैं—

"उमा दारु योषित की नाईं, सबहिं नचावत राम गोसाईं।"

यहाँ कठपुतली के स्थान पर 'दारु योषित' शब्द लिखकर गोस्वामी जी ने एक विशेष अभिप्राय की ओर संकेत किया है। कठपुतली शब्द में तुरंत उसकी निर्जीवता सामने आ जाती है। पीछे सूत्र का ध्यान आता है और सूत्रसंचालन करने वाले का रूप भी दिखने लगता है। परंतु ईश्वर प्राणियों का संचालन तो करता है लेकिन वह सूत्रधार की भाँति स्पष्ट नहीं है और न कठपुतली की भाँति निर्जीव है। प्राणियों

के आभ्यंतर में नितांत अदृश्य भाव द्वारा उसकी प्रणोदना काम करती है। 'योषित' तरुण स्त्री को कहते हैं। तरुणाई तरुण और तरुणियों को विश्व की ओर भगाये भगाए घूमती है। जिस प्रकार तरुणाई बिना सामने आये व्यक्तियों को भ्रमाती रहती है ऐसे ही वह परम शक्ति बिना सामने आये सब का संचालन करती है। यह भाव कठपुतली के लिखने से कदापि नहीं आ सकता था।

इसी प्रकार—

"दीपशिखा सम जुवति जन"

ये 'जुवति जन' के प्रयोग में पुरुषवाची 'जन' शब्द को जोड़कर जो बहुवचन बनाया गया है उससे तरुणी के साथ तरुण का बोध कराने की व्यवस्था की गई है। 'जुवति' को प्रधान इसलिए रक्खा है कि 'दीपशिखा' स्त्रीलिंग शब्द है और उपमा के लिए सादृश्य लिंग होना आवश्यक है। अन्यथा भाव यह हैं कि युवती युवक के लिए और युवक युवती के लिए उसी प्रकार आकर्षक और मर मिटने का आमंत्रण हैं जिस प्रकार पतंगों के लिए 'दीपशिखा'।

यह भी समझ लेना है कि शब्दों का अर्थ उनका वाक्यों में प्रयोग स्थिर करता है। 'उससे यह असावधानी हुई वह मनुष्य ही तो है' तथा 'महात्मा गांधी के कार्य बतलाते हैं कि मनुष्य ऐसा होता है'—इन दोनों वाक्यों में एक ही शब्द 'मनुष्य' का प्रयोग-विभेद से दो अर्थ निकाले गये हैं, दुर्बलताओं का प्रतीक और सबलताओं का स्वरूप। प्रत्येक कवि जिस शब्द का प्रयोग करता है बहुधा उसका अपने अनुसार एक अर्थ बना लेता है और सर्वत्र उसी को चलाता है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित-मानस में 'नारी' शब्द को साधारण स्त्री के ही अर्थ में अधिकतर प्रयोग किया है। 'न+अरि' अत्यंत आकर्षक होने के कारण जिसका कोई शत्रु न हो यह भाव कुछ लोग इस शब्द का निकालते हैं। आकर्षण में पतन का आमंत्रण निहित रहता है अतएव 'नारि' शब्द साधकों का अभिशाप समझा जाने लगा।

'नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं, औगुन आठ सदा उर रहहीं।'

अब अन्यत्र 'नारि' शब्द के प्रयोग देखिये—

'नारि पाव जमपुर दुख नाना'

× × ×

'बिनु अवसर भय ते रह जोई

जानेउ अधम **नारि** जग सोई ।'

× × ×

'नारि' की नगरयता देखिए—

'सुत वित **नारि** भवन परिवारा, होहिं जाहिं जग बारहि बारा ।'

× × ×

'सुनिहि सती तब **नारि** सुभाऊ'

'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं **नारी**'

× × ×

'**नारि** हानि विशेष क्षति नाहीं'

× × ×

'**नारि** सिखावन कीन्ह न काना'

× × ×

'ढोल गँवार सूद पशु **नारी**, ये सब ताड़न के अधिकारी ।'

× × ×

'जइहउँ अवध काह मुँह लाई, **नारि** हेतु प्रिय बंधु गँवाई ।'

नारी के मन का रहस्य अगम्य है—

'जानि न जाय **नारि** गत भाई' ।

'सती कीन्ह यह तहहुँ दुराऊ, देखहु **नारि** सुभाव प्रभाऊ ।।'

नारी का स्वार्थी स्वभाव देखिए—

'मोह न **नारि नारि** के रूपा ।'

नारी कामभावना को उकसानेवाली है—

'कामिहि **नारि** पियारि जिमि'

इसीलिए कहा है—

'सहज अपावन **नारि**'

× × ×

'अमित दान भरता वैदेही, अधम सो **नारि** जो सेव न तेही ।'

'नारि' की परिभाषा तो गोस्वामी जी ने ऊपर की ही है—

'अवगुन आठ सदा उर बसहीं' उसकी व्याख्या भी 'रामलला नहछू' में मिलेगी ।

'बनि बनि आवति नारि··············हो'

छोटे कुल की अपवित्र भावना उकसानेवाली अपने रूप से दूसरे को आकृष्ट करने की

चेष्टा करनेवाली स्त्रियों को नारि कहा है। यह नारि शब्द सब स्त्रियों के लिए नहीं है। जो लोग गोस्वामी जी को स्त्री-विरोधी समझते हैं उन्हें उनके शब्दों का प्रयोग समझ करके ही कुछ कहना चाहिए।

नारि की भाँति 'तिय' शब्द भी उन्होंने अशक्त निर्बल और मलिन अर्थ में प्रयुक्त किया है—

'सो सुनि **तिय** रिसि गयेउ सुखाई'

'ते निकृष्ट **तिय** श्रुति अस कहहीं।'

'**तिय** मिसु मीचु सीस पर नाची।'

'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि,

तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि'

'जुवती' शब्द के प्रयोग में भी तरुणाई की बुराई अधिकतर उनके समक्ष है—

'दीपशिखा सम **जुवति** जन'

'**जुवती** शास्त्र नृपति बस नाहीं।'

इसी प्रकार 'प्रमदा' शब्द भी कामुक स्त्री के ही भाव में प्रयुक्त हुआ है। गोस्वामी जी के शब्द-प्रयोग-कौशल का एक उदाहरण नीचे देकर 'नारि' शब्द के प्रयोग संबंधी यह प्रसंग समाप्त किया जाता है—

"अमित दान भर्त्ता बैदेही।

अधम सो नारि जो सेय न तेही।"

अमित—जो किसी भी भौतिक तौल में, नापा न जा सके। अपने समस्त मानसिक और ऐहिक स्वरूप का जो महान उत्सर्ग पति पत्नी के लिए करता है वह सृजन का महान वरदान है। वह उसे मातृत्व की गरिमा प्रदान करता है। अतएव वह अपरिमेय है।

दान—वह उत्सर्ग जिसके बदले में किसी भी आकांक्षा की साध न हो। पति दान भी करता है और पत्नी के प्रति उपकृत भी अनुभव करता है।

भर्त्ता—दान भी करता है। उत्सर्ग भी होता है और पत्नीका भरण-पोषण भी करता है। वस्त्र और स्थानादि की भी व्यवस्था करता है। उसे पूर्णरूप से संतुष्ट रखने का प्रयास करता है।

वैदेही—इस सम्बोधन द्वारा गोस्वामी जी ने 'अमित दान' का मानो संकेत कर दिया है। वैदेही अपत्य वाचक संज्ञा है। विदेह ने जिस दान द्वारा वैदेही की उत्पत्ति की उसी दान को मानो संकेत कर रहे हैं। 'देह' शब्द जैसे मानव-उत्सर्ग का स्थूल रूप

है। अपरिलक्ष्य विंदुओं से मूर्तरूप प्राणी की अवतारणा की ध्वनि भी है और देही की स्वतंत्र घोषणा भी है।

अधम—नीच कर्तव्य-च्युत

सो नारि जो—ऊपर इसकी परिभाषा हो गई है।

सेय—सेवा करना तो केवल प्रत्युपकार मात्र है। पत्नी का यह साधारण कर्त्तव्य है। यह गूढ़ अर्थ केवल शब्दसाध्य ही नहीं है गोस्वामी जी की काव्य पारिपाटी के पूरा-पूरा अनुकूल है।

शब्दों का चमत्कार

जो कलाकार शब्द-मण्डल में खुलकर रमण करना जानता है, जिस कलाकार के भीतरी तलों में इनका स्वरूप अपनी अनेक अर्थ भूमियों और सांस्कृतिक प्रेरणाओं के साथ महीन से महीन संकेत धागों से बँधा रहता है, उसी की वाणी में, समय पड़ने पर, ऐसी निर्झरिणी फूट निकलती है जिसे सब लोग अपना कहते हैं; सबका उससे मोह होता है और सब समय उसका प्रभाव पड़ता है। संस्कृति बल अथवा इतिहास बल के वेग से वे शब्द स्वयं महाकाव्यकार के भीतर जाकर पच जाते हैं। सजग प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। कवि में वातावरण के साथ खुली रमण-शीलता होनी चाहिए। प्रयोग में भी किसी चातुर्यपूर्ण प्रयास की अपेक्षा नहीं होती। उनकी निसृत्ति नैसर्गिक होती है। इस दृष्टि से ऊँचे कलाकार के लिए, साहित्यिक ज्ञान, सामाजिक ज्ञान, राजनीतिक ज्ञान, धार्मिक ज्ञान, जातीय ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान इत्यादि इत्यादि हर प्रकार का पोथी ज्ञान तो होना ही चाहिए उसके बिना उसकी ग्राहिकाशक्ति का परिष्कार और स्वीकार उचित रूप से संगठित नहीं होता और न अभिव्यंजन कौशल उभरता है, साथ ही साथ ज्ञान के समस्त वातावरण के साथ गहरी तन्मयता और असाधारण रमण-शीलता होनी चाहिए। सच्चा कवि शब्दों की समूची योग्यता को एक साथ देखता और समझता है और उनके अनेकार्थी आकांक्षाओं को जानता है। जन-साधारण और विशिष्टों पर पड़नेवाली चोट के वेग को अच्छी तरह से तोल लेता है। तभी वह सबको एक तरह से रुचता और भाता है।

सरल और कठिन शब्द

ऊँचे कलाकारों की भाषा सरल होती है यह तो किसी सीमा तक ठीक है पर किसी प्रयास से वे सरल नहीं लिखते। उनकी अभिव्यक्ति में सरल और कठिन शब्द उसी मात्रा में निकलते हैं जिस मात्रा में आभ्यंतर में स्थान प्राप्त करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जहाँ

अभिव्यंजना में नितांत सरल और बोधगम्य हैं वहाँ उन्होंने ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो सरल कदापि नहीं कहे जा सकते और उनके पर्य्याय सरल शब्द हिंदी भाषा में विद्यमान हैं। बात यह है कि महान् काव्यकार के मुख से शब्दों और वाक्यों का सजा-सजाया ताना-बाना निकलता है। संकेत उन्हीं के भीतर रहता है। वैसे बाजारू संकेत तो—

'बेला फूला आधी रात
गजरा मैं केहि के गरे डारौं'

गानेवाला या गानेवाली भी वाच्यार्थ की सीमाओं से कूदकर व्यंजना का सहारा स्वयं लेती है और सुनने वालों से भी यही आशा करती है; परंतु समस्त अभिव्यक्ति का प्रभाव वासना की हल्की और सस्ती उपासना ही रहेगी।

गोस्वामी तुलसीदास के समान महाकाव्य रचयिता की पंक्तियाँ भी गद्यात्मक हो सकती हैं—

"आगे चले बहुरि रघुराई,
रिष्यमूक पर्वत नियराई।
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा,
आवत देखि अतुल बल सीवा।"

ऐसी रूखी पंक्तियाँ रामायण में बहुत हैं, परंतु चातुर्य यह है कि वे ऊपर और नीचे के ऐसे सरस प्रसंगों में जड़ी हैं कि पाठक और श्रोता उन्हें लाँघ जाता है और उनकी इतिवृत्तात्मकता उभरती नहीं। इधर यह रूखा सारल्य है और दूसरी ओर विनय पत्रिका के लम्बे-लम्बे संस्कृतमय स्तोत्र जिनमें केवल हिंदी के क्रिया पदों के अतिरिक्त कुछ भी हिंदी नहीं है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस है। उसके लिए भी केवल सरलता की दुहाई देनेवालों को निम्नलिखित उदाहरणों को ध्यान से पढ़ना चाहिए——

(१) 'कहत सुनत समुझत **हरियाना**'
(२) 'दोउ हरि भगत कहा **उरगादा**'
(३) '**बैनतेय** बलि जिमि चह कागा'

तीनों अवतरणों में गरुड़ पक्षी के लिए तीन नये-नये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं और ये तीनों शब्द न सरल हैं और न साधारण प्रयोग में आते हैं। और देखिए—

(१) 'गाधि **सुवन** कह हृदय हंसि'
(२) 'पवन **तनय** मन भा अति क्रोधा'

यहाँ 'सुवन' और 'तनय' दोनों शब्द पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त हैं और सरल नहीं कहे जा सकते।

'जानसि मोरु सुभाउ बरोरू'

इस उक्ति में 'बरोरू' शब्द को कोई सरल न कहेगा।

'अवनिय अकनि राम पगु धारे'

इस उक्ति में 'अवनिय' तो कठिन है ही 'अकनि' संस्कृति के 'आकर्ण्य' का सीधा तद्भव है जिसका अर्थ है सुनकर। हिंदी में ऐसा प्रयोग बहुत कठिन समझा जायगा।

(१) '**जातरूप** मणि रची अटारी'
(२) 'परसत **तुहिन तामरस** जैसे'
(३) 'उमा **दारु योषित** की नाईं'
(४) '**रदपट** फरकत नैन रिसोहैं'

ऊपर के चारों अवतरणों में सोने के लिए 'जातरूप' पाले के लिए 'तुहिन' कमल के लिए 'तामरस' कठपुतली के लिए 'दारु योषित' ओठों के लिए 'रदपट' लिखना गोस्वामी जी की सरल लिखने की परि-पाटी व्यक्त नहीं करता। देवताओं के लिए 'विबुध' विष्णु के लिए 'सारंग पानि' पहाड़ों के लिए 'भूधर' ब्राह्मणों के लिए 'भूसुर' सभी प्रयोग सर्व सुबोध नहीं हैं। यह भी समझ लेना चाहिए कि मुसलमानों के सकाश से प्रचलित सकील मुअर्रब और मुफ़र्रस अलफ़ाज से भी गोस्वामी जी को गुरेज़ न था।

समझना यह है कि कठिन और सरल शब्दों का त्याग अथवा स्वीकार महाकाव्य का अपरिहार्य लक्षण नहीं है। वह प्रयुक्त शब्दों और वाक्यों में एक ऐसी पृष्ठ भूमि प्रस्तुत करता है जिसमें वह सारा वातावरण सधा रहे जिसमें सभी साँस लें, प्राण ग्रहण करें और आनंदमग्न हों। शब्द की शैल्य-क्रिया, वाक्य का क्रूर विश्लेषण, और अर्थ की उधेड़-बुन, यह व्यापार पुस्तकों के बोझ से दबे हुए अहमन्य शास्त्रार्थी पंडितों का है रसिकों का नहीं है। सूझ की पैनी प्रतिभावाला कवि सारे पुराने प्रयोगों को दुहरा कर भी बासी नहीं रहता और समस्त मौलिक उद्भावनाओं को नये रूपों में कहकर भी कठिन चषब अथवा अप्रयुक्त दोसे रहता है। उसमें विश्व को देखने और दिखाने की अपूर्व योग्यता रहती है। वह सुरसा की भाँति फैले हुए विश्व के वातावरण में प्रवेश करके भी हनुमान की भाँति अभद्रता की जड़ों में नहीं फँसता।

महाकाव्यकारों की कृतियों में केवल चलते-फिरते प्राणियों के चित्र नहीं रहते, उनकी अभिव्यंजना न तो लड़खड़ाती है और न उनकी वाणी में हकलाहट होती है। सौंदर्य और परमत्व का वे शृंखलाबद्ध इतिहास देते हैं। पतिंगे को अवकाश मिलता है कि वह दीवे की लौ में कूदकर अपने प्राण होम सके। बीच में छिपकली उसे ग्रास नहीं कर जाती। धवीले नक्षत्रों का विखेरना उनका काम नहीं, प्रत्युत विश्व में छिटकी रहनेवाली ज्योत्स्ना का प्रसार करना ही उनकी कृतियों का बरदान है। जिस कृतिकार की कला झुकना नहीं जानती और वह सीधे खड़ी रहती है उस पर चढ़कर आगे जानेवाले को बड़ा कष्ट होता है। ऐसी कला और ऐसा कलाकार 'समय' के हाथ का खिलौना है जिसे वह थोड़ी देर बाद नष्ट कर देता है। साहित्य की और कला की गति सदैव प्रगतिशील रहती है। सहित्य 'स्टेशन' हो सकता है परंतु 'टरमिनस' (Terminus) नहीं।

जिस वातावरण की और जिस अमूर्त संसार की कलाकार के लिए तन्मय होने की चर्चा ऊपर की गई है उसी वातावरण से वह बड़े पुष्ट, निर्भीक और मौलिक चित्र चुनता है। उसकी मौलिकता नामों में नहीं रहती है, उसकी मौलिकता कथानकों में ढूँढ़ना व्यर्थ है, उसकी मौलिकता जीवन-विस्तार के साधारण पंथों में खोजना भयंकर भूल है; उसकी मौलिकता उसके सुझाव और उसके दिखाव में है। गोस्वामी जी ने कितने ग्रंथ न पढ़े होंगे, कितनी राम कथाएँ न सुनी होंगी फिर भी उनके राम, उनके भरत, उनकी कैकेयी और उनकी कौशल्या उनकी हैं वे सबसे भिन्न हैं। 'नाना पुराण निगमा गम' से उन्होंने केवल दूध दुहा, परंतु नवनीत अपने हाथों बनाया। महर्षि बाल्मीकि के राम कौशिल्या के पास "निश्वसन्नपि कुञ्जरो" के रूप में पहुँचते हैं, और "अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः सुदुर्बला वत्समिवाभिकांक्षया" के शब्दों में कौशल्या विलाप करती है, मुक्त कण्ठ से, परंतु तुलसी के राम अपनी माता कौशल्या से बन जाने के समय कैसी सरल बात कहते हैं।

"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू"—और कौशल्या क्या कहती हैं—

"जो केवल पितु आज्ञा ताता, तौ जनि जाब जानि बड़ माता।

जौ पितु मातु कहेउ बन जाना, तौ कानन सत अवध समाना।"

इस प्रकार के उदाहरण अधिक देने में लेख का कलेवर बढ़ जायगा।

अलंकारों का वास्तविक रूप

और

काव्य में छंदों का स्थान

संस्कृत शास्त्रों में काव्य के रूप

संस्कृत शास्त्रों में काव्य को दो दृष्टियों से देखने का प्रयत्न किया गया है। कुछ आचार्य उसके प्रभाव पर दृष्टि रखकर उसकी परिभाषा करते हैं और कुछ लोग उसके प्रयोग की ओर देख कर उसकी मीमांसा करते हैं। 'ध्वनि' सम्प्रदाय और 'रस' सम्प्रदाय के पोषक उसके प्रभाव से प्रभावित हैं और 'अलंकार' 'वक्रोक्ति' 'तथा' 'रीति' सम्प्रदाय वाले उसके प्रयोग चातुर्य पर मुग्ध हैं। सब ने अपनी अपनी परिभाषाएँ रची और दूसरे का खण्डन मण्डन भी किया है। आचार्यों ने अपनी परिभाषा को व्यापक और समीचीन बनाने के लिये दूसरे की परिभाषाओं के प्रमुख और अपरिहार्य तत्वों को, अपने ढंग से अपनी व्याख्या में सम्मिलित कर लिया है। ध्वनिकारों ने वस्तु ध्वनि के साथ रसध्वनि और अलंकार ध्वनि की भी योजना की है।

अलंकार वाद के पंडितों में वाग्भट्ट, उद्भट, दण्डी और रुद्रट हैं। इनकी व्याख्याएँ, समवेत रूप में, अलंकार परिपाटी को समझाने का प्रयास हैं। इन सब आचार्यों का ध्यान काव्य के चमत्कार की ओर अधिक था अतएव दूसरे आचार्यों ने काव्य के मूल को सामने रख कर इनकी परिपाटी को अव्याप्त दोष से युक्त प्रमाणित किया है। परंतु, यदि अलंकारों को मनोवैज्ञानिक भाषा-वैज्ञानिक और इतिहासिक परम्परा के साथ-साथ समझने का प्रयास किया जाय तो काव्य में उनके सार्वभौमिक स्वीकार में किसी को आपत्ति न होगी।

अलंकार क्या है?

'अलम् (पूर्णम्) करोतीति अलंकारः'—जो अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान करे अर्थात् यथातथ्य रूप में व्यक्त करे उसे अलंकार कहते हैं। पूर्णता और यथातथ्यता

प्रदान करने वाले साधन स्वयमेव सुंदरता और शोभा की योजना करते हैं क्योंकि नैसर्गिक सौंदर्य और शोभा तो यथातथ्यता और पूर्णता ही का दूसरा नाम है। अतएव "अलंक्रियते अनेन इति अलंकार:" यह उक्ति भी लाक्षणिक रूप से सत्य है। भ्रम, अधिकतर, अलंकार के वर्त्तमान अर्थ के कारण हो जाता है। यह उसका लक्ष्यार्थ है। अलंकार आभूषण को कहते हैं। आभूषण केवल शोभा बढ़ाते हैं, बिना आभूषणों के भी व्यक्ति की स्थिति सम्भव है। इसी भ्रम से और अलंकारों के भेदों का कृत्रिम विस्तार देखकर अलंकारों के मूलश्रोत के प्रति इधर के हिंदी के आचार्यों ने अनविज्ञता प्रदर्शित की है। वास्तव में उक्ति से प्रथक, भाव और विचार से भिन्न, तथा अनुभूति की अभिव्यंजन सार्थकता को छोड़ कर, अलंकार की कोई स्थिति नहीं। जो अलंकार इन मंतव्यों से भिन्न रूप में निर्माण किये गये हैं वे केवल विनोद के साधन हैं, चमत्कार का उपकरण हैं, उक्ति को अलंकृत करने वाले योग नहीं। अभिव्यंजना के क्रमविकास और उसकी अनेक रूपता के इतिहास के साथ अलंकार विस्तार किस प्रकार लिपटा हुआ है यह आगे की पंक्तियों में समझाने का प्रयास किया जायगा। यह समझना भूल होगी कि सुंदरता लाने के लिए कुछ विशेष रचना-प्रणाली की सृष्टि करके पुराने कवियों ने आगे के कवियों का मार्ग प्रशस्त किया है। अलंकार, रचना शैली के अंतरंग विकास से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्य होता जाता है उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। उसके व्यापार और रागात्मक संबंध व्यापक और जटिल होते जाते हैं। उसकी अनुभूतियों में अनेकरूपता आती जाती है। उसका शब्द-कोष भी बढ़ता जाता है। भावों की भी वृद्धि होती है और उनका उलझाव भी विस्तृत होता जाता है। उन्हें व्यक्त करने के लिये कवि बहुत से प्रयोग करता रहता है। भीतर के तथ्य में जितना अधिक वेग होगा व्यंजना में भी उतना ही अधिक वेग लाना आवश्यक है। अनुभूति के वेग के साथ अभिव्यंजन के वेग की तोल प्राणीमात्र में है। जितने वेग से कुत्ते को कोई मारता है उतने ही वेग से वह चिल्लाता है। प्रत्येक अनुभूति को प्राणी प्रभावशाली से प्रभावशाली भाषा में रखना चाहता है। इसी को यों कह सकते हैं कि आभ्यंतर की अनुभूति को यथातथ्यता के साथ बाहर रखना प्रत्येक मनुष्य चाहता है। परंतु भाषा की जितनी क्षमता होगी और कहनेवाले का जितना विस्तृत भाषा-ज्ञान होगा उसी के अनुसार यह प्रभाव लाया जा सकता है। अभिव्यंजक यथातथ्यता के ही लिये नए नए प्रयोग करता है। विचार या भाव के व्यक्तस्वरूप का सब से छोटा अंश वाक्य है। वाक्यों की ही अनुभूति होती है और वाक्यों में व्यक्तीकरण होता है। शब्दों में उसे विच्छेद

करना और अर्थ आरोपित करना बाह्य जगत का कार्य है। स्मृतिपटल पर वाक्य अथवा वाक्यांश ही बिंबित रहते हैं। अचेतन और अवचेतन तलों में इन वाक्यों अथवा वाक्यांशों का योग भी होता रहता है। एक तीव्र भाव व्यक्त करने के लिए हम कभी-कभी स्मृतिपटल पर अंकित वाक्यांश के एक टुकड़े को लेकर दूसरे टुकड़े से मिलाते हैं और अपनी बात बड़े सुहावने ढंग से कह डालते हैं। यह भीतरी सम्मिश्रण सादृश्य के आधार पर होता है। अलंकार शास्त्र में इसी को उपमा अथवा रूपक कहेंगे। यही दो अलंकार वास्तव में सारे अलंकारों में व्याप्त हैं। 'सीधी लकड़ी' के अनुसार हम 'सीधी बात' और 'सीधा बालक' बोलने लगते हैं। कड़ा पत्थर से कड़ी बात बन जाती है। सिद्धांत यह है कि जब शब्द घट जाते हैं तब उपमा का आश्रय लिया जाता है। मनुष्य की सबसे ऊपरी केश कबरी को चोटी कहते हैं अतएव पहाड़ के सबसे ऊँचे भाग का नाम भी चोटी पड़ा। मानव के कंधे पर गरदन होती है। सुराही का ऊपरी भाग भी उसी प्रकार का होता है अतएव समानता के कारण हम सुराही की गर्दन का प्रयोग करने लगते हैं। कभी कभी किसी गुण के आरोप करने के लिए किसी तादृश दूसरे शब्द का प्रयोग करते हैं जैसे 'करकमल' 'मुखचंद' इत्यादि। अधिक प्रयोग से इन उपमाओं की तीव्रता समाप्त हो जाती है और वे केवल रूढ़ि मात्र रह जाते हैं और उनके प्रयोग में उपमा की उपस्थिति तक का भास नहीं होता। कर-कमल, मुखचंद, खंजन नयन इत्यादि इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

प्रत्येक भाषा अपनी-अपनी उपमाएँ रखती है। ये वह अपने आस पास की देश स्थिति से ग्रहण करती है। प्रसिद्ध रूप व्यापारों की उपमाएँ अपनी रुचि अनुकूल प्रत्येक देश ने अपने आस पास के निसर्ग से सीखा है। एक ही अर्थ व्यक्त करने वाला शब्द भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न उपमाओं में प्रयुक्त होकर भिन्न-भिन्न अर्थ प्रतिपादित कर सकता है। उपमा के द्वारा कितने प्रकार के शब्द बने हैं, इसके विषय में भाषा-विज्ञान के एक पंडित ने कुछ उदाहरण दिये हैं। हम उन्हें यहां उद्धृत करते हैं—

"(१) किसी वस्तु के किसी विशिष्ट अंश के अनुसार, जैसे—ऊख की आँख, नदी की शाखा।

(२) एक वस्तु के एक अंश से दूसरी वस्तु के एक अंश का नाम बनना, जैसे—घड़े का गला, पतंग की दुम।

(३) मनुष्य शरीर के किसी अंश से दूरत्व का परिमाण, जैसे—पाँच हाथ, चार उँगली, तीन फ़ुट।

(४) आकृति के सादृश्य से, जैसे—'मिठाई का पहाड़' हो गया।

(५) व्यवहार के सादृश्य से, जैसे—उनकी बोली 'बहुत तीक्ष्ण' है।

(६) स्थान और समय के सादृश्य से, जैसे—दीर्घ काल, कुछ समय के पीछे।

(७) इंद्रियानुभूतियों के परस्पर सादृश्य से, जैसे—मधुर शब्द, सुंदर स्वाद।

(८) शारीरिक अनुभूति-सूचक शब्द मानसिक या नैतिक भावों के लिये, जैसे—कटु वाक्य, उच्च भाव, गंदी बात, जी ठंडा हो गया।

(९) समग्र वस्तु के स्थान में अंशमात्र का व्यवहार, जैसे—रोटी खाना।

(१०) शरीर के किसी विशिष्ट अंश या मन के किसी विशिष्ट उपादान के अनुसार किसी मनुष्य या जीव का नाम, जैसे—शुभ्र केश, सुग्रीव, महाशय।

(११) किसी विशेष चिह्न के अनुसार, जैसे—लाल पगड़ी।

(१२) आधार के लिये आधेय, जाति के लिए व्यक्ति, जैसे—वे तो कालिदास हैं।

(१३) आधेय के लिये आधार, जैसे—थाली परोसी गई, सारा शहर कह रहा है।

(१४) गुणी के लिये उसका गुण, जैसे—विद्या प्रतिष्टा चाहती है।

(१५) जिस पदार्थ से कोई वस्तु बनी है, उस पदार्थ के अनुसार उस वस्तु का नाम, जैसे—एक टीन, एक गिलास।

(१६) कभी-कभी शब्द का अर्थ संपूर्ण बदल जाता है।"

यह सब लिखने का अभिप्राय यह है कि अलंकार वास्तव में, भाषा के क्रम-विकास हैं, बाहर से भाषा में पहनाने की चीज नहीं। अतएव आजकल के नवीन आलोचक—जो अलंकारों से चिढ़कर उनकी उपेक्षा करते हैं और उन्हें भाषा के नैसर्गिक प्रवाह में बाधक समझते हैं—बड़े भ्रम में हैं।

अपने अभिव्यंजन की क्रमागत तीव्रता अभिव्यक्त करने के लिए वक्ता अथवा लेखक किस प्रकार अभिव्यक्ति को टटोलता-टटोलता अलंकारों की सृष्टि कर देता है यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

प्रसिद्ध अलंकारों की व्याख्या

बहुत गरमी के दिन हैं। बाहर से भीतर आकर हम अपने मित्र से कहते हैं 'आज बहुत गरमी है'। दूसरे दिन उससे भी अधिक गरमी ज्ञात होती है। हम थोड़ा मुँह बनाकर कहते हैं 'आज बहुत गरमी है'। अगले दिन और गरमी प्रतीत होती है और

मुँह बनाने पर भी ऐसा अनुभव हो रहा है जैसे गरमी की अनुभूति का ठीक-ठीक केवल यह कहने से कि आज बहुत गरमी है व्यक्तीकरण नहीं हो रहा है तो हम यह कह देते हैं कि आज तो "धूप नहीं है आग बरस रही है।" लीजिए अपह्नुति अलंकार प्रस्तुत हो गया। यदि हम इसी को यों कह दें—'आज की धूप आग की भाँति गरम है', तो उपमा हो गई। इसी प्रकार—

(१) 'आज की धूप मानो आग है।'

(२) 'धूप का वेग देखकर आग का स्मरण हो आता है।'

(३) 'धूप के वेग को आग की लपट समझ कर पशु जलाशय की ओर भागे जा रहे हैं।'

(४) 'दुपहर की धूप है अथवा आग की लपट है।'

(५) 'आज की धूप आग की लपट को भी लज्जित करने वाली है।'

(६) 'आज की धूप आग से बढ़कर है, वह निरंतर जलती रहती है, आग तो थोड़े समय के बाद बुझ जाती है।'

(७) 'धूपाग्नि से वृक्ष जले जा रहे हैं।'

(८) 'धूप से सिर फटा जा रहा है।'

(९) 'धूप अग्नि की भाँति जलाने वाली, विष की भाँति काला कर देने वाली और बाणों की भाँति आहत करने वाली है।'

(१०) 'अग्नि वृक्षों को जला नहीं पाती अतएव उसने धूप के साथ उन्हें झुलसाना आरंभ कर दिया है।'

(११) 'धूप और अग्नि दोनों जलाने वाली हैं।'

(१२) 'अग्नि और धूप दोनों ही ऊष्णता की शोभा है।'

(१३) 'धूप की गरमी से कोई उसी प्रकार बच नहीं सकता जिस प्रकार अग्नि की जलन से कोई बच नहीं सकता।'

(१४) 'धूप की ऊष्णता को जो अग्नि की ऊष्णता नहीं समझता वह मूर्ख है।'

(१५) 'धूप तेज है और अग्नि जल रही है।'

(१६) 'धूप बिना प्रज्वलित हुए वृक्षों को भस्म करती है।'

(१७) 'धूप कहीं होती है और आग कहीं बरसती है।'

(१८) 'कड़ी धूप से अन्न भी उगता है और मेघ भी बनते हैं। एक पंथ दो काज।'

पहले में उत्प्रेक्षा, दूसरे में स्मरण, तीसरे में भ्रांतिमान, चौथे में संदेह, पाँचवें में प्रतीप, छठे में व्यतिरेक, सातवें में रूपक, आठवें में उल्लेख, नवें में अतिशयोक्ति, दसवें में परिणाम, ग्यारहवें में तुल्ययोगिता, बारहवें में दीपक, तेरहवें में दृष्टांत, चौदहवें में निदर्शना, पंद्रहवें में परिकर और परिकरांकुर, सोलहवें में विभावना, सत्रहवें में असंगति तथा अठारहवें में लोकोक्ति है।

इसी प्रकार सभी अलंकारों का विस्तार किया जा सकता है। सारे अलंकारों को मानव अनुभूतियों की अनेकरूपता के अभिव्यंजन का सँकरापन ही जन्म देता है। यह सत्य है कि ऊपर के सब वाक्य एक ही व्यक्ति के भाव नहीं हो सकते। भावाघात अपनी-अपनी अनुभूति प्रथक-प्रथक व्यक्ति में उत्पन्न करता है और ये अनेकार्थी अनुभूतियाँ किसी न किसी में यथार्थ हो सकती हैं। अपनी अनुभूति के अनुकूल ही व्यक्ति अपनी वाणी को मुखर करेगा। किसी के सुंदर मुख को देखकर और उसके सौंदर्य के तीव्र आघात के व्यक्तीकरण के लिए जब हम इस साधारण वाक्य को अपर्याप्त पाते हैं कि उसका मुख बहुत सुंदर है तभी हम प्रकृति से उपमा उधार लेकर कहते हैं कि उसका मुख कमल के सदृश अथवा चंद्रमा के सदृश है।

अलंकार के सच्चे स्वरूप को जो समझ लेता है वह ऐसी भद्दी भूल नहीं करता कि 'स्वभावोक्ति अलंकार' के नामकरण की हँसी उड़ावे। 'स्वभावोक्ति' भी अभिव्यंजन का वैसा ही यथातथ्य निरूपक भेद है जैसा और भी कोई अलंकार। जो वाक्य वाच्यार्थ में अधिकतर प्रयुक्त होगा उसमें भाषा व्यंजना के प्रयोग का दर्शन नहीं होता। जिस वाक्य में शब्द अपने ठेठ वाच्यार्थ से अलग होकर अन्य अर्थ देते हैं जिसमें वस्तु स्थिति का यथाताथ्य है उसे 'स्वभावोक्ति' कह देने में क्या हानि है?

फिर इस अलंकार के नाम से चिढ़ने की क्या आवश्यकता है? यह भ्रम तभी होता है जब हम अलंकार को एक प्रथक वस्तु के रूप में कल्पना करते हैं। सोने का कड़ा आभूषण है अतएव अलंकार है परंतु उस अर्थ में सुंदर नासिका अलंकार नहीं है। काजल अलंकार है परंतु उस अर्थ में 'चारु चपल अनियारे नैन' अलंकार नहीं है।

उपमा का स्वरूप

इसी लेख में एक स्थल पर कहा गया है कि सारे अलंकारों के मूल में उपमा किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। उपमा का आधार रूप सादृश्य और भाव सादृश्य दोनों होते हैं। केवल एक आधार पर टिकी हुई उपमा लँगड़ी

होती है और कभी-कभी सदोष भी होती है। बहुत-सी परम्परागत और रूढ़िगत उपमाएँ इसी प्रकार की हैं। 'कलभ कर भुजबल-सीवाँ' में हाथ को सूँड़ से समता देना केवल रूप सादृश्य का ही अनुसरण किया गया है। सूँड़ में न सौंदर्य होता है और न बाह्य कोमलता अतएव कोमल भाव का जागरण नहीं हो सकता। चांचल्य नेत्रों का सौंदर्य बना यह ठीक है। रति विलासियों को उसमें रमण शीलता मिली। हिरणी के भी नेत्र बड़े चंचल होते हैं। वह आखेटकों से भयभीत रह कर सर्वदा ही इधर उधर दृष्टि विक्षेप किया करती है। अतएव रमणी के नेत्रों की तुलना हिरणी के नेत्रों से देना किसी सीमा तक अनुचित नहीं है यद्यपि चांचल्य के अतिरिक्त और कोई आकर्षण हिरणी के नेत्रों में नहीं होता। परंतु नेत्रों की समता में समूचे हिरण को ही बैठा देना अच्छी उपमा नहीं है। इसी प्रकार तोते की नासिका किसी को रुची और उसने उसे उपमा बना दिया यहाँ तक तो ठीक है परंतु सारे तोते को ही नासिका के स्थान पर बिठा कर नासिका को उत्तम कहना न भाव सौंदर्य उद्दीप्त करता है न आकार सौंदर्य।

"नाक का मोती अधर की कांति से
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से,
देख उसको ही हुआ सुक मौन है।
सोचता है अन्य सुक यह कौन है॥"

जायसी ने भी लिखा है—"भयो नासिका कीर"

"मूँगफली सी आँगुरी" न जाने क्या सौंदर्य सामने रखती है। 'केहरि कटि' में केवल आकार सादृश्य है भाव सादृश्य नहीं। 'कंबु' ग्रीव को सुंदरता प्रदान करे और कपोत की ग्रीवा मानव ग्रीवा का शृंगार बने परंतु सारे कपोत को ही ग्रीवा बनाने से कोई सुषुमा नहीं बढ़ती। कदली जंघे के लिये रूप सादृश्य और भाव सादृश्य दोनों के कारण उत्तम उपमा अवश्य है परंतु शरीर की लालिमा की समता 'ईंगुर' से देना अथवा 'मनहु नील मणि शैल पर आतप पर्‌यो प्रभात' द्वारा कृष्ण भगवान के सांवले शरीर को सुंदरता से सजाना उत्तम नहीं। भावों के सहारे से ही रूप सादृश्य का सौंदर्य सामने आता है। भाव किसी संदर्भ में आते हैं। वे बढ़ कर स्थायी भाव और रस बनते हैं। उक्ति में एक मंतव्य होता है जो इस उदीप्त भाव के सहारे अपना कार्य करता है। अतएव सच्चे अलंकार का प्रयोग एक ओर तो भाव को बढ़ने में सहायता देता है और दूसरी ओर मंतव्य का अनुगमन कराता है। भाव मंतव्य के अनुकूल ही होता है।

प्रतिकूल भाव की यदि उदीप्ति हुई तो सारी योजना सदोष हो जाती है। अलंकार का यही काम है कि वह अनुकूल भाव की उदीप्ति करे और मंतव्य का अनुगमन करावे।

अलंकारों की वास्तविकता

मलिक मुहम्मद जायसी लिखते हैं—

"विरह सरागिनि भूँजै माँसू,
कटि-कटि परै रकत के आँसू।"

जिस उपमा को लिया गया है उसमें करुण रस अथवा विप्रलम्भ शृंगार के स्थान में वीभत्स रस का उदय हो जाता है अतएव विरहिणी के प्रति सहानुभूति, जो इस उक्ति का मंतव्य है, कुंठित रह जाती है। और देखिये, बिहारी कहते हैं—

"औंधाई सीसी सुलखि, विरह बाय बिललात।
बीचै सूखि गुलाब गो, छीटौ छुयो न गात॥
इत आवति चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोले सी रहै, लमी उसासन साथ॥"

बिहारी के इन दोनों दोहों में विरहिणी का जलना और उसकी दुर्बलता इसलिये दिखाई है कि उसके साथ सहानुभूति उत्पन्न हो, करुणा का उदय हो। परंतु अतिशयोक्ति अलंकार सदोष प्रयुक्त हुआ है। वह वस्तुस्थिति को इतना बढ़ा कर कहता है कि यथार्थता से पूरा लगाव छूट जाता है अतएव करुणा के स्थान में हास्यरस उत्पन्न हो जाता है। ऊहा का बेलगाम प्रयोग ऐसा ही भद्दा हो जाता है। उर्दू शायरी का मुबालगा मशहूर है। उसी का यह प्रभाव है।

"इंतहाये लाग़री से जब नज़र आया न मैं"
मुस्कराकर यों कहा, बिस्तर को झाड़ा चाहिये।"

मानों आशिक दुबला होकर खटमल हो गया है। इसी अतिशयोक्ति को कबीर में देखिये—

मांस गया पिंजर रहा, ताकन लागे काग।
साहेब अबहुँ न आइयाँ, मंद हमारे भाग॥

इसमें भावोद्दीप्ति भी है। सहानुभूति भी प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती है। कारण यह है कि कबीर ने अतिशयोक्ति को ढूँढ़ कर उक्ति नहीं गढ़ी, यह उनकी स्वाभाविक उक्ति है। बिहारी रीतिकालीन कवि हैं। उन्हें अतिशयोक्ति का प्रयोग करना पहले था और सब बाद की बात थी।

कला का सब से उत्तम प्रयोग कला का गोप्यरूप है। उसकी घोषणा हुई तो कला धूमिल पड़ जाती है। अधिकतर ऊहा का भारी लदाव उक्ति को नष्ट कर देता है। सूरदास कहते हैं—

'दूरि करहु वीना कर गहिबो।
थाके मृग नाहिन रथ हाँकत नाहिन होत चंद को ढरिबो।'

इस उक्ति में ऊहा का लदाब इतना ही है 'नाहिन होत चंद को ढरिबो' अतएव कोई विशेष व्याघात भाव प्रसार में उपस्थित नहीं होता परंतु देखिये जायसी क्या कहते हैं—

'गहै बीन मकु रैन बिहाई, शशिबाहन तहँ रहे उनाई।
तब धनि सिंह उरैहै लागे, याही बिथा रैन सब जागै॥'

जहाँ एक ओर यह कारण देकर कि 'शशिबाहन तहँ रहे उनाई' जिसे सूर ने गुप्त रक्खा था; भाव को थोड़ा सहारा दिया है वहाँ 'विषादन' को द्वितीय 'पर्यायोक्ति' मिलाने की धुन में ऊहा का बड़ा भारी बोझ उक्ति पर लाद कर उसे करुणा के स्थान में विनोद की अभिव्यक्ति का साधन बना दिया है। मंतव्य नष्ट हो गया है। किसी को काजल लगाते देख कर हल्ला मचाने लगना—

'आँगुरी तेरी कटैगी कटाच्छन'

बनावटी पागलपन ही समझा जावेगा। यदि वास्तविक उन्माद हो तो भी कोई बात है। रसनिधि की यह उक्ति देखिये—

'चतुर चितेरे तव सखी, लिखत न हिय ठहरात
कलम छुवत कट आँगरी कटी कटाच्छन जात॥'

कितना मखौल का चित्र है यह भी कोई काव्य है जिसमें वास्तविकता से कोई लगाव ही न हो। अब आप कवि बिहारी का एक दोहा पढ़िये जो बिलकुल इसी भाव से मिलता जुलता तो है, परंतु प्रतिक्षण सम्वर्धमान सौंदर्य वाली नायिका का व्यंजना के सहारे, कितना सुषुमा पूर्ण चित्र सामने रखता है—

'लिखन बैठि बाकी सखी,
गहि-गहि गरब गरूर
भये न केते जगत के,
चतुर चितेरे कूर॥'

अनुप्रासों का प्रयोग तो है ही पुनरुक्ति प्रकाश और पुनरुक्तिवदाभास की भी छटा देखने योग्य है।

परिसंख्या, प्रहेलिका, चित्र, कूट--इत्यादि कुछ ऐसे अलंकार हैं जिनकी सृष्टि ही चमत्कार के लिये की गई है और उनका प्रयोग उसी हेतु होता है। अतिशयोक्ति इत्यादि अलंकारों से चमत्कार प्रदर्शन का कार्य लेना कलाकार के विनोदी स्वाभाव का परिणाम होता है। वह कभी-कभी वस्तु से बिलकुल हट कर बेल-बूटे की सी कारीगारी दिखाने लगता है। चिकने कौशेय वस्त्र पर मोटे मोटे बेल-बूटे चित्रित करने की धुन में कौशेय के नैसर्गिक चिकनेपन को नष्ट कर देना किसी के कोमल शरीर पर खरौंच लगाकर खरौंच--व्यापार और नखच्छद अलंकृत विग्रह की प्रशंसा करने के बराबर है। क्या रेशमी चादर के बेल बूटे गड़ते नहीं ? फिर उसे क्यों अलंकृत किया जाता है ? यह मानव कला की दुर्बलता है। उसे नैसर्गिकता के साथ विरोध नहीं करना चाहिए। जिन अलंकारों की सृष्टि इस मनोभाव से हुई है वे साहित्य के रूप नहीं हैं।

यथार्थ की पूरी आराधना और वस्तु स्थिति के यथातथ्य के सहारे यदि उक्ति उठ सके तो अत्यंत उत्तम है।

देखिये—

" 'रहिमन' यों सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत,
ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि आँखिन को सुख होत।
'तुलसी' संत सुअंबतरु, फूलि फलैं पर हेत।
इतते वे पाहन हनैं, उतते वे फल देत ॥"

यहाँ सारी काव्य योजना, उपमाएँ और दृष्टांत, नितांत यथार्थ है। काव्य सौंदर्य हर प्रकार से अक्षुण्ण है।

यदि यथार्थ और यथातथ्य को मूल में पकड़ कर थोड़ी बहुत कल्पना का सहारा दे दिया जाय तो भी ऊहा भद्दी नहीं होती—

'मुहमद विरध जो नइ चला, काह चलत भुइँ टोय।
जोबन रतन हेरान है, मकु धरती पै होय ॥'

अथवा—

'पुहुप सुगंध करहिं यहि आसा। मकु हिरिकाय लेइ मोहिं पासा' ॥

अथवा—

'धूरि धरत नित सीस पर, कहु 'रहीम' केहि काज।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी, ढूढ़त सो गजराज।'

फलोत्प्रेक्षा अथवा हेतूत्प्रेक्षा के लिये थोड़ा बहुत अतथ्य का लदाव बुरा नहीं लगता। परंतु कोरी ऊहा का चमत्कार भाव और मंतव्य को साथ नहीं ले सकता। केशव को देखिये—

> राघव की चतुरंग चमूचय को गनै 'केशव' राज समाजन,
> सूर तुरंगम के उरझैं पग तुंग पताकन की पट साजनि।
> टूटि परैं तिनते मुकुता धरिणी उपमा वरणी कवि राजन,
> बिंदु किधौं मुख फेनन की किधौं राजसिरी स्रव मंगल लाजन॥

चतुरंग सेना को तो केशवदास जी ने 'को गनै' कह के छोड़ दिया केवल 'तुंग पताकन' पर लम्बी चौड़ी ऊहा लाद दी जिससे मुख्य मंतव्य सेना की विशालता को कोई विशेष बल नहीं मिलता। 'संदेहालंकार' लाने की धुन में दो दो उपमाएँ रूप सादृश्य के बल पर लिख मारी। केशवदास जी को तो अलंकार प्रयोग की शास्त्रीय धुन है। वे तो अलंकार के लिये अलंकार प्रयोग करते हैं। उनके सरीखे और आचार्य कवियों के अलंकार विधान को सहानुभूति के साथ समझने की चेष्टा करनी चाहिये। उनके काव्य का धरातल रस निरूपण, भावाभिव्यक्ति कथा निर्वाह चरित्र चित्रण इत्यादि नहीं है। वे केवल चमत्कार प्रदर्शन, उक्ति वैचित्र्य तथा काव्य का शास्त्रीय प्रयोग अपना परम पुरुषार्थ समझते हैं। अतएव इसी पृष्ठभूमि में केशव की काव्य कला को परखना चाहिये नहीं तो उनके साथ अन्याय हो जाने की सम्भावना है।

अलंकारों का सौंदर्य

सौंदर्य का जन्म मानव की घोर ऐहिक आवश्यकता से हुआ है यह मैंने अन्यत्र लिखा हैं। शारीरिक उपादेयता ने जन्म देकर सौंदर्य को ऊपर भी उठाया और वह मानसिक परितोष का कारण बना। घरों का निर्माण शरीर की आतप और वृष्टि से बचने की आकांक्षा ने किया परंतु घर के ऊपर वाले गुम्बजों का ऐसा कोई प्रयोग नहीं होता। वे तो केवल नेत्रानुरंजन मात्र करते हैं। फिर भी उनका लगाव घर से ही है और वे उपादेयता के साथ अभिन्न रूप से संबंधित हैं। परंतु दिवाली में वस्तुकार का लघु अवतार, हलवाई के लिये शक्कर का बड़ा भारी महल तैयार करता है जिसमें कोई रहता नहीं। केवल वह मन का अनुरंजन करता है और चमत्कार और कौतूहल को सजग रखता है। यहाँ सौंदर्य ऐहिक उपादेयता के उत्संग से बाहर आकर अपनी अलग स्थिति की घोषणा करता है। इस अलग स्थिति की रक्षा में ही ललित कलाएँ सामने आईं और

सौंदर्य ने अपनी उपयोगिता को जन्म दिया। उसकी विभिन्नता और अनेकरूपता के दर्शन हुए। ठीक इसी प्रकार जब भाषा मर्मज्ञों ने अभिव्यक्ति को विधानों में विभाजित किया और उसके प्रकार बने और अलंकार नाम उन्हें दिया गया तो अभिव्यंज्य से अलग करके वे समझाये गये। अलंकर ग्रंथों में उनका सहेतुक वर्गीकरण किया गया और नाम के बाद उदाहरण बनाये गये। पंडितों और शास्त्रियों द्वारा व्याख्या की गई। इस स्वतंत्र घोषणा को बल मिला और इनका पठन पाठन स्वतंत्र रूप से सामने आया। कलाकार का मस्तिष्क भी इनसे वातुल हुआ और उसने कला में इनकी योजना मस्तिष्क के सहारे की, हृदय के नैसर्गिक रुझान से नहीं। अतएव वे दोष आ गए जिनकी ऊपर व्याख्या की गई है। केशव प्रभृति पंडितों ने तो केवल आचार्यत्व के रूप में ही सब कुछ लिखा उसे रस सिक्त हृदयोदधि के नवनीत रूप में न देखना चाहिये जिसका प्रसवकर्त्ता कोई बाल्मीकि, कोई व्यास, कोई कालिदास तथा कोई तुलसीदास होता है। आचार्य केशव को जाने दीजिये परंतु यदि कलाकार का अलंकार भाव से बँधकर, रस से बँधकर, विचार से बँधकर, मंतव्य को समस्त बल के साथ संकेत न करेगा तो वह दिवाली के मिठाई के महल से अधिक उपयोगी न होगा।

मलिक मुहम्मद जायसी के कुछ उदाहरण ऊपर देकर यह समझाया गया था कि मुसलमानी अतिशयोक्ति का पल्ला पकड़ कर उनकी उक्तियाँ किस प्रकार कल्पना की चित्रकारी बन गईं। परंतु ऐसे उदाहरण उनमें थोड़े हैं। साधारण-साधारण स्वरूप को उपमा के रूप में पकड़ कर कितनी सुंदर सुंदर उद्भावनाएँ ये कर सके हैं यह भी देखिये—

'सरिवर हिया घटत नित जाई, टूक टूक होइ के बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिउ टेका, दीठि दँवगरा मेरवहु एका॥'

पहली वृष्टि (दँवगरा) जितनी ज्ञान गम्य है उससे कम ज्ञान गम्य जल सूखकर फट जाने वाली गोपद भूमि नहीं है। और देखिये—

'लागेऊ जरै जरै जस भारू, फिर-फिर भूँजेसि तजेऊँ न बारू।'

किसने भड़भूजे का भार न देखा होगा परंतु उपमा के लिये उसे घसीट कर भाव को इतना उठा ले जाना कुशल कलाकार ही का काम है 'फिर-फिर' के 'पुनरुक्ति प्रकाश' ने यथातथ्यता को और मर्म दे दिया है।

स्मरण अलंकार का कितना सुंदर उदाहरण देखिये। फिर भी कहीं से पता नहीं चलता। बिहारी कहते हैं—

'वेई कर, व्योरन वही, व्योरो कौन, विचार।
जा कर उरझ्यौ मो हियो, सोई सुरझे बार ॥

गोस्वामी जी कहते हैं—

'असित वारि बिनु जो तन त्यागा, मुये करै का सुधा तड़ागा ।'

न तो छेकानुप्रास न विनोक्ति अलंकार कहीं भी किरकिराते नहीं हैं। अच्छी उपमाओं की योजना के लिए भाव ज्ञान और रूप ज्ञान के साथ साथ देशकाल और मानव-मन मर्म की भी अच्छी जानकारी होनी चाहिए अन्यथा उपमाएँ अपूर्ण और सदोष ही होती हैं।

अलंकार के संबंध में कभी कभी एक भ्रम यह हो जाया करता है कि हम भाव विपर्यय के रूप को उक्ति में देखकर उसे अलंकार जनित कौशल समझने लगते हैं और तुरंत किसी अलंकार के प्रयोग का संदेह करते हैं। भावगत स्थिति कैसी भी हो वह अलंकार नहीं। भाव का स्मरण भाव का संदेह भाव की भ्रांति 'स्मरण' 'संदेह' और 'भ्रांति मान' अलंकारों की सृष्टि नहीं करते। वरवै रामायण की ये पंक्तियाँ देखिये—

'डहकु न है उजियरिया, निसि नहिं घाम।'
'जगत जरत अस लाग मोहि बिनु राम ॥'

इनमें सीता जी को चाँदनी में ग्रीष्म कालीन धूप का जो भ्रम हुआ है वह भावजन्य है अलंकार जन्य नहीं है। अतएव यहाँ 'भ्रांतिमान' अलंकार नहीं है। किसी कारण यदि मानसिक संतुलन नष्ट होकर किसी प्रकार का भ्रम हो तो वह अलंकार का विषय नहीं है। वह तो भाव का विषय है। यथातथ्यता और पूर्णत्व प्रदान करने के लिये वह अभि-व्यंजन-साधना नहीं है। परंतु 'जयद्रथ बध' की यह पंक्ति दीखिये—

'पेशी समझ माणिक्य को वह विहग देखो ले चला।'

यहाँ पूरा भ्रांतिमान अलंकार है।

'की तुम तीन देव मँह कोऊ
नर नारायण की तुम दोऊ।'

इसमें हनुमान के मानसिक संतुलन नष्ट होने की परिस्थिति की कोई चरचा नहीं है। उन्हें केवल शुद्ध संदेह है। अतएव यह संदेहालंकार मात्र है। मर्मस्थल पर प्रहार होने पर, चित्त विक्षेप के कारण अथवा विरहादि के द्वारा जो उन्माद उत्पन्न हो जाता है उस विनष्ट मानसिक साम्य के स्वरूपों में भ्रांतिमान अलंकार की उपस्थिति समझना भूल है।

शब्दालंकार

ऊपर का ऊहापोह अर्थालंकार के संबंध में किया गया है। साहित्य शास्त्रियों ने शब्दालंकारों की भी व्याख्या की है। जिस उक्ति में दोनों प्रकार के अलंकार मिले रहते हैं वहाँ उभयालंकार की उपस्थिति मानी जाती है। अलंकारों के मेल में यदि विश्लिष्टरूप सामने रहता है और वे तिल और तंदुल की भाँति पृथक पृथक दिखाई देते हैं तो उन्हें संसृष्टि कहते हैं अन्यथा संश्लिष्टरूप का नीर क्षीर मेल संकर कहलाता है।

शब्दालंकार मूल में नाद सौंदर्य की योजना काम करती है। नाद का ऐसा प्रयोग जिससे अर्थ के बिना ही भाव समझ में आ जाय शब्दालंकार कहलाता है। भाव निष्पत्ति, भावारोह और भावपराकाष्ठा; भाव स्थायी भाव और रस की स्थितियों का दूसरा नाम है। यह अवरोह नाद योजना के सहारे सरलता से होता है। एक वर्ण अथवा एक ही स्थान से उच्चरित वर्ण, एक शब्द अथवा शब्दखण्ड एक वाक्य अथवा वाक्य खण्ड जब इतने निकट निकट प्रयुक्त होते हैं कि पूर्व उच्चरित्र ध्वनि की झंकार पर उच्चरित्र ध्वनि की तादृश्य झंकार तक मन पर अपना प्रभाव जमाये रहे तो उसे शब्दालंकार कहते हैं। शब्दालंकारों के कई भेद उपभेद हैं परंतु मूल में नाद योजना की सुंदरता ही कार्य करती है। संगीत और काव्य का उचित सम्मिश्रण ही होना चाहिए। यदि शब्दालंकार के प्रयोग में नाद इतना विशेष हो जाय कि भाव और विचार गौण स्थान में पहुँच जाय तो अलंकार सदोष है। वास्तव में शब्दालंकार काव्य का ही तो रूप है अतएव काव्य की ही प्रधानता होनी चाहिए संगीत की नहीं। यदि संगीत को प्रधान स्थान मिल गया तो काव्य कला का शुद्ध सौंदर्य सामने नहीं आता। और फिर केवल एक प्रकार के नाद देनेवाले वर्णों और शब्दों की सयुक्ति यत्र तत्र स्थापना से किसी विशेष प्रकार के संगीत-स्वरूप की भी स्थापना नहीं होती, अतएव संगीत कला का भी आनंद नहीं आता है। एतदर्थ नाद की अनावश्यक विपुलता अथवा तुमुलता को व्यक्त करनेवाले शब्दालंकार अनुचित हैं। यदि भाव और विचार रस और ध्वनि सबसे पहले नाद अपनी घोषणा करने लगे और उसका प्रभाव काव्य के उपरियुक्त तथ्यों को अनुभव करने में अंतराय रूप में उपस्थित हा जाय और बोध वृत्ति शब्द अथवा शब्दत्व में उलझने लगे तो काव्य कला को कृतकार्य न समझना चाहिए। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

रामस्वयंबर में रघुराजसिंह एक स्थल पर लिखते हैं—

"छरे छबीले छैल सब, छिन छिन सुछबि अछाम।
छितिनायक के छोहरनि, छूटत छूटि ललाम॥"

यहाँ 'छ' की आवृत्ति से जो वृत्यानुप्रास नामक शब्दालंकार की योजना की गई है उसमें न तो विचार न भाव किसी ओर ध्यान नहीं रक्खा गया है। नाद का एक तुमुल रूप अवश्य सामने आ जाता है। इससे तो यदि हम यह कहें कि 'तुम व्यर्थ में टाँय-टाँय' कर रहे हो तो अच्छी नाद योजना आ जायगी और मुहावरे का प्रयोग भी अच्छा लगेगा। वृत्यानुप्रास का गोस्वामीजी का उदाहरण देखिए—

"पैज परे प्रहलादहुँ के प्रगटे प्रभु पाहन से न हिये से।"

'प' वर्ण की आवृत्ति द्वारा यहाँ जो नाद चमत्कार सामने रक्खा गया है उसका ध्यान भी नहीं आता। अर्थ अनुगति के बाद उसकी स्थिति समझ में आती है।

हरिऔधजी कहते हैं—

"काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था,
काँटे से कमनीयता कुसुम की क्या है न कोई कभी?"

'क' की आवृत्तिवाले ऊपर के वृत्यनुप्रास की ओर देखिए और गोस्वामी जी के 'क' की आवृत्तिवाले निम्नलिखित वृत्यनुप्रास पर ध्यान दीजिए—

'काक कहहिं कल कण्ठ कठोरा।'

आपको तुरंत भेद ज्ञात हो जायगा। हरिऔध जी का अनुप्रास दूर से नाद करता है फिर भी पंक्तियों की गद्यात्मकता दूर नहीं कर सकता। वास्तव में उसका कोई योग भाव के साथ नहीं है। गोस्वामी जी की नाद-योजना अर्थ और भाव-साधना के लिए ही की गई है।

"मानहु मदन दुंदुभी दीनी"

में जिस प्रकार 'म' के छेकानुप्रास में पूरी चौकसी के साथ स्त्रियों के नूपुरध्वनि सुनाने की गोस्वामी जी ने साधना की है उसी प्रकार 'काक' और 'कलकण्ठ' दोनों की ध्वनियाँ ऊपर की उक्ति में संगठित की गई हैं।

वृत्यनुप्रास के अंतरगत स्थानगत स्वभाव के अनुसार कोमल और कठोर वर्णों का पक्षपात देखकर कोमला और परुषा वृत्तियों का नामकरण किया गया और जहाँ ये दोनों रूप मिले उसे प्रौढ़ा वृत्ति कहा गया। स्थान के अनुसार उनका पांचाली, गौड़ी और वैदर्भी नाम रक्खा गया। अतएव लिखने की तीन रीतियाँ चल निकलीं और रीतिकारों का काव्य-संबंधी नया वाद खड़ा हो गया।

पांचाली रीतिवाला कोमला वृत्ति का पद्माकर का यह कवित्त देखिए—

"गोपी ग्वाल माली जुरे आयसु मैं कहैं आली।
कोऊ जसुदा के अवतर्यो इंद्रजाली है।
कहै 'पद्माकर' करै को यौं उताली जापै;
रहन न पावै कहूँ एकौ फन खाली है॥
देखैं देवताली भई विधि के खुसाली कूदि,
किलकत काली हेरि हँसत कपाली है।
जनम को चाली एरी अद्भुत है ख्याली आजु,
काली की फनाली पै नचत बनमाली है॥

गौड़ी रीतिवाला परुषा वृत्ति का कुमार मणिभट्ट का यह कवित्त देखिए—

"राम भुव-मण्डल-अखंडल तिहारे भुज—
दंड लेत को दँड अखंड बैरी कूटे जात।
मंडि ना सकत रन-मंडल, अखंड तेज
खंडे खंड-खंड के मवास बास लूटे जात॥
चलत उदंड दल-मंडल-वितुंड-झुंड,
खैंचे सुंडादंडिन उदग्ग दुग्ग छूटे जात।
छंडे दिग-मंडरीक पुंडरीक भू को भार,
कुंडली सँकोरै फन पुंडरीक फूटे जात॥"

प्रौढ़ा वृत्तिवाला वैदर्भी (उपनागरिका) रीति का एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

"मीन-मन-रंजन त्यौं खंजन मुदित मन,
कूदत कबहुँ बन सघन सिधारे हैं।
विकसत कंज हरषत ही-हरिन-पुंज,
दीखत दुख्यारे कबहूँक मन मारे हैं।
समता मिले तैं उपमान सब राजत पै,
कबहूँ अनादर तैं लाजत विचारे हैं।
रोचन सकल सोच-मोचन मरोरवारे,
वे ही अनरोचन बिलोचन तिहारे हैं॥"

जिस स्थान पर जिस प्रकार के वाक्यंत्र का विकास हुआ है उस स्थान पर उसी प्रकार के वर्णों के प्रयोग को अधिक सुंदर समझा गया। वाक्यंत्र का विकास भी स्थानिक

प्रयोग से ही संगठित होता है। मात्राओं के गोल और लम्बे उच्चारण भी बहुत कुछ परस्पर के सुने प्रयोग से बचपन से ही प्रस्फुरित होने लगते हैं। अब यातायात की सुविधाओं ने विभिन्न उच्चारणों के सम्पर्क को इतना सरल कर दिया है कि यह विशेषता नष्ट होती जा रही है।

शब्दों और शब्द-खण्डों, वाक्यों और वाक्य-खण्डों की आवृत्तिवाले शब्दा-लंकार में लाटानुप्रास और यमक प्रमुख हैं। आवृत्ति के साथ अर्थ न बदले तो लाटा-नुप्रास है और अर्थ बदलने पर यमक होता है। पर यह न भूलना चाहिए कि आवृत्ति का अर्थ निकट निकट प्रयोग का ही है जिसमें पूर्वापर ध्वनि साम्य का आघात प्रभाव उत्पन्न कर सके। परंतु यह नाद सौकर्य भाव निबंधना और भाव की यथातथ्याभिव्यक्ति के लिए ही नियोजित होना चाहिए। लाटानुप्रास के दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) "पूत सपूत तो है वृथा, धन संचय को खेद।
पूत कपूत तो है वृथा धन संचय को खेद॥"

(ख) "मातहि पितहिं उऋण भये नीके,
गुरु-ऋण रहा सोच बड़ जीके।"

(क) दोहे में वाक्य और शब्द दोनों की आवृत्ति है। उदाहरण के रूप में छात्रों को समझाने के लिए यह पद्य बहुत अच्छा है। केवल समझाने ही के लिए गढ़ा गया है। इस लेख के किसी भाग में अर्थालंकारों के भेद स्पष्ट करने के लिये, इसी प्रकार गद्य के अनेक वाक्य गढ़े गये हैं। वे केवल उदाहरण मात्र हैं जिनसे छात्रों को भेद स्पष्ट हो जाय। परंतु उन्हें अलंकारों का यथातथ्य अथवा सुंदर प्रयोग कदापि न समझना चाहिए। आभ्यंतर की प्रेरणा से अनुभूति की कसमसाहट से जो नैसर्गिक रूप से अभि-व्यक्ति से अभिन्न होकर अलंकार सामने आते हैं वे उत्तम अलंकार होते हैं। बाहर से उक्ति में पहनाने के लिए उनका प्रयोग व्याकरण और शास्त्रानुसार भले ही हो काव्य-मय, सौंदर्यमय अथवा औचित्यमय नहीं कहा जायगा। यही कारण है कि (क) का दोहा केवल पद्य में बँधी हुई नपी तुली शब्द-स्थापना मात्र है जिसमें लाटानुप्रास का अस्थि पंजर खड़ा किया गया है। उसमें प्राण नहीं हैं। परंतु गोस्वामी जी की अर्धाली (ख) में ऋण शब्द की आवृत्ति में लाटानुप्रास अपने स्वाभाविक रूप में सामने आगया है।

यमक का चमत्कार देखिए—

(१) श्रुति-सार-द द्रुति जान जस,
सारद-सोम समान।
सुमिरौं सारद सुमिरि सब,
भये बिसारद जान॥

(२) विषयन-रत-न भज्यौ कबहुँ,
बानर तनय सहाय।
नर-तन दुर्लभ लहि कहा,
न रतन दियौ गँवाइ॥

(३) बस न हमारो करहु बस,
बस अब राखहु लाज।
बस न देहु ब्रज मैं हमैं,
बस न देहु ब्रजराज॥

(४) बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानि तैं, हरि—नीके ये नैन॥
—बिहारी

(५) कनक कनक से सौगुनो, मादकता अधिकाय।
यह खाये बौरात है, वह पाये बौराय॥
—बिहारी

पहले दोहे में 'सारद' शब्द की दूसरे में 'नरतन' की तीसरे में 'बस' की चौथे में 'मैन' और 'हरिनी' की और पाँचवें में 'कनक' की आवृत्ति है। पहले तीनों दोहों में आवृत्ति की झक ही प्रधान है और उनके शब्द तोड़ फोड़ ने अर्थ को कष्टग्राह्य बना दिया है। भाव का उभार नहीं हुआ। चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो गया है। चौथे में चमत्कार के भीतर से कुछ कुछ भाव का उठान होने लगा है परंतु कवि का ध्यान यमक के सजाने की ओर जान पड़ता है। परंतु पाँचवें में वह बिलकुल नहीं खटकता। यह उत्तम उदाहरण समझना चाहिए। 'यमक' का अर्थ ही दो है अतएव दो अर्थों की साधना भी सुंदर हुई है।

'श्लेष' का अर्थ है चिपका हुआ। जिस शब्द में कई अर्थ चिपके हों उसे श्लेष कहते हैं। इसे अर्थालंकारों में लेना अप्रासंगिक न होगा क्योंकि इसमें कोई विशेष

नाद-चमत्कार नहीं होता। फिर भी इसे शब्दालंकारों में ही अधिकांश शास्त्रियों ने माना है। गोस्वामी जी के रामचरितमानस से दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) बहुरि शक्र सम विनवौं तेही, संतत सुरानीक हित जेही।

(२) रावण सर सरोज वनचारी, चले रघुनाथ शिली मुख भारी।

पहली पंक्ति में खलों की वंदना करते समय गोस्वामी जी की वृत्ति अधिक भावमय न हो यह समझ में आता है अतएव 'सुरानीक' की तोड़-फोड़ से उन्होंने चमत्कार-साधना की। "सखर सकोमल अंग दोष रहित दूषण सहित" अन्यत्र भी कह कर असंगति के चमत्कार में रमण किया है। परंतु भाव से दूर जाकर चमत्कार को सँजोने का स्वभाव गोस्वामी जी में बहुत कम है। दूसरी पंक्ति में श्लेष अपने उत्तम रूप में विराजमान है और सरसरोज के साथ उसकी सार्थकता सौंदर्य की और भी वृद्धि करती है। 'वक्रोक्ति' की साधना में जहाँ श्लेष का सहारा लिया जाता है वहाँ अर्थालंकार की ओर ही उक्ति झुकी रहती है और जहाँ 'काकु' द्वारा ध्वनि निकाली जाती है वहाँ पूर्ण रूप से शब्दालंकार की योजना समझनी चाहिए।

श्लेष वक्रोक्ति का उत्तम उदाहरण बिहारी में देखिए—

"चिरजीवौ, जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ये बृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥"

श्लेष के सहारे 'वृषभानुजा' और 'हलधर' के तीन तीन अर्थ निकाल कर बक्रोक्ति की सुंदर साधना की गई हैं। 'काकु वक्रोक्ति' तो केवल अवधारण के संस्थान से ही संगठित होती है।

(१) "राम साधु, तुम साध, सयाने"

(२) "अंगद तुही बालिकर बालक"

(३) "मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू,
तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू।"

तीनों उक्तियाँ काकु वक्रोक्ति की सुंदर उदाहरण हैं। अधिक शास्त्रियों ने 'पुनरुक्त प्रतीकाश' और 'पुनरुक्तवदाभास' को एक ही माना है और जिन्होंने अंतर माना है वह भी किसी भी अलंकार ग्रंथ में मिल जायगा परंतु इसका यमक और लाटानुप्रास से अंतर स्पष्ट समझ लेना चाहिये। इसमें भिन्न रूपवाले अर्थात असमान स्वर-व्यंजनवाले शब्दों के श्रवणगत होते ही एकार्थ प्रतीत तो हो परंतु उनमें एकार्थता ही नहीं। लाटानुप्रास और यमक में एक ही शब्द की आवृत्ति होती है।

इस उदाहरण में—

"अंवर वास सने बसन हरि लै चढ़ै कदम्ब।"

'अंवर', 'बास', 'बसन' ये तीनों एकार्थी शब्द प्रतीत होते हैं पर हैं एकार्थी नहीं। भ्रम में डालने के लिए पुनरुक्तवदाभास प्रयोग नहीं होता वरन स्वाभाविक निर्गति में इसका रूप सामने आ जाता है।

भावातिरेक के विस्फोट से जो एक शब्द अथवा एकार्थी शब्दों का एक से अधिक बार प्रयोग होगा उसे वीप्सा कहेंगे। आदर, आश्चर्य, आतुरता, सौंदर्य, भय इत्यादि किसी भाव की बहुलता का व्यक्तीकरण वीप्सा द्वारा किया जाता है—

'उझकि-उझकि झाँकति झुकति
अजहुँ न आए स्याम"

यहाँ शब्दों के प्रयोग द्वारा आतुरता दिखाई गई है। आगे दोहे में आश्चर्य का उद्गार रावण की निज की उक्ति द्वारा व्यक्त किया गया है—

'बाँध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोय निधि कंपति उदधि पयोधि नदीस॥'

'चित्र' नितांत सजावट का शब्दालंकार है जिसका संबंध काव्य से अधिक न होकर चित्र-कला से अधिक है। केवल मानसिक व्यायाम का साधन होने के कारण उसका प्रयोग काव्य शास्त्र के पंडित तो उदाहरण के रूप में करते हैं परंतु रस परिपाटी के कवि उसका उपयोग नहीं करते क्योंकि उनकी साधना की परिधि में वह नहीं आता। कल्पना से लदी जायसी की इस अलंकारिक उक्ति में भी देखिए रस की निष्पत्ति बहुत कम है—

'परिहर पियर भये तेहि बसा
लिये डंक लोगन कहँ डसा।'

अलंकारों की संख्या

यहाँ यह न समझना चाहिए कि अलंकारों की संख्या उतनी ही हो सकती है जितनी किसी अलंकार ग्रंथ में गिनाई गई है। युग-प्रवर्तक कवि हमेशा अपने अभि-व्यंजन विधान में नए नए प्रयोग किया करते हैं।

साधारण भाव-प्रदर्शन में—जहाँ भाषा पर उसका कोई भी प्रभाव न पड़ा हो, रचना-शैली में किसी प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य न हो—अलंकार मान लेना वास्तव में भ्रम है। परंतु अलंकारों को निश्चित करते समय भावों का ध्यान न रखना भी बड़ी

भारी भूल है। वास्तव में जब हम लिखते, बोलते और सुनते हैं, तब प्रधानतया हमारा ध्यान भावों की ओर रहता है और जब हम शांतिपूर्वक बैठकर 'रचना', 'भाषा', 'व्यंजना' की विभिन्नता की ओर देखते हैं, तब हम अलंकारों की समीक्षा करते हैं। यदि बोलने अथवा लिखनेवाला, बोलते या लिखते समय, पुराने लेखकों की व्यंजना-प्रणाली का—जिन्हें हम अलंकार कहते हैं—अनुकरण करने की चेष्टा करेगा तो उसे सफलता कभी न मिलेगी। यदि वह स्मृति-पट पर पूर्व-रचना के चित्रों को रक्षित रखे हुए है और उन्हीं को परिवर्तित करके व्यक्त करता है, तो उसके भाषण और लेख में अलंकार स्वतः आ आयँगे, चाहे उनका नामकरण किसी रीति-ग्रंथ में हुआ हो या न हुआ हो। ऐसे बहुत से अँगरेजी के अलंकार हैं जिनका नामकरण भी अलंकार-शास्त्र के रचयिताओं ने नहीं किया। पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'जायसी- ग्रंथावली' की भूमिका में, यह प्रदर्शित करते हुए कि अँगरेजी के (Hypallange) का अर्थवाची अलंकार हिंदी में कोई नहीं है, ये वाक्य लिखे हैं—"योरपीय अलंकार शास्त्र में आधेय के स्थान पर आधार के कथन की इस प्रणाली को मेटानिमी (Metonymy) अलंकार कहेंगे। इसी प्रकार अंगी की जगह पर अंग, व्यक्ति के स्थान पर जाति आदि का लाक्षणिक प्रयोग (Synecdoche) अलंकार कहा जाता है। सारांश यह कि चमत्कार-प्रणालियाँ बहुत हो सकती हैं।"

अभिप्राय यह कि अलंकारों की कोई परिमित संख्या नहीं हो सकती। भाषा की उन्नति के साथ साथ इनमें भी उन्नति होगी। 'रमणीयता' के आदर्श में भी परिवर्तन हो सकता है। किसी समय बड़े बड़े वाक्यों को एक ही क्रिया में अन्वित करके बोलने या लिखने में अधिक प्रभाव माना जाता था और लोगों ने 'सहोक्ति' अलंकार कह कर इसकी व्यंजनाप्रणाली का अनुमोदन भी किया है। किंतु अब लोग इसे पसंद नहीं करते।

व्याकरण की दृष्टि से कर्ता, कर्म और क्रिया की उचित स्थापना से वाक्य शुद्ध बनते हैं यह सभी जानते हैं। बचन और लिंग का भी ध्यान रखना आवश्यक है। कारक चिह्न के साथ-साथ तद्धित और कृदंत का भी उचित प्रयोग होता है। काल और विशेषण का ज्ञान भी शुद्ध भाषा लिखने के लिए आवश्यक है। और भी अनेक व्याकरण की जटिलताएँ हैं। परंतु उनकी अनिवार्य उपयोगिता किसके लिए होती है? उसके लिए जो भाषा सीखता है, जो भाषा बोलना चाहता है, जो विदेशी है। जिसकी नसों में भाषा का सारा रूप उत्तराधिकार में बहा करता है उसे व्याकरण की इस नियोजना की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार सच्चे कवि के लिए इनकी जानकारी भले

ही उपयोगी हो परंतु उनका प्रयोग कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता और न उनकी सफलता प्रयुक्त अलंकारों की संख्या पर निर्भर है। अलंकार विधान-शास्त्र की सीमा में जब आया उसी समय उसकी व्याख्या के लिए नये उदाहरण बने। उदाहरणों के निर्माण करनेवालों का ध्यान काव्य की तन्मयता की ओर उतना न था जितना व्याख्या को उदाहृत करने की ओर था। अतएव इन उदाहरणों ने एक अपनी परिपाटी चला दी। जहाँ काव्यशास्त्री प्रधान रूप से कवि था—रीतिकाल के आचार्यों में ऐसे बहुत दृष्टांत मिलेंगे—वहाँ मीमांसा शिथिल हो गई परंतु उदाहरण कवित्वपूर्ण रहे।

परम्परा की लम्बी यात्रा के बाद शब्दालंकार और अर्थालंकार अपनी विशेषता खोकर केवल रूढ़ि मात्र रह जाते हैं। यह बात पीछे भी बतलाई गई है। जो बात अनुप्रास अथवा वक्रोक्ति के लिए है वही बात उपमा के लिए है। करकमल, मुखचंद्र, कम्बुग्रीव, केहरिकटि इत्यादि उक्तियाँ आज समय के लम्बे दबाव में इतना घिस चुकी हैं कि न वे आभ्यंतर का सौंदर्य ही व्यक्त करती हैं और न किसी प्रकार की रमणीयता सामने रखती हैं। इसीलिए युगविधायक कवि उन्हें प्रयोग नहीं करते। वे अपनी नई-नई योजनाएँ और उद्‌भावनाएँ सामने रखते हैं। आज की परिपाटी इस पुराने अलंकार विधान के स्वरूप में ही पूरा पूरा परिवर्तन कर रही है। छायावाद ने तो अभिव्यंजना के स्वरूप में ही एक नया विधान खड़ा कर दिया है। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि छायावाद पद्धति में कोई दोष नहीं है। वह भी परम्परा की परिपाटी-सी बन चुकी है और कथन के कैतव में बहुत से कवि फँस-कर यथातथ्यता की उपेक्षा कर रहे हैं।

छंद

छंद का अर्थ बंधन से है। नाद और ध्वनि का प्रभाव जब सार्वभौमिक दिखाई पड़ा और जीवन में उसकी व्यापक महत्ता स्वीकृत हुई तो शास्त्रियों ने उसकी मीमांसा करना आरंभ की। किस प्रकार की योजना से कैसा नाद उत्पन्न होता है इसका ऊहापोह हुआ। उस नाद में सौंदर्य तत्त्व किस प्रकार संग्रहीत होता है इसे भी टटोला गया। व्याख्याएँ हुईं। नाद प्रभाव एक नई कला के रूप में सामने आया। उसे संगीत कला का नाम मिला। नाद के भेद उपभेद स्वर के अनेक विन्यास के आधार पर तथा उसके अवरोह और आरोह के सहारे किये गये। संगीत ने बड़ी सूक्ष्म व्यापकता ग्रहण की। जहाँ प्रभाव का आधार केवल शुद्ध नाद न रहकर भाव-संयुक्त-अर्थ भी हुआ वहाँ काव्य बीच में आ गया। काव्य के आधार पर काव्य को ही प्रधान तत्त्व

मानकर जो नाद नियमन किया गया उसे छंद कहेंगे। काव्य को यथातथ्यता प्रदान करने के लिए नाद बाँधने के अनेक विधान का नाम छंद है। वैसे शुद्ध राग-रागनियों को—जिनमें केवल स्वर के अवरोहारोह के साँचे मात्र रहते हैं—छोड़ कर राग रागनियों में भी काव्य बाँधा जाता है और गीतों की सृष्टि होती है परंतु इस नाद बंधन और छंद के रूप में नाद बंधन में अंतर होता है। गीतों में संगीत प्रधान और काव्य गौण होता है। छंदों में काव्य प्रधान और नाद गौण होता है।

पिंगल एक प्राचीन ऋषि का नाम है जिन्होंने संस्कृत भाषा में छंदों के नियम बनाये। पिंगल शास्त्र छंद शास्त्र को कहते हैं। मात्रा अथवा वर्ण की नियमित संख्या, विराम और यति गति का नियम जिस रचना में माना जाय उसे छंद कहते हैं। छंद-बद्ध रचना का नाम पद्य है। पद्य कविता तभी हो सकती है जब नपी-तुली शब्द स्थापना में कवित्व हो। छंदों की नाप मात्रा और वर्ण हैं। वर्ण के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं। वर्ण दो प्रकार के होते हैं ह्रस्व या लघु, दीर्घ वा गुरु। ह्रस्व या लघु वर्ण के उच्चारण में एक मात्रा काल लगता है अतएव उसकी एक ही मात्रा मानी जाती है परंतु दीर्घ या गुरु वर्ण के उच्चारण में उससे दुगना समय लगता है इसलिए उसकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं। कौन-कौन से स्वर ह्रस्व और कौन कौन से गुरु हैं यह किसी भी पिंगल पुस्तक में मिल सकते हैं और कौन कौन अक्षर लघु स्वर से संयुक्त होकर भी गुरु गिने जाते हैं अथवा गुरु स्वर से युक्त होकर भी लघु ही रहते हैं यह भी किसी पुस्तक में मिल सकते हैं। सिद्धांत केवल उच्चारण का है। यदि उच्चारण लघु अथवा ह्रस्व के अनुसार होगा तो एक ही मात्रा गिनी जायगी और लघु वर्ण ही समझा जायगा चाहे उपयोग दीर्घ स्वर का ही किया गया हो। इसी प्रकार इसका विपरीत सत्य है। लघु के लिए (।) और गुरु के लिए (ऽ) चिह्न प्रयुक्त होते हैं। छंद प्रायः चार भागों में विभक्त होता है। प्रत्येक भाग का नाम चरण, पद अथवा पाद कहलाता है। बहुत से छंद छः पदों के भी होते हैं। हिंदी के छप्पय और कुंडलिया छः चरणों के होते हैं। छंद के चरण में उसकी गति ठीक रखने के लिए उच्चारण के समय कई-कई शब्दों के बाद रुकने की आवश्यकता होती है। रुकने के स्थान को यति, विराम अथवा विश्राम कहते हैं।

साधारण प्रकार से छंद दो प्रकार के होते हैं (१) मात्रिक (२) वर्णवृत्त। मात्राओं के आधार पर जिन छंदों की गणना होती है वे पहले प्रकार के होते हैं और वर्णों के अनुसार जिनका निर्माण होता है वे दूसरे प्रकार के समझे जाते हैं। जिनके

चारों चरण एक ही प्रकार के होते हैं वे 'सम' छंद कहलाते हैं। जिनके प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ एक प्रकार के होते हैं वे 'अर्ध सम' कहे जाते हैं। जिनके चरणों में ऐसा कोई क्रम नहीं रहता वे 'विषम' कहे जाते हैं। कवित्त-रूपघनाक्षरी आदि छंदों के रचने में मात्राओं के क्रम का प्रतिबंध प्रत्येक चरण में नहीं रहता। केवल वर्ण-संख्या बराबर होती है। ऐसे छंद 'मुक्तक' कहलाते हैं। 'मुक्तक' का केवल अर्थ गुरु लघु क्रम से मुक्त होने का है।

जिन मात्रिक सम छंदों में ३२ मात्राएँ तक हों वे 'साधारण' कहलाते हैं। इनसे अधिक 'दण्डक' कहलाते हैं। वर्णवृत्तों में २६ वर्णों तक तो 'साधारण' कहलाते हैं इससे अधिक 'दण्डक' कहलाते हैं। साँस रोकने का कष्टसाध्य प्रयोग ही एक प्रकार का 'दण्ड' है अतएव इनका अभिधान दण्डक पड़ा। छप्पय और कुंडलिया संयुक्त छंद हैं।

गण आठ माने गये हैं। किसी ग्रंथ में उनके नाम मिल जायँगे। स्मरण रखने के लिए 'यमाताराजभानसलगा' विद्यार्थी कण्ठ कर लेते हैं और इसी से सब गण निकल आते हैं। आठों गणों के नाम इस सूची में हैं और नाम के साथ तीन अक्षरों को मिलाने से लक्षण भी सामने आ जाता है। सारे वर्णवृत्त इन्हीं गणों के आधार पर बनाये जाते हैं। संस्कृत भाषा में छंद अधिकतर तुकयुक्त नहीं होते परंतु हिंदी में वे तुकांत होते हैं। यह ठीक है कि संस्कृत के छंदों का हिंदी में प्रयोग हो रहा है और इस प्रकार 'तुक' का प्रतिबंध हटता जा रहा है। अरबी में 'तुक' को काफिया कहते हैं। पद के अंत में 'तुक' मिलने का अर्थ यह है कि अंतिम अक्षर भी मिले और स्वर भी मिले।

मात्रिक सम छंद सात मात्राओं से आरम्भ होते हैं। सुगति, छबि, गंग, दीप, अहीर, लीला, उल्लाला आदि क्रम से ७, ८, ९, १०, ११, १२ तथा १३ मात्राओं के छंद हैं। चौदह मात्राओं के सखी, विजात, सुलक्षण तथा मधुमालती प्रसिद्ध छंद हैं। पंद्रह मात्राओं की चौपई और सोलह की चौपाई, पद्धति, तथा शृंगार प्रसिद्ध हैं। एक संख्यावाले छंदों में भी परस्पर भेद है जो किसी भी ग्रंथ में मिल सकता है। पीयूष में और सगुण में १९ मात्राएँ होती हैं। शास्त्र और प्रिय में २० होती हैं। प्लवंगम में २१ तथा राधिका और कुंडल में २२ मात्राएँ होती हैं। रोला, दिग्पाल और रूपमाला में, २४ मात्राएँ रखी जाती हैं। मुक्तामणि में २५, शंकर, विष्णु पद, झूलना, गीतिका तथा गीता में २६ मात्राएँ मिलती हैं। सरसी और शुद्ध गीता २७ मात्रावाले छंद हैं। हरिगीतिका, सार और विधाता २८ मात्राओं के छंद हैं। चवपैया, ताटंक, रुचिरा तथा शोकहर ३० मात्रओं में लिखे जाते हैं। वीर ३१ मात्रा, त्रिभंगी, दण्डकला,

पद्मावती, दुर्मिल, खरारी, सवैय्या इत्यादि ३२ मात्राओं के छंद हैं। करखा में ३७ और विजया में ४० मात्राएँ होती हैं। अर्ध सम मात्रिक छंदों में बरवा, दोहा, सोरठा, उल्लाला इत्यादि प्रसिद्ध हैं इनके लक्षण किसी भी पिंगल ग्रंथ में मिल सकते हैं। विषम छंदों में शंकर, मनोहर, लावनी, छप्पय, कुंडलिया तथा आर्या प्रसिद्ध हैं। इनके भी लक्षण छंद शास्त्रों में मिलेंगे। आर्या अधिकतर हिंदी में कम प्रयुक्त होता है। इधर मैथिलीशरण जी ने उसका प्रयोग बड़े सौकर्य के साथ किया है।

वर्णवृत्तों की परिभाषा में तो गणों का विस्तार और उनका रूप मिलेगा परंतु ४ अक्षरों से इनका आरंभ होता है। धरा, हंस, विमोहा, लीला, प्रमाणिका मणिबंध मत्ता, इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा क्रमशः ४ से लेकर ११ अक्षरों तक के छंद हैं। बढ़ते-बढ़ते इनकी संख्या ३२ अक्षरों की हो जाती है। मात्रिक छंदों की भाँति उनका नाम गिनाने से इस लेख का कलेवर व्यर्थ में बढ़ जायगा। उनके नाम और लक्षण छंद शास्त्रों में देखे जा सकते हैं। इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा के संयोग से न जाने कितने और छंद बनते हैं जिन्हें उपजाति कहते हैं। इसी प्रकार और छंदों के मेल से भी नए-नए छंद बनाये गये हैं।

हिंदी में बहुत समय से अमित्राक्षर और स्वच्छंद छंद रचने की प्रथा चल पड़ी है। नए सभी कवि इनका प्रयोग करते हैं। बँगला भाषा में १४ वर्णों का अमित्राक्षर छंद होता है। उसी के अनुसार हिंदी में कवियों ने अपने छंद गढ़े हैं। कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त ने १ वर्ण बढ़ाकर १५ वर्णों का अमित्राक्षर छंद निर्माण किया है। यदि अंत में कहीं लघु आ गया तो १६ वर्ण भी हो गये हैं। इसकी रचना और लय कवित्त की भाँति ही होती है। कवित्त के चरण का अंतिम अर्द्ध भाग अमित्राक्षर छंद होता है अतएव इसका निर्माण भी कष्टसाध्य नहीं होता। मात्राओं के क्रम का ध्यान नहीं होता केवल लय की ओर ही विचार रखना पड़ता है। हाँ, अंत में गुरु अवश्य होना चाहिए। बँगला में संस्कृत के अनुसार अतुकांत रूप ही देखने में आता है परंतु नीचे बाबू मैथिलीशरण गुप्त के उदाहरण देखिए। वे अतुकांत और सतुकांत दोनों ही प्रकार के हैं।

अतुकांत का उदाहरण यशोधरा में देखिए—

"मेरा सुधा-सिंधु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है, किंतु पार पर मैं पड़ी
प्यासी मरती हूँ; हाय! इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ? कोई कहीं ज्ञाता हो।
तो मुझे बता दे हा! बता दे हा! बतादे हा!"

उसी ग्रंथ से सतुकांत का उदाहरण देखिए—

'कण्ठ जब रुँधता है, तब कुछ रोती हूँ
होंगे गत जन्म के ही मैल उन्हें धोती हूँ,
शोक के समान हम हर्ष में भी रोते हैं।
अश्रुतीर्थ में ही सुख दुख एक होते हैं!
रोती हूँ परंतु क्या किसी का कुछ लेती हूँ?
नीरस रसा न हो, मैं नीर ही तो देती हूँ।

निरालाजी का १६ वर्णवाला अमित्राक्षर देखिए—

जला है जीवन यह आतप में दीर्घ काल।
सूखी भूमि, सूखे तरु, सूखे सिक्त आल बाल॥
हुए बंद गुंज, धूलि समाच्छन्न हुए कुंज।
किंतु पड़ी व्योम उर बंधु! नील मेघ माल॥

यही नहीं, बहुत से वर्तमान ख्यातनामा कवियों ने अँगरेजी के ढंग पर स्वच्छंद अर्थात मुक्त छंदों की रचना की है। उनमें केवल लय को ही प्रधान माना गया है; न मात्राओं का बंधन है और न वर्णों का। चरण भी छोटे-बड़े इच्छानुसार हैं। अतुकांत और तुकांत दोनों ही प्रकार के रूप इनमें मिलते हैं।

निरालाजी का एक उदाहरण देखिए—

झोली करुणा की भिक्षा की,
दलित कुसुम! क्यों कहो,
धूलि में नजर गड़ाये, हो फैलाये?
मलिन दृष्टि के भाषाहीन भाव से
मर्मस्पर्शी देश-राग के से प्रभाव से
क्या तुम बतलाते हो—
जब किसी पथिक को इधर कभी आते-जाते पाते हो?

उन्हीं का एक दूसरा छंद देखिए। यह सतुकांत है।

बहने दो,
रोक टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन मद की बाढ़ नहीं की किसे देख झुकती है?
गरज गरज वह क्या कहती है, कहने दो।
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।

सुना, रोकने उसे कभी कुंजर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी ?—
फल क्या पाया था ?
तिनका जैसा मारा-मारा
फिरा तरंगों में बेचारा—
गर्व गँवाया हारा ॥

पंतजी का तुकांत छंद देखिए—

बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी–वी–टी टुट–टुट ।

जैसा निवेदन किया गया है छंदों की संख्या का भी कोई अंत नहीं है। काव्यों की व्यवस्था में शब्द-स्थापना का वह रूप जिसमें नाद सौंदर्य हो उसे कोई न कोई छंद का नाम दिया जा सकता है। छंद-शास्त्रियों में भी ज्योतिष ज्ञान बिना भी ज्योतिष की बात सुझानेवाले व्यक्ति हुए हैं। उन्होंने गणों में शुभाशुभ का निर्णय किया है। वर्णवृत्त और मात्रिक दोनों ही छंदों में शुभाशुभ निहारा गया है। कदाचित किसी विशेष गुण की कविता के रचने के बाद ही किसी आपत्ति के भीषण आक्रमण ने उसे अशुभ घोषित कर दिया होगा। पिंगल में झ, ह, र, भ, ष ये पाँचों अक्षर दग्धाक्षर समझे जाते हैं। किसी प्रकार के छंद में भी आरंभ में दग्धाक्षर आना अशुभ समझा जाता है। फिर भी गोस्वामीजी ने लिखा है—

"हँसि बोले रघुवंश कुमारा"

परंतु यह दग्धाक्षर ईश्वर काव्य के अंतरगत है अतएव इसका अशुभ परिणाम नहीं होता ऐसा पिंगल शास्त्री कहेंगे। देव काव्य में सब क्षम्य है। कुछ भी हो, यह एक अनोखी बात है।

यह प्रसंग समाप्त करने के पूर्व छंदों के पढ़ने और गाने की अनेकरूपता की परम्परा पर भी ध्यान देना चाहिए। बहुत स्थानों पर हरिकीर्तन होते हैं। रामायण को पढ़नेवाले दोहा-चौपाइयों को अपने-अपने ढंग से पढ़ते हैं। कंठ का उतार-चढ़ाव उसकी उच्चारण विधि सबकी अलग-अलग होती है। अपने-अपने ढंग का एक निजीपन होता है। इसी प्रकार स्थानिक और प्रांतीय विशेताएँ भी होती हैं। उन्हीं के आधार पर

रुचियाँ बनती हैं। मात्रा और वर्ण तथा अक्षर तो सर्वत्र ही छंदों में एक प्रकार के होते हैं परंतु उच्चारण भेद से वे एक नये रूप में पृथक से दिखाई देते हैं। उच्चारण का हल्का अथवा बोझीला रूप उसके स्वर-विस्तार का गोल अथवा लम्बा तनाव छंदों के रूपों में भी आगे परिवर्तन करता है और मात्रा और वर्णों में हेर-फेर होता है और नए छंद सामने आते हैं। शास्त्रीय स्वरूप और उच्चारण विभेद की यह अन्योन्याश्रयिता सिद्धांत और प्रयोग में एकतानता उत्पन्न करती रहती है। समझना यह है कि छंदों की सीमाओं में बँधा हुआ नाद केवल पड़ा सोता रहता है। कण्ठ की सरस्वती ही उसे जगाती है और प्रभाव सम्पन्न करती है।

भारतीय काव्य में रस-परम्परा

इतिहास

'रस' सिद्धांत का आविर्भाव कब हुआ यह तो निश्चयात्मक रूप से निर्धारित करना कठिन है परंतु काव्य में रसों की महत्ता समय-समय पर लोग स्वीकार करते आये हैं। अग्नि पुराण में लिखा है, 'वाक्‌चातुर्यप्रधानोऽपि रसः ह्येवात्यजीवितम्'। शेखर तक का कथन है कि "अलंकारस्तु शोभायै रस आत्मन्यपरे मनः"। साहित्यदर्पण के लेखक ने तो अत्यंत विद्वत्तापूर्ण प्रणाली द्वारा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की प्रतिष्ठा करके इसी सिद्धांत को पुनरुज्जीवित किया।

साधारणतया रस सिद्धांत के प्रसवकर्ता प्रसिद्ध नाट्यकार भरत मुनि माने जाते हैं। उनके नाट्यशास्त्र में लिखा है—विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः (अर्थात विभाव, अनुभाव ... चारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है।)

वास्तव में जिस परिपक्व स्थिति को भरत मुनि ने रस संज्ञा दी है उसकी सिद्धि नाटक में ही सुलभ थी। उस समय ये महाकाव्य और खंडकाव्य लिखने की जैसी परिपाटी चल निकली थी उसके अनुसार उनमें चमत्कार-प्रदर्शन की ओर अधिक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कालिदास तक के महाकाव्यों और खंडकाव्यों में यत्र-तत्र कल्पना का इतना बाहुल्य दिखाई पड़ता है कि भाव-पक्ष दब गया है। माघ में तो कल्पना के चमत्कार के साथ-साथ मानसिक व्यायाम की प्रवृत्ति भी देख पड़ती है। ऐसी अवस्था में भावना का तीव्र स्वरूप कैसे दिखाई पड़े? न किसी पात्र के चरित्र-चित्रण का ही भावात्मक विकास दिखाई देता है और न कथा का ही क्रमिक विकास भावोत्कर्ष को ध्यान में रखकर किया गया है। कहीं ऊहा के बल पर कल्पना के चमत्कारपूर्ण चित्र हैं और कहीं अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने की धुन के फलस्वरूप अनावश्यक प्रसंगों से कथा की गति मंद कर दी गई है और भावपक्ष को बिलकुल निर्बल कर दिया गया है। ऐसी अवस्था में 'रस' की उत्पत्ति उन श्रव्य काव्यों में कैसे संभव थी! परंतु संस्कृत

नाटकों में यह बात नहीं है। उनमें रस-निष्पत्ति की सारी सामग्री होती है। उनका समूचा प्रासाद ही भावोत्कर्ष की भित्ति पर खड़ा है।

इसी बात को ध्यान में रखकर भरत मुनि को 'रस' की निष्पत्ति नाटकों में ही माननी पड़ी। गोस्वामीजी के रामचरित मानस के सदृश श्रव्य काव्य न थे। केशव की रामचंद्रिका के सदृश काव्यों की भरमार थी। बात यह है कि संस्कृत के कवियों ने कलापक्ष और भावपक्ष के लिए दो भिन्न क्षेत्रों को अधिकतर चुन लिया। श्रव्य काव्य को कला की प्रतिष्ठा का साधन बनाया गया और दृश्य काव्य में रसात्मकता कूट-कूटकर भर दी गई। दृश्य काव्यों को सुबोध बनाकर दर्शकों के बोधगम्य बनाना था। कला को साधारण व्यक्तियों की बुद्धि में उतार देना कोई सरल कार्य नहीं। अतएव विद्वानों के लिए श्रव्य काव्य ही उपयुक्त साधन थे। इस भावना से ही प्रेरित होकर क्षेत्रों की विभिन्नता स्थापित की गई। यह विभाजन सर्वत्र नहीं है परंतु उद्देश्य ऐसा ही प्रतीत होता है।

यहाँ यह न समझना चाहिए कि स्फुट छंदों में 'रस' की सिद्धि संभव ही नहीं। नाटकों के अंतर्गत एक से एक सुंदर स्फुट छंद आते हैं। उनसे 'रस' के उत्तेजन में बड़ी सहायता मिलती है। परंतु इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक अकेले स्फुट छंद से, चाहे वह कितना ही रस-संपन्न हो, रस निष्पत्ति इतनी नहीं हो सकती और न उसका उतना चिरस्थायी प्रभाव ही दूसरे पर पड़ सकता है, जितना कि सामूहिक रूप से नाटक का पड़ता है। फिर संस्कृत छंदों के लेखकों का अधिकांश श्रम उक्ति-वैचित्र्य के प्रदर्शन में ही लग गया, रसात्मकता गौण रही।

नाट्यशास्त्र में रस की व्याख्या

नाट्यशास्त्र में 'रस' के वास्तविक स्वरूप के संबंध में एक स्थान पर लिखा है—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृतासिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥

अर्थात 'भाव' के बिना 'रस' और 'रस' के बिना 'भाव' नहीं होता; एक की सिद्धि दूसरे पर निर्भर है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार भाव बढ़कर स्थायी भाव और फिर अपने ही दूसरे सादृश्य-स्वरूप संचारी भाव की सहायता से 'रस' बन जाता है— अर्थात वासना-रूप 'रस' को पूर्ण रूप से उद्दीप्त कर देता है—उसी प्रकार उद्भूत 'रस' सहायक भावों को मनोवृत्तिमय बनाने में सहायता देता है। यही 'रस' और 'भाव' का अन्योन्याश्रय भाव है और इसी को सहायता का आदान-प्रदान कहेंगे। 'काव्य प्रकाश'

में 'रस' को भाव से पृथक् मानकर भरत मुनि की व्याख्या से कोई विरोध नहीं खड़ा किया गया है। जब 'काव्य प्रकाश' का लेखक इसको 'ब्रह्मानंद-सहोदर' कहता है तब वह उसकी अत्यंत परिपक्वावस्था को ध्यान में रखता है जिसकी परिस्थिति भाव से भिन्न है। अन्यथा भाव के तीव्रतम स्वरूपों को ही 'रस' की संज्ञा दी जाती है। आगे की पंक्तियों में हम यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि 'भाव', 'स्थायी भाव' और 'रस' किस प्रकार हमारे मनोवेगमय द्रवणशील मानसिक तथ्य के द्रुत, द्रुततर और द्रुततम स्वरूप हैं! मानसिक दृष्टि में वे संसार के गत्यात्मक सौंदर्य के झीने, हल्के और गहरे स्वरूप के स्पष्टीकरण हैं।

रस की स्थिति

हम संसार में सारी ज्ञानेंद्रियों को खोलकर घूमते फिरते हैं। बहुत-सी वस्तुओं को देखते और बहुस-सी बातों को सुनते हैं। बहुत से पदार्थों का आस्वादन करते हैं और बहुत-सी गंध हमारी घ्राणेंद्रिय तक पहुँचती हैं। जन्म से ही यह व्यापार आरंभ हो जाता है और ज्यों-ज्यों हम बढ़ते जाते हैं, यह अधिक विशद, पूर्ण और संकुल होता जाता है। साथ ही साथ हमारी तद्विषयक इंद्रियों में भी ज्ञान-संबंधी विकास होता जाता है। परंतु प्रत्येक दृष्ट वस्तु, श्रुत ज्ञान और स्पृष्ट पदार्थ हमें स्मरण नहीं आता और न सब सूँघी हुई वस्तुओं और आस्वादित पदार्थों के रसों का ही हमें ध्यान रहता है। हाँ, अशेष सृष्टि में इन ज्ञानेंद्रियों का हमारा कोई विशेष प्रकार का संपर्क कभी-कभी मन में अटक रहता है। यह तभी संभव है जब उस संपर्क में कोई विशेष महत्त्व है। हम घर से कालेज प्रतिदिन साइकिल पर जाते हैं परंतु यदि कोई पूछे कि मार्ग में कितने मकान पड़ते हैं तो हम न बता सकेंगे। परंतु यदि हमें दीनावस्था में विकल कोई भिखारिणी आर्तनाद करती हुई मिल जाय तो हम उसकी ओर रुककर देखेंगे। कदाचित उतरकर उसकी सहायता करेंगे और उसके बाद कालेज की ओर अग्रसर होंगे। इस भिखारिणी की आकृति मन में स्थान कर लेगी और कम से कम थोड़े दिनों तक हम उसे न भूलेंगे। कारण यह है कि इस भिखारिणी की विपन्नावस्था का सौंदर्य-चित्र नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मन पर अंकित हो गया और उसने हृदय में एक विशेष प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न कर दी। इसी परिस्थिति को हम भाव कहते हैं। अतएव यह तात्पर्य निकला कि विश्व के गत्यात्मक क्रिया कलाप के संपर्क द्वारा इंद्रियों की मध्यस्थता से सौंदर्य-तथ्य (सौंदर्य शुद्ध दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त है, इसका अर्थ पदार्थों में आकृष्ट करनेवाले गुणों से है।) हृदय में स्पष्ट होकर जिस विकार को उत्पन्न करता है उसे भाव कहते हैं। यह स्नायुओं

में एक प्रकार का प्रकंपनमात्र है। इसी परिस्थिति को अधिक समीचीन बनाने की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि गत्यात्मक क्रिया-कलाप के संपर्क द्वारा इंद्रियों की मध्यस्थता से सौंदर्य तथ्य हृदय में स्पष्ट होकर वासना-रूप में सुषुप्त तद्विषयक प्रत्युत्तरशील परिस्थितियों को सजग करता है। यह सजग परिस्थिति भाव है। जितनी ही देर यह वासना सजग रहेगी उतना ही भाव तीव्र रहेगा। यदि यह सजग वासना परिस्थितियों के कारण अधिक काल तक उद्दीप्त रही तो वह स्थायी भाव हो गई और यदि और भी अधिक काल तक यह भावना उद्दीप्त बनी रही और प्राणी का सजग स्वरूप उसकी मस्ती में ओत-प्रोत रहा तो वही परिस्थिति रस कहलावेगी।

स्थायी और संचारी भाव

स्थायी भाव और संचारी भाव को भी समझ लेना चाहिए। वासना-रूप में स्थित जब ऐसे भाव थोड़े समय के लिए सजग हो उठते हैं जिनसे स्थायी भाव के उत्कर्ष में शक्ति मिलती है तो उन्हें संचारी भाव कहते हैं। इन्हें कल्पना के प्रत्यय समझना चाहिए। कल्पना ही पूर्व-अनुभूत सादृश्य भावों को समक्ष रखती है और उनके द्वारा समुस्थित स्थायी भाव को उत्कर्ष दिलाती है। कल्पना का प्रत्यय कहने में लोग कदाचित इसलिए संकोच करें कि सजग प्रयत्न द्वारा स्मरण की हुई परिस्थिति को हम कल्पना कहते हैं परंतु संचारी भाव स्वयं उद्भूत अथवा स्वतः उद्दीप्त वासना है। परंतु यह उक्ति अधिक संगत नहीं। असजग और अर्ध-सजग ज्ञान के भी प्रयत्न होते हैं जिन्हें सजग ज्ञान स्वयं नहीं जान पाते। अतएव सजग ज्ञान को जो भाव स्वयं उद्भूत दिखाई पड़ते हैं वे भी अर्ध-सजग और असजग ज्ञान के ही प्रयत्न हैं।

संचारी भाव क्या है, इसे हम उदाहरण देकर और भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं। रीति-ग्रंथकारों ने 'रति' नामक स्थायी भाव के ही उदाहरण सर्वत्र इतने अधिक दिये हैं, और वे इतने आकर्षक हैं, कि अन्य स्थायी भावों के उदाहरण सोचना असंभव-सा हो गया है। हम यहाँ क्रोध स्थायी भाव से संबंध रखनेवाले संचारी भाव का उदाहरण देकर अपनी बात समझाने का प्रयत्न करेंगे।

आप साइकिल पर कहीं जा रहे हैं। एक उद्धत नवयुवक अपनी साइकिल लेकर आपके इतना निकट आ निकला है कि आप घबरा जाते हैं और आप में उसके प्रति रोष उत्पन्न हो जाता है, अथवा वासना-रूप में स्थित रोष सजग हो जाता है। परंतु यह भाव क्षणिक रहकर विलीन हो जाता है। यदि वह अपनी साइकिल आपसे लड़ा देता है और आप गिर जाते हैं तो आप उठकर गाली गलौज करने लगते हैं, आपकी

आकृति तमतमा उठती है र मारपीट की नौबत आ जाती है। इस समय वह रोष भाव क्रोध के स्थायी भाव में परिवर्तित हो जाता है। वासना रूप में स्थित रोष अधिक वेग से सजग हो उठता है और उसकी संज्ञा क्रोध हो जाती है। इसी बीच में अगर आपको यह स्मरण हो आया कि इसी उद्धत नवयुवक ने एक बार और आपको साइकिल से गिरा दिया था तो तुरंत ही आप उसे मार बैठेंगे। यह स्मृति 'संचारी भाव' है जिसने क्रोध के स्थायी भाव को अधिक उत्कर्ष प्रदान करने में सहायता दी।

साहित्यकारों ने संचारी भावों की संख्या ३३ रक्खी है जिनके नाम किसी भी रीति-ग्रंथ में मिल सकते हैं। परंतु इनकी संख्या इतनी ही है, यह प्रमाण अकाट्य नहीं है। एक प्रतिभासंपन्न कवि न जाने कितनी मानसिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराता है और न जाने किस रूप में किस परिस्थिति को रखता है। इसका कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। देव ने, कहा जाता है कि, एक नये संचारी 'छल' का प्रयोग करके संचारियों की संख्या चौंतीस कर दी है। कविता की दृष्टि से इसमें चाहे जो कुछ नवीनता हो किंतु मनोविज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी इसमें कोई मौलिकता स्वीकार नहीं कर सकता। कवि की प्रशंसा, जहाँ तक उसकी सूझ है, की जा सकती है; परंतु वह स्रष्टा का समकक्ष नहीं बनाया जा सकता। संचारी भावों की संख्या निश्चित करना मूर्खता है। हाँ, स्थूल रूप में, विशेष-विशेष प्रकार के संचारी भावों की कोई भी संख्या निश्चित की जा सकती है। साहित्य में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ ग्रंथों में गिनाया हुआ संचारी भाव स्थायी भाव के आसन में आसीन दिखाई पड़ता है। हमारा अभिप्राय यह है कि जिन भावों को हम ३३ संचारी भावों में विभक्त मानते हैं उनमें से ही कभी एक विभाव-अनुभाव-संयुक्त स्थायी भाव के स्वरूप में दिखाई पड़ता है।

ऐसी अवस्था में स्थायी भावों की संख्या भी निश्चित नहीं की जा सकती। जिस रस की निष्पत्ति में जिन भावों की स्थित अंत तक अपेक्षित न हो उनमें वे स्थायी भाव भी संचारी भाव हो जाते हैं। अलंकार-रत्नाकर में कहा है—'स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः'। अर्थात थोड़े से भावों से उत्पन्न होने वाले जो स्थायी भाव हैं वे व्यभिचारी (संचारी) हो जाते हैं। इसका भी उदाहरण हम नीचे देते हैं—

"सुनि पदमावति रिस न सँभारी, सखिन साथ आई फुलवारी।"

यहाँ 'रिस' अर्थात् क्रोध स्थायी भाव नहीं वरन् संचारीभाव है।

सारांश यह निकला कि वेग विशेष के कारण किसी भाव को संचारी और स्थायी संज्ञा मिलती है। जो जल में बुलबुले की भाँति उत्पन्न और विलीन होकर उद्भूत स्थायी भाव के उत्कर्ष में सहायता देते है उन्हें संचारी भाव कहते हैं। संचारी का अर्थ दास अथवा सहायता देनेवाला है; साथ चलने वाला नहीं। संचारी भाव की भाँति स्थायी भाव विकृत नहीं होते।

स्थायी भावों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। यद्यपि रीति ग्रंथकारों ने उनकी संख्या सीमित करके नव रसों के अनुकूल नौ ही स्थायी भाव माने हैं तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी संख्या इतनी ही है। इस संबंध में कुछ विवेचन ऊपर किया गया है। रीति-ग्रंथकारों ने जिन-जिन स्थायी भावों को माना है उनके नाम और उदाहरण किसी भी लक्षण ग्रंथ में मिल सकते हैं। ऊपर यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि जहाँ कोई भी स्थायीभाव अपने से अन्यत्र किसी दूसरे रस के संबंध में उत्पन्न और विलीन होता है वहाँ वह केवल संचारी ही रह जाता है। हास्य कभी-कभी श्रृंगार का संचारी होकर आता है। इसी प्रकार शोक स्थायी भाव कभी करुण और कभी विप्रलंभ श्रृंगार रस के साथ संचारी के स्वरूप में आ सकता है। इसी प्रकार क्रोध, जुगुप्सा और उत्साह आदि क्रमशः रौद्र, वीभत्स और वीर रसों के वैसे स्थायी भाव हैं, परंतु शांत अथवा रौद्र आदि रसों के संचारी के रूप में भी आ सकते हैं।

रस के अंग

अब हमें रस-निरूपण के पूर्व कुछ और पारिभाषिक शब्दों को जान लेना है।

काव्यप्रकाश में लिखा है—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावानुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसःस्मृतः ॥

इस श्लोक का साधारणतः अर्थ केवल इतना ही है कि काव्य में अथवा नाटक में 'रति' इत्यादि स्थायी भावों के जो कारण हैं उन्हें विभाव, जो कार्य हैं उन्हें अनुभाव और जो सहकारी कारण हैं उन्हें व्यभिचारी भाव या संचारी कहते हैं। विभाव आदि से अभिव्यक्त स्थायी भाव 'रस' कहलाता है।

मानव-जीवन में शृंगार रस बहुत व्याप्त है। रति भाव वैसे ही जीवन का स्थायी भाव हो रहा है। इसीलिए रीति-ग्रंथकारों ने और रसों और स्थायी भावों की अपेक्षा शृंगार रस और रति स्थायी भाव का, उदाहरणस्वरूप में अधिक आश्रय लिया है। वास्तव में रति स्थायी भाव की बहुत-सी मानसिक परिस्थितियों से हम लोग अभिज्ञ हैं। इसीलिए उनका उदाहरण जल्दी सूझता है। काव्य का भी बहुत कुछ क्षेत्र शृंगार रस की ही अभिव्यक्ति में व्यय किया गया है। इसी कारण कुछ लोग रस-सिद्धांत में ही अव्याप्ति दोष देखते हैं। इसमें कवियों की भाव-सीमा की इयत्ता प्रदर्शित होती है सिद्धांत का कोई दोष नहीं। अस्तु, इस स्थान पर हमें मनोविज्ञान नहीं समझना है। हमें तो केवल यह जानना अभीष्ट है कि विभावादि क्या हैं।

विभाव को स्थायी भाव का कारण कहा जाता है। जिस परिस्थिति के कारण रसिक जनों में वासना-रूप में स्थित रस (प्रगाढ़ भावना) सजग हो जाय उसे विभाव कहते हैं। अग्निपुराण ने विभावों को दो कोटियों में विभाजित किया है। उन्हें 'आलंबन' और 'उद्दीपन' संज्ञा दी गई है—

विभावो नाम सद्वैधा ऽ ऽ लंबनोद्दीपनात्मकः ।

वास्तव में आलंबन वह बाह्य परिस्थिति है जिस पर रस की निष्पत्ति ठहरती है। उत्तर रामचरित नाटक में राम और सीता करुण रस के आलंबन हैं तथा उनके प्रतिरूप अभिनेता, अभिन्न समझे जाने के कारण, वही राम और सीता का स्थान ग्रहण करके उसी रस के आलंबन बन जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस बाह्य परिस्थिति पर रस की निष्पत्ति अवलंबित रहती है वह उस रस का आलंबन कहा जाता है। जलते हुए शवों की भरमार, यकृत् और मांसपिंडों का गीधों द्वारा चौबीसों घंटे घसीटा जाना, सड़े-गले शवों की निरंतर दुर्गंधि और अँतड़ियों से उलूक की क्रीड़ा, ये सब श्मशान को वीभत्स रस का आलंबन बनाये रहते हैं।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि बाह्य प्रत्यय के अतिरिक्त क्या उस मानसिक परिस्थिति को, जिस पर कोई रस आलंबित रहता है, हम आलंबन कह सकते हैं। क्या आलंबन का स्वरूप नाट्य-जगत् में ही होता है? क्या नाटकों के अतिरिक्त मनःक्षेत्र में आलंबन की स्थिति नहीं?

इसका उत्तर हमें दूसरी कठिनता की ओर ले जाता है। स्वयं स्थायी भाव अथवा उसकी परिपक्वावस्था रस भी एक मानसिक परिस्थिति है। इस परिस्थिति और आलंबनों के स्वरूप के पार्थक्य को समझ लेना चाहिए। किसी के न मिलने के कारण चिरंतन दुःख अथवा स्थायी शोक जो परिस्थितियों के तीव्र हो जाने से विप्रलंभ शृंगार अथवा करुणा

में परिवर्तित हो जाता है वह दूसरी बात है और अपने अभीष्ट की मनुहार का सुंदर चित्र जो नेत्रों के निकट लगा-लगा घूमता है वह दूसरी बात है। इसी चित्र पर रस का टिकाव है। अतएव प्रथम को हम स्थायी भाव और रस तथा दूसरी मानसिक परिस्थिति को हम आलंबन कह सकते हैं। यहाँ पर आलंबन बाह्य जगत की वस्तु न होकर अंतर्जगत की वस्तु कहलायेगी। अतएव नाटक के क्षेत्र से हटकर श्रव्य काव्य के स्वरूप में भी उसकी स्थिति संभव है।

हमने ऊपर जो दृष्टांत दिया है उसके समझने में भ्रम उत्पन्न हो सकता है। पाठक-गण संचारी भाव और आलंबन को अभिन्न समझकर भ्रम कर सकते हैं। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि जो भाव हमको प्रियतम का चित्र सामने लाकर उसे बार-बार संचरित करता है वह स्मृति संचारी अवश्य है, विप्रलंभ शृंगार अथवा करुणा को उससे सजग रहने में सहायता मिलती है; परंतु नेत्रों के समक्ष अटका हुआ चित्र, जिसमें केवल मूर्तिमान होने की कमी है, आलंबन ही कहा जायगा।

अग्निपुराण के अनुसार विभाव का जो दूसरा विभाग स्थापित किया गया है उसे उद्दीपन संज्ञा मिली है। जो बाह्य परिस्थिति सहसा उत्पन्न होकर उद्दीत स्थायी भाव को और अधिक सजग कर देती है उसे उद्दीपन कहते हैं। उसी को दूसरे प्रकार से यों भी कहा जा सकता है कि जिस बाह्य परिस्थिति में सहसा पड़ जाने से स्थायी भाव का स्वरूप बहुत उग्र होकर रस में परिणत होने लगता है और बहुत तीव्र स्वरूप धारण करता है उसे उद्दीपन कहते हैं। संभोग शृंगार की परितुष्टि के लिए नायक को एकांत में नायिका का मिल जाना, घने कुंज से छन-छनकर आती हुई निखरी चाँदनी का दिखाई पड़ना और शीतल मंद-सुगंध-युक्त वायु का चलने लगना इत्यादि स्थितियाँ पृथक-पृथक रूप से उद्दीपन का काम कर सकती हैं। अतएव उन्हें उद्दी-पन विभाव की संज्ञा दी जायगी। करुणा की परितुष्टि के लिए नायिका की समाधि के सहसा दर्शन और विप्रलंभ शृंगार के लिए प्रासाद में घूमते घूमते नायिका की सेज के दर्शन, रौद्र की परितुष्टि के लिए शत्रु की गालियों के समय किसी घनिष्ठ आत्मीय का आना, वीर की परितुष्टि के लिए पंक्तिबद्ध सेना के समक्ष चारणों की सहसा ललकार, बीभत्स के लिए मांस की चिराइँध में श्मशान पर खड़े हुए व्यक्ति के बहुत निकट रक्त से लथपथ एक मांस का लोथड़ा गिरना इत्यादि सब उद्दीपन ही कहे जायँगे।

इस संबंध में भी यह विचार करना है कि उद्दीपन बाह्य पदार्थों के अतिरिक्त अमूर्त भी हो सकते हैं अथवा नहीं और आलम्बन के सदृश उनका भी मानसिक जगत में कोई

अस्तित्व है या नहीं। इसी प्रकार नाटकों के अतिरिक्त श्रव्य काव्यों में भी उनकी योजना हो सकती है अथवा नहीं। इसका भी वही उत्तर होगा जो आलम्बनों के संबंध में दिया गया है। स्मृति संचारी की सहायता से उद्दीपन का स्पष्टीकरण मानसिक जगत में भी हो सकता है। हमारा किसी शत्रु से घोर युद्ध हुआ है। हम बहुत आहत हुए हैं। शत्रु ने हमारा बहुत अपमान किया है। हम बदला लेने को निरंतर सोचा करते हैं। क्रोध का स्थायी भाव रौद्र रस तक पहुँच गया है। शत्रु की गाली देनेवाली आकृति और रक्त-लौहित नेत्र आंखों के समक्ष लगे-लगे घूमते हैं और रौद्र रस का आलम्बन हो रहे हैं। युद्ध की परिस्थिति के संबंध की और भी बहुत-सी बातें स्मृति संचारी द्वारा रस को उद्दीप्त करती और विलीन हो जाती हैं। इतने में अपने एक आत्मीय और क्षुद्र सेवक का चित्र आ जाता है जिसके समक्ष हमें मारा गया था और हमारा अपमान किया गया था। वह चित्र उद्दीपन का कार्य करता है और रस को अधिक उद्दीप्त कर देता है। अतएव इसे हम उद्दीपन विभाव कह सकते हैं।

अनुभाव

विभावों की मीमांसा के पश्चात हमें यह भी समझना है कि अनुभाव क्या हैं। 'काव्य-प्रकाश' के श्लोक के अनुसार उन्हें रस का अथवा स्थायी भाव का कार्य समझना चहिए। 'अनुभावयन्ति इति अनुभावा:'—जिनके द्वारा अनुभव किया जाय वे अनुभाव हैं। अर्थात पश्चात की उन परिस्थितियों को अनुभाव कहते हैं जिनके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि अमुक भाव उद्दीप्त है, स्थायी भाव हो गया है अथवा 'रस' संज्ञा तक पहुँच गया है। पश्चात की परिस्थिति से हमारा अभिप्राय भाव अथवा स्थायी भाव की उद्दीप्त अवस्था के पश्चात की क्रियाओं से है। 'अनु' का अर्थ ही 'पीछे' का है। अमरकोष में अनुभाव शब्द का अर्थ लिखते हुए लेखक ने लिखा है—"अनुभावो भाव-बोधक:"—इसका भी वही अर्थ है।

अनुभावों की संख्या निश्चित करना मूर्खता है। किसी भी रीति-ग्रंथ में उनकी संख्या सीमित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। रति स्थायी भाव के अनुभावों का थोड़ा-बहुत विश्लेषण है। शृंगाररसात्मक बहुत-सी मानसिक परिस्थितियों और ऐहिक विकारों का वर्णन इसी के अंतर्गत किया गया है। हम आगे उनका दिग्दर्शन करायेंगे और उस विवेचना से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि विभावों की भाँति अनुभावों की भी मानसिक परिस्थिति संभव है और बाह्य जगत अथवा शरीर में स्पष्ट हुए बाह्य विकार ही केवल अनुभाव नहीं हैं।

शृंगार रस में प्रेमी और प्रियतम का कटाक्ष आदि, परस्पर आलिंगन करना और बाहुओं को फैलाना; हास्य रस में आँखें मिच जाना और मुँह का फैलना; करुण रस में पृथ्वी पर गिर पड़ना, आर्तनाद से रोना, वेग से साँस लेना, आकृति का रंग उतर जाना, संज्ञा-शून्य हो जाना और पागलों की भाँति प्रलाप करना; रौद्र रस में ओठों को दाँतों में दाबना, भौंहें चढ़ जाना, नेत्रों का लाल हो जाना, आत्मश्लाघा, कर्कश स्वर और रोमांच होना; वीर रस में कंटकित होना; भयानक रस में मुँह का रंग उतर जाना, काँपने लगना, कंठ अवरुद्ध हो जाना; वीभत्स रस में थूकने लगना, नाक सिकोड़ना, वायु स्तंभन करना; अद्भुत रस में गद्गद हो जाना, अपने को भूल जाना तथा शांत रस में विरक्ति प्रकट करना आदि अनुभाव ही कहे जायँगे।

शृंगार रस के अनुभाव

शृंगार रस के अनुभावों को 'काव्य प्रकाश' में तीन श्रेणियों में रक्खा गया है। अनुभाव मानसिक परिस्थिति से उतर कर ऐहिक विकार के स्वरूप में किस प्रकार आता है, इसका कोई शास्त्रीय विवेचन नहीं किया गया। कदाचित इसलिए कि किसी रस अथवा स्थायी भाव का प्रभाव सबके ऊपर एक-सा नहीं पड़ता। कुछ सजग जागरूक नियंत्रणशील व्यक्ति गहरी से गहरी भावना को तिरोहित किये रह सकते हैं और कुछ द्रवणशील भावुक व्यक्ति हल्के से हल्के भावना के झोंके को सँभाल नहीं सकते मानसिक भावनाओं का शरीर के विकारों से कहाँ तक कार्यकारण संबंध है, इस विषय में पाश्चात्य दार्शनिकों ने यथेष्ट विवाद किया है। हमारे यहाँ के दार्शनिक बाबू भगवानदास प्रभृति भी इस संबंध में अपना एक विशेष मत रखते हैं। मानसिक जगत में विश्लेषण मनोविज्ञान के आविर्भाव के साथ-साथ पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यहाँ के सिद्धांतों से कुछ मिलता जुलता सिद्धांत स्थिर किया है। लक्षण-ग्रंथों में अनुभावों की संख्या तीन गिनाई गई है। पहले वर्ग में अंगज अलंकार के अंतर्गत तीन अनुभावों का वर्णन है। भाव का अनुभाव में साधारण अर्थ से इतर अर्थ है। उसका प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। रस से ओत-प्रोत चित्त की प्रथम विकारावस्था को भाव कहते हैं। प्रत्येक तीव्र मानसिक अवस्था (रस अथवा स्थायी भाव) की प्रथम क्रियात्मक प्रेरणा को भाव संज्ञा दी गई है। सब रसों में समभाव से इस अनुभाव को स्वीकार करना चाहिए; परंतु और रस अनुभावों का उतना विश्लेषण ही नहीं किया गया। केवल शृंगार के अंतर्गत ही इसकी चर्चा है। दूसरा अनुभाव 'हाव' कहा जाता है। संभोग शृंगार के

अंतर्गत यह परिस्थिति मानी जा सकती है। भ्रकुटी-परिचालन, नेत्र में मादक शीलता जिसके द्वारा संभोग इच्छा की उत्कटता प्रदर्शित हो—'हाव' कहते हैं। तीसरा अनुभाव 'हेला' कहलाता है। यह एक प्रकार से संभोगेच्छा का संपूर्ण संश्लिष्ट ऐहिक प्रदर्शन है। इन तीनों अनुभावों में एक प्रकार का क्रम है और ये द्रुत, द्रुततर और द्रुततम परिस्थितियों में रस को अभिव्यक्त करते हैं।

अयत्नज अलंकार अनुभावों में भी क्रम दिखाई देता है। इनमें प्रथम चार का नाम है—शोभा, कांति, दीप्ति और माधुर्य। इन चारों में एक क्रम है। चारों युवावस्था से ओत-प्रोत संभोग श्रृंगार की तीव्रता अभिव्यक्त करनेवाली ऐहिक प्रकाश की विषमता के द्योतक हैं। इनका न्यूनाधिक्य-क्रम वही है जो ऊपर लिखा गया है। कांति में विलास का प्रदर्शन शोभा से अधिक रहता है और दीप्ति में उससे भी अधिक होता है। माधुर्य वह अवस्था है जब रमणीयता का भाव, पात्र से इतर भी, सर्वत्र, जहाँ कहीं भी दृष्टि विक्षेप किया जाय, दिखाई पड़ता है। यह संभोग श्रृंगार की वह स्थिति है जब श्रृंगार-भावना का प्रभाव इतना बढ़ जाता है कि सभी इंद्रियगम्य वस्तुओं में अनुकूलता ही अनुकूलता और सुंदरता ही सुंदरता दिखाई पड़ती है और मन सब में ऐक्य का रमण करता है। 'अजातशत्रु' नाटक का एक पद देकर हम इस माधुर्य अनुभाव का उदाहरण देते हैं। प्रसादजी लिखते हैं—

> हमारे वक्ष में बनकर हृदय तव छवि समाएगी।
> स्वयं निज माधुरी छवि का रसीला राग गाएगी॥
> अलग तब चेतना ही चित्त में कुछ रह न जाएगी।
> अकेले विश्व-मंदिर में तुम्हीं को देख पाएगी॥

वास्तव में यह वह स्थिति है जब ज्ञाता और ज्ञेय तथा ध्याता और ध्येय में ऐक्य का अनुभव होने लगता है। संभोग श्रृंगार में ओत-प्रोत स्वयं मन की अनुकूलता की ही यह प्रतिच्छाया है।

इसी प्रकार विप्रलंभ श्रृंगार में गोपिकाएँ अपने विरहदग्ध हृदय की प्रतिच्छाया मधुवन को जला कर देखना चाहती हैं। वे अपने विदग्ध हृदय का सौंदर्य (अथवा माधुर्य) सर्वत्र देखना चाहती हैं। केवल श्रृंगार के अंतर्गत इस अनुभाव को सीमित कर देने से इसकी बोध-इयत्ता परिमित हो गई है।

पाँचवाँ अनुभाव 'प्रगल्भता' बताया जाता है। भावना की तीव्रता कांति के

स्वरूप के साथ अभिव्यक्त होकर जब ऐहिक व्यवहार में अथवा कथोपकथन में दृष्टिगत होती है तब 'प्रगल्भता' अनुभाव समझना चाहिए। छठा अनुभाव 'औदार्य' पूर्व-कथित अनुभाव के परवर्ती स्वरूप का नाम है जिससे व्यवहार-कुशलता की श्रेष्ठता ज्ञात होती है। 'धैर्य' सातवाँ अनुभाव है जिसमें भोग रस की इतिश्री समझनी चाहिए। आत्म-श्लाघा से विहीन आत्म-विश्वास इसका स्वरूप है। यह भक्त की वह अवस्था है जो आत्म-रमण से मिलती-जुलती है। वह अपने ही में अपने को पहचान गया है। इसमें चंचलता नहीं होती।

तीसरे वर्ग में दिये हुए अनुभावों में कोई दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक क्रम नहीं दिखाई देता। इनका नाम स्वभावज अलंकार है। तद्विषयक मानसिक परिस्थितियों का एक प्रकार का समाहार-सा है। 'लीला' वह अनुभाव है जिसे अनुकरण अनुभाव कह सकते हैं। भावातिरेक में आकर प्रियतम के वेश और वाणी का अनुकरण करना 'लीला' कहलाता है। यह अनुकरण प्रवृत्ति सजग और असजग दोनों प्रकार की हो सकती है। 'सुमिरत तुमहिं तुमहि होइ जाई' इसका अंतिम स्वरूप है। इसके भी तीन भेद माने गये हैं। 'विलास इससे बिलकुल पृथक है। समक्ष प्रियतम के आ जाने से गति में, मुख में, आकृति में, नेत्रों में किसी प्रकार की विलक्षणता का आ जाना 'विलास' कह-लाता है। 'विच्छित्ति' वह योजना हैं जिसके द्वारा कांति का संवर्धन किया जाता है। 'विव्वोक' एक प्रचलित शृंगारिक अनुभाव है—अति गर्व के कारण प्रिय वस्तुओं को भी ठुकराना जिनके प्रति उत्कट स्नेह है। 'किलकिंचित्' वह अनुभाव है जिसमें कई अनुभाव मिश्रित रहते हैं; जैसे मुस्कराहट, हँसी, श्रम इत्यादि। अत्यंत सहृदय व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होने पर 'हर्ष''मंद हास,' 'कुछ श्वास,,' 'कुछ क्रोध,' 'कुछ श्रम' का महान उद्रेक 'किलकिंचित्' का अभिधान है। 'मोट्टायित' भी एक प्रचलित अनुभाव है। प्रिय की कथा सुनकर अत्यंत स्नेह उत्पन्न होना ही 'मोट्टायित' है।

'कुट्टमित' शृंगार का एक बड़ा स्वाभाविक अनुभाव है। अभीष्ट व्यक्ति द्वारा अंगस्पर्श होने पर हृदय में आंतरिक हर्ष को गोपन करके बाहरी घबराहट के साथ सिर और हाथों का परिचालन करना इस अनुभाव की व्याख्या है। इसी प्रकार प्रियतम के आगमन से हर्षातिरेक के द्वारा वेश-भूषा की व्याख्या में व्यतिक्रम को 'विभ्रम' कहते हैं। 'अंगों' को सुकुमारता से रखना 'ललित' है। उनकी सुकुमारता पर गर्व होना 'मेद' है और कहने के समय वाणी का अबोध हो जाना 'विकृत' है। विरह की मूर्तिमती वेदना 'तपन' है और जानी हुई वस्तु को भी प्रिय के सामने पूछना 'मौग्ध्य' है। 'आक्षेप' अनुभाव 'विभ्रम' से मिलता-जुलता है। आभूषणों की अधूरी रचना, बिना कारण

इधर-उधर भौचक्के की भाँति देखना, कुछ रहस्यपूर्ण बात धीरे-धीरे कह देना 'विक्षेप' है। प्रियतम को देखने के लिए विह्वल हो जाना 'कुतूहल' है। वास्तव में यह अनुभाव अद्भुत रस का ही है। परंतु संभोग शृंगार में भी इसकी योजना की गई है। दोनों में सिद्धांततः कोई अंतर नहीं है। शृंगार उन्मत्तता के कारण अकारण हँसी 'हसित' और प्रिय के कारण अकारण डरना और चकित होना 'चकित' है। लौकिक भाषा में हम प्रिय और प्रियतम के बिहार को 'ललित' कहेंगे। वास्तव में ध्याता और ध्येय, ज्ञाता और ज्ञेय के पूर्ण ऐक्य के लिए संभोग शृंगार की यह परिस्थिति (ललित पराकाष्ठा है।

आचार्यों ने इन अनुभावों को किसी सिद्धांत के अनुकूल विभाजित अवश्य किया है। तीन वर्गों के नाम स्वतः सुबोध हैं। 'अंगज अलंकार' तथा 'अयत्नज अलंकार' के अंतर्गत आये हुए अनुभावों का कुछ स्वरूप वर्ग नाम से स्पष्ट हो जाता है परंतु स्वभाव सिद्ध अलंकार के 'कृतिसाध्य' अनुभावों में कोई विशेष क्रम नहीं दिखाई देता। उसके अंतर्गत मानसिक और ऐहिक दोनों विकारों का संमिश्रण है। और यह समझ में नहीं आता कि अलंकार नाम क्यों रक्खा गया है। कदाचित इसीलिये कि ये शृंगार के अलंकार-स्वरूप हैं।

वैसे तो 'सात्विक' भावों को इन्हीं तीन वर्गों के अंतर्गत रक्खा जा सकता है परंतु रीति-ग्रंथकारों ने उन्हें अलग ही लिखा है; कदाचित् इसलिए कि उनका स्वरूप निजी केवलता रखता है। वास्तव में ये भाव न होकर भाव के बाह्य स्वरूप हैं। तीव्र मनोवेग का ऐहिक प्रदर्शन ही 'सात्विक भाव' कहलाता है। दूसरे शब्दों में सात्विक भाव रसोद्दीति की बाहरी झलक है। सात्विक शब्द सत्त्व की भाववाचक संज्ञा है। सत्त्व अंतःकरण का वह प्रत्यय है जिसका धर्म रस का प्रकाश करना है। 'सत्त्व' द्वारा संघटित विपर्यय शरीर की झिलमिली से अभिव्यक्त सात्विक भाव कहलाते हैं। वास्तव में तार्किक दृष्टि से इनकी गणना अनुभावों के अंतर्गत होनी चाहिए। केवल एक विशेष परिपाटी के कारण इनका नामकरण पृथक किया गया है।

सात्विक भावों की संख्या आचार्यों ने आठ गिनाई है। किसी भी रीति-ग्रंथ में उनके नाम और उनकी व्याख्या मिल सकती है। यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी संख्या आठ ही है, अधिक नहीं है। परंतु ऐसे सात्विक भाव, जो सब रसों में दिखाई पड़ते हैं, कदाचित उपरिनिर्दिष्ट आठ होंगे, यद्यपि इनके अतिरिक्त पृथक-पृथक रस के पृथक-पृथक सात्विक और भी हैं। उनका प्रदर्शन हम लोग प्रतिदिन अपने शरीर पर देखते हैं।

रसानुभूति

इस प्रसंग के समाप्त होने के पूर्व रस के संबंध की भी कुछ बातें जान लेनी हैं। रसास्वादन अथवा रसानुभव किस विधान से होता है, इस संबंध में प्राचीन आचार्यों में कुछ मतभेद हैं। उनके मत संक्षेप में हम नीचे देते हैं।

आचार्य प्रवर भट्ट लोल्लट का कथन है कि प्रारंभिक अर्थ में रस का संबंध नायक से है। नायक की मानसिक परिस्थित के कुशल अभिनय के कारण दर्शक लोग रस की उपस्थिति का आरोप अभिनेता में करने लगते हैं। यह भ्रम है परंतु अनुभूत भ्रम है। दर्शकों का यही अभिनेता में आंतरिक रीति का अनुभव उन्हें आनंद प्रदान करता है। लोल्लट महोदय का उपरिनिर्दिष्ट विचार 'रस' की निष्पत्ति को नायक अथवा अभिनेता तक ही सीमित रखता है; दर्शकों की भावनाओं और मनोवेगों से उसका कोई संबंध नहीं।

दूसरे आचार्य शंकुक इससे आगे बढ़े हैं। उन्होंने रस की निष्पत्ति का अर्थ अनुभूति माना है। उनका कहना है कि पूरी शिक्षा पाये हुए अभिनेता अपनी कुशलता के कारण नायक के कार्य का जीवित दृश्य स्वयं दर्शकों के समक्ष उपस्थित कर देते हैं। दर्शक कुछ क्षणों के लिए नायक और नट में कोई भेद नहीं कर पाता और उसी में 'रस' की उपस्थिति मानता है। दर्शक अपने मानसिक जगत में इस पर विचार करता है और आनंद अनुभव करता है। शंकुक महोदय के सिद्धांत में एक नवीनता अवश्य है। उन्होंने उसकी चर्चा दर्शक के संबंध में भी की है, परंतु 'रस' की, स्थिति नायक ही में मानी है।

आचार्य भट्टनायक इसको कार्य न मान कर भोग्य मानते हैं और दर्शक के हृदय में भी उहोंने 'रस' की उपस्थिति मानी है। 'रसास्वाद' को भट्टनायक परब्रह्म साक्षात् कार के समकक्ष समझते हैं। जिस प्रकार परब्रह्मानुभूति आनंदमय है उसी प्रकार 'रसानुभूति' भी। अज्ञान के आवरण में यह छिपा रहता है। ज्यों ही घूँघट उठा 'रस' प्रकट हो जाता है।

आचार्य अभिनव गुप्त का कहना है कि 'रस' वास्तव में अभिव्यक्ति है। उनका कहना है 'रति' इत्यादि मानसिक परिस्थितियां दर्शकों के मन में तिरोहित रूप से विद्यमान हैं; 'विभाव' आदि के उत्तेजन से वे जागरित हो जाती हैं और रस की परिस्थिति तक पहुँच जाती हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से 'रस' को हृदय की ही परिस्थिति माननी पड़ेगी। साक्षात अथवा परोक्ष पूर्वानुभव हृदय के मनोवेगमय स्वरूप में प्रतिबिंबित होते जाते हैं। सादृश्य की उपस्थिति से उन प्रतिबिंबों में प्रकम्पन होता है। 'विभाव', 'अनुभाव' और 'संचारी' भावों के समाहार को ही ऊपर 'सादृश्य' नाम दिया गया है। प्रकंपन में वर्गीकरण होता जाता है और तत्संबंधी प्राचीन 'सादृश्य' ही समक्ष आते हैं तथा प्रकंपन को अधिक वेगवान बनाते हैं। प्रकंपन की चरम परिस्थिति ही 'रस' का परिपाक है। पूर्ण प्रकंपन के गत्यात्मक स्वरूप के सौंदर्य में स्थायित्व है। इसी कारण रस की परमावस्था में गति भी है और स्थायित्व भी। इसी प्रकंपन के द्रुत, द्रुततर, द्रुततम स्वरूप को ही 'भाव', 'स्थायीभाव' और 'रस' समझना चाहिये। यह प्रकंपन नायक की भाँति दर्शक में भी उत्पन्न होता है। दर्शक जब शकुंतला को दुष्यंत के अंक में देखता है तब उसकी 'रति' शकुंतला के लिए नहीं उत्पन्न होती वरन अपनी नायिका के लिए होती है। वह उसकी दबी हुई असजग भावना है। यद्यपि उसको अंकित हुए बहुत काल हो गये और वह नष्ट प्रत्यय के रूप में केवल आकार मात्र रह गई है और अपनी नायिका उसे स्मरण भी नहीं आती फिर भी शकुंतला की बाहरी सुंदरता को देखकर उसकी ओर ले जानेवाली वृत्ति पुरानी ही है। वह वेग पुराने संस्कार का ही है। केंद्र में परिवर्तन हो सकता है। सजग ज्ञान भूल कर सकता है। वह समक्ष की शकुंतला में ही अपनी प्रेयसी का आरोप कर सकता है; परंतु मनोवेग की प्रेरणा अर्द्ध-सजग और असजग ज्ञान की संकुलित की हुई बात है जिसके मूल में उसकी निजी प्रेयसी अथवा परोक्ष के अनुभव की प्रेयसी ही हो सकती है, शकुंतला नहीं। अतएव दर्शक की शकुंतलाविषयक रति अवास्तविक और व्यभिचारपूर्ण है। उक्त परिस्थिति में जब दर्शक शकुंतला में रति अनुभव करता है तब अपने निजी तद्विषयक हृदय के प्रत्यय में स्पंदनशीलता अनुभव करता है। यदि दर्शक में तद्विषयक साक्षात अथवा परोक्ष अनुभव नहीं है तो सहानुभूति नहीं आ सकती और न प्रकंपन ही हो सकेगा। फिर 'रस' की निष्पत्ति कैसे हो सकती है? दस वर्ष के किसी बालक में उर्वशी के हाव-भाव, भ्रू-भंग, कटाक्ष-विक्षेप आदि 'रति' जागरित नहीं कर सकते और न सच्चे कायर के हृदय में राणा प्रताप के जोशीले से जोशीले वीर-गीतों से वीरता का संचार हो सकता है। रस की निष्पत्ति के लिए पहले हृदय का परिष्कार करना होगा। सब रस भी सबमें पूर्ण नहीं होते अतएव उनका प्रकंपन अथवा उनकी निष्पत्ति भी उसी अनुपात से होती है। जिधर जिस प्राणी की परिस्थिति जीवन में ले गई उधर उसकी सहानुभूति अधिक हो जाती है और तद्-विषयक वासना भी अधिक सजग हो जाती है। मरणांतर दूसरे जीवन में आत्मा कुछ

संस्कारों को अपने साथ लाती है। माता-पिता के रजोवीर्य में उनकी प्रवृत्ति के उद्दीप्त मनोवेगमय संस्कार भी कुछ हममें मिले रहते हैं। इसी से परिस्थितियों के सम होने पर भी व्यक्तियों के मनोवेगों में अंतर होता है

रसों की संख्या

रसों के संबंध में एक बात और शेष रह गई है। इनकी संख्या के संबंध में मत-भेद है। कुछ लोग वात्सल्य और प्रेम दो और नये रसों को बढ़ाकर इनकी संख्या-वृद्धि करने का समर्थन करते हैं। हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं और न किसी को इसमें कोई मतभेद होना चाहिए। कवि-सम्राट सूरदास की अनुकंपा से हमें वात्सल्य 'रस' मिला। संभव है, किसी और बड़े कवि का आविर्भाव हो और वह किसी अन्य मानसिक परिस्थिति को ढूँढ़ निकाले और उसमें प्रविष्ट होकर उसकी आश्रित अनेक परिस्थितियों की झाँकी अपने काव्य में दिखा दे। 'दैन्य' और 'विनय' को ही लीजिए। गोस्वामी तुलसीदास, कवि-सम्राट सूरदास, भक्त-प्रवर मीरा तथा अनेक संत कवि इन परिस्थितियों के संबंध में इतनी मार्मिक और व्यापक उक्तियाँ कह गये हैं कि बहुत संभव है कि आगामी कोई आलोचक इनके स्वतंत्र विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ढूँढ़ कर प्राचीन रसों के कठघरे से इन्हें निकालकर स्वतंत्र स्थिति प्रदान करे। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी भाव को स्थायी भाव और रस की परिस्थिति तक पहुँचाना एक प्रतिभा-संपन्न कवि का ही काम है। आचार्य लोग चाहे प्राचीनवाद की झोंक में वर्तमान रसों के अंतर्गत उसे समझाने का प्रयास करें अथवा नवीनवाद का आश्रय लेकर उसका नया नामसंस्करण करें; किंतु रसों की संख्या-वृद्धि के विषय में व्यर्थ की दलबंदी खड़ी करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है।

कुछ लोग 'शांत' रस को रस नहीं मानते। वह नाटक के गत्यात्मक वातावरण के है भी प्रतिकूल। परंतु शांतरस रस नहीं है यह कहना भ्रमपूर्ण है। शांतरस का स्थायी भाव निर्वेद गिनाया गया है। हृदय की वह परिस्थिति जो संसार के प्रतिघात से सभी क्रिया-संकुलता से संकुचित होकर नकारात्मक स्वरूप स्वीकार करती है, शांतरस की जननी है। उसके सात्त्विक भाव अन्य सारे सात्त्विक भावों के निषेधात्मक हैं। सब रसों की इतिश्री में शांतरस की अथश्री है। इससे यह न समझना चाहिए कि क्रियाविधान में समूचे नवों रसों से इसका विरोध है। अन्य रसों की भाँति इसके भी कुछ पोषक रस हैं और यह भी कुछ रसों का पोषक है; परंतु इसकी पूर्ण उपस्थिति में दूसरे रसों की पूर्ण अनुपस्थिति वांछनीय है।

एक सज्जन ने आचार्यों के गिनाये हुए नवों रसों को काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह इन पाँच परिस्थितियों के अंतर्गत रखने का उपहासास्पद प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि इन्हीं पाँचों के अंतर्गत सभी रस आ जाते हैं। वास्तव में ये पाँच परिस्थितियाँ मनुष्य की निम्न भावनाएँ कही गई हैं। रसों के अंतर्गत उदात्त मनोभावनाएँ भी हैं। परंतु कवित्व के लिए सांसारिकों की दृष्टि से आँकी हुई बुराई मान्य नहीं। कलाकार संपूर्ण को, अभेद्य को, अभिन्न को देखता और अभिव्यक्त करता है। इस संपूर्ण में बुराई और भलाई सभी हैं। दोनों की अभिव्यक्ति एक दूसरे की पूरक है। एक को लेकर वह दूसरे को किसी मूल्य पर छोड़ नहीं सकता; अन्यथा वह सच्चे पारदर्शी कलाकार के स्थान से गिर जायगा।

गीत-काव्य और बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन'

गीत-काव्य का रूप

पाश्चात्य समीक्षकों ने गीतों के संबंध में बड़ी मीमांसा की है। किसी परिस्थिति, किसी भाव, किसी प्राणसम्पन्न विचार, किसी रूप व्यापार पर कुछ ऐसी गेय पंक्तियाँ जो निज में पूर्ण और कवि के व्यक्तित्व में सनी रहती हैं गीत कहलाती हैं। उनका प्रथम और मूल तत्त्व संगीत है। समीक्षकों का यह भी निष्कर्ष है कि जब कवि बाह्यार्थों से हट-कर आभ्यंतर की अनुभूतियों का गान गाने लगता है तब गीतों की सृष्टि होती है। इस कविता को उन्होंने स्वानुभूति निरूपिणी (Subjective) कहा है और अन्य को बाह्यार्थ-निरूपिणी (Objective) कहा गया है। उनके कथनानुसार समस्त गीत-काव्य स्वानुभूतिनिरूपक होता है। अँगरेज समीक्षक बहुधा नाम की सृष्टि करके उसके चारों ओर अपनी व्याख्या पहनाने का प्रयत्न करता है। उस नाम का चलन कुछ समय तक रहता है और बाद का समीक्षक उसका खंडन-मंडन करता रहता है।

काव्य को बाह्यार्थनिरूप और स्वानुभूतिनिरूपक दो वर्गों में बाँट देना स्थूल बुद्धि का काम है। कविता फोटो की भाँति बाह्यार्थों को अथवा दृश्य जगत् के रूप व्यापारों को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से सामने नहीं रखती। अन्यथा वह ललित कला न रह जायगी। बाह्यार्थों और बाह्यरूप व्यापारों की जो अनुभूतियाँ कलाकार के रागात्मक मन में अंकित होती रहती हैं उन्हें वह सामने रखता है। अतएव कविता प्रबंध के रूप में हो अथवा मुक्तक के रूप में हो वह तो स्वानुभूतिनिरूपिणी होगी ही। यह दूसरी बात है कि कवि स्वयं प्रथम पुरुष का रूप देकर अदृश्य रहे अथवा उत्तम पुरुष का रूप देकर सामने आवे। यह तो केवल लिखने की मौज है। इससे गीत-काव्य से कोई प्रयोजन नहीं है। गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' भी लिखी है जिसका कवि उत्तम पुरुष में है और 'राम गीतावाली' 'कृष्ण गीतावली' भी लिखी है जिसका कवि अन्य पुरुष में अदृश्य है। 'साकेत' के नवें सर्ग में उर्मिला के भी गीत हैं और 'द्वापर' में भी गीत हैं। परंतु उनमें उत्तम पुरुष वाली शैली नहीं है। 'भारत-भारती' में अन्य पुरुष का अदृश्य रूप

नहीं है। पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी की 'माता' नामक विषय काव्य में भी गीत हैं और उनकी हिमतरंगिनी और हिमकिरीटनी में भी गीत हैं। दोनों प्रकार की शैलियाँ उनमें हैं। यही बातें और गीत काव्यकारों की हैं।

वास्तव में, पूर्ण रूप से, अदृश्य कवि तभी रह सकता है जब वह या तो नाटक लिखे या कोई प्रबंध काव्य लिखे। परंतु बड़े-बड़े प्रबंध काव्यों के भीतर भी बीच-बीच की पंक्तियों में वह खुल जाता है; नाटकों के पात्रों में भी उसका लगाव सामने आ जाता है। यह उसकी कला की दुर्बलता भले ही कही जा सके परंतु बड़ी-बड़ी सम्मान्य कृतियों में भी यह असावधानी उपस्थित है। अपनी अनुभूतियों पर आधारित अपने बलवान मंतव्यों से अपनी पंक्तियों को बचाये रखना बड़े संयम की बात है। मंतव्यों और मान्यताओं की ओर, परोक्ष भाव से, तटस्थरूपेण, वस्तु को मोड़ना एक ऊँची कला अवश्य है। अन्यथा कवि की देन का मौलिक मूल्य ही कुछ न रह जायगा। इस ऊहापोह को केवल इसलिए किया गया है कि स्वानुभूति और बाह्यार्थ विभेद मौलिक नहीं है। उन्हें केवल स्थूल भेद समझना चाहिए।

पाश्चात्य समीक्षकों ने एक बात और कही है। वे कहते हैं कि कवि के विकसित रूप, परिपक्व रूप, पूर्ण रूप की देन 'गीत' हुआ करते हैं। अनुभूतियों का संग्रहालय जब इतना पूर्ण हो जाता है कि वह कवि में अट नहीं पाता तो वह गीतों में छलक पड़ता है। अनुभूतियों की यह कोष-वृद्धि आयु के उतार के साथ ही सम्भव है। अतएव गीतों की सृष्टि भी कवि के अंतिम युग की देन होती है। आरम्भ प्रबंध काव्य अथवा अन्य प्रकार के काव्यों से होता है और अंत गीतों से किया जाता है। कवि स्वयं किसी आकार-प्रकार के बंधन से बँधा नहीं समझता। उन्मुक्त हो कर उत्तम पुरुष की शैली में गाने लगता है। यह कवि-जीवन का इतिहास है।

यह सत्य है कि अनुभूतियों की अमीरी आयु के विस्तार के साथ आती है और यह भी सत्य है कि कवि अपने परिपक्व जीवन में आकार बोधिनी सीमाओं की परवाह नहीं करता। उसी प्रकार यह भी सत्य है कि गीत तत्व प्रौढ़ जीवन में अधिक अधिकार कर लेता है। परंतु यह सत्य नहीं है कि प्रौढ़ जीवन में ही गीत लिखे जाते हैं अथवा प्रौढ़ जीवन में गीत लिखने का केवल यही कारण है, अथवा सभी कलाकार गीत ही अंत में लिखते है प्रबंध नहीं लिखते। यह भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं कि अनुभूतियों की बाढ़ के कारण हमेशा प्रबंध काव्य से आरम्भ करके कवि गीतों से अंत करता है। अँगरेजी, फ्रेंच, रूसी, जर्मनी इत्यादि सभी भाषाओं के इतिहास से पता चलता है कि बहुत से ऐसे ऊँचे कलाकार हैं जिन्होंने कभी गीत लिखे ही नहीं और बहुत से ऐसे

हैं जिन्होंने गीतों के अतिरिक्त कुछ नहीं लिखा। संस्कृत भाषा में तो प्रबंधों की इतनी भरमार है कि गीतों का साहित्य में कोई विशेष मूल्य ही नहीं है। सारे चोटी पर के कलाकारों ने प्रबंध ही लिखे हैं। हिंदी में भी केवल गीत लिखनेवाले अथवा केवल प्रबंध लिखनेवाले अथवा दोनों लिखनेवाले जिनके लेखन-इतिहास का क्रम पहले प्रबंध और फिर गीत नहीं है, बहुत मिल जायँगे। कविवर मैथिली शरण जी ने 'भारत भारती' कदाचित् अपने सब प्रबंध काव्यों से पहले लिखी है। 'वैदेही वनवास' हरिऔधजी ने बहुत से गीतों के बाद लिखा है। कामायनी गीत प्रधान अवश्य है परंतु है वह एक प्रबंध काव्य। फिर भी प्रसाद जी ने बहुत से गीतों को लिखकर उसे लिखा है।

फिर भी पाश्चात्य समीक्षकों के निष्कर्ष में आंशिक सत्य अवश्य है। परंतु उसका कारण कहीं और है। विश्व की समस्त भाषाओं में जिन कृतियों का सार्वभौमिक और सर्वकालीन आदर है और जिन्हें उदात्त साहित्य (Classic Literature) कहते हैं वे प्रबंध के रूप में ही अधिक हैं। प्रबंधों में वर्णन द्वारा जो विश्व की महान् योजना उपस्थित की जाती है उसकी विशालता, संकुलता, प्रभविष्णुता, अनेकार्थता तथा उदोत्त कामना का प्रभाव बड़ा व्यापक और गहन पड़ता है। परंतु महाकाव्य की महान योजना और वर्णन-चातुर्य के लम्बे तनाव की साधना सरल नहीं है। उसके लिए अनुभूतियों की अनेकरूपता और भावना की गहनता तो चाहिए ही, बुद्धि और कल्पना का विस्तृत प्रयोग भी चाहिए जिससे कथावस्तु विस्तार, घटनाचक्र की सजावट, चरित्र निर्माण-कार्य, घात-प्रतिघात और अंतरद्वंद्व के सहारे एक महान् पृष्ठभूमि के भीतर विभिन्न और अनेकार्थी रसों के नाना रंगों में चमक सके। कलाकार का निर्माण कार्य इतना वृहद हो जाता है कि उसको बड़ा चौकस और सतत जागरूक रहना पड़ता है। उसके ताने-बाने का प्रत्येक सूत्र उसके समक्ष रहता है और कहीं कोई भी उलझने नहीं पाता। यह समस्त कार्य बड़े अध्यवसाय, परिश्रम और जागरूकता की अपेक्षा करता है, जो आयु के उतार में शिथिल चेतना कर नहीं पाती अथवा ऐहिक थकावट के कारण करना भी नहीं चाहती। अतएव अपनी देन को छोटे-छोटे टुकड़ों में सामने रखती है। ये गीत का रूप ग्रहण करते हैं। गीतों के जीवन के अवसान काल में प्रकट होने का सबसे महान कारण यही है। साहित्यिक जीवन का मेरा भी यही अनुभव है। मैंने गीत नहीं लिखे परंतु अपनी बात और अपने अनुभवों को एक लम्बे तनाव के भीतर किसी बड़े आकार-प्रकार में सामने रखने में श्लथ और कातरता मालूम होती है। आयु के उतार में तत्परता और चौकन्नापन के लिए बुद्धि जल्दी से प्रस्तुत नहीं होती यद्यपि उसकी अनिवार्य आवश्यकता एक महान काव्य में पड़ती है।

कुछ लोगों का यह भ्रम है कि गीतों का कार्य अत्यंत संक्षेप रूप में किसी तथ्य को सामने रखना है। गीतों में गेय तत्त्व की ही प्रधानता होनी चाहिए। उसमें संक्षिप्त करने की कला अपेक्षित नहीं है। तथ्य के आकार का छोटा होना दूसरी बात है और बड़े तथ्य को छोटे करने का प्रयास करना दूसरी बात है। गीत लम्बे और बड़े भी हो सकते हैं। वर्तमान कवियों के बड़े लम्बे-लम्बे गीत देखे गये हैं। परंतु गीत एक सीमा से बड़े नहीं हो सकते। संगीत के अंक में बँधा हुआ तथ्य उतने काल तक मन पर प्रभाव डाले रह सकता है जितने समय तक श्रोता संगीतमय रह सकें और तथ्य उचट न जाय। गीत में एक तथ्य के साथ-साथ एक ही निवेदन एक ही रस, एक ही परिपाटी होती है। उसका प्रवेश भी एक ही प्रकार होता है। अतएव वह मन को केवल कुछ समय तक के ही लिए अपनाये रह सकता है। बस गीत की लम्बाई भी उतनी ही होनी चाहिए जितनी उसकी रमण-उपयोगिता है।

गीतों में दार्शनिकता

गीतों में इधर दार्शनिक चिंतना का समावेश अधिकाधिक हो रहा है। जहाँ एक ओर विचार के किरकिरे अंतराय आ जाने से संगीत-रस कुछ धीमा पड़ जाता है वहाँ दूसरी ओर केवल संगीत के सहारे चलनेवाले गीतों से अलग हटकर नये प्रकार के गीतों का श्रीगणेश हिंदी का शुभ लक्षण है। चिंतना काव्य से सोहागिल भी हो जाती है और उसे बिगाड़ भी देती है। यदि कोई विचार खण्ड कवि को आत्मसाद नहीं हुआ है; यदि कोई मानसिक प्रत्यय कवि में भावमय होकर घुलमिल नहीं गया है तो ऐसे चित्र सामने नहीं आ सकते जिनमें घुलावट हो। वह केवल गद्यमय तुकबंदी सामने रख सकेगा। भावुकता में डूबी हुई चिंतना ही किसी गीत का विषय हो सकता है। इसके लिए समय की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार युगों के साथी होने के कारण, चाँदनी, झरने, हरी वन-स्थली, चंद्र, सूर्य और अपनी अनेकार्थी भावुकता के साथ मानव हमारे पुराने साथी हैं और हम इनका रागमय वर्णन सामने रख सकते हैं उस प्रकार और उस घुलावट के साथ हम आज के बिजली का पंखा, रेफ्रीजरेटर, फाउण्टेन पेन, अटैची केस, बाईसिकल इत्यादि-इत्यादि के अपर्याप्त सहवास से यथेष्ट भावमयता के अभाव में उत्तम चित्र सामने नहीं रख सकते। जो बात रूप-व्यापारों की है वही बात चिंतना के प्रत्ययों की है। पर्याप्त समय के अभाव में वे भाव-जगत में घुल-मिल नहीं पाते अतएव किसी गीत को वे कच्चे विचार काव्य नहीं बना सकते। यह सत्य है कि बड़े से बड़े ख्यातनामा कवियों में सूखी दार्शनिकता को काव्यवद्ध करने का महान् दोष दिखाई देता है परंतु बहुत से कवि इस दोष से बरी हैं।

अच्छे गीत रचयिताओं में अभिव्यंजन का कैतव भी नहीं है। उनमें कथन की सुंदरता, छायावाद से दूर संवेदनात्मक ही होती है। पंडित बालकृष्ण शर्मा को लीजिए। उन्होंने एक स्थान पर 'उलझी हुई सरलता' अवश्य लिखा है परंतु ऐसे वाक्य कम हैं। समासोक्ति तथा अन्योक्ति के पुराने प्रयोग भी उनमें नहीं हैं। चिंतना खंड दुरूह नहीं है। विचारों के स्वरूप सरल और बोधगम्य हैं। प्रश्नवाचक वाक्यों में कुछ प्रश्नों को कितनी मार्मिकता से रक्खा गया है—

शब्द-स्पर्श-रूप-गन्ध-रस वश है क्या जीवन ?
संवेदन-पुंज-रूप हैं क्या हम सब जग-जन ?
अमल अतीन्द्रिता है क्या केवल भ्रम, साजन ?
अपनी सेन्द्रियता क्या मनुज सकेगा न त्याग ?
प्रियतम, तब अंग-राग !

इसके प्रश्न प्रत्येक चिंतनशील प्राणी के शाश्वत प्रश्न हैं। वास्तव में, अपनी 'सेन्द्रियता' त्यागना मानव के लिए दुस्तर है।

"यततोऽपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः"
अर्जुन कुंतीपुत्र थे; मानव मर्त्य स्त्री की संतान जो है।

और आगे देखिए—

अन्तर में जलता है जो यह चेतना-दीप,
जिसकी ऊष्मा से है कुसुमित उपकरण-नीप,
सेन्द्रियता कब आई उस दीपक के समीप ?
उस निर्गुण का गुण है पूर्ण मुक्ति, चिर विराग !
प्रियतम, तब अंग-राग !

भविष्य के सुयोग के लिए; जीवन के मंगल के लिए, 'उर्ध्व गमन' के लिए कितनी सुंदर प्रार्थना है। इसमें कोरी आकांक्षा नहीं है साहित्यिक प्रतिष्ठा भी है—

इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर,
अपनी मधुर अमिय धारा से प्लावित कर दो सकल चराचर;

(१)

ना जाने कितने युग-युग से प्यासे हैं जीवन-सिकता-कण,
मन्वन्तर से अंतरतर में होता है उद्दाम तृषा-रण;

निपट पिपासाकुल जड़-जंगम, प्यास भरे जगती के लोचन,
शुष्क कण्ठ, रसहीन जीह, मुख; रुद्ध प्राण, संतप्त हृदय मन;
मेटो प्यास-त्रास जीवन का; लहरे चेतन सिहर-सिहर कर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर!

(२)

इतनी रस-शून्यता दानवी जग-जीवन में कैसे आई?
ज्वालामुखियों की ये लपटें जग-मग में किसने भड़काई?
पढ़ा सृजन का पाठ प्रकृति ने! अहं भावना तब उठ धाई,
अरे, उसी क्षण से कण-कण में मृषा-तृषा यह आन समाई!
फैले अनहंकार भावना, मिटे संकुचित सीमा-अंतर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर!

(३)

आज शिंजिनी आत्मार्पण की चढ़ जाए जीवन-अजगव पर,
ऊर्ध्व लक्ष्य-वेधन-हित छूटें बलिदानों के नित नव-नव शर,
ऋतुमय अमृत-कुम्भ विंध जाये, जब हो इन बाणों की सर-सर।
शत सहस्र मधु-रस-धाराएँ बरस उठें सहसा झर-झर कर;
हो शवलित वसुधा-अलम्बुषा; मुदमय नृत्य कर उठे थर-थर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर।

"ऊर्ध्व लक्ष्य भेदन" वास्तव में प्रधान उत्पीड़न है।
आगे देखिए—ससीम में निस्सीम को कैसे अटाने की चेष्टा की गई है—

मानव का अति क्षुद्र घरौंदा जग का प्राङ्गण बन जाए!
यों सीमा में निः-सीमा का विस्तृत चँदुआ तन जाए!!

कोऽहम् कस्त्वम् में उलझा हुआ प्राणी कैसे सोचता है यह भी देखिए—

तव प्राङ्गण यह क्या अनन्त है?
या कि कहीं यह अन्त वन्त है?
कब तक, कहो, सुलझ पायेंगे चिर रहस्य ये सारे?
अस्थिर बने रहो तुम तारे।

इस प्रकार के चिंतना को उकसानेवाले अनेक स्थल उनमें बहुत मिलेंगे। उनमें

एक-आध ब्रज के भी गीत हैं जिनमें कोमलता बहुत है यद्यपि भाषा की दृष्टि से नितांत अदोष नहीं रह पाये।

एक स्थान पर मैंने संकेत किया है कि अभिव्यंजन का संक्षिप्त-प्रयास गीत नहीं है। अँगरेजी, हिंदी और संस्कृत—तीनों भाषाओं में संक्षिप्त अभिव्यंजन व्यवस्था एक पृथक महत्त्व रखती है। छोटी-छोटी सूत्रात्मक सूक्तियाँ बहुधा अपने में पूर्ण होती हैं और उक्ति वैचित्र्य अथवा ज्वलंत विचार खण्ड, अथवा प्रमुख तथ्य रूप, अथवा वास्तविक निष्कर्ष का प्रमुख भाग सामने रखने के कारण पाठकों और श्रोताओं के कंठ में अपना स्थान कर लेती हैं। आंशिक सत्य के दर्शन होने के कारण इनका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। अँगरेजी में इन्हें (Epigrams) कहते हैं। संस्कृत और हिंदी में तो इन सूत्रात्मक सूक्तियों के लिए विशेष छंदों का प्रयोग होता है। दोहा, सोरठा, बरवा, आर्या, अनुष्टुप इत्यादि छंदों में बहुधा सूक्तियों की रचना की जाती है। इन छंदों को कवि सूक्तियों के अतिरिक्त मुक्तक भाव-विचार और रूप को प्रकट करने के लिए भी प्रयोग करते हैं। कवि की सबसे बड़ी कला यह है कि एक या अनेक चित्र अथवा व्यापार, दो पंक्तियों में इस प्रकार भर दें कि संमिश्रित बिम्बों की स्पष्टता भी नष्ट न हो और अकेला भाव, विचार और चित्र अलग चमकता रहे।

बिहारी का एक दोहा, रूप व्यापारों के मिश्रण का सौंदर्य प्रदर्शित करने के लिए, नीचे दिया जाता है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय,
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय।

आगे देखिए। विरोध अलंकार पर आश्रित कई छोटे-छोटे विचार किस प्रकार उलझे होने पर भी अलग-अलग चमक रहे हैं—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति,
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति।

इस प्रकार के अटपटे और कलापूर्ण दोहे और सोरठे हिंदी में भरे पड़े हैं। बरवों में भी मिठास भर दी गई है। वृंद, बिहारी, कबीर, रहीम, तुलसी, वियोगी हरि, दुलारेलाल और बालकृष्ण सभी के दोहों के अंकों में सूक्तियाँ पलती हैं। उन्हें यहाँ देकर इस लेख का कलेवर नहीं बढ़ाना है।

गीतों में छायावाद

गीत एक स्वतंत्र साहित्यिक प्रयास है। वह संगीत और कविता के सोहाग की देन है। उसके किसी पंक्ति में तथ्य का सत्य अथवा परिस्थिति का सत्य भी सूक्ति के रूप में मिल सकता है। उक्ति वैचित्र्य का रूप भी उसमें कलाकार भर सकता है। प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब ग्रहण भी दिखाई पड़ता है। मन की नाना मनोरम वृत्तियों का विस्फोट भी मिल सकता है और उनका सधा हुआ निखरा रूप भी। कोई भी वस्तु, भाव, विचार, प्रवृत्ति और गति गीत का विषय बन सकता है। अभिव्यंजन में संगीत का मार्दव और नाद सौष्ठव की योजना अनिवार्य है।

रीतिकाल प्रतिक्रिया के रूप में हिंदी खड़ी बोली में छायावाद की जो अवतारणा हुई उसका परिणाम सर्वत्र अच्छा ही नहीं हुआ। रहस्यवाद तो वस्तु के रूप में थोड़े काल तक ही चला। जहाँ अलंकारवाद के स्थूलवाद का नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद, षटऋतु वर्णन, बारहमासा वर्णन की बँधी परिपाटी की लीक समाप्त हुई और लोगों का मन कवींद्र रवींद्र के अध्यात्म से विरत हुआ तो फिर रहस्यवाद वस्तु से हट गया। छायावाद ने उसका स्थान लिया। परंतु आगे बढ़कर वह भी केवल अभिव्यंजन-प्रणाली के रूप में ही रह गया। अतएव अभिव्यंज्य से अभिव्यंजन को अधिक महत्त्व मिला और काव्य में नई-नई शैलियों का विकास हुआ। पुरानी वक्रोक्ति, समासोक्ति और अन्योक्ति शैलियों को और सूक्ष्म रूप दिया गया और संकेतों को अनेकार्थी ध्वनियों के महीन से महीन रूप में व्यवहृत किया गया। छायावाद के इस छल ने बहुत स्थलों में वस्तु को ही घपले में डाल दिया और केवल उक्ति के चमत्कार को ही लोग वाह-वाह कहकर अनुमोदन करने लगे। बड़े-बड़े कवियों में अनावश्यक दुरूहता पैठ गई—

प्रसादजी के एक गीत की एक पंक्ति देखिए—

'उखड़ी साँसें उलझ रही हों, धड़कन से कुछ परिमित हो।'

यहाँ 'उखड़ी साँसों' से वियोग का संकेत है और 'धड़कन' से संयोग की ओर ध्यान दिलाया गया है। अर्थात वियोग को संयोग सीमित करे और संयोग को वियोग सीमित करे यही प्रेम का सौंदर्य है। और देखिए—

"मादकता सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी,
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।"

मुख को हँसी का प्याला कहकर उठती हुई मुस्कराहट को प्याले में उठनेवाली

तरलाई बतलाना और फिर यह कहना कि हवा के एक ओर के झोंके से जैसे लहर दूसरी ओर सीमा को छूती है वैसे ही इनकी आहों के झोंकों में उनकी हँसी उनके अधरों को स्पर्श करने लगती है जब कि कहना केवल यह है कि इधर की आहों की अधीरता से उधर मुस्कराहट आ जाती है। यह अर्थ-साधना अकष्टसाध्य नहीं कही जा सकती है।

छुटपुटिये कविंदों में तो छायावाद अधिकतर पहेली बुझानेवाली उक्ति बनकर रह गई है। उनके तो भावों में भी कलाबाजी देखने में आती है—

"वेदना होती है मन में तड़क सा उठता है ब्रह्माण्ड।"

ब्रह्माण्ड का यों ही तड़का देना महान कलाकार का ही काम है। भाव को सीधे-सीधे परिस्थितियों के सोपान से चढ़ाकर उत्कर्ष देना तो सभी लोग जानते हैं।

संकेत का बोझ उक्तियों में लादना पुराने कवियों का भी चमत्कार है। कबीर इसमें बड़े विज्ञ हैं। जायसी भी बड़े चतुर हैं। परंतु वे प्रसिद्ध उपमानों के सहारे ही यह चमत्कार दिखाते थे और समस्त उक्ति का क्रम और तारतम्य को लुप्त करना वे ठीक नहीं समझते थे। कबीर कहते हैं—

'काहे री नलिनी तू कुम्हलानी।
तोरे हि नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास,
जल में नलिनी तोरु निवास।
ना तल तपत न ऊपर आग,
तोर हेत कहु का सन लाग।
कहैं कबीर जे उदिक समान,
ते नहिं मुए हमारे हि जान।

कबीर पढ़ने वाले यह भली प्रकार जानते हैं कि वे 'उदिक' अर्थात् जल को परब्रह्म के अर्थ में सर्वत्र प्रयोग करते हैं।

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी'

यहाँ भी 'पानी' परब्रह्म के ही अर्थ में प्रयुक्त है। 'नलिनी' आत्मा के अर्थ में है। द्वैत का प्रसार माया का प्रसार है इसी भ्रम में पड़कर आत्मा कष्ट उठाती है। वह अपने से अलग किसी शक्ति का भय करती है फिर दुख का

अनुभव करती है। यदि वह अपने को 'उदिक' मय अथवा ब्रह्ममय समझने लगे तो इस अद्वैत स्थापना से न वह दुख अनुभव करेगी और न कबीर की भाँति मृत्यु अनुभव करेगी।

इस उक्ति का चमत्कार अन्योक्ति साधना से बन पड़ा है।

जायसी का संकेत देखिए—

'भवर छपान, हंस परगटा'

अर्थात् काले केश समाप्त हो गये और धवल केश दिखाई देने लगे। काले केशों का संकेत भँवर से और धवल केशों का हंस से किया गया है। भँवर की परिभ्रमण वृत्ति नये-नये स्नेह जोड़ने की वृत्ति, उसकी चंचलता सभी में तरुणाई का आरोप रहता है। इसी प्रकार नीर-क्षीर विवेकी धीरे-धीरे से पग धरनेवाला हंस परिपक्व बुद्धि बुढ़ापे का अच्छा उपमान है। इन संकेतों में उपमानों के अर्थबोध में इतना सामर्थ्य है कि संकेत दुरूह न हो। बस, इसी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। अर्थ और भाव चाहे जितनी कोठरियों में बंद क्यों न हो उसका सूत्र द्वार पर ही मिलना चाहिए जिसके सहारे अथवा झटके से सारी ध्वनि समझ में आ जाय। यह बड़ी सराहना की बात है कि बालकृष्ण के गीत दुरूह और अस्पष्ट नहीं हैं। उनमें दो-चार तत्सम संस्कृत शब्दों का काठिन्य मिल सकता है परंतु अभिव्यंजन दुरूह नहीं है।

गीतों के दोष

एक और दोष जो साधारण प्रकार से आजकल के गीतों में देखा जाता है वह पूर्णता का अभाव है। गायक आठ-दस पंक्तियों में किसी विचार अथवा भाव अथवा धुँधले चित्र को उठाता है और उसको पूर्णता प्रदान किये बिना छोड़ देता है और समझता है कि उसने एक उत्तम गीत रच दिया। यह भ्रम है। दो-चार जाज्वल्यमान उक्तियाँ, दो-एक उक्ति वैचित्र्य के चमकीले टुकड़े, दो-तीन अलग-अलग उखड़े विचार, एक दो भाव वृत्ति के झकझोर—इन सबके समवेत रूप में आ जाने से कोई उक्ति गीत नहीं हो जाती। गीत के लिए आरंभ की पंक्ति ही से परिस्थिति को संगीत के सहारे क्रम-क्रम से ऊपर चढ़ने के लिए एक भाव-सोपान मिलना चाहिए जिसमें लचक का सौंदर्य और झूला चाहे हो परंतु उखड़ी सीढ़ियों पर कूदने की आवश्यकता न पड़े। अन्यथा चेतनता सावधान होकर मस्ती खो देगी। और फिर परिस्थिति को पूरा विस्तार दिये बिना गीत में एक निष्ठा, एक प्रेरणा, एक निवेदन की योजना न हो सकेगी। पूर्णता के

अभाव में सामुहिक आघात का प्रभाव भी कुण्ठित ही रहेगा। इस संबंध में भी यही निवेदन है कि बालकृष्ण के गीतों में यह दोष नहीं-सा है।

बालकृष्ण के गीत

बालकृष्ण के गीतों में मांसल भावुकता है, अभिव्यंजन की तिलमिलाहट है। प्रिय का रूप चिरंतन आलम्बन है। अतीत के संपर्क स्मृति संचारी का काम देते हैं। रसराज शृंगार उनके गीतों का मर्म है। संयोग और वियोग दोनों पक्षों के दर्शन होते हैं। संयोग बहुत कम और अधिकतर मानसिक और कहीं-कहीं कुछ अनुकूल अतीत अवसरों के रतिपूर्ण क्षणों की याद जिसमें वियोग भी मिला है जैसे—

"प्राण तुम्हारी हँसी लजीली।"

"ग्रीव में वह तव मृदु भुज-माल, स्मरण-कंटक बन आई, बाल;"

अथवा—

"तुमने आकर, विहँस, प्रियतमे, नयनों में भर प्यार,
निज भुज-माला इस ग्रीवा में डाली थी उस काल,
स्मरण-शर वह बन आई, बाल।

इस वक्षस्थल पर शिर रख, तुम मौन, शांत, गम्भीर,—
देख रहीं थी हमें दृगों से प्राणार्पण-रस ढाल,
स्मरण वे शूल बने हैं, बाल।"

और देखिए—

"जब कि कनखियों से मुझको तुम निरख रहे थे आते-जाते;
दृग से दृग जब मिल जाते थे तब तुम थे कुछ-कुछ मुस्काते,"

इसी प्रकार—

" कभी सँवारे थे हमने भी उनके कुंतल-पुंज,
वे संस्मरण आज आये हैं बनकर काले नाग,"

विप्रलम्भ ही वास्तव में उनका प्रधान भाव है। विप्रलम्भ की एक विशेष भारतीय परिपाटी है। यहाँ का प्रिय प्रेमी भी होता है। परिस्थितिजन्य अवरोधों से केवल वह अपने प्रिय से मिल नहीं पाता। प्रेमी को पग-पग पर प्रिय के अनुकूल व्यवहार का

भूतकाल अधिक कष्ट दिया करता है । उर्दू का माशूक बेवफा और धोखेबाज अधिकतर अंकित किया जाता है । इकतर्फी इश्क का चित्रण अंगरेजी में भी कहीं-कहीं मिलता है । भारतीय संस्कृति के प्रभाव के कारण यहाँ इस प्रकार के चित्रण कम मिलते हैं । बालकृष्ण के प्रेम में भी भारतीयता का रक्षण मिलेगा । हाँ, प्रिय का रूप उभय लिंगों में देखना यहाँ की परिपाटी नहीं है । यह कदाचित उर्दू का उत्तराधिकार हो । भक्त कवि भगवान् की अवतारणा स्त्रीलिंग में कर ही कैसे सकते थे अतएव बालकृष्ण ने कदाचित अपने 'सरकार' को उन्हीं के संबोधन के अनुसार सँवारा है । वास्तव में स्त्री रूप में बार-बार का संबोधन कुछ शीलसम्पन्न भी नहीं मालूम होता है और सारी उक्ति का वाच्यार्थ ही अधिक सामने आता है; लक्ष्यार्थ तक मन को पहुँचाने में भावना आना-कानी करती है ।

बालकृष्ण के वियोग चित्रों में अतीत के रमण स्वरूपों का बल भी रहता है और भविष्य की रमण भूमि की अनेकार्थी कामना भी काम करती है । एक उदाहरण देखिए–

(१)

"आओ, बलिहारी, जाऊँ तुम झूलो आज हिंडोले;
मैं झोटे दूँ, तुम चढ़ जाओ झूले पे अनबोले ।
मेरी अमराई में झूला पड़ा रसीला, बाले,
चँवर डुलाते हैं रसाल के रसिक पर्ण हरियाले;
रस-लोभी अलिगण मँडराते हैं काले भौंराले,
सूना झूला देख उभर आते हैं हिय में छाले;
आओ, पैंग बढ़ाओ झूले की तुम हौले-हौले,
सजनि, निछावर हो जाऊँ, तुम झूलो आज हिंडोले !

(२)

भोली सहज लाज-मोहकता निज नयनों में घोले,—
आकर सुहरा दो मेरे हिय के सुकुमार फफोले,—
आन कँपा दो इस झूले की रसिक रज्जु की फाँसी;
मेरी उत्कंठा को, सुन्दरि, डालो गलबहियाँ-सी;
क्वासि ? क्वासि ? प्यासी आँखों से बरस रहीं फुहियाँ-सी
आ जाओ मेरे उपवन में सजनि, धूप छहियाँ-सी

झुक-झुक, झूम-झूम खिल जाओ हृदय ग्रन्थियाँ खोले,
आओ बलिहारी जाऊँ, तुम झूलो आज हिंडोले।"

आगे देखिए—

(१)

"युगल लोचन में मदिर रंग छलक उठता देख,
निठुर, तुमने फेर ली क्यों आँख एकाएक,
सिहर देखो कनखियों से अरुण मेरे नैन,
सकुच शरमा कर कहो, कुछ 'हाँ-नहीं' के बैन;
भर रहा है, सजनि, फिर से यहाँ शुष्क तड़ाग,
जग उठा, हाँ जग उठा है सुप्त अश्रुत राग!

(२)

मृदुल कोमल बाहु बल्लरियाँ डुलाकर, बाल,—
कठिन संकेताक्षरों को आज करो निहाल;
आज लिखवाकर तुम्हारे पूजकों के नाम,—
हृदय की तड़पन हुई है, सजनि, पूरन काम,
राग के, अनुराग के, अब खुल गये हैं भाग,
जग गया, हाँ, जग गया है सुप्त, अश्रुत, राग॥

"मैं तुमको निज गीत सुनाऊँ" शीर्षक कविता में बालकृष्ण कहते हैं—

"तुम बैठो मम सम्मुख अपना चीनांशुक पीताम्बर पहने,
और बनें अंगुलियाँ मेरी तव मंजुल चरणों के गहने;
तुम आकर्ण सजाए वेणी, विहँस—विहँस दो मुझे उलहने;
यही साध है, मेरे प्रियतम, तुम रूठो, मैं तुम्हें मनाऊँ;
और साध क्या है? बस इतनी कि मैं तुम्हें निज गीत सुनाऊँ।
सुनकर मेरे गीत, कभी तो तव लोचन डब-डब भर आएँ;
और कभी मेरे नयनों से कुछ संचित बूँदें झर जाएँ;
यों मेरे संगीत रसीले तब मृदु चरणों में ढर जाएँ;
यही मनाता हूँ कि कभी मैं गायन-स्वर-लहरी बन छाऊँ;
यही साध है, प्रियतम मेरे, कि मैं तुम्हें निज गीत सुनाऊँ।

करूँ तुम्हारे श्रीचरणों में, गीत सुनाकर, जब मैं वंदन,—
तब तुम सहला देना मेरे धवल केश, हे जीवन-नंदन।
मैं प्राचीन, 'नवीन बनूँगा, होंगे विगलित मेरे बंधन;
यह वर देना कि मैं सदा नव-नव गीतों से तुम्हें रिझाऊँ;
यही साध है, प्रियतम मेरे, कि मैं तुम्हें कुछ गीत सुनाऊँ।"

इसी प्रकार आसन्न प्रिय के प्रति प्रणय निवेदन की झाँकी देखिए—

"मृदु गलबहियाँ डाल विहँसती
बन जाओ गल-हार,
अब कैसी यह झिझक सलौनी ?
अब कैसा अविचार ?
आज सखि नवल वसन्त-बहार,
कर रही मदिर भाव-सञ्चार;
आज सखि नवल वसंत बहार।"

बालकृष्ण प्रकृति का सुंदर चित्रण समक्ष रखने में बड़े निपुण हैं। उनका रूप प्रदर्शन संकुल और बिम्ब-प्रतिबिम्ब होता है। प्रकृति को निज के राग-द्वेष से स्वतंत्र भी देखने और दिखाने की क्षमता उनमें है। ऊषा के चित्रण में भी आप देखेंगे कि प्रातःकाल के पाटव में समस्तता तो है ही संगीत की पूर्ण योजना है जिससे गीत पूरा सार्थक हो गया है।

"रुन-झुन, गुन-गुन, रुन-झुन, गुन-गुन, भ्रमरी-पाँजनियाँ गुञ्जारीं;
तन-मन-प्राण-श्रवण ध्वनि-नंदित, आई यह अरुणा सुकुमारी।

(१)

वन-वन में कम्पन-निष्पंदन भर-भर, विचरा सनन समीरण;
वंश अवलियों के अन्तर से गूँजे नव-नव स्वागत के स्वन;

सिहर उठे जग के रज कण-कण;
पुलकित प्राण, खिल उठा चेतन;

जलज खिले; मानो अरुणा ने अपनी अँखियाँ सजल उघारीं।
बजीं भृंग-पाँजनियाँ, आई ठुमुक-ठुमुक अरुणा सुकुमारी॥

(२)

किरण-मार्जनी से मृदुला ने दूर किया वह दुर्दम तम घन;
अरुण-अरुण निज कोमल कर से चमकाया अम्बर का आँगन;

लुप्त हो चले ग्रह, तारक-गण;
विहँसी सकल दिशाएँ मुद मन;

अम्बर से अवनी तक लहरी अरुणा की सतरंगी सारी;
गगन-अटा से हँस-मुसकाती उतरी नव बाला सुकुमारी।

(३)

हँसी मेदनी, हँसे शैलगण, तरु लतिकाएँ हँसी अकारण;
कलियाँ हँसीं, पर्ण तृण हुलसे, गान कर उठे सब द्विज-चारण,

गूँजा मंत्र-छंद-उच्चारण;
पूर्ण हुआ तम-मौन-निवारण;

अनहद नाद मगन नभ-मंडल, नाद मगन सब गगन-विहारी;
तन, मन, श्रवण निनादित करती आई यह अरुणा सुकुमारी।"

इसी प्रकार इनकी कविता "काल्पनिक अवसर" है। उनमें भाव चित्र हैं। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनका संगीत मार्दव है। पंक्तियों का उद्देश्य मूर्त्त। मानचित्रों द्वारा दृष्टि अनुरंजन उतना नहीं है जितना कि वातावरण के संकुल स्वरूप में परिस्थितियों के रूप व्यापारों को श्रवण चित्रों में उपस्थित करना है। नादों को शब्दों की व्यवस्था देना, ध्वनियों के धागों का ऐसा सुलझा रूप कानों तक पहुँचा देना कि श्रवण-भाव दृष्टि-भाव से अधिक चिरंतन बना रहे, बड़े कुशल कलाकार का काम है।

साधारणतया प्रकृतिरूप भावाधीन हैं। उससे उद्दीपन का ही काम लिया गया है। 'वर्षा लोके' शीर्षक कविता का कुछ अंश देखिए—

(१)

"जब कि नील अम्बर में श्यामल घन का चँदुआ तन जाता है,
उपवन जब कि सिहर उठता है, बन कम्पन-मय बन जाता है,
उन घड़ियों में, तुम जानो हो, क्या-क्या मेरे मन भाता है,
खूब जानते हो, उस क्षण, मैं क्यों लगता हूँ कुछ-कुछ रोने;
कौन बात ऐसी है मेरी, जो तुमसे हों छिपी सलोने?

(२)

ये घन-गन जो इधर पधारे, आज उधर भी आए होंगे;
जो मेरे कारागृह छाए, वे वाँ भी तो छाये होंगे;
जो लाये रोमांच इधर, वे, पुलक उधर भी लाये होंगे;
तुम भी भींजोगे इनसे जो आये हैं यों मुझे भिगोने;
मूरख मेघ, तुम्हारे बिन ही, आये यों मेदिनी सँजोने।

(३)

तुम्हें याद है: घन-गर्जन-क्षण नित नूतन परिरम्भण मय हैं;
ये अटपटे हवा के झोंके बने स्मरण-अवलम्बन मय हैं।
पर ये मेरे लिए यहाँ तो आज बन गये क्रंदन मय हैं;
ये सब, सजधज कर आये हैं अपने ही में मुझे डुबोने,
और काटने दौड़ रहे हैं ये कारा के कोने-कोने।

× × × ×

इक बंदी के लिए कहो तो, क्या बरसात गई, या आई?
मेरी क्या आर्द्रा चित्रा यह? प्रिय, मेरी क्या शरद जुन्हाई?
क्या हेमंत, शिशिर ऋतु मेरी कौन वसंत-निकाई?
खोकर सब ऋतु-ज्ञान, चला हूँ मैं तो आज स्वयं को खोने!
हैं खाली-खाली रस-भीने मेरे हिय के कोने-कोने।"

इन पंक्तियों को पढ़कर 'प्रिया हीन डरपत मन मोरा' याद आता है।

जहाँ एक ओर 'तुम जानो हो' लिखने में भाषा का स्थानिक प्रयोग कुछ खटकने-सा लगता है वहाँ अंतिम दो पंक्तियों में सारी पार्थिवता को केवल सोपान की भाँति प्रयोग करके अपार्थिवता की बलवती आकांक्षा को ऊपर चढ़ा दिया गया है। उनकी 'नयन स्मरण अंबर में' साहित्यिकता, कलापूर्णता, संगीत का वायु और भावना का झकझोर सभी एक साथ पनप रहे हैं। 'जागो, मेरे प्राण-पिरीते' कविता में प्रातःकाल का कलात्मक वर्णन है। इसी प्रकार 'ठिठुरे हैं विकल प्राण' की अंतिम की चार पंक्तियों में बिंब ग्रहण कराया गया है। पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

"घन-गत यह पौष-तरणि क्षीण तेज, मानों मृत;
निष्प्रभ सा काँप रहा मंद-मंद, धूमावृत;
ऋतु-ऋतुकर सुकृत किरण आज हुई विकृत, अनृत;
ऐसे क्षण विहँस रखो दिनकर का गलित मान;
ठिठुरे हैं विकल प्राण ।"

उनकी प्रणय की अनेक परिस्थितियाँ, अतीत के सान्निध्य की अनेक मनुहारें और रति व्यापार की याद और वेदना इन सबकी इतनी आवृत्ति है कि यदि उनमें स्वतंत्र रूप से अभिव्यंजन की मौलिकता, संगीत का नया-नया आवरण तथा वस्तु की प्रत्येक पकड़ में एक नई निबंधन-विधि न हो तो एक प्रकार का रूखापन आ जाता। परंतु महाकवि सूर की भाँति बालकृष्ण की भी यही जीत है।

गीतों की तरुणाई

बालकृष्ण चिरंतन तरुण कवि हैं। उनकी तरुणाई की तरलाई के कण-कण में द्वैत का परिरम्भ मुस्कराता है। उनका चिरंतन भाव 'रति' है परंतु युवावस्था की अँगड़ाइयों में प्रणय की थकावट का विजृम्भण नहीं है वरन अपूर्ण जीवन के अवसाद के निश्वास हैं। जवानी का रस सब कहीं है। प्रिय की स्मृति की मादकता प्रकृति के सुहावने नशे से मिलकर मन को नचा देती है और क्षुब्ध कर देती है। सूरदास की भाँति बालकृष्ण—'अब मैं नाचो बहुत गुपाल' कहकर उसकी शिकायत नहीं करते। उनके दर्शन में यह पार्थिव आकांक्षा अपवित्रता नहीं है वरन परमत्व प्राप्ति के लिए आवश्यक सहारा है। यह वर्तमान की बलवती विचार-धारा है।

यह देखिए—'हिय में सदा चाँदनी छाई' शीर्षक कविता में बालकृष्ण ने व्यक्त और अव्यक्त की कैसी निबंधना की है। ऊपर और नीचे की कैसी रागपूर्ण योजना है।

"कुछ धूमिल-सी, कुछ उज्ज्वल-सी झिल-मिल शिशिर चाँदनी छाई,
मेरे कारा के आँगन में, उमड़ पड़ी यह अमित जुन्हाई!
यह आँगन है उस भिक्षुक-सा, जो पा जाये अति अमाप धन!
उस याचक-सा जो धन पाकर, हो जाये उद्भ्रांत, शून्य मन!!
उसी तरह सकुचा-सकुचा-सा आज हो रहा है यह आँगन,
कहाँ धरे यह विपुल संपदा, फैली जिसकी अमित निकाई?
उमड़ पड़ी यह शिशिर-जुन्हाई!

मैं निज काल कोठरी में हूँ, औ' चाँदनी खिली है बाहर;
इधर-अँधेरा फैल रहा है, फैला उधर प्रकाश अमाहर;
क्यों मानूँ कि ध्वान्त अविजित है जब हैं विस्तृत गगन उजागर
लो ! मेरे खपरैलों से भी एक किरण हँसती छन आई !!
उमड़ पड़ी यह शिशिर-जुन्हाई !"

जवानी का केवल तूफान कविता नहीं है और न केवल बुढ़ापे की थकावट ही कविता है। अमरत्व पर चलनेवाली समूचे जीवन की वृत्तियों का सामंजस्यपूर्ण व्यक्तीकरण कविता है। इसलिए ऊँचे कलाकार सर्व युगीय और सर्व देशीय भावों को पकड़ते हैं और चिरंतन धड़कन को सुनते-सुनाते हैं। परंतु भावों की कसमसाहट का भी अपना मूल्य है। अनियंत्रित विस्फोट की भी एक भभक होती है। गहरी से गहरी भावुकता में ईमानदारी हो सकती है। वाह्यार्थों और मात्रास्पर्शों में पपन शीतलता हो सकती है। लोक साधनाविहीन, समाज के बुरे, बेलीक चलनेवाले फकीर में भी सौंदर्य होता है।

"हम अनिकेतन, हम अनिकेतन,
हम तो रमते राम, हमारा क्या घर ? क्या दर ? कैसा वेतन ?
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

(१)

अब तक इतनी यों ही काटी,
अब क्या सीखें नव परिपाटी ?
कौन बनाये आज घरौंदा
हाथों चुन-चुन कंकड़ माटी
ठाठ फ़क़ीराना है अपना, बाघम्बर सोहे अपने तन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

(२)

देखे महल, झोपड़े देखे,
देखे हास-विलास मज़े के,
संग्रह के विग्रह सब देखे,
जँचे नहीं कुछ अपने लेखे,
लालच लगा कभी, पर, हिय में मच न सका शोणित-उद्वेलन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

(३)

हम जो भटके अब तक दर-दर,
अब क्या ख़ाक़ बनायेंगे घर ?
हमने देखा : सदन बने हैं,—
लोगों का अपना-पन लेकर;
हम क्यों सनें ईंट-गारे में ? हम क्यों बने व्यर्थ में वेमन ?
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन ।

(४)

ठहरे अगर किसी के दर पर
कुछ शरमा कर, कुछ सकुचाकर
तो दरबान, कह उठा—बाबा
आगे जा देखो कोई घर !
हम दाता बनकर बिचरे; पर हमें भिक्षु समझे जग के जन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन ।

ऐहिक क्रोड़ की घोर वास्तविकता में भी विश्वास रमण कर सकता है। यथार्थ के मैल के भीतर से भी सत्य चमक सकता है । पाप और पुण्य दोनों सत्य हैं यह समझा और समझाया जा सकता है। बात केवल अभिव्यंजन की निश्छलता की है और गायक की निष्ठा की है। यहाँ यह निर्भ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि बालकृष्ण के सभी गीतों में निष्ठा है और निश्छलता है। अतएव मेरे समक्ष यह प्रश्न उतना महत्त्व नहीं रखता कि उनके गीतों में व्यक्त से अव्यक्त की ओर संकेत हैं अथवा नहीं अथवा उनके मंतव्य पार्थिव न होकर आध्यात्मिक हैं। बहुत स्थलों पर उनमें धीमें और कहीं गहरे आध्यामिक संकेत मिलते अवश्य हैं—

"खोकर सब ऋतु-ज्ञान चला हूँ मैं तो आज स्वयं को खोने !
हैं खाली-खाली रस-भीने मेरे हिय के कोने-कोने ।"

× × × ×

"हम तुम मिल क्यों न करें आज नवल नीति-सृजन ?
जिस पर चल कर पायें निज को ये सब जग-जन;"

× × × ×

"मास,वर्ष की गिनती क्यों हो वहाँ, जहाँ मन्वन्तर जूझें ?
युग-परिवर्तन करने वाले जीवन—वर्षों को क्यों बूझें ?
हम विद्रोही !! कहो, हमें क्यों अपने मग के कंटक सूझें ?
हमको चलना है !!! हमको क्या ? हो अँधियारी या कि जुन्हाई !
हिय में सदा चाँदनी छाई ।"

ऐसे और भी उदाहरण मिलेंगे। परंतु उन पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता है। ससीम से निस्सीम की ओर उतने संकेत न मिलेंगे जितना ससीम का विस्तार करके निस्सीम के बराबर पहुँचाया गया है। 'प्राण, तुम्हारी हँसी लजीली' कविता इसका उदाहरण है।

गीतों की ऐहिक मांसलता

जिन पार्थिव रूप व्यापारों को कवि सामने रखता है, जिन प्रतीकों का आधार लेकर वह कुछ कहना चाहता है यदि उनका वर्णन, चित्रण, गायन अथवा भावना-करण, इतना विशद और संकुल हो जाता है कि श्रोता की रमण वृत्ति उन्हीं में हिलग कर रह जाती है, और उनसे पार्थिव उन्मेष और ऐंद्रिक सिहरन उत्पन्न होने लगती है तो केवल किसी पंक्ति में कोई द्विअर्थक बात कहने से किसी आध्यामिक संकेत का कोई मूल्य नहीं रहता। पाठक का मन तो पार्थिव परिस्थितियों को ही दुहराता रहेगा। बालकृष्ण के स्मरण 'कण्टक' की ये पंक्तियाँ—

'हम समझे थे कि हैं सदा के हम कंटकित बबूल।
पर तुमने हँस कहा : सजन, तुम ? तुम हो हरित रसाल;'

से यह ध्वनि निकालना कि आत्मा हमेशा अपने को परम से पृथक पापरूपी काँटों से पूर्ण समझती थी परंतु परमात्मा की एक मुस्कराहट ने उसके असली रूप को स्पष्ट कर दिया उतना प्रसंगानुकूल और समस्त कविता के संबंध में उचित नहीं। प्रतीत होता जितना सीधा-सादा वाच्यार्थ जँचता है जिसके अनुसार कवि यह कहता प्रतीत होता है कि प्रिय के साक्षात्कार ने उसके शुष्क बबूल जीवन को भी 'रसालवत्' मीठा बना दिया।

किसी आध्यात्मिक प्रयोजन के लिए कवि को आध्यात्म की एक पृष्ठ भूमि बनानी पड़ती है। पृष्ठ भूमि कभी भी नेत्रों से ओझल नहीं होती। जगत के रूप व्यापार उसी में सजते है और उसी के आलोक में चमकते हैं। उसकी ही सजावट में वे

सहायता देते हैं। यदि वे पार्थिव वातावरण में सजाये जाते हैं तो किसी एक झटके में वे अपार्थिव नहीं बन सकते। जमुना के किनारे। चाँदनी रात में रासलीला में रत। गोपिकाओं के वस्त्रापहरण करते हुये श्रीकृष्ण के मुख से केवल यह कहला देने से कि—

"परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।"

वे भगवान् न बन सकेंगे। काव्य पादप को पृथ्वी से चाहे जितनी खाद खींचना पड़े परंतु उसे अपनी छिपी हुई गड़ी शिराओं से खींचेगा। ऊपर तो लहलहाती पत्तियाँ और फूल आकाश की ही ओर जायेंगे।

यह कदाचित् अधिक सत्य न होगा कि बालकृष्ण के सारे पार्थिव उन्मेष आध्यात्मिक उड़ान हैं, जिस प्रकार भौतिक दार्शनिकों की यह बात अधिकतर सत्य नहीं है कि विश्व के सारे आध्यात्मिक उड़ान उसकी पार्थिवता की प्रतिक्रिया है; उसके विफल प्रेम की गाथा है। हमें तो बालकृष्ण का मूल्य उनकी अभिव्यंजना की सत्यता से आँकना है। अपार्थिव जामा पहनाने से कलाकार के व्यक्तित्व का मूल्य आज भारतवर्ष ऊँचा आँकने लगे परंतु कला के मूल्यांकन में इससे कोई अंतर नहीं आता। विश्व के सभी साहित्यों में और विशेष कर संस्कृत और हिंदी में, ऐसी परिपाटी कभी नहीं रही है कि आध्यात्मिक प्रेरणा के अभाव में काव्य को ऊँची कला न समझा जाय। अन्यथा कालिदास प्रभृति संस्कृत के कलाकार और बिहारी प्रभृति हिंदी के कलाकारों का कोई स्थान ही न रहेगा।

बूढ़ों और बुढ़ियों का परितोष होने पर भी युवक और युवतियों में विरोधी सामाजिक बंधनों को छिन्न-भिन्न करने की तत्परता उनका शृंगार है। इसी रूप में काव्य इन्हें अंकित करता आया है।

"साकी! मन-घन-गन घिर आये, उमड़ी श्याम मेघ-माला,
अब कैसा विलम्ब? तू भी भर भर ला गहरी गुल्लाला;

(१)

तन के रोम-रोम पुलकित हों,
लोचन दोनों अरुण चकित हों;
नस-नस नव झंकार कर उठे;
हृदय विकम्पित हो, हुलसित हो;

कब से तड़प रहे हैं—खाली पड़ा हमारा यह प्याला ?
अब कैसा विलम्ब ? साकी, भर भर ला तू अपनी हाला ।

(२)

और और ? मत पूँछ; दिये जा,—
मुँह माँगे वरदान लिये जा;
तू बस इतना ही कह, साकी,—
'और पिये जा ! और पिये जा !!

हम अलमस्त देखने आये हैं तेरी यह मधुशाला,
अब कैसा विलम्ब ? साकी, भर-भर ला तन्मयता हाला ।।

(३)

बड़े विकट हम पीने वाले,—
तेरे गृह आये मतवाले;
इसमें क्या संकोच ? लाज क्या ?
भर-भर ला प्याले पर प्याले;

हमसे बेढब प्यासों से पड़ गया आज तेरा पाला,
अब कैसा विलम्ब ? साकी, भर-भर ला तू अपनी हाला ।

(४)

हो जाने दे गर्क नशे में,
मत आने दे फ़र्क नशे में;
ज्ञान-ध्यान-पूजा-पोथी के—
फट जाने दे वर्क नशे में !

ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला ।
अब कैसा विलम्ब ? साकी, भर-भर ला तन्मयता-हाला ।

(५)

तू फैला दे मादक परिमल,
जग में उठे मदिर-रस छल-छल;
अतल-वितल चल-अचल जगत में—
मदिरा झलक उठे झल-झल-झल;

कल-कल-छल-छल करती हिय-तल से उमड़े मदिरा बाला,
अब कैसा विलम्ब ? साकी, भर-भर ला तू अपनी हाला।

(६)

कूजे-दो कूजे में बुझनेवाली मेरी प्यास नहीं,
बार-बार "ला! ला!" कहने का समय नहीं अभ्यास नहीं ?

अरे बहा दे अविरल धारा;
बूँद बूँद का कौन सहारा ?
मन भर जाय; जिया उतरावे,
डूबे जग सारा का सारा;

ऐसी गहरी, ऐसी लहराती ढलवा दे गुल्लाला।
अब कैसा विलम्ब ? साकी, ढरका दे तन्मयता-हाला॥"

उसी प्रकार देश को अन्यतंत्र से निजतंत्र में लाने की भावना ब्रिटिश सरकार की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने के रूप में राष्ट्रीय जागरण ने तरुणों और तरुणियों को सिखाया। भारतवर्ष में ये दोनों क्रांतियाँ साथ चलती रहीं। बालकृष्ण में ये दोनों अपने परम रूप में थीं।

"मास, वर्ष की गिनती क्यों हो वहाँ, जहाँ मन्वंतर जूझें ?
युग-परिवर्तन करनेवाले जीवन—वर्षों को क्यों बूझें ?
हम विद्रोही !! कहो, हमें क्यों अपने मग के कंटक सूझें ?
हमको चलना है !!! हमको क्या ? हो अँधियारी या कि जुन्हाई ?
हिय में सदा चाँदनी छाई।"

परंतु यह उनका गौरव है अथवा उनका बूढ़ों का-सा स्वभाव है कि उन्होंने अपनी वाणी को सांस्कृतिक नियंत्रण में ही अधिकतर रक्खा। फिर भी हमें उनके काव्य का मूल्यांकन उनके व्यक्तित्व को पृथक् रख कर ही करना उचित है। शब्द चित्र से, भाषा कैतव से, भाव जटिलता से अथवा दार्शनिक संकेतात्मकता से कवि परिपाटियाँ व्यक्त से अव्यक्त की झाँकियाँ प्रस्तुत करती हैं। इस ओर बालकृष्ण का ध्यान न था, परंतु डुबा देनेवाले संगीत के प्रवाह से उन्होंने सर्वत्र ही अपनी काव्य की ऐहिकता धो डाली है। 'गीत' गीत ही रहे हैं। वास्तव में वही कृती धन्य है जिसकी कला संगोपन और निरावरण की सीमाएँ देखती रहती हैं।

हिंदी का श्रेष्ठ कवि और परम शांति की योजनाएँ

तीन गुणों के अनुसार सुख के भी तीन प्रकार होते हैं। प्रमाद, आलस्य, निद्रा इत्यादि परिस्थितियों में सुख अनुभव करना तामसिक सुख कहलायेगा। पर की सहायता जिस सुख में अपेक्षित रहती है उसे राजस सुख कहते हैं। सुंदर सुंदर भोजनों में सुख अनुभव करना; विलास की सामग्री में रमना; स्पर्श, गंध, संगीत, स्वादु, दृश्य इत्यादि पदार्थों में ऐंद्रिक संगम करना; काम की 'भोगवृत्ति' से रमणी में रमण करना इत्यादि सब राजस सुख हैं। सात्विक सुख में अपने से पर किसी की अपेक्षा नहीं होती। सुख भीतर से उछलता है। उसके उत्स भीतर ही भीतर उभड़ा करते हैं। सुख के झरने उस पर और अन्य समस्त आसपास के वातावरण पर गिर-गिरकर अपनी फुइयों और सीकरों से सर्वत्र सुख और मंगल की शीतलता फैलाते हैं। सात्विक सुख अनुभव करनेवाले प्राणी के चारों ओर एक आलोक फैलकर सब को आह्लादित करता है। इस सात्विक सुख को आनंद कहते हैं। ईश्वर का गुण चिकीर्षा अर्थात् करने की इच्छा करना है; जीव का गुण लिप्सा अर्थात् भोगने की इच्छा करना है। भोगने की इच्छा में आशा की प्रबलता रहती। यहीं सुख का अभाव है। आशाशब्द की निरुक्ति देखिए। आ (समन्तात, सब ओर से) श्यति (दुर्बल बनानेवाली) आशा होती है। अथवा केवल स्पप्न के अनुभव में रमण करानेवाली (आशीर्यते आभ्याम्)। आनंद प्राप्ति के इस महान अंतराय को जब जीव छोड़ता है और ईश्वरत्व की चिकीर्षा के भी ऊपर उठ जाता है तब वह सच्चे आनंद पद पर पहुँचता है। इसी पद को ब्रह्मपद कहते हैं। ब्रह्म में न चिकीर्षा है और न लिप्सा। आनंद को ही साधारण भाषा में सुख कहते हैं।

सुखापेक्षी संसार की सुख-साधना का चिरंतन रूप तभी सम्भव है जब वे सारे अंतराय छिन्न-भिन्न हो जायँ जिनके कारण उसका मन अशांत रहता है। अशांति का सबसे बड़ा कारण व्यक्ति का निज परिज्ञान का अभाव है। निज परिज्ञान का पूर्ण रूप समस्त परिज्ञान के साथ ही सम्भव है और शेष और अशेष के संबंध का पूरा रूप भी तभी स्पष्ट होता है। ज्ञान के पूरेपन का नाम मुक्ति है। अज्ञान के कारण जो भ्रम बना

रहता है और जो शेष और अशेष में द्वैत समझ कर वैसा व्यवहार करता है उसी को माया कहा है। वास्तव में आत्मा सच्चिदानंद रूप है और नित्य है* । अज्ञान, भ्रम अथवा माया अनित्य है और असत्य है। 'मा' अर्थात् नहीं है 'या' अर्थात् 'जो', माया का अर्थ ही यह है जिसकी स्थिति नहीं है। इस माया के विनाश के लिए, इस भ्रम को दूर करने के लिए, इस अज्ञान को मिटाने के लिए भारतीय चिंतकों ने साधना के तीन रूप सामने रक्खे हैं। उनमें से प्रत्येक की, अलग अलग भी और समवेत रूप की भी साधना मुक्ति दिलाने में समर्थ है। वे ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग नाम से प्रसिद्ध हुए।

ज्ञान-मार्ग

बुद्धि के विकास द्वारा, शास्त्रों के अनुशीलन द्वारा, सत्संग और मनन द्वारा, निष्पन्न चिंतना के तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन द्वारा जो समत्व पर टिकनेवाली निर्लेप मानसिक परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है उसी में माया का लोप होता है। इस साधना को ज्ञान-मार्ग की साधना कहते हैं। 'ज्ञानात् ऋते न मुक्तिः', इसी अभ्यास को बल देने के लिए कहा गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस मार्ग की शक्ति के संबंध में एक स्थान पर कहा है—

'ज्ञान क पंथ कृपान क धारा.। परत खगेस होहिं नहिं बारा ॥'

इस मार्ग-साधना के संबंध में भी कहा है—

'धर्म ते विरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना ॥'

ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है यही प्रतिपादित किया गया है।

'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई' में भी मुक्ति प्राप्ति का रूप ही सामने रक्खा है। प्लेटो अपनी बुक आव रिपब्लिक की सातवीं पुस्तक में लिखते हैं—

An archer and no archer aiming and not aiming at a bird and no bird killed it and did not kill it with an arrow and no arrow.

एक कार्मुक है और है भी नहीं। वह एक पक्षी का लक्ष्य भेदन कर रहा है और कर भी नहीं रहा है। पक्षी है भी और है भी नहीं। उसने पक्षी को एक बार विद्ध किया और विद्ध भी नहीं किया और बाण है और है भी नहीं।

इस प्रकार के विरोधवाची वाक्य गोस्वामीजी में भी मिलेंगे—

---

* अततीति आत्मा, सातत्य गमन करनेवाली को आत्मा कहते हैं।

'पग बिनु चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी॥'

ज्ञान-साधना द्वारा सृष्टि निरूपण भी, इसी रहस्यमय भाषा में, गोस्वामीजी ने किया है—

'केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न, मरै भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे॥
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगुल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥'

अर्थात् कोई यह कहता है कि विश्व सत्य है और कोई यह कहता है कि वह झूठ है तथा कोई यह कहता है कि वह सत्य भी है और झूठ भी और इस भाव को बड़ी प्रबलता से ग्रहण किये है। गोस्वामीजी कहते हैं कि जब प्राणी आत्म-परिचय प्राप्त कर लेता है तभी तीनों भ्रमों के परे हो जाता है।

वास्तव में ज्ञान-मार्ग कृपाण की धारा पर चलने के समान कठिन है। प्राणी के लिए शास्त्रीय शब्द 'चिद्' है। इतर निर्जीव प्रकृति को 'अचिद्' कहा है। परम शक्ति को 'आनंद' कहा है। परब्रह्म परमात्मा आनंदमय है। चिद् को आनंद की ओर जाना है। चिद् और आनंद दोनों सत् हैं अर्थात् चिरंतन हैं। इसी लिए सच्चिदानंद कहा जाता है। चिद् अंश है, आनंद अंशी है। अंश को अंशी से मिलना है। वेदांत कहता है अंशी और अंश एक हैं। वेदांत की प्रतिष्ठा ज्ञान-मार्ग का वरदान है। चिद् ससीम है ऐसा भ्रम कहता है। उसे निस्सीम की ओर अर्थात् आनंद की ओर बढ़ना है। ससीम का निस्सीम की ओर बढ़ने का भाव विकास करना है। विकास में आनंद अथवा आनंद में विकास अंतरहित रहता है।

ज्ञान-मार्ग क्यों कठिन है इसे थोड़ा समझ लेना है। सब में न शास्त्रों के पढ़ने का धैर्य होता है और न उसकी क्षमता होती है। ज्ञान प्राप्ति कैसे हो ? सत्संग भी सर्वसुलभ नहीं और फिर सच्चे गुरु को परखने की क्षमता कहाँ सब में होती है।

"गुरु तो ऐसा चाहिए शिष का कछू न लेय,
चेला ऐसा चाहिये गुरु को सब कुछ देय।"

सम्पूर्ण उत्सर्ग करनेवाला शिष्य कहाँ मिलता है और शिष्य की रोटियों से पेट पालनेवाले गुरुओं में कहाँ यह बल है कि शिष्य की सारी भेटों को अस्वीकार करने का साहस रखें। तभी उनकी वाणी में बल नही; तभी वे शिष्य में ज्ञान पहुँचा नहीं पाते। ज्ञान-जिज्ञासु शिष्य कैसे अधीर होकर सच्चे गुरु के लिए कहता है—

'सतगुरु मारा प्रेम से गई कटारी टूट,
ऐसी अनी ना सालई जैसी सालै मूठ।'

ज्ञान की कटारी की मूठ बाहर ही कैसे रह गई यह शिष्य का रोना है।

निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञान-मार्ग बड़ा कठिन है। शास्त्रों का उचित मंथन सच्चे गुरु द्वारा उनका यथातथ्य निरूपण, विज्ञान के प्रयोगों के साधन, इत्यादि सभी कठिन ही है। फिर वह मानसिक साम्य कैसे आवे जिससे सारे ज्ञान हस्त अमलकवत हो जायँ और समस्त अनेकरूपता में एकरूपता, विभिन्नता में एकता तथा अनेकता में अद्वैत स्थापित हो जाय। गीता के इस सात्विक ज्ञान की अवतारणा बड़ी कठिन है। वेदांती 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ही तक सीमित नहीं रहता वह यह भी सोचता है "अहमपि ब्रह्मास्मि" अथवा 'सोऽहम्' भी कहता है। फिर सोऽहम् सोऽहम् चिल्लानेवाले के लिए यह बड़ा कठिन है कि वह निस्सीम की टोपी तो पहन ले परंतु निस्सीमत्व का अहंकार उसमें न आवे। ज्ञान के परमत्व प्राप्ति के पूर्व भी अधकचरे ज्ञानी 'सोऽहम' से आरंभ तो करते ही हैं अतएव साधनों में, वाणी में, व्यवहार में इस बड़प्पन का आभास न देना असम्भव है। ज्ञानी का बेजान में अहंकार की बस्ती में फिसल जाना नैसार्गिक-सा है। कबीर कहते हैं—

"हम न मरैं मरिहै संसारा, हमका मिला जियावनहारा"

और सुनिए—

"राम मरैं तो हमहू मरिहैं, राम न मरैं हम काहेक मरि हैं।"

इस शरीर के प्रयोग तक को कैसा बेलौस और बेदाग रक्खा है। ऋषि-मुनियों से भी अपने को कबीर बड़ा मानते हैं—

"जा चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया,
दास कबीर जतन से ओढ़ी, जस की तस धर दीन्हीं चदरिया।"

ये उक्तियाँ कबीर की गर्वोक्तियाँ न भी हों पर देहधारी मानव के मुँह से ज्ञान का आडम्बर-सी ही प्रतीत होती हैं।

और फिर बुद्धि का अभ्यास भी सब में सम्भव नहीं। बुद्धि के परमत्व में भी विचार-वैभिन्य का अभिशाप चिपका रहता है। 'नहुष' काव्य में बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने बुद्धिपारंगत और ज्ञान के परम रूप सप्तर्षियों के विचार विवाद के चित्रण में बड़ी सुंदरता किंतु सत्यरूप में यह अंकित किया है कि सातों ऋषि इंद्राणी शचि नहुष को समर्पित की जाय अथवा नहीं इस विषय पर कभी एक विचार के न हो सके और सबने अपनी-अपनी अलग सम्मति दी। यह एक नितांत सत्य घटना है। नाना शास्त्र और स्मृतियाँ एक के स्थान पर छः छः दर्शनों का जन्म भी यही बात पुष्ट करता है। अंत में यही कहना पड़ता है कि एकांगा ज्ञान-मार्ग पूरा पूरा सहायक सिद्ध न हुआ।

कर्म-मार्ग

मुक्ति का दूसरा साधन कर्म-मार्ग है।

कर्म की व्यापकता के संबंध में गोस्वामी तुलसीदास एक स्थान पर लिखते हैं—

'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा।'

इस उक्ति में कर्म की नितांत वैज्ञानिक कार्यकारण स्थिति की घोषणा भी होती है और उसकी अनिवार्यता भी सामने आ जाती है। यदि इसकी संगति नीचे की उक्ति से बैठा ली जाय—

"उमा दारू योषित की नाईं, सबहिं नचावत राम गोसाईं।"

तो 'राम' वास्तव में विश्व के कारणों के समाहार मात्र रह जाते हैं जिसका परिणाम संसार का व्यापार समाहार समझना चाहिए। विज्ञान के निखिल-क्रिया-केंद्र के साथ इस राम का रूप मिल भी जाता है। गोस्वामीजी ने व्यक्तिगत कर्म का निजगत परिणाम भी स्वीकार किया—

'कोऊ न काहु सुख-दुख कर दाता,
निज कृत कर्म पाव फल ताता।'

और कर्मों के अन्यगत प्रभाव को भी स्वीकार करते हुए कार्य-कारण पद्धति की विचित्रता पर भी प्रकाश डाला है—

"और करे अपराध कोउ और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवंत गति, नहिं कछु जाने जोग॥"

संत कबीर तो ब्रह्मवादी इस सीमा तक थे कि उन्होंने कर्मवाद को बिलकुल अस्वीकार किया है—

"आदौ गगना अंते गगना, मद्धे गगना भाई।
कहैं 'कबीर' करम किस लागे झूठी संक उपाई।"

जिस प्रकार शून्य में कोई वस्तु चिपक नहीं सकती उसी प्रकार निर्मल सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा में कर्म चिपक नहीं सकता।

परंतु स्वयं कबीर ने अन्यत्र इसके प्रतिकूल कहा है। समस्त संत समुदाय ने योगाभ्यास, हठयोग विधान अथवा सुरतिशब्द योग इत्यादि सारी साधना को कर्म के ही अंतर्गत माना है। "यह करनी का भेद है नाहीं बुद्धि विचार। बुद्धि छोड़ करनी करौ, तो पावौ कछु सार।"—इस स्थान पर 'करनी' अभ्यास के कर्म को ही कहा है। जहाँ पर कबीर यह कहते हैं—

"गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागौं पाय।
बलिहारी उन गुरुन के जो गोविंद दये लखाय॥"

वहाँ गुरु का महत्त्व सामने रखकर साधना के महत्त्व द्वारा कर्मवाद के महत्त्व को ही वे स्वीकार करते हैं। ठीक इसी प्रकार—

'राम ते अधिक राम कर दासा' कहकर गोस्वामीजी भी साधना की प्रशंसा द्वारा कर्मवाद का महत्त्व स्वीकार करते हैं। भक्त और साधक का कर्म भी तो कर्म ही है और फिर योग भी तो 'कर्मसु-कौशलम्' ही कहा गया है। सारे नीति-शास्त्र, सारे कर्मकांड-शास्त्र और सारे आचार-शास्त्र कर्मवाद की ही व्याख्या हैं। गोस्वामीजी तो भक्तिप्रधान थे, अतएव जहाँ कर्मयोग भक्ति-साधना के आड़े आया है वहाँ उसकी उन्होंने भर पेट निंदा की है—

"सो सुख धरम करम जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥"

कर्मवाद की अवतारणा हिंदू-समाज में कैसे हुई इसे भी संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है। साधारणतया हम लोग अपने सब सिद्धांतों का सूत्र वेदों में ढूँढ़ते हैं। इसका एक कारण यह है कि भारतीय धार्मिक वृत्ति वेदों को चिंतना का परमोत्कर्षपूर्ण स्वरूप मानती है और ज्ञान का अंतिम सोपान समझती है। दूसरा एक और भी कारण है। वेद संसार-साहित्य की प्राचीनतम विभूति हैं, अतएव जो बात उनमें मिल जाती है उसकी ऐतिहासिक प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। शुद्ध ज्ञानवादी तार्किक को भी वेदों की इस उपयोगिता से सहानुभूति है।

कर्मकांड सिद्धांत का आरंभिक स्वरूप वेदों में है। उनमें कई ऐसी ऋचाएँ हैं जिनका भाव कुछ इस प्रकार का है—'मेरे शत्रु नरक में पड़ें। मेरे मित्रों को स्वर्ग

मिले।' इन युक्तियों से यह स्वयं ध्वनित होता है कि उस युग का इतर जीवनवाद में पूर्ण विश्वास था और इतर जीवनवाद का निर्माण कर्मवाद पर ही आश्रित है। कर्मवाद का अत्यंत स्थूल और मूल सूत्र इनमें मिलता है। ब्राह्मणों में यह सिद्धांत अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। उनमें केवल इतना ही नहीं कहा गया है कि इस जीवन के कर्मों द्वारा भावी जीवन का निर्माण होता है वरन् वे विधान भी लिखे हुए हैं जिनके करने से देवताओं तक पहुँच हो सकती है। न जाने कितने प्रकार के मंत्र दिये हुए हैं और उनके उच्चारण-विधान की व्याख्या की गई है।

कर्मवाद का निरूपण उसी समय से समझना चाहिए जिस समय से मंत्रों पर अधिक जोर दिया जाने लगा और यज्ञों का विधान हुआ। मंत्रकारों में एक ऐसा अहं विश्वास उत्पन्न हो गया जिसमें विधान साध्य के तद्रूप समझा जाने लगा। वे यह समझने लगे कि देवता कर्म विधान और मंत्रों के दास हैं। मंत्रकार और यज्ञका को अभिलषित वर न देना उनकी शक्ति के परे है। देवता यंत्र की भाँति अशक्त समझे जाने लगे; उन्हें अपनी-अपनी पड़ने लगी। अपने पद और अपने स्थान की रक्षा के लिए वे चिंतित होने लगे। तपस्या, मंत्राराधना, यज्ञ आदि में विघ्न उपस्थित करने के लिए उन्हें अप्सराओं की शरण लेनी पड़ी। यदि किसी साधक पर अप्सराएँ विफल हुईं तो इंद्र का आसन हिल जाता था और उसे अपदस्थ होना पड़ता था। देखिए गोस्वामीजी रामचरितमानस में क्या कहते हैं—

'छोरन ग्रंथि पाव जौं कोई।
तब यह जीव कृतारथ होई॥
छोरन ग्रंथि जानि खगराय।
विघ्न अनेक करहि तब माया॥'

और जब यह भी विफल होती है तब—

'जौ तेहि विघ्न बुद्धि नहिं बाँधी।
तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥
इंद्रीद्वार झरोखा नाना।
तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषम बयारी।
ते हठि देहि कपाट उघारी॥
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई।
तबहिं दीप विज्ञान बुझाई॥

ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा।
बुद्धि विकल भई विषय बतासा॥
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई।
विषय भोग पर प्रीति सदाई॥'

इसी दुष्ट कार्य के कारण गोस्वामीजी ने देवताओं को कठोर शब्दों से भी संबोधित किया है—

'जे कामी लोलुप जग माँही।
हरिल काक सम सबहिं डराहीं॥'

इंद्र को श्वान बनाया है।

'सूख हाड़ लई भाग सठ'

आगे कहा है—

'ऊंच निवास नीच करतूती।
देखि न सकहिं पराय विभूती॥'

इसी स्वार्थपरता के कारण वे राक्षसों का सामना नहीं कर पाते। रावण को देखते ही भागते हैं—

'हाहाकार करत सुर भागे।'

और रावण कहता है—

'खलहु जाहु कहँ मोरे आगे।'

क्योंकि वह समझता है—

'सठहु सदा तुम मोर मरायल।'

देवताओं की दुर्बलता का यह विचार धीरे धीरे इतना व्यापक और भ्रामक हो गया कि शनैः शनैः यह धारणा बँध गई कि कई इंद्र और कई ब्रह्मा हैं; वे एकाकी नहीं हैं। यह अनेकता पुराणों में सर्वत्र दिखाई देती है। राक्षस और दानव तपस्या करते हैं और उन्हें मनमाना वर मिलता है।

अरण्यकों का भी क्रम उसी प्रकार रहा। कर्मवाद के सिद्धांत के विकास में उनका अपना स्थान है। ब्राह्मणों में निर्दिष्ट कर्मकांड के घोर पार्थिवरूप तथा उपनिषदों की कर्मविषयक दार्शनिक और आध्यात्मिक विवृति का सामंजस्य अरण्यकों ने ही स्थापित किया है। ब्राह्मणों के कर्मकांड की प्रतिक्रिया उपनिषदों में मिलती है। यज्ञ करना, बलि करना, उचित मंत्रोच्चारण करना सबके लिए सरल-संपाद्य न था। धन की आवश्यकता, तथा वाक्यंत्र के समुचित विकास की अनुपस्थिति, उपासक को उनके

लिए अयोग्य बना देती थी। अतएव साधना की बलवती प्रेरणा साधक को वनों में खदेड़ ले जाती थी और वे तपस्या और दार्शनिक चिंतना में निमग्न हो जाते थे। इन्हीं महर्षियों ने कर्मवाद का दार्शनिक मूल्य-निरूपण भी किया है। केवल घोर कर्मकांड से कर्मवाद को ऊपर उठाकर उसकी मूल प्रेरणा को सहेतुक ढंग से समझने का प्रयास किया गया है। अतएव यही कर्मकांडवाद कर्मवाद के रूप में गृहीत हुआ और इसके तीन स्थूल रूप बने—

(१) हिंदुओं का कर्मकांड जिसके मूल में जन्मांतरवाद की बलवती भावना काम करती थी।

(२) बौद्धों का कर्मवाद जो आत्मा के जन्मांतर को अस्वीकार करता हुआ भी कर्मों के अमिट प्रभाव को स्वीकार करता है।

(३) जैनों का कर्मवाद जो बौद्धों के कर्मवाद के ही सदृश था पर उसके निरूपण में कुछ सूक्ष्म भेद दृष्टिगत होता है।

वर्तमान युग में कर्मवाद ने एक विचित्र ही रूप ले लिया। आदिकाल से उसका विकास कैसे हुआ इसका थोड़ा संकेत ऊपर कराया जा चुका है, परंतु इस विकास के इतिहास की आज तक की कड़ियाँ उपस्थित करना बड़ा कठिन है। दूसरे देशों के चिंतकों ने कर्मकांड विषयक भावना को अपने अपने ढंग से सोचा और विकसित किया है, पर भारतीय भावना एक बिलकुल दूसरे ही ढंग से बढ़ी है। कर्मकांड का व्यवहार पक्ष आज भारतवर्ष में चार स्वरूपों में देखा जाता है—

(१) **व्यक्तिप्रधान रूप**—कर्मकांड के माननेवालों का एक वर्ग उसके व्यक्ति-प्रधान रूप को ही सत्य मानता है। उसका कहना है कि मनुष्य के कर्म इस जीवन के पश्चात् भी उसका साथ नहीं छोड़ते। वास्तव में अगले जन्म का जाति और योनि-निर्णय भी पिछले जन्म के कर्म के ही द्वारा होता है। व्यक्ति प्रधान रूपवाले कर्मकांडवादियों के सिद्धांत के विश्लेषण में मतांतर है। कुछ लोगों का कहना है कि केवल पुण्य कर्मों ही द्वारा भावी जन्म का निरूपण होता है और प्राणी पहले पुण्य जीवन व्यतीत कर लेता है तब पाप कर्मों का फल भोगता है। कुछ लोग इसके बिलकुल प्रतिकूल विचार रखते हैं। उनके अनुसार प्राणी पहले पापों का फल भुगत लेता है, फिर पुण्य कर्मों के अनुसार जन्म लेता है। एक तीसरा वर्ग भी है जो यह समझता है कि पुण्य कर्म और पाप कर्म का पहिले संघर्ष स्वतः हो जाता है और पुण्यात्मा के पाप इस प्रकार परास्त होकर नष्ट हो जाते हैं। उसे पापों का फल भोगना नहीं पड़ता।

व्यक्तिप्रधान रूप कर्मकांड की भावना का ही निष्कर्ष स्वर्ग और नरक की सत्ता का स्वीकार है। कुछ चिंतक इस बात में दृढ़ हैं कि स्वर्ग और नरक की परिस्थितियाँ इस जीवन के बाद की परिस्थितियाँ हैं, जिनमें प्रत्येक आत्मा को अपने पुण्य और पाप कर्मों के कारण पड़ना अनिवार्य हैं। दूसरे पंडितों का कहना है कि स्वर्ग और नरक प्राणी के टिकने के लिए केवल मार्ग के यात्री-आवास हैं। जिस प्रकार रेलवे थोड़े काल के लिए स्टेशन पर खड़ी होकर आगे चल देती है इसी प्रकार प्राणी भी यहाँ थोड़े काल के लिए टिककर आगे बढ़ जाता है। जब तक उसके पाप और पुण्य के फलों का परिणाम उसे भोगना रहता है तब तक वह नरक या स्वर्ग में रहता है, बाद में वहाँ से चल देता है।

'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशंति'

गीता की इस उक्ति का यही अभिप्राय है। पश्चिमी चिंतकों की 'परगेटेरियो' भी इसी अवस्था से मिलती-जुलती परिस्थिति है।

इस स्वर्ग-नरक के सिद्धांत का कक्षसिद्धांत है 'पितरवाद'। मृत पितरों के न जाने कितने निवास स्थान गिनाये गये हैं। पर जहाँ भी वे रहते हैं उन्हें जीविका के लिए अपनी संतान पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है। यदि श्राद्ध में पिंडदान न मिला तो उन्हें अधोमुखी विलम्बमान रहना पड़ता है। इसी बात को लेकर ही गीता में लिखा है—

'पतन्तिपितरो ह्येषाम् लुप्तपिंडोदक क्रिया'

निस्संतान पितर रुदन किया करते हैं। पुत्रोत्पादन इसी भावना के कारण, परमावश्यक बतलाया गया है। पितरों का एक ऋण कहा जाता है जो पुत्र-उत्पत्ति से ही चुकाया जाता है—

'यः पुत्री सोऽनृणी'

पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी से है—

'पुन्नाम् नरकात् त्रायते इति पुत्रः'

अर्थात् पुत्र ही पिता को एक नरक विशेष से बचाता है। उसका पिंडदान उसे सँभाले रहता है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पितृयोनि को एक पृथक सृष्टि ही मानते हैं। देवयोनि, गंधर्वयोनि, यक्षयोनि की ही भाँति इस योनि की भी वे एक अलग सत्ता मानते हैं।

(२) प्रतिनिधिरूप—यह सिद्धांत कर्मकांड का एक शोषणवादी सिद्धांत है। इसके अनुसार व्यक्तिविशेष द्वारा किये हुए पुण्य कर्मों का भोक्ता दूसरा भी हो सकता है।

इसी के आश्रित और इसी के आधार पर, व्यवहार रूप में, निम्नलिखित कर्मकांड के विधान दिखाई देते हैं—

(क) पुरोहित पुण्यकार्य-कर्ता है और यजमान अथवा गृहस्थ उसके लिए उसे पुष्कल धन देता है। अतएव पुरोहित द्वारा किये हुए समस्त पुण्यकर्मों का फल धन-दाता को मिलता है। रामचरितमानस की इन चौपाइयों पर ध्यान दीजिए—

'जौ नरेस मैं करौं रसोई। तुम परसहु मोंहि जान न कोई॥
अन्न सो जोइ जोइ भोजन करई। सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई॥
पुनि तिन्ह के गृह जेवँइ जोऊ। तव बस होइ भूप सुनु सोऊ॥'

(ख) पति, पत्नी के पुण्यकर्म का फल प्राप्त करता है, पत्नी, पति के पुण्यकर्मों की भागी होती है। सुंद राक्षस की पत्नी पतिव्रता थी अतएव वह अबध्य था। पाराशर के सकाश से मत्स्यगंधा चिरयौवना और योजनगंधा हुई।

(ग) राजा के पुण्यकर्मों का फल प्रजा को मिलता है और प्रजा के पुण्यकर्मों का प्रतिफल राजा को मिलता है। इसी से ऋषिकों से कोई राजकर नहीं लिया जाता था और उनसे आशीर्वाद लेने के लिए राजा जंगलों में जाया करते थे। पुण्यात्मा राजा के राज्य में प्रजा हमेशा प्रसन्न रहती थी। रामराज्य इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

(घ) ऋषि-मुनि सामूहिक रूप से तपस्या करके अथवा पुरोहित लोग सामूहिक रूप से यज्ञ करके दूसरे को पुण्यकर्मों का प्रतिदान तो देते ही हैं, स्वतः भी परस्पर पुण्य-फलों के आदान-प्रदान का आनंद प्राप्त करते हैं।

इस स्थान पर यह न भूलना चाहिए कि जिस प्रकार पुण्यकर्मों का फल व्यक्त्यंतर हो सकता है उसी प्रकार पापकर्मों का फल भी व्यक्त्यंतर होता है। उत्तररामचरित नाटक में ब्राह्मण कुमार की अकाल मृत्यु और शम्बूकवध की कथा इसी ओर संकेत करती है।

(३) **ईश्वरवादीरूप**—कर्मकांड के इस सिद्धांत में भक्ति भावना की प्रधानता रहती है। सारे कर्मों के परिणाम को कर्ता भगवान् के अधीन समझता है। गोस्वामीजी एक स्थान पर कहते हैं—

'ज्ञानी मूर्ख न कोय
जेहि जस रघुपति करहिं जब, तो तस तेहि छन होइ॥'

भगवान् के समक्ष पुण्य और पाप की कोई पृथक् स्थिति नहीं है। ईश्वर चाहे तो पापी को स्वर्ग और पुण्यात्मा को नरक भेज सकता है। विनयपत्रिका में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। राक्षसों को केवल इसी लिए स्वर्ग मिला कि राम ने उन्हें मारा था। अजामिल, गीध, गनिका, गज इत्यादि पापियों को सहसा अंत में ईश्वरोन्मुखी होने से स्वर्ग मिल गया। मरते समय यदि किसी ने भगवान् का नाम लिया कि स्वर्ग तुरंत मिला।

"जनम जनम मुनि जतन कराहीं।
अंत राम कहि आवत नाहीं॥"

पुण्यकर्मों का चाहे सजग हों अथवा असजग, प्राणी उन्हें जानकर करे अथवा बेजान में, पुराने पापकर्मों को धो देनेवाला प्रभाव होता है और स्वर्ग सेंतमेंत में मिल जाता है। उलटा नाम जपनेवाला व्याधा ब्रह्मर्षि बाल्मीकि बन बैठा। शिव की मूर्ति पर पैर रखकर घंटा चुरानेवाला चोर स्वर्ग पहुँच गया। गोस्वामीजी कहते हैं—

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ,
राम जपत मंगल दिस दसहूँ।'

(४) **आकस्मिक रूप**—कर्मकांड का यह रूप अन्य रूपों का अस्वीकार है। प्राणी केवल एक निष्क्रिय प्रेरणाविहीन बाहरी परिस्थितियों का दास समझा जाता है। इस वर्गवाले लोग ऐसी प्रेरणा और परिस्थितियों को मानव-भाग्यविधायिनी समझते हैं जो न तो कार्यकारण के तर्क से संबंधित है और न उनमें कोई पारस्परिक व्यवस्था है। आकस्मिकता के साथ उत्थित होकर वे सारी पूर्वजीवनी को अपने अधीन कर लेती हैं। शिक्षित लोग जिन धारणाओं को अब भ्रामक मानने लगे वे ही न जाने कितने काल तक मानवता की विचार-परंपरा को लपेटे थीं और अब भी बहुत अंशों में लपेटे हैं। यह आवश्यक नहीं कि मानव की गति से इनका कोई भी भौतिक, ऐहिक अथवा तार्किक संबंध स्थिर किया जा सके। पर इनका प्रभाव अक्षुण्ण अनुभव किया जाता है। किसी के छींक देने से रेलवे ट्रेन लड़ जाती है। श्रृगालों के यात्रा के समय बोल देने से मार्ग में डाकू लूट लेते हैं। बुध के दिन का परदेश-प्रयाण छूँछा जाता है। अंत्यज के स्पर्श से मृत शरीर अशुद्ध हो जाता है और उसकी आत्मा नरक जाती है। दूसरी ओर काशी में मरने से पापी को भी स्वर्ग मिलता है। सौ योजन से 'गंगा-गंगा' चिल्लानेवाले के सब पाप छूट जाते हैं और वह विष्णुलोक जाता है। गोस्वामीजी के ग्रंथों में इनकी चरचा गतानुगति के अनुकूल और परम्परा अनुसार मिलती है।

कर्मकांडविषयक इस वितंडावाद से भारत को बड़ी क्षति पहुँची है। ऊपर कर्म-कांड के जितने वाद दिखलाये गये हैं उनमें सब में मनमानी ढंग की चिंतना है। इनमें कई तो एक दूसरे के विरोधी हैं।

वास्तव में कर्म शरीर को विघटित करते चलते हैं। पांचभौतिक शरीर में पुण्य की सुगंध और पाप की दुर्गंध बसती जाती है। पुण्य और पाप भौतिक प्रवर्तक के रूप में भौतिक प्रवर्त्तन शरीर में करते हैं। अतएव पुण्यात्मा के मरने के पश्चात् उसके पंचतत्त्व जिस नये स्वरूप में जहाँ कहीं भी आकार ग्रहण करते हैं वह पुण्य के विस्तार में सहधर्मी होने के कारण योग देते हैं। उन तत्त्वों से जो कुछ भी बनता है और जो भी दूसरा शरीर उसे उपभोग करता है उसकी गति पुण्याभिमुखी होने में सहायता प्राप्त करती है। जिस खेत में पुण्यकर्मा समाधि प्राप्त करता है उस खेत का अनाज खानेवाला दूसरा प्राणी भी सद्वृत्तियोंवाला बनेगा। कर्मपक्ष की यह सुंदर व्याख्या भारतवर्ष की अनुपम देन है। इसके सहारे कर्मवाद का समस्त विवाद नष्ट हो जाता है। भारतवर्ष के ऋषि-मुनियों ने अपनी पैनी दृष्टि से कर्मकांड को कर्मयोग बनाकर अनेक व्यवहार शास्त्रों की रचना की और उसे जीवनो-पयोगी बनाया। यज्ञ और अर्चना के घेरे से वह बाहर निकला और जीवन के लिए विधिनिषेध बने। पाप और पुण्य को दो वर्गों में बाँटा गया। 'पूयते अनेन इति पुण्यम्' ऐसे समस्त कार्य पुण्य समझे गये जिससे इस जीवन में और इससे परे पवित्रता हो। व्याख्या में भेद अवश्य है। पातिव्रतधर्म का इतना महत्त्व गोस्वामीजी ने दिखलाया है—

'वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना,
अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पति कर किये अपमाना,
नारि पाव जमपुर दुख नाना॥'

उसी प्रसंग में मनुस्मृति कहती है—

'अपतितं पतिं भजेत्'

आचारशास्त्र के रचयिता मुनियों ने (मनन करनेवाले को मुनि कहते हैं—मननात् मुनिः) रहन सहन के लिए कर और अकर कर्मों की विशद व्याख्या की। आचरण की वह विधि सामने रखी गई जिसके कारण कर्त्ता को दुख बिलकुल न हो। निष्काम कर्म का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया। सुख-दुख और लाभ-अलाभ को बराबर समझकर काम करते जाने की परिपाटी सिखाई गई। यह स्पष्ट किया

गया कि केवल कर्म करनामात्र मानव के अधिकार में है। फल उसके अधिकार के परे हैं। साधारणतया संसार में लोग दो भावनाओं से कर्म में रत होते हैं एक भोगवृत्ति और दूसरी कर्तृत्ववृत्ति से, वास्तव में ये दोनों ही इसका कारण हैं। भोगवृत्ति के मूल में कामनावृत्ति कार्य करती है। कर्म के सफल अवसान में लोभ और असफल अवसान में क्रोध उत्पन्न होता है। दोनों ही दुख का कारण हैं। यदि सफलता मिली तो और और की भूख सामने आती है और लोभ जागृत होता है, और यदि विफलता मिली तो क्रोध उत्पन्न होता है। गीता मे कहा है कि काम से क्रोध उत्पन्न होता है। अतएव कर्मयोग का सच्चा स्वरूप निर्द्वारत्व और निष्प्रयोजनत्व का बतलाया गया। कर्म की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई इस ओर से उदासीन होकर बिना किसी प्रयोजन के (अर्थात् फल प्राप्ति की आकांक्षा से प्रथक रहकर) कर्म करना सिखलाया गया। साथ ही साथ यह भी कहा गया कि प्रत्येक कर्म का कर्त्ता के मन, वचन और तन पर प्रभाव पड़ता चलता है। कर्म से भौतिक विपर्यय शरीर में घटता चलता है। जैसा काम कर्त्ता करता है वैसा ही वह बनता चलता है। चित्रगुप्त कहीं शरीर से अन्यत्र कर्मों का लेखाजोखा नहीं लिखते।

श्री मद्भगवद्गीता में आदर्श कर्मवाद की प्रतिष्ठा मिलती है। अंश अंशी से अथवा आत्मा परमात्मा से अपनी पृथक् स्थिति मानता ही नहीं। अंश अपने को अंशी समझता है। आत्मा अपने को परमात्मा समझती है। इस पूर्ण अद्वैत में, इस सोऽहम् की स्थिति में, आत्मा केवल परमात्मा के व्यक्तीकरण का माध्यम रह जाता है। असीम के कार्य ससीम की स्थिति हैं। ससीम ऊपर नीचे बाहर भीतर सर्वत्र असीम ही है। अतएव ससीम के क्रिया कलाप ही असीम की पवित्रता की माप है। परंतु यह स्थिति प्राप्त करना सरल नहीं। निरंतर की साधना से ही साध्य और साधक का अद्वैत हो सकता है।

भक्तिमार्ग

ज्ञानवाद और कर्मवाद की चर्चा के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास ने महाशांति के लिए जो सर्वोपरि योजना सामने रक्खी है वह भक्तिवाद की है। भक्तिमार्ग उनका सर्वसुलभ और सर्वप्रिय साधन है—

'रामभक्ति बिनु सब सुख कैसे।
लवन बिना बहु व्यंजन जैसे ॥'

इसकी प्रशंसा गोस्वामीजी ने स्वयं रामचंद्रजी से कराई है—

'जा तें बेगि द्रवहुँ मैं भाई।
सो मम भगति जगत सुखदाई ।।'

उन्होंने तो ज्ञान-विज्ञान को भी भक्ति के अधीन माना है—

'सो सुतंत्र अवलंब न आना।
तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना ।।'

और भक्ति है कैसी और मिलती कैसे है—

'भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला ।।'

रामचंद्र जी तो यहाँ तक कहते हैं—

'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानहुँ एक भगति कर नाता ।।'

गोस्वामीजी के निकट भक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना मानव सारहीन है—

'भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा ।।'

यही नहीं भक्ति का अभाव आपत्ति का दूसरा नाम है—

'कह हनुमंत विपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजनु न होई ।।'

वास्तव में—विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः

'विपद विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृति ।।'

इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं—

'जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी,
जीवत सव समान तेइ प्रानी ।।'

उस परम शांति में विघ्न उपस्थित करनेवाले संशय हुआ करते हैं। वे मन को शुद्ध सच्चिदानंदरूप में टिकने नहीं देते। उनका भी निराकरण भक्ति से ही होता है। गोस्वामीजी की भक्ति राम भक्ति थी अतएव भगवान् राम की जीवन गाथा का पारायण उसका परमावश्यक अंग समझना चाहिए। गोस्वामीजी कहते हैं—

'राम कथा सुंदर करतारी। संसय विहँग उड़ावन हारी ।।'

अगले दोहे में वे स्पष्ट कहते हैं—

'तब लगि कुशल न जीव कहँ, सपनेहु मन विश्राम।
जब लगि भजन न राम कहँ, सोक धाम तजि काम ।।'

परम विश्राम की यही उनकी एकांत योजना है।

गोस्वामी तुलसीदास की उपासना साकार उपासना थी। उप+आसन (अर्थात् समीपवर्तित्व) को उपासना कहेंगे। परमशांति के लिए परमतत्त्व में लीन साधना को उपासना कहेंगे। सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य तथा सामीप्य ये भक्त की कामनाएँ और लक्ष्य हैं। परंतु भक्ति मार्ग के सच्चे पथिक सामीप्य मुक्ति ही चाहते हैं। गोस्वामीजी की गिनाई नवधा भक्ति इनका साधन है। भक्तों ने अपने आराध्य के लिए अपना संबंध स्वयं निश्चय किया है। पिता-पुत्र प्रेम, सखा-सखा स्नेह, पत्नी-पति रति तथा सेवक-सेव्य भाव सभी में से किसी को भी भक्तों ने अपनी प्रेरणा के अनुसार अपनाया है। गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति अंतिम प्रकार की थी।

'सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज, अस सिद्धांत विचारि॥'

वे भरतजी में अपने ही को देखते हैं जब वे कहते हैं—

'भरतहिं जान राम परछाहीं।'

सेवक धर्म की कठिनता पर उन्होंने लिखा है—

'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धर्म कठिन जग जाना॥'

भक्ति-पद्धति में निर्गुणोपासना भी विहित है और निर्गुणोपासक संत हिंदी साहित्य में बहुत हुए हैं। परंतु सूर ने तो उसकी कठिनता स्पष्ट यह लिखकर—

'निरालंब मन चक्रतहिं धावहि।'

अपनी साकार उपासना का कारण भी दे दिया। गोस्वामीजी ने दशरथ-पुत्र अवतारी राम को इसलिए चुना कि मर्यादा पुरुषोत्तम का आदर्श रूप देने में उन्हें सरलता मिली। लीलाओं की व्याख्या में मानव को राम बनाने में सरलता दिखाई दी। उनका जीवन सर्वस्व ही केवल राम-भक्ति है। सब रसों में घूमते हुए भी वे भक्तिरस में ही रमे रहते हैं। उनकी भक्ति अनन्य, अहेतुक, अविरल और अविचल राम-प्रेम को समझना चाहिए। नारद के भक्तिसूत्र में लिखा है—

'पूज्येष्वनुरागः भक्ति'।

गोस्वामीजी लिखते हैं—

'पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। मानिय सबहिं राम के नाते॥'

अपने राम को स्पष्ट लिखकर उन्होंने भक्ति का केंद्र स्थिर कर दिया।

गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति-पद्धति भागवत के ही अनुसार है। भागवत स्कंदः ७ अ० १० में देखिए—श्री नृसिंह भगवान् द्वारा वर माँगने के लिए प्रणोदित करने पर भक्तप्रवर प्रहलाद क्या कहते हैं—

'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥४॥
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः ॥५॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥६॥
यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानं हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥७॥'

अर्थ—जो आपसे वैभव की आशा रखता हो वह भृत्य ही नहीं—वह बनिया (व्यवहारी) है। अपने स्वामी से वर की (कृपा की) इच्छा रखनेवाला भृत्य ही नहीं है, और भृत्य पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के हेतु से वैभव देने की इच्छा करनेवाला स्वामी ही नहीं है। मैं आपका निष्काम भक्त हूँ, और आप मेरे निष्काम स्वामी हो। राजा-सेवक का संबंध जैसा अर्थापेक्षी होता है वैसा आपका और मेरा कदापि न हो। हे वरदश्रेष्ठ भगवन्! जो आप मुझे कामपूरक वर देना ही चाहते हो तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे चित्त में कोई भी वासना अंकुरित ही न हो।

गोस्वामीजी की सारी भक्ति भावना इसी निष्काम भक्ति के अनुसार है। कहीं-कहीं तो वे इससे भी आगे हैं। प्रयागराज में भरतजी क्या कहते हैं सुनिए—

'जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही॥
सीता रामचरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥
जलद जनम भरि सुरति बिसारे। याचत जल पवि पाहन डारे॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़े जिमि दाहे। तिमि प्रियतम-पद नेम निबाहे॥'

वास्तव में समझना यह है कि उपासक अपने उपसर्ग, कृतज्ञता, विनय आत्म-निवेदन के योग से उपास्य से तादात्म लाभ करता है और उसका प्रेम-प्रवाह उपास्य की ओर अविचल, अविरल, अनन्य और अहेतुक रहता है तो उसी वृत्ति को भक्ति कहते हैं।

उपास्य की जितनी ही लम्बी और विस्तृत गुणावली की महती मूर्ति भक्त निर्माण कर सकेगा और अपनी क्षुद्रता और नगण्यता का जितना व्यापक रूप वह देखेगा उतना ही उसका मद चूर्ण होगा। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग उसके अहं पर आघात करने के लिए अलम् नहीं। भक्ति का आरंभ ही अहंकार की चिता के धूम्र से होता है। अहंकार रूपी मल के संबंध में गोस्वामीजी क्या कहते हैं—

'छूटइ मल कि मलहि के धोये। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये ॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुंकि जाई ॥'

जब यह अहं समाप्त हो गया, परमतत्व में ही अहं निवास करने लगा, तब भक्त की चिंता भगवान् की चिंता हो जाती है। भगवान् द्रवित होकर कहने लगते हैं—

'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥'

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी मत को पुष्ट किया है—

'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांति निगच्छति।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥'

नहीं तो 'वैरभाव सुमिरत मोंहि निश्चर' कहकर राक्षसों को कैवल्य पद देने की आवश्यकता ही क्या थी। वे कहते हैं—

'भाव कुभाव अनख आलस हू। राम जपत मंगल दस दिसहू ॥'

और देखिए—गोस्वामीजी क्या कहते हैं—

'जातें वेगि द्रवहुँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥'

गोस्वामीजी भरत द्वारा इसी मूलतत्त्व की अनन्य प्रतिष्ठा कराते हैं। जनक महाराज कहते हैं—

'साधन सिद्धि राम पद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत एहू ॥'

यहाँ पर साधन और सिद्धि का अनुपम ऐक्य गोस्वामीजी की निष्काम भक्ति की सुंदर टीका उपस्थित करता है।

नवधा भक्ति

साधना के अनेक रूप गोस्वामीजी ने लिखे हैं। शबरी से भेंट के समय उन्होंने 'नवधा' भक्ति की चरचा अपने नायक भगवान् रामचंद्र से कराई है। वह इस प्रकार है—

'नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुर पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान ॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा । निरत निरंतर सज्जन धरमा ॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा । मोतें संत अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥'

इस नवधा भक्ति में वैसे साधना का कोई पूर्वापर क्रम नहीं दिखाई देता और वे स्वतंत्र रूप से साधक के लिए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अलग-अलग अवलम्ब हैं। यदि कोई साधक नवों को साध सकता है तो वह महान् है। अन्यथा, जैसा ऊपर लिखा है, कि नवों में एक भी यदि किसी में उदय हो जाती है तो उसका परम सौभाग्य समझना चाहिए। फिर भी, ध्यान से देखने में, भक्ति के विकास के लिए वे साधना के क्रम सदृश प्रतीत होती हैं। संतों के साथ समय व्यतीत करने का नाम पहली भक्ति है। नितांत सांसारी व्यक्ति के. मन में संतों के सत्संग करने की यदि पिपासा जागरित हो जाय तो कल्याण का श्रीगणेश समझ लेना चाहिए। साथ रहने से ही स्वभाव में जो एक तादृश परिवर्त्तन सजग और परोक्ष रूप में उत्पन्न होता है। वह भक्ति के अंकुरण के लिए उपयुक्त भूमि प्रस्तुत करता है। संत अपने संपर्क से यह देंगे। वाणी द्वारा वे भगवान की लीलाएँ गावेंगे। उन लीलाओं में आकर्षण उत्पन्न करना भक्ति का दूसरा सोपान है। संत सत्संग में संतों का केवल मूर्त्तरूप सामने है, लीलाओं में अमूर्त्तरूप व्यापारों पर मन टिकाने का अभ्यास पड़ेगा और भक्त आगे बढ़ेगा। लीलाओं के श्रवण का नैरंतर्य मन में उनके प्रति ज्ञानपूर्ण कौतूहल और उद्वेग उत्पन्न करेगा जिसका समाधान केवल सच्चा गुरु ही कर सकता है। गुरु की वाणी में विश्वास तभी रम सकता है जब उसमें श्रद्धा हो। श्रद्धा की उत्पत्ति के लिए उनके चरणों की सेवा परमावश्यक है। इसी लिए इसे भक्ति विकास का तीसरा अवस्थान माना है। फिर भगवान् की लीलाओं में गुरु की कृपा से जब पूरी आस्था उत्पन्न हो जाती है और भक्त स्वयं लीलामय हो जाता है तभी उनका गान संतों की भाँति स्वयं करता घूमता है। उसी को चौथी भक्ति कहा है। लीलाओं से गुणों को छाँट कर उनका गान करना तभी सम्भव है जब लीलाओं में रमणशीलता पूर्णत्व को पहुँच जाय। इसके पश्चात् वह स्थिति उत्पन्न होती है जब भक्त गुणागार भगवान् में विश्वास करने लगता है और मंत्र जाप द्वारा उस विश्वास को दृढ़ रखता है। यह पाँचवीं भक्ति है। इतने अभ्यास के बाद साधक में स्वयं तादृश गुणों का उदय हो जाता है और वह वाणी और व्यवहार

में भगवदिव आचरण करने लगता है। उसे सांसारिक अकांड तांडवों से विरति हो जाती है और उसमें उदात्त संत-व्यवहारों का उदय हो जाता है। जो जो धर्म सज्जनता के हैं वे सब उसमें उत्पन्न हो जाते हैं और वह स्वयं संतवत् होकर विश्व में आचार विचार का उदाहरण बन जाता है। इसी को छठी भक्ति कहते हैं। इसके पश्चात् उस ज्ञान का उदय होता है जिसमें समत्व बुद्धि का आविर्भाव सम्भव है और सारे विश्व में वह परमतत्त्वात्मकता देखता है। सियाराम मय सबको समझता है।

'उमा जे रामचरन रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, कासन करैं विरोध ॥'

और जहाँ अदृश्य होने के कारण भगवान् का रूप ज्ञान हिलने लगे वहाँ उनसे भी अधिक संत को समझ कर उनका आदर्श सामने रख लें। इसे सातवीं भक्ति कहते हैं। आठवीं सीढ़ी पर चढ़ कर भक्त गीता का स्थिति-प्रज्ञ हो जाता है और उसके लिए सुख-दुख और लाभालाभ समान रूप धारण कर लेते हैं। उसके समक्ष दोषज्ञान का नितांत अभाव हो जाता है। नवीं भक्ति तक पहुँचकर भक्त में केवल निश्छल रूप ही रह जाता है। उसमें राग द्वेष नहीं रहते। केवल परमात्मा में अटूट विश्वास की चेतना सारे कामों को आलोकित करती रहती है।

गोस्वामीजी की भक्ति पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी ज्ञान और बुद्धि की उचित पकड़ है। उन्होंने यहाँ तक लिख दिया है—

'ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा।'

और इसी प्रकार अगुणनिरूपण को और सगुणोपासकों की भाँति अयोग्य नहीं ठहराया है—

'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥'

और दोनों की एकरूपता भी स्थापित कर दी—

'अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥'

परंतु भक्ति विहीन ज्ञान को वे केवल बकवास समझते हैं। विनय-पत्रिका में तो यह कहा ही है मानस में भी एक स्थल पर लिखा है—

'सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू ॥'

एक स्थल पर और कहा है—

'रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवंत अपि सो नर, पशु बिनु पूंछ समान ॥'

परंतु फिर भी ज्ञान का उचित स्थान निरूपण देखिए—

'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती।
प्रीति बिना नहिँ भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥

बिनु बिस्वास भगति नहि तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्राम ॥

काल-धर्म नहिँ व्यापहिँ तेहीं। रघु-पति चरन प्रीति रति जेहीं।
जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिँ पयलागी ॥'

गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति श्री शंकराचार्य के ज्ञान योग, गीता के निष्काम कर्मयोग और वल्लभाचार्य के भक्तियोग का पूरा पूरा सम्मिश्रण है। ज्ञान, कर्म और भक्ति का सामंजस्य उनका परम लक्ष्य रहा है। फिर भी वे भक्ति प्रधान थे और वह भी दशरथ पुत्र भगवान् रामचंद्र के—

'जे जानहिं ते जानहु स्वामी।
सगुन अगुन उर अंतरयामी ॥
जो कोशलपति राजिव नयना।
करहु सो राम हृदय मम अयना ॥'

भक्तिमार्ग की एक संक्षिप्त व्याख्या इस पुस्तक के पहले लेख 'कला और साहित्य' के अंतर्गत भी की गई है। गोस्वामीजी सदृश तत्त्वदर्शी लोकहितैषी संत ने भक्तों की लोक वाह्यवृत्ति को भक्ति का अंग कभी नहीं माना। उन्होंने सम्पूर्ण उत्सर्ग द्वारा भगवान् के समस्त वैभव का भक्त को उसी प्रकार साझीदार बना दिया जिस प्रकार थोड़ा धन भी लगाकर साझा करनेवाला बड़े धनवान् का हिस्सेदार बन जाता है। परंतु इस भक्ति-भावना में संसार का सर्वथा त्याग नहीं है। तत्स्वरूप ईश्वर दूरत्व का बोधक है, वह केवल श्रद्धा और विश्वास के जागरण पर अवलम्बित है। त्वं स्वरूप ईश्वर में उसकी मूर्ति की सामने स्थिति रहती है। इस मध्यम पुरुष की स्थिति भक्ति में सम्भव है। मम स्वरूप ईश्वर का जन्म और स्थिति प्रेम की देन है। अहं स्वरूप ईश्वर का निरूपण ज्ञान करता है। तद् ब्रह्म, त्वम् ब्रह्म, मम ब्रह्म तथा अहम् ब्रह्म में गोस्वामी

तुलसीदास ने भक्तिवाले त्वम् ब्रह्म को ही सर्वोपरि स्थान दिया। भागवत में गोपियों के ब्रह्म मम ब्रह्म अर्थात् प्रेम प्रधान ब्रह्म थे।

परंतु भक्तिसाधना का अवसर क्या है और कब है? भूत अनादि है और भविष्य अनंत है। भूत के पूर्व भी भूत था, भविष्य के बाद भी भविष्य रहेगा। दोनों की संधि वर्तमान है। परंतु जिस क्षण जिस क्षण पर हम अँगुली रखते हैं वह भूत हो जाता है। अतएव वर्तमान की कोई वास्तविक स्थिति नहीं। या तो वह भूत है या भविष्य। भौतिकवादियों का वर्तमान कहाँ है इसे ढूँढ़ना पड़ेगा। गोस्वामीजी सदृश तत्त्व द्रष्टा ने इसलिए वर्तमान को माया कहा है। वर्तमान की क्रियाएँ परस्मैपदी और आत्मनेपदी दोनों प्रकार की होती है। जब फल दूसरे का अनुगमन करता है तो परस्मैपदी धातु समझना चाहिए। 'दानमहं करिष्यामि' दान का फल दूसरे के लिए है। परंतु 'दानमहं करिष्ये' में फलप्राप्ति की कामना स्वयं कर्त्ता के लिए मानी जाती है। इन दोनों रूपों से भक्त परे हैं। कर्तृत्व की भावना गोस्वामीजी की भक्ति स्वीकार ही नहीं करती।

'जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छन होइ।'

कर्मार्पण का यह अकर्तृत्व भाव उनकी भक्ति का प्रधान लक्षण है। गोस्वामीजी का स्पष्ट मत है कि भक्ति के परमस्वरूप और ज्ञान के परमस्वरूप एक ही हैं। ज्ञान के बिना भक्ति और भक्ति के बिना ज्ञान असम्भव है। बिना जाने सच्ची भक्ति नहीं होती और बिना श्रद्धा के किसी वस्तु में ज्ञान-बुद्धि नहीं आती। भक्ति में 'क्ति' प्रत्यय है। प्रत्यय का अर्थ ही विश्वास है, अतएव विश्वास से ही भक्ति सम्भव है।

ज्ञानी भगवान् की आँख में आँख मिलाकर बोलता है, इसीलिए वह अहम् से आरम्भ करता है। भक्त निज की आँख से बोलता है इसी लिए उसमें नम्रता रहती है। भारतीय धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह पदार्थों और भूतों (भवन्तीति भूत: जो भी उत्पन्न हुआ उसे भूत कहते हैं। प्राणी और अप्राणी सबके लिए इस शब्द का प्रयोग होता है।) की प्रेरणा भी भगवान् को मानता है और स्वयं पदार्थों और भूतों को भी भगवान् मानता है। गीता में कहा है—

"येन सर्वमिदं ततम्"

जो स्वयं ताना बाना है वह भी ईश्वर है।

प्रेरक भी ईश्वर, प्रेरणा भी ईश्वर और प्रेरित भी ईश्वर। इस प्रकार के अद्वैत में व्यवहार पक्ष को बड़ा बल मिलता है। जैसे कोई अपनी उँगली नहीं काटता उसी प्रकार कोई अपने पड़ोसी को कष्ट भी नहीं दे सकता। 'कर्मणा मनसा गिरा अद्रोह:

शीलम्' पूजा और आरती ईश्वर को की जाती है। यदि उसे इसी भौतिक रूप 'प्रेरित रूप' में भक्त न देखे तो उन समस्त पंचतत्त्वों की योजना अर्चनाएँ क्यों करे। पृथ्वी का धर्म गंध है और आरती में सुगंधि की व्यवस्था की जाती है। अग्नि का साक्षात् रूप वत्ती के लव को प्रमाणित करता है। चँवर डुलाकर वायु की योजना उपस्थित की जाती है। नैवेद्य और आचमन में जल उपस्थित किया जाता है और घंटा, घड़ियाल तथा शंख के वादन द्वारा आकाशतत्त्व का गुणनाद उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार पाँचों तत्त्वों की व्यवस्था हो जाती है। जब अनेकरूपता के भीतर भक्त एकरूपता को दृढ़ता से पकड़ लेता है तभी वह कहता है—

'निज प्रभुमय देखहिं जगत,
कासन करहिं विरोध।'

ऊपर भी एक दूसरे प्रसंग में इस उक्ति को उद्धृत किया गया है। ऐसे भक्ति की वाणी में अमृत झरने लगता है। वेदांत कहता है—शब्दोच्चारणम् हि व्यवहारः, मीठे-मीठे शब्द बोलना ही उत्तम शील है।

कर्म भक्ति और ज्ञान का समन्वय मानवता का परम लक्ष्य है। कर्म गति है, भक्ति मार्ग है और ज्ञान प्रकाश है। इसी रूप में इन्हें देखना चाहिए और यही इनका समन्वय है। मानव ससीम है अतएव उसकी गति उसका मार्ग और प्रकाश भी ससीम है। गति को प्रगति, मार्ग को सूझ प्रकाश से ही मिलती है। अतएव कर्म और भक्ति को आलोक ज्ञान से ही मिलता है। मानव ज्ञान ससीम है। वह निस्सीम ज्ञान की स्थिति की घोषणा मात्र है। निस्सीम ज्ञान तटविहीन महान् सागर है। वह अपनी मौज में, अपनी लहर में, अपनी अँगड़ाई में, अपनी मस्ती में, मोती, सीपी, घोंघे सभी किनारे उड़ेल देता है। किनारे बैठे हुए साधक उन्हें बीनकर अपनी झोली में भर लेते हैं। यदि केवल बटोरने की क्रिया के ही कारण कोई व्यक्ति उन ज्ञानकणों की प्राप्ति का समस्त श्रेय निज को दे डालता है तो अहं को व्यर्थ का महत्त्व मिल जाता और अहंकारी का पतन आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार यदि साधक सारी समुद्र की बिखेर का कारण अपनी निजी सागर विषयक अराधना को दे डालता है तो भी वह पाप करता है। अपने छोटे ज्ञान को ही सब कुछ समझ कर अपने लिए स्वयं अपने चारों ओर मंदिर बनवा-कर अपने को ही पुजवाना न चाहिए। कर्म भक्ति और ज्ञान का यह रूप सदोष है। साधक को चाहिये कि मोतियों की प्राप्ति को निस्सीम ज्ञान का बरदान और उसकी परमता में विश्वास का परिमाण समझे और यदि घोंघा अथवा रिक्त सीपी उसके पल्ले पड़े तो

उसे निज के कर्म, भक्ति और ज्ञान का दौर्बल्य समझ कर सारा दोष स्वयं ओढ़ ले। जो भी ज्ञान कण प्राप्त हुए हैं उन्हें फूँक फाँक कर महान् अग्निस्तूप में परिवर्तित कर लेना चाहिए। ज्ञान की गुरुता से कर्म में नम्रता आवे और कर्म की नम्रता में भक्ति का एकांत उत्सर्ग निवास करे। सबसे बड़ा ज्ञान निज के बड़ेपन का अज्ञान है; सबसे बड़ा कर्म निज के निजत्व का सबमें प्रसार है और सबमें बड़ी भक्ति निज का अस्वीकार और परम का विस्तार है। गोस्वामीजी ने यही सबसे उत्तम परमशांति की योजना सामने रक्खी है।

गोस्वामी तुलसीदास की काव्य-परिभाषा

गोस्वामी तुलसीदासजी ने जहाँ संसार के और विषयों पर अपना मत प्रकट किया है वहाँ कविता क्या है, इस सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। रामचरित मानस के प्रारम्भ में बालकांड के अन्तर्गत गोस्वामीजी ने कविता की परिभाषा में एक रूपक खड़ा किया है।

हम उसे आगे उद्धृत करते हैं—

'हृदय-सिंधु मति सीप-समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौ बरखै वर बारि विचारू। होंहि कवित मुकतामनि चारू॥
जुगुति वेधि पुनि पोहिअहि, रामचरित वर ताग।
पहिरहिं सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग॥'

विश्लेषण में यह रूपक निम्नलिखित प्रकार से पृथक् किया जा सकता है —

हदय——सिंधु कवित——मुकुतामनि
मति——सीप जुगुति——वेधि (वेधना और पोहना)
सारद——स्वाती रामचरित——वरताग
विचारू——वर बारि अनुराग——शोभा

स्वाती नक्षत्र आने पर सिंधु-स्थिति सीप में सुंदर वर्षा होती हैं और इस कारण उसमें मोती उत्पन्न होते हैं जिन्हें बेध कर और माला में पोहकर सज्जन लोग अपने हृदय में धारण करते हैं। इसी प्रकार हृदयस्थित मति में शारदा की प्रेरणा से जब सुंदर विचारों की वर्षा होती है तब उसमें कविता उत्पन्न होती है, जिसे सज्जन लोग रामचंद्रजी की गाथा में ग्रथित करके अनुराग से हृदय में धारण करते हैं।

इस प्रकार रूपक का आवरण हट जाने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है। परंतु पारिभाषिक शब्दों को और अधिक समझ लेने की आवश्यकता है। हम एक एक करके रूपक में प्रयुक्त प्रत्येक आवश्यक शब्द की व्याख्या करेंगे।

मानव शरीर-संगठन में एक ऐसा पदार्थ निहित है जिससे संसार की बाह्य वस्तुएँ और क्रियाएँ प्रतिकृति हो सकती हैं इसको हम हृदय कहते हैं। इस समूचे हृदय

की परिमित परिधि में एक स्वीकारात्मक परिस्थिति है। इसमें ग्राहिकाशक्ति है। यह वाह्य स्वरूपों और क्रियाओं को तथा तद्विषयक अनुभवों और विचारों को अंकित करके संरक्षित रखती है। इसी को मति कहते हैं; परंतु स्वरूपों और क्रियाओं की तथा अनुभवों और विचारों की सृष्टि करना अथवा उन्हें ऐसी परिस्थिति प्रदान करना है कि मति की स्वीकारात्मक और ग्राहिकावृत्ति उन्हें स्वस्थ कर ले मति की शक्ति के परे है। यह परिस्थिति श्री शारदा उत्पन्न कर सकती है। वाक् की अधिष्ठात्री देवी को शारदा कहते हैं। शारदा के सन्निवेश से गोस्वामीजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य केवल अपनी निजी शक्ति से कविता नहीं कर सकता। उसमें ग्रहिका शक्ति होने पर भी वाह्य क्रिया-विधानों का वह स्वरूप दृष्टिगत न होगा जिसे मति स्वीकार करे।

स्वाती के साथ शारदा का रूपक बाँधकर गोस्वामीजी ने अपनी परिभाषा को और भी वैज्ञानिक और समीचीन बना दिया है। स्वाती वह नक्षत्र अथवा काल-विशेष है जिस समय वर्षा होने से सीप में पहुँचा हुआ जल मोती उत्पन्न करता है। अतएव शारदा को भी वह विशेष दैवी परिस्थिति कह सकते हैं जिसकी उपस्थिति सार्वकालीन नहीं है वरन् यदा-कदा ही होती है। वह एकांत की आनंदपूर्ण अवस्था है जिसमें सारी प्राचीन भावनाएँ आंतरिक दृष्टि पर (गोस्वामीजी के अनुसार मति पर) सहसा आलोकित हो जाती है। वास्तव में आनंद के उद्रेकवाली वह एकांतजन्य परिस्थिति श्री शारदा द्वारा संघटित परिस्थिति एक ही बात है। एक अँगरेज कवि ने एक स्थान पर उक्त परिस्थिति का आलोक वर्णन करते हुए अपनी स्थिति को ऐसी बतलाया है जिसमें वह वस्तुओं के आंतरिक जीवन तक को देखने लगता था।

गोस्वामीजी का कहना है कि इस वातावरण को संघटित करने के लिए दैवी सहायता की आवश्यकता है। मनुष्य अपनी निजी शक्ति से कुछ नहीं कर सकता। यहाँ पर एक प्रकार से घोर जड़वाद का विरोध किया गया है।

'वर वारि' की उपमा 'विचार' से दी है। वाह्य स्वरूपों और घटनाओं के सम्पर्क से जो विकार उत्पन्न होते हैं उसे 'विचार' कहते हैं। इन्हें 'अनुभव', 'भाव' अथवा 'राग' भी कहते हैं। इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

मनुष्यमात्र के रूप-विधान में एक विकार उपस्थित है जो उसका संबंध वाह्य स्वरूपों और क्रिया-विधानों से स्थापित करता है। यही विकार इंद्रियों का वाह्य जगत् से संपर्क करता है। गीता में कहा है—

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय! शीतोष्णसुखदुःखदाः।"

"वाह्य पदार्थों का इंद्रिय-स्पर्श सुख-दुःख और शीतोष्ण उत्पन्न करनेवाला है; हे कुंती (मर्त्य माता) के पुत्र ! प्रत्येक प्राणी के लिए यह ध्रुव सत्य है।"

इन्हीं अनुकूलात्मक और प्रतिकूलात्मक, अनुरागात्मक और विरागात्मक तथा प्रवृत्यात्मक और निवृत्यात्मक संबंध जन्य अनुभवों को गोस्वामीजी ने विचार संज्ञा दी है। अँगरेजी का 'आइडिया' शब्द इसका पर्याय है।

वाह्य पदार्थों से संपर्क का ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक स्थूल ज्ञान और दूसरा सूक्ष्म ज्ञान। जहाँ पर इंद्रियों का ज्ञान इंद्रियों तक ही परिमित होकर रह जाता है उसे स्थूल ज्ञान कहते हैं, परंतु जहाँ इन्द्रियों के सन्निकर्ष से वह मन तक पहुँचता है उसे सूक्ष्म ज्ञान कहते हैं। रूपक के स्वरूप में यह कहा जायगा कि सूक्ष्म ज्ञान के ही सन्निकर्ष से विचार 'मति' तक पहुँचते हैं।

काव्यक्षेत्र में सूक्ष्म ज्ञान विवक्षित रहता है, स्थूल ज्ञान नहीं। जिसकी बुद्धि जितनी ही अधिक विकसित होगी उसका सूक्ष्म ज्ञान उतना ही तीव्र होगा। एक मोटा काम करनेवाले निर्बुद्धि का सूक्ष्म ज्ञान लगभग नहीं के बराबर होता है। अपने निकट से निकट संबंधी के मृत्यु शोक को भी शीघ्र से शीघ्र भूल जाता है और स्वयं अपने वैवाहिक आनंद का भी आनंद उसके लिए क्षणिक होता है। जो स्थूल ज्ञान सूक्ष्म ज्ञान की सीमा आक्रांत करते भी हैं वे अत्यंत अस्पष्ट तथा कुंठित होते हैं, इसी से वे चिपक नहीं पाते। 'विचार' 'मति' की उस अंतरतम स्थिति तक पहुँच नहीं पाते जहाँ वे गढ़कर कविता की सृष्टि कर सकें। स्वाती का जल-बिंदु सीप के कक्ष तक नहीं पहुँचता जिससे मोती उत्पन्न हो सकें। वर्षा निरंतर हो रही है परंतु स्वाती नक्षत्र के आने पर ही जल सीपतक पहुँच कर प्रभाव उत्पन्न कर सकेगा। विश्व-संपर्क-जन्य विचारों का निरंतर आविर्भाव हो रहा है परंतु शारदा की अनुकम्पा से ही उनकी पहुँच 'मति' तक हो सकती है जिससे कविता का जन्म हो। बुद्धि और निर्बुद्धि की विषमता, जिसके कारण विचार 'मति' तक नहीं पहुँच सकते अथवा कुण्ठित रूप में पहुँचते हैं, ईश्वरप्रदत्त है और शारदा की ही अनुकम्पा से वह परिस्थिति निर्बुद्धि में भी उत्पन्न हो सकती है जिसमें वह सूक्ष्म ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी हो सके—'मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन'।

चौपाई के अंतिम पद में आया हुआ 'कवित्त' शब्द 'कविता' के लिए है। कविता से अभिप्राय छपी हुई, लिखी हुई अथवा व्यक्त नाद में अभिव्यक्त की हुई पिंगल शास्त्र के अनुकूल छंदबद्ध पंक्तियों से नहीं है वरन् हृदय कक्ष के मति-संपुट

में कसमसाते हुए उन उत्तप्त सजग सजीव भावों से है जिनका प्रसव, महर्षि वाल्मीकि की वाणी की भाँति किसी भी अनुकूल परिस्थिति के सहसा उत्पन्न हो जाने से व्यक्त नाद में हो सकता है।

काव्य का कलापक्ष

गोस्वामीजी की परिभाषा में बताये हुए दोहे से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्य के कलापक्ष की उपेक्षा नहीं की वरन् उसे काव्य के रूप होने में एक आवश्यक अंग माना है। कला से यहाँ हमारा अभिप्राय कविता के रूप सौष्ठव से है। जिस विधान से कविता का रूप सँवारा जाता है उसे गोस्वामीजी ने 'युक्ति' संज्ञा दी है। मोतियों को यत्न के साथ तागे में पिरोकर माला बनाई जाती है जिसे सज्जन अपने स्वच्छ वक्षःस्थल पर धारण करते हैं। उस माला की शोभा अत्यंत सुहावनी होती है। उसी प्रकार मतिस्थ विचारों को युक्ति अथवा काव्य-कला-कुशलता के सहारे रामचंद्रजी की गाथा में नियोजित कर जो रामचरित काव्य प्रस्तुत हो उसे सज्जन लोग अर्थात् काव्य-मर्मज्ञ हृदयस्थ करें और उससे सब का अनुराग अथवा प्रेम हो। 'मति' में कसमसाते विचार उपस्थित हैं। उन्हें व्यक्त नाद में अभिव्यक्त करने के पूर्व स्वरूप देना आवश्यक है। गोस्वामीजी की दृष्टि में रामचंद्रजी की जीवन-गाथा यह सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। उनकी धारणा है कि काव्य-शक्ति का उपयोग केवल अपने उपास्य देव के गुणानुवाद के गाने में ही करना चाहिए। रामचरित को ही वे उपयुक्त विषय समझते हैं जिसके आधार पर काव्य का स्वरूप खड़ा किया जा सकता है। गोस्वामीजी साधारण मनुष्यों पर काव्य रचना के बिलकुल प्रतिकूल हैं।

'कीन्हें प्राकृत नर गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'

इस अर्द्धाली में उन राज्याश्रित कवियों को फटकारा गया है जो पैसे के लिए अपने आश्रयदाताओं के चरित्र काव्य-बद्ध करते हैं।

गोस्वामीजी का परम विश्वास है कि इस प्रकार से प्रस्तुत किया हुआ श्री रामचंद्र का जीवन-वृत्त काव्य-मर्मज्ञों को अत्यंत आकर्षक होगा। वे लोग परिष्कृत मन से इस चरित्र को हृदयंगम करेंगे।

परिभाषा की समीचीनता

यहाँ तक तो गोस्वामीजी की काव्य-परिभाषा को समझने का प्रयत्न किया गया है। अब हमें ऐसे सिद्धांतों की मीमांसा करनी है जो इस परिभाषा से निर्धारित होते हैं।

गोस्वामीजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दो शक्तियों के परस्पर सहयोग से ही कविता का प्रादुर्भाव होता है। चाहे उन्हें दैवी और मानवी कहें, चाहे उच्च और निम्न। मनुष्य की सतत् जागरूक उत्कट अभिलाषा जब नीचे से दैवी शक्ति का आह्वान करेगी तब ऊपर की दैवी शक्ति प्रत्युत्तर अवश्य देगी। गोस्वामीजी स्फुरणावाद के भ्रमात्मक सिद्धांत को नहीं मानते। वे इस धारणा को अस्वीकार करते हैं कि विधान परिष्कारों की उपेक्षा करके कोई व्यक्ति कवि हो सकता है। उसी प्रकार उनका यह भी मत है कि मनुष्य केवल अपनी शक्ति से स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए आवरण विदीर्ण नहीं कर सकता और न दैवी प्रकाश से इस अंधकारमय संसार को केवल अपने ही बल पर आलोकित कर सकता है। यह श्री शारदा का कार्य है। मस्त कर देनेवाली दैवी माधुरिमा की वर्षा वही करती है। उनका संपर्क परम आनंद की सृष्टि करता है। अपने आभ्यंतर में श्री शारदा की उपस्थिति का मनुष्य ने अनुभव किया नहीं कि वह भावातिरेक और भाव-वैचित्र्य से आंदोलित हो उठता है। स्वरूप-सौंदर्य और क्रिया-सौंदर्य सुकुमार-वृत्तियों के साथ उसी प्रकार श्री शारदा से निकलते है जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश निकलता है। जहाँ कहीं उनका अलौकिक दृष्टि विक्षेप हुआ, जहाँ कहीं उनकी सुंदर मुसक़ान पड़ी, मन आकृष्ट होकर बंदी हो गया और आत्मा एक अपूर्व आनंद में निमग्न हो गई। उनके स्पर्श में चुंबक का प्रभाव है। उनका अलौकिक और सुकुमार प्रभाव मन, जीवन और शरीर तीनों को परिष्कृत कर देता है। जहाँ कहीं वह चरण-विन्यास करती हैं वहाँ सर्वतोन्मुख आनंद के विचित्र स्रोत बहने लगते हैं। परंतु जब तक मनुष्य की निम्न प्रकृति क्रियाशील है उसे वैयक्तिक प्रयत्न करना आवश्यक है। यह प्रयत्न तीन प्रकार का है। (१) आकांक्षा, (२) अस्वीकार और (३) समर्पण। इन तीनों में परस्पर बड़ा संबंध होता है और ये अन्योन्याश्रय भाव से एक दूसरे से मिले रहते हैं।

'आकांक्षा' बड़ी बलवती होनी चाहिए। तीव्रता के साथ-साथ उसमें अस्तित्व अपेक्षित है। मन का उत्कृष्ट संकल्प, हृदय का तीव्र अन्वेषण, आत्मा का निःसंदेह स्वीकार, ऐहिक चेतना के खोलने और द्रवित करने की गहरी अभिलाषा, अवतीर्ण हुए अलौकिक सौंदर्य के लिए निरंतर और सजग अध्यवसाय द्वारा आधार का परिष्कार इत्यादि कुछ आवश्यक विधान हैं। प्रयत्नत्रयी का यह पहला सोपान है। 'सीप' वर्षा काल के सम्पूर्ण जल को अस्वीकृत करती चली जाती है और शांतिपूर्वक स्वाती के जल की प्रतीक्षा करती है। 'मति' के अर्थ में यह अस्वीकृति निम्न पाशविक प्रवृत्ति की है। मन से पक्षपात को और प्रलोभन-संलग्न स्वभाव को बहिष्कृत करना पड़ता है

जिससे सत्य ज्ञान का प्रवेश अनवरुद्ध रूप से हो सके। 'मति' को शांत, ज्ञान-सम्पन्न, स्वीकारशील तथा प्रत्युत्तरशील बनाकर कुत्सित भावनाओं (इच्छा, भोग, उद्विग्नता, विकार, वासना, स्वार्थ, मद, अहंकार, काम, क्रोध, मोह, लोभ, मत्सर, ईर्ष्या, सत्य विरोध आदि कुवृत्तियों) को त्यागना पड़ता है। ऐसे ही प्रयत्न द्वारा वह मानसिक अवस्था उत्पन्न हो सकती है जब सच्ची शक्ति तथा सच्चे आनंद की वर्षा ऊपर से होती है। इस सहयोग से 'मति' में बृहत् शक्ति-सम्पन्न विभूति का आविर्भाव होता है जिसके स्थायित्व के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि शरीर विकारशून्य, संदेहशून्य, आडम्बरशून्य, भेदशून्य, हठशून्य, प्रमादशून्य, आलस्यशून्य, अपरिवर्तनशीलता शून्य हो और कोई भी मानसिक आवेग उस पर प्रभाव न डाल सके। प्रयत्नत्रयी का यह दूसरा सोपान है।

अपने समूचे व्यक्तित्व को, अपने सारे संबंध को, अपनी सारी चेतना को, उस असीम तीव्रता, उस असीम शांति, उस असीम अनुभव, दैवी शक्ति शारदा के चरणों में समर्पित करना प्रयत्नत्रयी का अंतिम सोपान है। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व अवैयक्तिक और असीम व्यवस्था को अभिव्यक्ति का साधन हो जाता है। यही 'सीप' का स्वीकार अथवा 'मति' की ग्राहिकाशक्ति है।

ज्यों ही प्रयत्नत्रयी की समाप्ति हुई, दैवी सौंदर्य की वर्षा आरम्भ हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को दैवी प्रकृति का पूर्ण स्वरूप जानकर श्री शारदा स्वयं अधिक से अधिक विभूति प्रदान करती है। हृदय समूचे जीवन के भावुक स्वरूप से द्रवित हो उठता है और महान् सौंदर्य से लिपट जाता है। निरंतर चेतना में वह एक सजीव स्फुलिंग हो जाता है। यह सजीव दैवी स्फुरण विभिन्न भावों से टकराता है—जीवन को स्पर्श कर बहनेवाले विचारों से उलझ जाता है। वह अतीत की प्रतिध्वनि सुनता है और अदृश्य के स्वर्ग संगीत की नीची और ऊँची स्वर-लहरी को ग्रहण करता है। जीवन-व्यापी असीम के राग से उसका राग मिल जाता है—उसे अलौकिक आलोक दीखने लगता है। वह तथ्य को मूर्तिमान् देखकर काव्यबद्ध कर देता है। ऐसा ही काव्य समय के वातायन से झाँकते हुए चिरंतन ज्ञान के सूक्ष्म आध्यात्म का प्राण कहा जाता है। 'युक्ति' के सहारे अर्थात् कलापक्ष का आश्रय लेकर, इस हृदयस्थ काव्य को अपनी गाथा में बद्ध कर कवि कविता के रूप में इसे सूर्य का प्रकाश दिखाता है।

यथार्थ सौंदर्य के भावज्ञान को ऐसे सौंदर्य-स्वरूप से गोस्वामीजी पृथक् नहीं समझते जो समूचा और पूर्ण है। कला की सच्ची चेतना हमें तभी आती है जब हम

अपने इंद्रिय-अनुभव और इंद्रिय-सुख को पार्थिव क्षेत्र से ऊपर उठाकर अतींद्रियपरक और आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान कर सकें। ऐसी कविता में स्वर्ग और मर्त्य के पूर्ण सोहाग की अभिव्यक्ति होती है। इस आदि यज्ञ अथवा रसयज्ञ में अपरा और परा प्रकृति का सामंजस्य होता है। पूर्ण सौंदर्य की पुकार से अपने तत्पर और प्रत्युत्तरशील व्यक्तित्व को मिलाकर कवि विश्व की विधेयात्मक प्रेरणा का उपकरण बन जाता है। जीवन की चित्रशाला में उसके नेत्र ऐसे रंग-बिरंगे चित्रों की समीक्षा के लिए अभ्यस्त हो जाते हैं, जिनका प्रणयन विश्व के अलौकिक चितेरे के मन में, हाथ में और हृदय में है।

जानाते यन्न चंद्रार्कौ, जानन्ते यन्न योगिनः।
जानीते यन्न भर्गोऽपि, तज्जानाति कविः स्वयम् ॥

"जिस रहस्य को चंद्र और सूर्य नहीं समझ सकते, जिस तथ्य तक योगियों की भी पहुँच नहीं है। जिसे स्वयं भर्ग भी नहीं समझ सकते उस सत्ता का ज्ञान कवि को स्वतः हो जाता है।" सांसारिक जीवन की घटनाओं की व्याख्या द्वारा कविता उस अलौकिक जीवन के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न करती है जो अस्तित्व के प्रकाश में आनेवाला है। मानवी, प्राकृतिक और दैवी इन तीनों परिस्थितियों के अनूठे सामंजस्य के निकट बैठी हुई अपनी आत्मा किस प्रकार अभिव्यक्त हो और कवि अपने आपको किस प्रकार खोले, इसी प्रयास में कविता की सृष्टि का मूल रहस्य है।

कवि का हृदय भगवान् का शासन-पीठ है। कवि कोषाध्यक्ष है। उसके पास वे कुंजियाँ है जिनके द्वारा भगवान् तक जाने का मार्ग खुल सकता है। अखण्ड सत्ता के अनुसंधान के लिए मानवी आकांक्षाओं की अभिव्यंजना को इसी लिए कविता कहा गया है।

कवि-कर्म में सौंदर्य

कवि ससीम सौंदर्य को असीम सौंदर्य के साथ एक सूत्र में बँधा हुआ देखता है। इंद्र-धनुष सौंदर्य में उसे पूर्ण सौंदर्य की ज्योति टिमटिमाती हुई देख पड़ती है। वास्तव में पूर्ण सौंदर्य का विस्तार सापेक्ष प्राकृतिक सौंदर्य से ही हो सकता है। आप नामरूपात्मक स्वरूपात्मक, शरीरात्मक, सामाजिक, मानसिक, आध्यात्मिक, इत्यादि भावों को जीत लीजिए और श्री शारदा के द्वार पर आत्मसमर्पण कर दीजिए आप अपने को जीवन के रागों में ओत-प्रोत पावेंगे। आपमें जीवन के लिए गहरी सहानुभूति उत्पन्न हो जायगी। प्रत्येक थिरकती हुई छाया आपको भावावेश में लुप्त कर देगी और प्रत्येक आर्तस्वर से आप सहसा सिहर उठेंगे।

पाश्चात्य देशों में कविता की, वर्तमान युग की सबसे अर्वाचीन मीमांसा क्या की जाती है उसे समझ लेना है। यह भी समझ लेना चाहिए कि गोस्वामीजी की व्याख्या का आजकल क्या मूल्य है।

कविता का आविर्भाव किस प्रकार होता है, इस संबंध में विचित्र-विचित्र धारणाएँ व्यक्त करने का साहस किया गया है। कुछ लोग उसे रतिजन्य बतलाते हैं। कुछ लोग इसे पशु-प्रकृति की प्रबलता से प्रादुर्भूत मानते हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में केवल लय से कविता का जन्म होता है। इस प्रकार की अनेक बेढंगी बातें कहीं गई है और कही जाती हैं। यदि कविता की उत्पत्ति का वास्तव में यही रहस्य होता तो अच्छी बुरी और ऊँची-नीची कविता का कोई वर्गीकरण होना ही असम्भव था। अर्वाचीन मनःतत्त्ववेत्ता यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि कवि संसार की घटनाओं और स्वरूपों के प्रति पूर्ण स्वीकारात्मक भाव रखता है और बाह्य जगत् को उसके तथ्यों को समझाने का प्रयत्न करता है। निर्जीव प्रयत्न में एकत्र किये हुए सौंदर्य-भावों को सोचकर ही कविता की खोज नहीं कर सकते और न कविता भाग्याधीन ही है जो कवि से सहसा टकरा जाय। कविता का आविर्भाव तभी होता है जब हमारा हृदय विश्व के क्रिया-विधान और स्वरूप-विधान को अंतर्लीन कर ले तथा हमारा समूचा व्यक्तित्व इनकी लम्बाई, चौड़ाई, उँचाई और गहराई को अलिंगन करने लगे। यह कार्य न तो केवल कल्पना से संभव हो सकता है और न बुद्धि से। यह कार्य तो विधेयात्मक स्फूर्ति का है। वाह्य क्रिया-कलाप का समुच्चय करके अथवा केवल भाग्यवश किसी तथ्यखंड से टकराकर कविता को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। आजकल के मनोविज्ञानवेत्ताओं का यही मत है।

अब यह सोचना है कि विधेयात्मक स्फूर्ति किस प्रकार उत्पन्न होती है। मनोविज्ञान वेत्ता इसका यह उत्तर देते हैं कि हमें बुद्धि और ज्ञान की लौ हमेशा जाज्वल्यमान रखनी चाहिए। क्रिया-विधान और रूप-विधान के हमारे सांसारिक अनुभव अपनी परिपक्वावस्था में हमने सजगता जागरूकता अथवा बुद्धिमत्ता उत्पन्न करते हैं। बुद्धिमत्ता के ज्वलंत प्रकाश में स्फूर्ति उत्पन्न होती है और स्फूर्ति की परमावस्था में दैवी प्रेरणा का जन्म होता है। दैवी प्रेरणा का जन्म होते ही उच्च कविता का आविर्भाव होता है।

संभव है कि पाठकों के हृदय में यह प्रश्न उठे कि क्या बुद्धिशाली व्यक्ति की भाँति परिश्रमी व्यक्ति भी काव्य के मर्म तक पहुँच सकता है। इसका उत्तर स्पष्ट है। परिश्रमी व्यक्ति के निर्जीव परिश्रम के पुरस्कारस्वरूप उसे, आरूढ़ होने के लिए,

उन्नति के साधारण सोपान मिलेंगे जिन पर क्रमशः चढ़कर वह उन्नति की अंतिम अवस्था तक पहुँच सकता है। उसे कछुवे की गति से चलकर सारी अवस्थाओं को पार करना होगा। एक बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए वही विधान और वही मार्ग हैं और उसे भी उन्हीं अवस्थाओं से निकलना पड़ता है। परंतु केंद्रित अथवा संक्षिप्त विधान के अनुकूल उसकी गति बड़ी तीव्र होती है। प्रत्येक अवस्था से निकलते हुए उसे कोई नहीं देखता और समय भी कम लगता है। एक मेधावी व्यक्ति द्रुत विधान का आश्रय लेता है। कार्य कारण का युग्म अपनी चपला गति के कारण चमत्कृत कर देता है। परंतु वास्तव में कोई चमत्कार नहीं होता। जिस प्रकार किसी रेखा के अंतर्विंदु नहीं दिखाई देते वरन् एक सीधी रेखा दिखाई देती है उसी प्रकार मेधावी व्यक्ति की तीव्र गति के स्थानांतर लक्षित नहीं होते। वह अपनी आत्मा के सन्निवेश में कार्य सम्पादन करता है। उसकी प्रज्ञा काव्य-विषय की प्रज्ञा से एक हो जाती है। वह निष्क्रिय भाव के स्वरूप-विधान और क्रिया-विधान को भावगम्य करता है। यदि बुद्धि निर्विकार है तो भाव में तथ्य का स्वरूप दृष्टिगत हो जायेगा। आध्यात्मिक और कर्तरि अनुभव 'प्रत्यक्ष' अर्थ का बोध कराता है और दैवी प्रेरणा वाक् प्रदान करती है। स्फूर्ति उचित निष्कर्ष और उचित सिद्धांत प्रदान करती है तथा विवेक भ्रांतियों से बचाता है।

एक परिश्रमी और प्रज्ञावान व्यक्ति में सबसे बड़ा अंतर यह है कि परिश्रमी व्यक्ति उन्नति के स्वास्थ्यपूर्ण और सच्चे मार्ग का अनुसरण नहीं करता, जितना ऊँचा उठने की शक्ति उसमें है उतना ऊँचा नहीं उठ पाता। प्रज्ञावान कवि दैवी स्पर्श से संचलित किये हुए सौष्ठव द्वारा हम लोगों को साधारण क्रिया-कलाप के वातावरण से ऊँचा उठा देते हैं। ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि हमारे समक्ष हमारी संभावनाएँ खोलकर रख देते हैं। वे अपने को सम्पूर्ण बनाकर प्रकृति के भेदों के सामंजस्य उपस्थित कर देते हैं। इसी उन्नति को हम उच्च काव्य की सृष्टि का कारण कह सकते हैं। हिंसक पक्षी जिस वेग, जिस सजगता और तत्परता से अपना भोजन पकड़े रहता है और उसके साथ ऊपर उठा चला जाता है, उसी संलग्नता से अच्छी कविता जीवन को ग्रहण किये हुए ऊपर के वायुमण्डल में विचरण करती है। परंतु इस परिस्थिति के लिए हृदय की शालीनता की आवश्यकता है। उच्च काव्य कला-सम्पन्न, चतुरता से सन्निविष्ट, तथ्य की सुंदर झाँकियों से आलोकित, मानव-हृदय में बैठी हुई सौंदर्य-परम्परा से परिपूर्ण नाटकों की सृष्टि ऊपर के सिद्धांत के अनुकूल हुई है और इसी अध्यवसाय से कवि सार्वभौमिक सौंदर्य को साक्षात् रूप में देखने लगता है। संगीत-मकरंद में नारदजी 'कवि' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

"शुचिर्दक्षः शांतः सुजनविनतः सुंदरतरः
कलावेदी विद्वानतिमृदुपदः काव्यचतुरः।
रसज्ञः दैवज्ञः सरसहृदयः सत्कुलभवः
शुभाकारश्छंदो गुणगणविवेकी स च कविः॥"

इस विशेषण-समाहर में यद्यपि कोई अवस्था नहीं है परंतु कवि के सच्चे स्वरूप को कुछ समझने का प्रयत्न अवश्य किया गया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी कविता के सच्चे स्वरूप को समझते थे—उन्हें उसका बोध था। ऊपर की काव्य विषयक सारी मीमांसा उन्हीं के चौपाई और दोहे के आधार पर की गई है।

हिंदी का पलायनवादी काव्य

कवि की सबसे बलवती वृत्ति का परिचय उसके काव्य में मिलता है। यह वृत्ति उसके जीवन और उसकी गति-विधि के भीतर से होकर उसके व्यक्तित्व को ओत प्रोत करती है। संसार से उसका जो संघर्ष चलता है उसके फलस्वरूप ही यह वृत्ति बनती है। व्यक्तियों के नसों में बहुधा वह शक्ति नहीं मिलती जिसके बल से वह आपत्तियों को हँसते-हँसते झेल सकें और स्वरूप का संतुलन भी नष्ट न हो।

नारि मरी घर सम्पति नासी।
मूँड़ मुड़ाइ भये संन्यासी॥

संसार से मुख मोड़नेवाले और विराग और निर्वेद की पूजा करनेवाले संन्यासियों और साधुओं में बहुत बड़ी संख्या ऐसे ही लोगों की मिलेगी। अनुराग की प्रतिक्रिया विराग है और मोह की प्रतिक्रिया निर्वेद है। आपत्तियों के गहरे झटकों से और आसक्तियों के बलात् उन्मूलन से मानव जीवन का रस सूख जाता है और वह समस्त जीवन व्यापार से भाग खड़ा होता है। सुख और दुख, प्रसाद और विषाद, जन्म और मरण, हास और रुदन, जीवन-चक्र के आवर्त्तन से सामने आते रहते हैं। किसी के जीवन में किसी स्वरूप का अधिक टिकाव मिलेगा और किसी के जीवन में किसी स्वरूप का। इस परिवर्तन के सत्य को जो समझता है और इन स्वरूपों की अनित्यता से जिसका परिचय है और अपने जीवन में इस सत्य को व्यवहार में जो उतार सका है वही सुख-दुख के थपेड़ों से विचलित नहीं होता। परंतु यह कोई साधारण बात नहीं है। इसी लिए जीवन के क्रूर पक्षवाले कशाघातों से मानव तिलमिला जाता है और समूचे जीवन से भागनेवाले गीत गाने लगता है। घुस-पैठ की ऊब से वह खीज कर कहीं अन्यत्र विश्राम ढूँढ़ता है। ऐसे बचाववादी मनोभावों के काव्य को पलायनवादी काव्य कहते हैं।

इस संबंध में यह भ्रम न होना चाहिए कि आध्यात्मिक अथवा भक्ति विषयक काव्य पलायनवादी काव्य है। ईश्वर-प्रेम अथवा ईश्वर-भक्ति पलायनवाद नहीं है। कोऽहम् कस्त्वं के उत्तर में चिंतना सोचते-सोचते बहुत ऊपर उठकर जिस निस्सीम क्रियासत्ता

की प्रतिष्ठा करती है और संसारी कार्यों के भीतर उसी के स्पंदन को सुनती है उसमें भी एक प्रकार की परार्थता और घुस-पैठ से वितृष्णा दिखाई देती है। पर इसे पलायन-वाद न कहेंगे। यह दूसरी बात है कि भगवान् की ओर ध्यान लगाने के लिए संसार से ध्यान हटाना परमावश्यक है। परंतु जिस काव्य में संसार के व्यवहार का सीधा सीधा त्याग और उससे भागने की दीक्षा दी गई है और इस जगत् के रूप व्यापारों को संघर्ष के भय से छोड़ना सिखाया जाता है उसे पलायनवादी साहित्य कहेंगे।

मानवजीवन और आसक्तियाँ

मानव-जीवन आसक्तियों का समाहार है। अनुरक्ति और विरक्ति के मूल में यही आसक्ति काम करती है। प्राणी जन्म लेते ही विश्व के नाना रूपों से सम्पर्क लाभ करने लगता है। अशेष सृष्टि के किसी अंश में उसे अनुकूलता और किसी में प्रतिकूलता मिलती है। अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख होता है। सुख का परिणाम अनुरक्ति और दुःख का विरक्ति है। परंतु अनुकूलता और प्रतिकूलता सुख और दुःख सापेक्षिक प्रत्यय हैं। किसी एक ही वस्तु में किसी को सुख और किसी को दुःख मिलता हैं; अथवा किसी एक ही व्यक्ति को स्थान और समय के अंतर से उसी वस्तु में सुख-दुःख का विपर्यय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि अनुरक्ति विभेद है—समस्वरूप आसक्ति है।

आसक्ति का विस्तार मानव-जीवन का विस्तार समझा गया है। आसक्तियों के स्वरूप और आदर्श मनुष्य-जीवन के आदि काल से परिवर्तित होते आये हैं। पहले और अब भी जीवन की व्यस्तता में परिमाण-विभेद संख्या और गुण में रहा है—और है, संकुलता में नहीं। महात्मा गांधी और अफ्रीका के हबसी दोनों एक प्रकार से, समान रूप से, व्यस्त रहते थे। यद्यपि दोनों की आसक्तियों में आकाश-पाताल का अंतर है।

मानव-जीवन आसक्तियों का समाहार तो है ही मानवता की चरमता इन्हीं आसक्तियों के प्रति आसक्ति का परित्याग है। यह एक विरोध है पर इसमें विश्व के साम्य का महान् रूप छिपा है। उन्नतिशील व्यक्ति, समाज-रूढ़ि, धर्म-रूढ़ि, कला-रूढ़ि, राष्ट्र-रूढ़ि इत्यादि-इत्यादि न जाने कितनी रूढ़ियों से निरंतर युद्ध करता रहता है। पुरानी आसक्तियाँ निर्मूल होती चलती हैं। उनके स्थान में नई आसक्तियों का स्वीकार स्वतः होता चलता है। यही आसक्तियाँ आगे चलकर रूढ़ि बनती चलती हैं और फिर उनका ध्वंस अथवा पुनः निर्माण होता रहता है। इस ध्वंस और निर्माण

के रहस्य को समझना विश्व की गत्यात्मकता को पहिचानना है और उसमें योग देना विधि-विधान का अनुसरण करना है। जगत् की गतिविधि में वही व्यक्ति उपयोगी सिद्ध होता है जो प्रिय से प्रिय ममतामयी आसक्ति में भी अनुरक्ति न रखे और सुनिश्चित, सुस्वीकृत सुदृढ़ सिद्धांतों के भी पुनः निरीक्षण, पुनः मूल्य-निरूपण तथा पुनः स्थिरीकरण के लिए निस्संकोच प्रस्तुत रहे।

सत्य का स्वरूप

वास्तव में सत्य के निरूपण में इयत्ता नहीं होती और न सत्य की अभिव्यक्ति में चिरंतन टिकाव ही होता है। इस गतिमान जगत् में गति ही गति है। गति में स्थायित्व की स्थापना करना—चाहे वह सत्य की हो अथवा यथार्थता की हो अथवा स्वयं ईश्वर की हो—जान-बूझकर भ्रम में पड़ना है। विश्व की बड़ी से बड़ी विभूति में अखंड शक्ति के अंशों और कलाओं का निर्धारण करना हमेशा एकदेशीय और एककालीन ही हो सकता है 'सार्वभौमिक सार्वकालीन नहीं। विश्व अपने सारे वैभव को लेकर क्षण-क्षण बदल रहा है। उसका आकार-प्रकार, उसकी रूप-रेखा, उसके विधान, उसका नियमन, उसका सर्वस्व, संस्तरण करता रहता है, उसी प्रकार जैसे बूँद समुद्र में अथवा समुद्र बूँदों में। कौन किसका क्या करता है यह कौन जानता है। गहरी उड़ान भरते हुए इस 'अखिल चमत्कार' के किसी परमाणु के किसी ओर का किसी अधिकारी के नेत्रों में कौंधा हुआ कोई आलोक-खंड अथवा उसके कानों में पड़ा हुआ गत्यात्मकता की घरघराहट का कोई नाद-कण विश्व में न जाने कितने सत्यों की सृष्टि करता है। इन सत्यों में सत्यता की उतनी ही अवधि है जितने काल तक वे तद्रूप आसक्तियों पर अपना अधिकार रख सकते हैं। उनका पुनः निरीक्षण और पुनः मूल्य-निर्धारण हुआ करता है। नई आसक्तियाँ आती-जाती रहती हैं। फिर नया आलोक, फिर नया शब्द, फिर नया आधेय, फिर नया निरूपण, फिर नया सत्य और नया ईश्वर। यह निरंतर का धर्म है। यदि सत्य 'सत्य' ही रहे और उसमें परिवर्तन और परिवर्धन न हो, यदि ईश्वर में गति अगति से आगे न रहे, तो उन्नतिशील मन का तर्क असंतुष्ट ही बना रहेगा। प्रगतिशील जगत् से संबंध रखनेवाले प्रत्येक प्रत्यय का प्रगतिशील होना ही उसका धर्म और उसकी शोभा है चाहे वह प्रत्यय सत्य हो, चाहे सुंदर हो, चाहे शिव हो और चाहे स्वयं ईश्वर ही क्यों न हो; बस इसी मूल को समक्ष रखकर हमें विश्व की समीक्षा करनी है। हम स्थिर कर चुके हैं कि आदर्श व्यक्ति किसी भी आसक्ति (Prejudice) में अनुरक्ति नहीं रखता। भारतवर्ष के चिंतकों और दर्शनकारों ने अपनी इस अनासक्ति

बुद्धि और निर्मल विवेक का परिचय विश्व को काफी दिया है। ईश्वर तक की उन्होंने अनासक्ति भाव से परीक्षा की है। अतएव प्रत्येक विषय को रूढ़ि और परम्परा के निर्माण किये हुए वातावरण को ध्वंस करके समझने का प्रयास करना चाहिए।

कला की परिचालना

प्रत्येक कला में या तो एक ही गीत रूप होता है, या अनेक। वस्तु की वास्तव में उतनी प्रधानता नहीं रहती। ये रूप इतिहासिक तथ्य भी हो सकते हैं और सम्पूर्ण ऊहात्मक भी; पर उनके मानसीकरण में कलाकार को निश्छल होना परमावश्यक है। उसकी उद्भावना और उसका उद्‌गार, गहरी भाव विभोरता के भीतरी धक्के से बाहर अभिव्यक्त होता है। इसलिए उनके प्रभाव में समूचापन के साथ-साथ नवलता और सच्चाई रहती है, जिसके कारण सबका हृदय प्रस्तुत प्रत्युत्तर से झनझना जाता है और कलाकार के अनुभव की सच्चाई का समभागी होता है। मानसीकरण की निश्छलता तथा राग और रूप की यथार्थता स्वतः सशक्त और सच्चा संगीत उत्पन्न कर देती है और उपयुक्त चित्र अथवा चित्रों की सृष्टि होने लगती है। कलाकार की सीता दर्शक का सौंदर्य प्रतीक बन जाती है।

फिर जब अनुकरण और आवर्त्तन होने लगता है, तो कुछ समय के पश्चात् विषय घिस-घिसकर पुराना पड़ जाता है। अनेक नकलची छुटभइए कविंद लोग आलोक-दर्शन का स्वाँग भरने लगते हैं। उसके साथ ओत-प्रोत तो होते नहीं, मुलम्मेवाले चित्र खड़े करने लगते हैं। कुछ अंध-प्रशंसक इन चित्रों को कला की ऊँची कृति कहकर अभिनंदन करते हैं। इस हठधर्मी से साहित्य में बड़ी अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। रूढ़ि अनुकरण और परम्परा प्रशंसा दोनों ही सच्ची कला की हत्या कर देती हैं। जो एक समय सच्ची कला की कृति थी, आगे चलकर कृत्रिमता की कृति बन जाती है। संस्कृत के पतन-युग में ऐसी कृतियों की भरमार मिलेगी। वर्तमान हिंदी-कविता में भी सिद्ध-हस्त कवियों की कृतियों का अंध-अनुकरण काव्य का नाश कर रहा है। उर्दू के पतन काल में लखनऊ और देहली दोनों कोटि की कविताओं में बुलबुल, नरगिस, लैला मजनू के विषयों पर लिखे गये बहुत से अशार इसी का नमूना हैं।

सच्ची कला के लिए रूप और राग वस्तु से कहीं अधिक उपयोगी हैं। परंतु मानसीकरण की निश्छलता और उद्भावना तथा अनुभव की यथार्थता कला के प्राण हैं। इनकी उपस्थिति अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। उसीसे पाठक में कलाकार के साथ समभावना का उदय होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि कलाकार अपने

आलोक की वास्तविकता में स्वयं संदेह करता है, तो उसके निदर्शन में वह कैसे भी बहुमूल्य शब्दों का व्यय करे, उसका सारा संगीत निर्जीव, पीतल और ताँबे की टनटनाहट से अधिक प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता। साथ ही यदि दर्शक जान जाता है कि कलाकार किसी शव का शृंगार करके उसकी पूजा कराना चाहता है, तो उसे भी कोई सौंदर्यानुभूति नहीं होती और न कोई आनंद आता है। कभी-कभी यह भी होता है कि कवि है तो ईमानदार परंतु उसकी दृष्टि कुंठित है। अतएव भ्रमवश वह मृत अश्व को जीवित समझकर उस पर कशाघात करता है। किसी निष्प्राण विग्रह को सजीव समझकर उसकी आराधना करता है; परंतु कोई भी तत्त्वदर्शी समीक्षक उसके इस प्रयास को सफल न कहेगा।

अस्तु समझ में यह आता है कि कविता में वस्तु का ध्यान कवि के उद्‌गारों की निश्छलता और यथार्थता आँकने के लिए कभी-कभी आवश्यक होता है। इसी हेतु कविता में वस्तु का महत्त्व भी बढ़ जाता है। रूढ़िगत विषय, मरे हुए विचार, मिथ्या, भ्रांत तथा परित्यक्त धारणाएँ, उसी प्राचीन घिसे हुए पुराने ढंग से निष्कपटता के साथ अब कवि की वस्तु नहीं बन सकते। मौलिक उद्भावना और प्रेरणा के लिए कवि के लिए यह परमावश्यक है कि जीवन के विषय में उसकी विचार-दृष्टि भी मौलिक हो। वह जीवन को अपने ढंग से देखे। यदि आज का कवि जीवन के प्रति वही पुराने ढंग के रहस्यवाद, छायावाद, आदर्शवाद, प्रगतिवाद अथवा किसी और दूसरे 'वाद' की परम्परा प्राप्त प्राचीन भावनाओं का पोषक है, तो उसकी उद्भावना अवश्यमेव लीक पीटनेवाली और कृत्रिम होगी।

आज के दिन वैदिक देवताओं में कौन जीवन फूँक सकता है? वीभत्स प्रतीकों की उपासना में किसको विश्वास हो सकता है? गणेश का प्राचीन विघ्नकारी स्वरूप किस कवि में भावावेश उत्पन्न कर सकता है? निसर्ग के ध्वंसकारी रूपों का भयावह व्यापार केवल प्राचीन मानवता की श्रद्धा का आलंबन हो सकता था। आज का युग तो रहस्यवादी के मानसीकृत् परोक्षसत्ता तक की यथार्थता में विश्वास नहीं करता। युग कहता है कि रहस्यवादी की परोक्षसत्ता उसकी निजी सत्ता है। उसी की अपने लिए अपनी ही भक्ति है। एक विद्वान् का तो यहाँ तक कथन है कि रहस्यवाद के नाम से हम अपने ही अहं का मलिनतम, निम्नतम तथा जघन्यतम अवशेष का मानसीकरण करते हैं और उसे अपनी ममता के बल पर ऊँचे उठाकर अपने बनाये हुए देवता के बराबर बिठा देते हैं। यदि कहीं यह रहस्यवादी कवि भी हुआ तो अपने इस छोटे से देवता को खूब तड़कीली भड़कीली साहित्यक वेश-भूषा से खिलौने जैसा छोटे छोटे अलंकारों

से सजा देता है; परंतु मनोविज्ञान के अनुसार इसमें तथा ऊपर संकेत की हुई कवि की शव-उपासना में कोई अंतर नहीं होता। दानवता, विवेकशून्यता, पक्षपात-वृत्ति, अज्ञानता, निर्धनता तथा हेयता की पूजा सामाजिक आतंक और शोषण ये सब धार्मिक रहस्यवाद के अथवा संदिग्ध आदर्शवाद के रूप हो सकते हैं। ऐसे रहस्यवाद को केवल चिंतकों और कवियों की दुर्बलता, न्यूनता, स्वप्नशीलता, शिथिलता, अमुखरता तथा कायरता का दर्पण समझना चाहिए। ऐसा ही रहस्यवाद अज्ञान और प्रतिक्रिया का पक्ष लेता है और मनुष्य को जीवन-संग्राम के ऐसे अवसरों पर अकर्मण्य दयनीय, हिचकवादी, दुर्बल, श्रांत, निराश, दैव-दैव पुकारनेवाला, परास्तवादी आभाहीन बना देता है, जहाँ उसे चेतन, सजग, आत्मनिरीक्षक, कठोर संघर्षणप्रिय होना उचित है।

जीवन-संघर्ष का भय

कवियों का वह वर्ग, जो हमको यह सिखाता है कि केवल भावी स्वर्ग के लालच से हम इस पृथ्वी पर नारकीय यातनाओं को चुपचाप सहन करते जायँ, वह परोक्ष रूप से अन्याय का समर्थन करता है। वह शोषकों को रक्त चूसने में योग देता है और उन्हें आनंद के साथ भोजन करने और सुखपूर्वक जीवन यापन करने में सहायता पहुँचाता है। आज का युग समझदार व्यक्तियों से यह माँगता है कि वे प्रत्येक प्रकार के आवरण को विदीर्ण करके निश्चित वास्तविकता सामने रक्खें। आज की दुनियाँ में पलायन-वादियों की जीवन नकारप्रियता, इतर लोकवाद, एकांत-समाधि और लोक-बाह्य मनन-शीलता को कोई स्थान नहीं है। इस समय का तो समस्त वातावरण ज्ञान प्रधान, शक्ति-प्राप्ति के लिए उतावला, छलकते हुए जीवन का निदर्शक, वर्तमान सामाजिक जनसत्तात्मक-विधान का घोर समर्थक है। माना कि उसमें यह एकांगापन आ गया है कि वह केवल इहलोक सिद्धियों की व्याकुलता से ओत-प्रोत है और वह कहता है कि इतर-लोकवाद का लोकबाह्यजीवन सामाजिक भावुकता को कुण्ठित करके सुला देता है और सजीव के प्रति अनुराग को मृत के प्रति आकांक्षा में परिवर्तित कर देता है। परंतु आज न्याय, स्वतंत्रता, समानता, सत्यता, सुंदरता विकास और विज्ञान का स्पष्टी-करण अब केवल उन उक्तियों द्वारा किया जा सकता है जो प्रतिक्रियावादी सहयोग से नितांत पृथक् हैं। यह कविता के लिए उतना ही सत्य है जितना किसी भी दूसरी कला के लिए क्योंकि सभी कलाएँ तत्त्वतः एक ही हैं।

इस विवाद से कोई यह न समझे कि लेखक किसी शुष्क निस्तेज, नितांत ज्ञानात्मक, यथार्थता का पक्ष ग्रहण कर रहा है। मानवता के लिए अनुपयुक्त, केवल नाममात्र के लिए

भावना के कारागार में जकड़ा ज्ञान का प्रत्यय किसी काम की वस्तु नहीं होती। भविष्य के लिए भूत का निषेध उतना आवश्यक नहीं जितना कि एक कष्ट और दुःख में रगड़ खाते हुए नवीन जीवन का स्वीकार आवश्यक है। यथार्थता के समाज-गत संदेश को रागात्मिकता और नीतिमत्ता के वैभव से अधिक सुहावना बना देना चाहिए। उसे बुद्धि के ऊँचे धरातल तक पहुँचाकर रूप और रस दोनों की सुंदरता उत्पन्न करनी चाहिए।

पलायनवाद का जन्म और रूप

अब भारतीय संतों की देन को देखिए। संतों की जो परिभाषा गोस्वामी तुलसीदासजी ने दी है अथवा जो अन्यत्र मिलती है वह तो विश्व के उदात्त गुणों की तालिका है; और वह गोस्वामीजी सदृश महान् व्यक्ति के ही अनुसार है। परंतु व्यवहार-जगत् में संतों के आवरण में पलायनवादियों की उक्तियों का क्या प्रभाव पड़ा इससे इनकी उपयोगिता आँकनी है। शताब्दियों के प्रयोग के बाद जो आचरण आचरण-शास्त्र तक पहुँच सके हैं, जो धर्म-तत्त्व धर्म-ग्रंथों में संग्रहीत हो सके हैं, जो विकसित चिंतना दर्शन-पुस्तकों में लिखी जा सकी है, अथवा मानवता का जो सभ्य स्वरूप कला, साहित्य तथा समाज का आदर्श स्थिर कर सका है, इन नकारप्रिय पलायनवादियों ने एक ही उच्छ्वास में सबको धराशायी करने का प्रयास किया। चिंतनशील जन-समुदाय की अपेक्षा मूर्खों की संख्या वैसे ही अधिक होती है। विश्व की यह महान् विभूति मूर्ख मंडली मूढ़-ज्ञान से स्वाभाविक रूप से अधिक चिपकती है, अतएव उसे इस ध्वंस-कार्य में बड़ा सहारा मिला। इतिहास इसका साक्षी है कि बड़े से बड़े पंथ-प्रवर्तकों में मूर्खों की ही भरती अधिक हुई।

पुरानेपन से युद्ध करना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक है, रूढ़ियों को तोड़ना सुधार ही नहीं धर्म है; दलितों को उठाना कर्त्तव्य ही नहीं पुण्य है; परंतु इन पलायन-वादियों की कार्य-विधि सदोष थी। उन्होंने पतितों को उकसाया, उन्होंने धर्म के सड़े अंगों की दुर्गंधि नासिका तक पहुँचाई, उन्होंने समाजवाद, साम्यवाद और जनसत्तात्मक-वाद का संदेश जनता तक पहुँचाया तथा जीवन को पवित्र बनाने का प्रयास भी किया; परंतु देश में, साथ ही साथ, एक ऐसी लक्ष्यहीनता उत्पन्न कर दी कि उनके जागरण-संदेश का आदर्श ही नष्ट हो गया। उनकी क्रांति में सुधारवाद का नियंत्रण अवश्य था परंतु जो कुछ भी उसमें वेग था लक्ष्यहीन था। गोस्वामी तुलसीदास तथा अन्य पहुँचे हुए साधकों को छोड़ दीजिए अधिकांश जमात बाँधनेवाले साधुओं में लोक-संग्रह

का कोई भाव न था। समष्टि के स्थान पर उन्होंने व्यष्टि पर अधिक बल दिया। स्वामीवर्ग का समाज-शोषण किस प्रकार समाज को खोखला बनाता है उसे समझकर भी दलितों में जो भेद-भाव मिटाने का जोश पैदा हुआ वह दिखावटी आध्यात्म की की ओर मोड़ देने के कारण पंगु हो गया। बड़े वेग और घरघराहट के साथ बहनेवाली कबीर की क्रांति-सरिता भी दिखावटी आध्यात्म के मरुस्थल में पहुँच कर विलीन हो गई। इन अलख अलख चिल्लानेवालों ने ठोस जगत के अभावों को काल्पनिक जगत् के स्वर्ण-विहान से चकाचौंध करके भुलाने का प्रयास किया। ऐहिक जगत् की घुस-पैठ, जीवन-संग्रह का संघर्ष, मानवता के स्वत्वों की माँग—यह सब सांसारिकता कहकर कोसी गईं। परलोकवाद, इतरलोकवाद, जन्मांतरवाद, पुण्यपापवाद, मायावाद, संसार प्रपंच-वाद, ब्रह्मवाद, रहस्यवाद और न जाने कितने लोक से भागनेवाले वादों का प्रचार हुआ और इस जगत् से उदासीन होना सिखाया गया। पाप और पुण्य के मनमाने आदर्श स्थिर करके सब प्राणियों को लोकवाह्य साधना की सँकरी गली में खदेड़ने का काम तो इन्होंने किया ही, उन्हें संसार की ओर मुड़कर देखने की भी आज्ञा न दी। इतरलोक के तर्क के सामने इहलोकवाद नास्तिकता का विषय हो गया। अतेंद्रिय जगत् का भावविभोर वर्णन, विचारातीत परिस्थियों के ज्वलंत चित्र, रहस्यवाद के अटपटे वचन जनता को केवल थोड़े काल के लिए पार्थिव अभावों से विरत कर सकते थे; परंतु नमक, तेल, लकड़ी की माँग, भूखे बिलबिलाते हुए रुग्ण बच्चे की सूखी आकृति न घंटों के सत्संग में और न सुरति-शब्द योग में भूल सकते थे। 'त्रिकुटी' 'भँवरगुफा', 'महासुख' सभी का ध्यान और योग भूखा मन अधिक काल तक नहीं कर सकता। इन मुंडित और जटिल साधकों ने लोक को लोक में रहकर सुधारने का अवकाश ही नहीं दिया। अभावों से त्रस्त व्यक्ति में ऐहिक स्वत्वों के प्रति दैवी प्रेरणा का भाव उत्पन्न करके उसे परावलंबी बना दिया गया। स्वावलंबन में जो अपने भाग्य को स्वयं निर्माण करने का बल होता है वह शिथिल कर दिया गया और सब रोगों की एकमात्र औषधि दैवी परार्थता की घूँटी सब भक्तों को पिलाई गई।

हानि लाभ जीवन मरन,
जस अपजस विधि हाथ ॥

का 'विधि' शब्द-योजना के स्थान में अदृश्य प्रेरक के रूप में समझाया गया।

पार्थिव अभावों का सम्यक् परिचय भी नहीं होने पाया, हरिजन चट उस महान् अभाव की ओर खिन्च गये। संसार जैसा का तैसा छोड़ दिया गया।

यह कोई न कहेगा कि विश्व में पार्थिव अभावों की इति है। उनकी तालिका बढ़ती-घटती रहती है। वे सापेक्ष हैं। यदि हम अपने अभावों का कोष बढ़ाते जायेंगे तो जीवन बड़ा असंतोषमय हो जायगा। कहीं तो विराम करना ही होगा। परंतु यह भी न भूलना चाहिए कि जहाँ एक वर्ग की साधारण से साधारण अवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं और शोषण द्वारा दूसरे वर्ग उससे अनुचित लाभ उठाते हैं वहाँ शासन में महान् दोष है। ऐसे शासन को और ऐसी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना प्रत्येक लोक-संग्रही संत और महात्मा का सबसे पवित्र काम है। असंतुष्ट वृत्ति के मत्थे मढ़कर ऐसे समाज-जनित अभावों की ओर उपेक्षा करना अन्याय का परोक्ष रूप से समर्थन करना है। अनिवार्य स्वत्वों के लिए झगड़ना अशांति का बर्बर निदर्शन नहीं है। वैसे तो सबसे बड़ी और घोर अशांति ये लोग भक्तों के हृदय में भगवद् साक्षात्कार की बलवती उत्कंठा के रूप में स्वयं उत्पन्न कर देते हैं। अशांति अपने नग्न रूप में निन्द्य नहीं केवल प्रयोग पर उसकी उपादेयता निर्भर है। भगवा वस्त्रधारियों ने उसकी समूची उपयोगिता की ओर ध्यान न देकर एक भ्रांत मार्ग भारतवासियों के समक्ष रखा। इससे अधिक निंदनीय बात और क्या हो सकती है कि दलित वर्ग में अभावों से परितुष्ट रहने की वृत्ति जागरित करके शोषण करनेवालों का अन्याय भगवान् और भाग्य की मुहर लगा कर सही कर दिया गया। वर्गों के समीकरण की आवश्यकता पर बहुत से साखी और शब्द कहे गये; परंतु व्यवहार-जगत् में वह बिलकुल असफल रहे। आध्यात्मिकता की परार्थता ईश्वर की काल्पनिक और मनमानी व्याख्या अधिक साकार करके हमारे हाथ-पैर जकड़ दिये गये। भारतीयों में अजीब हिचक उत्पन्न हो गई। हम जीवन-संग्राम के लिए नपुंसक हो गये।

इस लेख को पढ़ कर किसी को यह न समझना चाहिए कि इसके लेखक को साधु-संतों से कोई विरोध है। जीवन को पवित्र करने के लिये, स्वरूपदर्शन के लिए, चिंतना के उकसाने के लिए, साहित्य और कला को नये रूप में लाने के लिए और एक महान् परार्थता उत्पन्न करने के लिए, संतों ने जो प्रयास किया वह स्तुत्य है। संत लोग हमारे श्रद्धा के भाजन हैं। परंतु देखादेखी कपड़े रँग लेनेवाले, बिना समझे आध्यात्मिक पदों का पिष्टपेषण करनेवाले, जमात जोड़कर चरस फूँकनेवाले कनफटों ने संसार से हमेशा भागनेवाली वृत्ति उत्पन्न की तथा उसके प्रस्वेदपूर्ण संघर्षों के प्रति कायरतापूर्ण उपेक्षा को जन्म दिया। जीवन के एकांगी और अकेलेपन पर अधिक बल रखा। इन बातों ने उन्हें भारतवर्ष के लिए विफल सिद्ध किया। भक्तजन मुझे इस

स्पष्टोक्ति के लिए क्षमा करेंगे। मेरे ये भाव सच्चे संतों के लिए नहीं हैं। मुझे वैसे भी संतों के जीवन से बहुत कुछ मिला है। परंतु किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को विवेक न खोना चाहिए। आसक्ति प्रत्येक कोण की ओर से सम होती है; अतएव अनासक्ति भी समभाव से ही होनी चाहिए।

कबीर और तुलसी के राम

किसी राष्ट्र की सबसे बड़ी शक्ति उसकी संस्कृति होती है। संस्कृति के अनेक तत्त्व बड़ी व्यापकता के साथ राष्ट्र की चेतना में घुले-मिले रहते हैं। इन तत्त्वों के स्वरूपों की एक गतानुगति होती है जिनके साथ प्राणी के रागात्मक संबंध का इतिहास बनता चलता है। युगों से, कुछ विभूतियों, कुछ घटनाओं, कुछ परिस्थितियों तथा कुछ रूप व्यापारों के साथ एक ऐसा लगाव चलता चला आता है कि उसकी एक परम्परा बन जाती है। परम्परा में बुद्धि और हृदय दोनों को प्रभावित और परिष्कृत करने का बड़ा बल रहता है; अतएव जो गायक, सहित्यकार, कलाकार और प्रचारक अपने उद्गारों और मंतव्यों को व्यापक रूप देना चाहता है वह उसका आश्रय अवश्य लेता है।

राम एक ऐसी ही परम्परा है। इतिहास के बहुत पहले से यह परम्परा चल रही है। श्रद्धा और भक्ति, आदर और आदर्श, ममत्व और स्नेह सभी वृत्तियों का आलम्बन राम नाम चिरकाल से बना है। वेदांतियों का अद्वैत ब्रह्म, वैष्णवों का वैकुण्ठवासी हरि, भक्तों का भगवान्, साधकों का नामतत्त्व, लीला गायकों का साकेतापति दशरथ पुत्र—सभी की साध का उत्तर यह 'राम' युगों से चला आ रहा है। यही नहीं, वाल्मीकि के दिये हुए राम, संस्कृत कवियों और नाटककारों के हाथों में पड़कर साहित्य की उत्तम कृतियों के नायक बने और इस प्रकार उनकी लीलाओं और क्रियाओं की जानकारी बढ़ी और लोग उधर झुके। वे काव्यात्मक सहानुभूति से ऊपर उठकर जीवन-प्रवाह में मिल गये। अतएव इस महान प्रेरक केंद्र का प्रयोग करना साधक कबीर और भक्त तुलसी के लिए स्वाभाविक था। कबीर ने इस महत्त्व के केवल नाम का उपयोग किया और तुलसी ने व्यक्ति का। नाम की अरूपता ने कबीर की साधना को निर्गुण की ओर भेज दिया और व्यक्ति की लीलाओं ने तुलसीदास को सगुणोपासना और अवतार-वाद की ओर मोड़ दिया। अतएव भजन, सुमिरन और ओंकार भक्ति भी चलती रही और दशरथ-पुत्र राम की लीलाओं में रमण और उनका गान भी चलता रहा। मूल दोनों का एक है।

उत्तम कृति जीवन के श्रेय को प्रेम करनेवाली चकासत अभिव्यक्ति है। श्रेय के दो पक्ष हैं—व्यावहारिक और आमुष्मिक। भारतीय काव्य वाङ्मय में लोक-धर्म और लोक-कल्याण की व्यावहारिक अवतारणा के साथ-साथ आध्यात्मिक निश्रेयस की भावना भी प्रचुर मात्रा में समुपलब्ध है। ससीम को असीम के लिए रागात्मक द्रवणशीलता, उसके गुणों एवं महत्त्व तथा उसकी विशाल गरिमा में प्रति भक्ति और श्रद्धा, ससीम को असीम बनने का प्रयास, आध्यात्मिक पक्ष का विस्तार है तथा व्यष्टि का समष्टि से नानारूपात्मक संपर्क, लीलाओं के आदर्श में परमत्व देखना और दिखाना, संकट का पड़ना और संकटमोचन की योजना, यह सब लोक-धर्म की टीका है। धर्म की इसी पृष्ट भूमि के भीतर कबीर और तुलसी ने राम के विभेदात्मक रूप की अवतारणा की।

विचारक कबीर अद्वैतवादी भी हैं और रामवादी भी और कहीं-कहीं दोनों मिल जाते हैं—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी,
फुटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत् कथै गियानी।"

ब्रह्म के इस एक तत्त्वात्मक रूप की चरचा करते-करते कर्मों के लिए उसके अछूतेपने की भी व्याख्या करने लगते हैं—

"आदौ गगना, अंते गगना, मध्ये गगना भाई।
कहे कबीर करम केहि लागै, झूठें संक उपाई॥"

और उधर आराधना और साधनाविहीन केवल जिह्वा से राम-नाम रटने को फल-विहीन प्रयास कहा है—

"पंडित वाद वदंते झूठा
राम कह्या दुनिया गति पावें खाड़ कह्या मुँह मीठा।"

यदि चीनी के नाम से ही मुँह मीठा हो जाय तो यह भी सम्भव है कि बिना मन में पैठें राम-नाम की रट से किसी को मुक्ति मिल जाय,

तुलसी के जैसे नीचे की पंक्तियों में इस भाव का घोर विरोध ज्ञात होता है—

"भाव कुभाव अनख आलस हूँ।
राम जपत मंगल दिस दसहूँ।"

परंतु गोस्वामी जी का भाव भजन की अटूट लगन से है। लगन में अनन्यभावना चौबीसों घंटे रहना सम्भव नहीं फिर भी यदि लगन में अटूट भावना है तो किसी प्रकार और किसी स्थिति में भी निकला हुआ राम-नाम कल्याण ही करेगा।

कबीर ने जहाँ वेदांत को भावना के रूप में अच्छी प्रकार पकड़ लिया है वहाँ वे रहस्यवादी हो गये हैं अन्यथा केवल विचारक ही रह पाये हैं। इस रूपक में उनका चमत्कार देखिए। उनके 'राम' यहाँ 'उदिक' (जल) के रूप में 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा कर रहे हैं—

"काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी ?
तेरेहि नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास।
जल में नलिनी तोरु निवास।
ना तल तपत न ऊपर आग।
तोरु हेतु कहु कासन लाग ?
कहे कबीर जो उदिक समान।
ते नहीं मुए हमारे जान।"

कबीर के राम निराकार निर्गुण ब्रह्म हैं अतएव वे कभी मरते नहीं और अद्वैत के कारण, जिसका भ्रम दूर हो गया है, वह भी कबीर की भाँति, 'सोऽहम्' हो गया है और मरता नहीं—

"राम मरै तो हमहू मरिहौं राम न मरैं हम काहे क मरि हैं।"

कारण सुनिए—

"हम न मरैं मरिहै संसारा, हम कूँ मिल्या जियावनहारा,
अब न मरौं, मरनै, मनमाना, तेई मुए जिन राम न जाना।"

यही 'जियावनहारा' राम है।

दाम्पत्य-प्रेम से ही आत्मा-परमात्मा-प्रेम उन्होंने सामने रक्खा है—

दुलहिन गाओ मंगलचार, हमरे घर आए राजा राम भरतार
तन रति कर मैं मन रति करिहौं; पाँचों तत्त्व बराती
रामदेव मोहि ब्याहन आए, मैं जोवन मदमाती
सरिर सरोवर बेंदी करिहौं, ब्रह्मा बेद उचारा
रामदेव संग भाँवरि लैहौं, धन धन भाग हमारा
सुर तैंतीसौ कौतुक आए, मुनिवर सहस अठासी
कह 'कबीर' मोहि ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी"

यह "दुलहिनियाँ" आत्मा और "राजाराम" परब्रह्म हैं।

"सुरत सुहागिल सुंदरी" "आत्मा, ब्रह्म भरतार" के लिए आशा लगाए बैठी है और अपने में ही उस अतींद्रिय निखिल सत्ता का स्फुलिंग देखकर कह उठती है—

'सखी सोहाग राम मोहि दीन्हा'

वास्तव में कबीर ने राम का वैज्ञानिक व्युत्पत्तिवाला अर्थ लिया है। 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्' अर्थात् राम आत्मा के रमण का आधार हैं उसकी भावना का आलम्बन हैं। इसी लिए उनमें रहस्यवाद की भावनात्मक अनुभूति के अतिरिक्त परब्रह्म से तद्रूप लाभार्थ अनेक साधनात्मक सोपान मिलेंगे। त्रिकुटी, कुंडलिया, भँवरगुफा, सुन्न, महासुन्न इत्यादि की साधना के आख्यान उनमें भरे पड़े हैं। वे साकार पर ध्यान लगानेवाले नहीं हैं। उनके राम के "मुँह माथा" नहीं है और न 'चार भुजाएँ' हैं। वह 'पुहुप बास से पातला' एक अनूप तत्त्व है। वह द्वैत मेटकर अद्वैत की स्थापना करता है—

"तेहि साहब के लागौं साथा, दुइ कुल मेटि के होउ सनाथा"

तुलसी के राम से ही नहीं समस्त अवतारी प्रतीकों से उनका राम भिन्न है—

"ना जसरथ कुल अवतरि आवा, ना लंका का राव सतावा
प्रृथ्वीरमन दमन नहिं करिया, पैठि पताल बालि नहिं छलिया"

यह तो अवतारवाद का क्रूर विध्वंस है।

"माया" कबीर राम की 'दुलहिन' है। वह आत्मा दुलहिन से भिन्न है। वह समग्र संसार में अनाचार करती है। भोली आत्माओं को (सरल पुरुषों को) उनके शाश्वत प्रीतम से विलग रखती है और फिर भी उससे लोग चिपके रहते हैं—

"मीठी मीठी माया तजी न जाय"

"हरि बिन झूठे सब व्यवहार" की घोषणा करते हुए कबीर कहते हैं—

'चेतनि देखै रे जग धंधा
राम नाम का मरम न जानै माया के रसि अंधा।'

और इसी बात को और बिगड़कर कहते हैं—

'रमैया की दुलहिन लूटी बजार'

तुलसीदासजी ने भी राम के लीला रूप की व्याख्या से अवकाश पाकर 'माया' अथवा 'भ्रम' की चरचा करते समय 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' दोनों ही में माया के राम प्रिय होने की पुष्टि की है। यही नहीं, कभी-कभी तुलसी के राम तो स्वयं माया का काम करने लगते हैं—

"उमा दारु योषित की नाईं, सबै नचावत राम गोसाईं"

कबीर के 'गोविंद' 'राम' 'रहीम' अथवा 'मुरारी' सब एक ही अभेद सत्ता के पृथक् अभिधान मात्र हैं। वाह्यार्थों, मात्रास्पर्शों, धर्म के वाह्य स्वरूपों से ध्यान हटाकर अंतर्यामी ब्रह्म का साक्षात्कार करना उनका लक्ष्य है।

तुलसी के राम अधिकतर बाहर हैं—

'सिया राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुगपानी'

वे बाह्यार्थों में ही मिलते हैं—

"हम लखि हमहिं हमार लख हम हमार के बीच
तुलसी अलखहिं का लखसि राम नाम जपु नीच।"

वे धर्म के बाह्य प्रतीकों में ही मिलते हैं—

'पैज परे प्रहलादहुँ के प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये ते—'

'न हिये ते' कहकर मानो उन्होंने कबीर का उपहास-सा किया है। कबीर राम को निरंजन कहते हैं—

"राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे,
अंजन वाणी अंजन वेद, अंजन कीया नाना भेद
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै।"

आगे कहते हैं—

'अंजन अलख निरंजन सार, यहै चीन्ह नर करहु विचार'

कबीर के राम शुद्ध तात्विक ब्रह्म हैं। वे कारण हैं कार्य नहीं।

इस बात को कबीर ने कितने सांकेतिक ढंग से समझाया है।

"बाँझ का पूत, बाप बिन जाया, बिन पाउँ तरवर चढ़िया।
अस-बिन पाषर, गज-बिन गुड़िया बिन षंडै संग्राम लड़िया,
बीज-बिन अंकुर, पेड़-बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया,
रूप-बिन नारी, पुहुप-बिन परिमल, बिन नीरै सर भरिया।"

कबीर के राम सगुण निर्गुण से परे समग्र विश्व में प्रसरित हैं।

"खालिक खलक, खलक में खालिक सब घट रह्यौ समाई।"

गोस्वामी तुलसीदास ने जहाँ नाम और राम की सापेक्षित तुलना की है वहाँ उनकी नाम प्रशंसा कबीर के राम के स्वरूप के बहुत निकट आ गई है और दोनों दृष्टाओं में कोई अंतर नहीं मालूम होता। इसी प्रकार 'गुरु' को गोविंद से बड़ा बतानेवाली

कबीर प्रतिभा 'राम ते अधिक राम कर दासा' वाली तुलसी की वाणी के बहुत निकट आ जाती है।

कबीर की उलटबासियों की दुरूह अभिव्यंजना में अद्वैत के अनेक आनुषंगिक सिद्धांतों, प्रतिपत्तियों और व्याख्याओं का उलझा और अटपट स्वरूप मिलेगा। कहीं-कहीं तो "अहं ब्रह्मास्मि" "सोऽहम्" तथा "सर्वात्मवाद" की पद्यात्मक प्रतिष्ठा-मात्र है। फिर भी उनकी वाणी में अनुभूति का आर्जव और स्पंदन है, साक्षात्कार-जन्य विश्वास का गर्व है।

रहस्यवाद के वैदिक स्वरूप की अवतारणा भी कबीर ने अपने पदों में की है। ऋग्वेद की एक ऋचा में "यो नः पिता जनिता यो विधाता" कहकर परमात्मा का स्मरण किया गया है। वेदों में परमात्मा को माता भी कहा है—"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो वभूविय" कबीर ने भी राम को पिता और माता दोनों कहा है।

"बाप राम राया अब हूँ सरन तिहारी"
"हरि जननी मैं बालक तेरा"

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कबीर की रामोपासना साधनामूलक व्यष्टि-प्रधान है। लोक व्यवहार की उज्ज्वलता व्यष्टि की नैतिकता से ही सम्भव है अतएव कबीर पंथ को लोकवाह्य कहना उचित नहीं। प्रतीकों और अन्योक्तियों में लोक व्यवहार का पवित्र उल्लेख भी आ गया है। कबीर के राम साधना के सहारा हैं। तुलसीदास के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। वे सगुण साकार दशरथ-कौशल्यानन्दन, रावण निहंता, दुष्टदलन करनेवाले श्री राम हैं। उनका विश्वास है कि—

"जब जब होइ धरम की हानी, बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।
तब तब धरि प्रभु बिबिध सरीरा, हरहिं दयानिधि सज्जन पीरा।"

तुलसी की इसी अवतार भावना ने उन्हें रहस्यवादी नहीं होने दिया। आलंबन की महत्ता उसका चरम विकसित स्वरूप तुलसी-से भक्त में दैन्य का प्रादुर्भाव करता है। उन्हें अपने में उपास्य की अपेक्षा जो मानव-सहज दुर्बलता दीख पड़ी है उसी को उन्होंने कोसा है।

"सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि विनय सुनावौं।
सकल धरम विपरीत करत केहि भाँति नाथ मन भावौं॥"

संत की नीचे दी हुई वाणी इस उक्ति के कितने निकट पहुँच जाती है—

"का मुख लै बिनती करौं, लाज आवति मोहिं।
तुम देखत अवगुन करौं, कैसे भावौं तोहिं॥"

उपास्य के प्रति अटूट भक्ति और विश्वास के साथ वे कहते हैं—

"जानकी जीवन की बलि जैहों।"
"रोकिहौं नयन विलोकत, औरहिं सीस ईस ही नैहों।"

और भी—"गरेगी जीह जो कहौं और को हौं।
जानकी जीवन जनम जनम तिहारे ही कौर को हौं।"

उनके राम 'गरीब नेवाज' और 'सुसाहिब' हैं। वे "पतितपावन" हैं। उन्हें अपने यश विरद की लाज रखनी है। इसी भावना को व्यक्त करते हुए तुलसी कहते हैं—

"आपनो कबहुँ करि जानि हौ।
राम गरीब निवाज बिरद लाज उर आनि हौ।"
'तुलसीदास पतितपावन प्रभु यह भरोस जिय आवै।'

तुलसी के राम विश्व के उत्कर्ष और अपकर्ष में फँसे हुए व्यक्ति के प्रश्रय हैं। वे तो केवल प्रेम के भूखे हैं और वे कुछ नहीं चाहते। इसी लिए अपनी भक्ति से तुरंत प्रसन्न हो जाते हैं।

"राम सनेही सों तै न सनेह कियो।
अगम जो अमर निहूँ सो तनु तोहिं दियो।
दूरि सों न हेतू हेरि हिए ही है।
छलहिं छाँड़ि सुमिर छोह किये ही है।"

"एही दरबार है गरब ते सरब हानि लाभ जोग छेम की गरीबी मिसकीनता।
मोटो दसकंध सों न दूबरो विभीषन सों बूझि परी रावरे की प्रेम-पराधीनता।"

अन्यत्र कहते हैं—

"देहि सतसंग निज अंग श्री रंग भव भंग कारन सरन सो कहारी।
सत संसर्ग त्रयवर्ग पर परमपद प्राप्य निःप्राप्य गति त्वयि प्रसन्ने।"

तुलसी ने हमें भावनात्मक अधिरोहण का संसार दिया है। राम वहाँ के अधिनायक हैं सीता वहाँ की अधिनायिका हैं। जहाँ भक्त अपने उद्धार के लिए माता सीता की प्रार्थना करता है—

"कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरिहू सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ।"

राम के दरबार में भक्त को यह विश्वास है कि वे उसकी 'विनय पत्रिका' 'सही' कर बाँचेंगे। तुलसी ने राम में विष्णुत्व तथा सीता में 'मूल प्रकृतित्व' योगमायात्व और परम शक्तित्व का अध्याहार किया है। राम अपनी माया का आश्रय लेकर अवतार धारण करते हैं। वैसे वह चिदाचिद्विशिष्ट हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कबीर के राम घट-घट अंतर्यामी सर्वव्यापक, निर्गुण ब्रह्म हैं पर तुलसी के राम "अंतजमिहु ते बड़ बाहर जामी" हैं।

अमर कलाकार श्री मैथिलीशरणजी गुप्त

समीक्षा की प्रवृत्तियाँ

हिंदी-साहित्य की प्रगति बढ़ रही है। इधर कुछ काल से हिंदी में नई-नई प्रकार की समीक्षा-पद्धतियों का आविर्भाव हो रहा है। कुछ में विदेशी-समीक्षकों का अंध-अनुकरण देखने में आता है और कुछ में नितांत भारतीय पद्धति का पिछड़ापन है। 'वादों' के पीछे चलनेवाली समीक्षाओं की भी भरमार है। इनमें अपने 'वाद' के प्रचार का ही लक्ष्य मुख्य रहता है। ऐसी समीक्षाओं के लेखक प्राचीन और अर्वाचीन सभी ख्यातनामा कवि और लेखकों में अपने ही 'वाद' की पुष्टि ढूँढ़-ढूँढ़कर निकालने में आलोचना की कृतकार्यता समझते हैं। दलबंदीवाली समीक्षाएँ भी प्रचुर मात्रा में निकला करती हैं।

सदोष होने पर भी समीक्षा-जगत् की ये बहुरंगी वृत्तियाँ हिंदी-साहित्य को कुछ न कुछ दे ही जाती हैं। पक्षपातहीन निर्मल बुद्धिवाले समीक्षकों का भी अभाव नहीं है। ख्यातनामा और सुस्थापित कवियों और लेखकों पर अच्छी-अच्छी पुस्तकें भी देखने में आ रही हैं। कवि और लेखक-संबंधी साहित्य का भी निर्माण हो रहा है। हिंदी के लिए यह एक शुभ लक्षण है। परंतु संक्षेप में लिखी हुई आलोचनाओं का अभाव मुझे बहुत खटकता है। प्राणों से भरपूर, अत्यंत संक्षिप्त शैली में लिखी हुई, व्यापक गूढ़ तत्त्वों से समन्वित ऐसी छोटी-छोटी समीक्षाओं के लिखने की ओर आलोचकों का ध्यान कम जाता है जो थोड़े में कवि के काव्य अथवा लेखक की कृतियों को खोलकर रख दें तथा समस्त साहित्य-संबंधी ज्ञातव्य सामग्री को निष्पक्ष भाव से समझा सकें और कवि और लेखक का संक्षिप्त ऊहापोह कर सकें। विश्वकोष में स्थान पाने के योग्य ऐसी ही समीक्षाएँ हो सकती हैं। न पोथी-पंथी से काम चलता है और न सरसरी विहंगम-दृष्टि से।

गुप्तजी का महत्त्व

बाबू मैथिलीशरण गुप्त इस युग के सबसे ऊँचे कलाकारों में हैं। उनके संबंध में बहुत बड़ा साहित्य निकल चुका है और निकल रहा है। उनके न जाने कितने रूप बने

हैं, बन रहे हैं और बिगड़ते जाते हैं। उनका निज का निर्माण भी है और वे अपने अनेक ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं। उनका और उनके संबंध का साहित्य इतना विस्तृत है कि बिना मनोयोग से उसका अनुशीलन किये उन तक पहुँचना कठिन है। गुप्तजी को श्लाघा प्रदान करनेवाले समस्त साहित्य को पढ़कर भी कोई यह नहीं कह सकता कि उनमें वे अट पाये हैं। वह न उन्हें पूरा-पूरा देख सका है और न दिखा सका है। इसमें समीक्षकों की अयोग्यता का उतना दोष नहीं जितना कि उस अमर कलाकार के महत्त्व की इयत्ता का है।

लिखन बैठ बाकी सबी,
गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के,
चतुर चितेरे कूर।

यह दोष तो समीक्षकों का गौरव है। कलाकार और कलापारखी दोनों साहित्यिक होते हैं। एक की बढ़ती से दूसरे का आल्हाद होता है—

'रहिमन' यों सुख होत है,
बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि,
आँखिन को सुख होत।

आलोचक कलाकार का उऋण ऋणी होता है। और लोग तो वाह-वाह अथवा हाय-हाय करनेवाले मार्ग पर खड़े हुए दर्शक-मात्र हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त के काव्य को हम लोगों ने सुना अधिक परंतु समझा कम, कहा अधिक परंतु समझाया कम।

गुप्तजी और खड़ी बोली

गुप्तजी का काव्य-जीवन खड़ी बोली के इतिहास और विकास की गतानुगति का प्रतिरूप है। अभिव्यंजना की नितांत गरीबी, पद्य में गद्य की रूक्षता, वस्तु और शैली दोनों के अकाल में उदासीन लेखकों और कवियों की टोली लेकर जिस समय स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी खड़ी बोली को ब्रज के फंदे से पृथक् करके उसे लड़खड़ाते पैरों पर खड़ा कर रहे थे उस समय उनके अमोघ साधनों में बाबू मैथिलीशरण गुप्त सर्वश्रेष्ठ थे। गुप्तजी ने खड़ी बोली को माँजा, निखारा और बामुहावरे बनाया। वह उर्दू के उत्संग से पृथक् हटकर अपने शुद्ध और पवित्र रूप में खड़ी हुई। खड़ी बोली में आज

जो प्रांजलता, सुघड़ता, संकेतात्मकता की अनेकरूपता दिखाई देती है, उसका मार्ग-प्रदर्शन गुप्तजी के सदृश मनीषियों ने ही किया है। गद्यात्मक पद्य से लेकर पद्यात्मक गद्य तक पहुँचाने में उनका बड़ा योग है। वास्तव में खड़ी बोली को निश्चयात्मक रूप बाबू मैथिलीशरणजी ने ही दिया और संदिग्ध स्थलों का निर्णय उन्हीं के ग्रंथ करते हैं। ऐसी टकसाली, ऐसी शुद्ध और ऐसी व्याकरण-संयत भाषा किसी दूसरे लेखक और कवि में कदाचित् ही मिले।

उर्दू को मँजकर निखरने में शताब्दियाँ लगी हैं। उसके मुहाबरे और उसकी कहावतें न जाने कितने दिनों और कितनों के परिश्रम की देन हैं। पर हिंदी खड़ी बोली में बाबू मैथिलीशरण इस दिशा में—कम-से-कम काव्य-क्षेत्र में—बहुत काल तक अकेले ही प्रयास करते रहे और उनका अध्यवसाय सफल रहा। यह बिना संकोच कहा जा सकता है कि खड़ी बोली की प्रेरणाएँ और आकांक्षाएँ उन्हीं में, पूर्णरूप से, प्रस्फुटित हुई हैं। वे संस्कृत की बोझिल पदावली के फेर में कभी नहीं पड़े पर उनकी भाषा बड़ी शुद्ध और सुसंस्कृत है। वे सर्वसुबोध बनने की धुन में इतने उतरे भी नहीं कि उनमें प्रांतीय और स्थानिक प्रयोग घुस आते फिर भी वे अधिकतर अत्यंत सरल और सुबोध हैं। गोस्वामी तुलसीदास के बाद जनरुचि और लोकरुचि का सामंजस्य स्थिर करनेवाला इतना बड़ा दूसरा कवि नहीं हुआ। पर स्मरण रहे कि उनकी कला उनकी सरलता नहीं है और न उनकी उच्चता उनकी अभिव्यंजन जटिलता है। उनकी कला बुद्धि के ऊँचे-नीचे स्तर को एक प्रकार से समझा लेती है; रुचि की अनेक समता को एक प्रकार से परितुष्ट कर देती है।

भाषा में वर्णसंकरी प्रयोग अथवा विदेशी शैलियों का वानरी अनुकरण बाबू मैथिलीशरण गुप्त को कभी नहीं रुचा। उनकी हिंदी न गाढ़ी है न गरुई और फिर भी सुसंस्कृत और उच्च है। ऊँची उड़ान में भी वे सरल हैं और हलके वर्णनों में भी गंभीर हैं। हिंदी-उर्दू-अँगरेजी की खिचड़ी उनमें नहीं है फिर भी वे सर्वसुबोध हैं। वे हिंदी लिखते हैं हिंदुस्तानी नहीं।

गुप्तजी के गीत और प्रबंध

गीत-काव्य के नाम पर अधूरे, रंग-बिरंगे, अस्पष्ट और आड़ी-तिरछी रेखाओं के चमत्कार पर जीनेवाले चित्रों की भरमार हिंदी में बहुत दिनों तक रही है। दो चार जाज्वल्यमान उक्तियों को दो-चार उखड़े हुए विचारों के साथ चमकीली भाषा की पृष्ठ-भूमि में भाव से भरी हुई दस-बारह पंक्तियों में सजाकर खड़ा कर देने में इधर के कवि अपने कवि-कर्म की इतिश्री समझते थे। यह सब गीत-काव्य के नाम पर और छाया-

वाद की वेदी पर पूजा जाता था। विचारों को दूर तक तानकर प्रबंध गुंफना में बढ़ाना, शील-रक्षा, घटना नियोजना, बलवान वातावरण का निर्माण, घात-प्रतिघात और अंतरद्वंद्व को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर सजाना; कथोपकथन में प्रत्युत्पन्न मति का परिचय देने के साथ-साथ नागरिकता, समझ और तर्क को न छोड़ना—क्या यह सब कौशल साधारण बुद्धिवाले बे-पढ़े-लिखे कविकीर्ति अभिलाषी किसी ऐसे-वैसे तरुण में थोड़े ही आ जाता है? तरुणाई का वरदान ऐहिक सौंदर्य है पर तरुणाई का अभिशाप मानसिक अल्हड़ता है। प्रबंध-पटुता के लिए लम्बे अनुभव, सुसंस्कृत सरस हृदय, तथा शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता है।

यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि बाबू मैथिलीशरण का स्थान आजकल के हिंदी-काव्यकारों में बहुत ऊँचा है। उन्होंने गीत भी लिखे हैं पर वे अधूरी और अस्पष्ट नहीं। उन्होंने अमिट नायक दिये हैं। उन्होंने अमर कथाएँ दी हैं। उन्होंने आदि और अवसान के बड़े कलापूर्ण रूप रखे हैं। उनके कथानकों के मोड़ बड़े स्वाभाविक और सुंदर हैं। उनकी घटनावली बड़ी व्यवस्थित और नैसर्गिक है। वे यथार्थ को बलपूर्वक आदर्श की ओर नहीं घसीटते और न आदर्श को अस्वाभाविक-यथार्थ रहने देते हैं। वे वस्तुस्थिति के ठोस मंदिर में ही आदर्श की प्रतिमा बैठाते और पूजते हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कला में भारतीयता का पूरा-पूरा विकास तो है ही उसमें पूर्वीय कला की विशेषताएँ भी पर्याप्त हैं। नतमस्तक होकर ऊपर से गिरनेवाले आध्यात्मिक स्रोत में अवगाहन करना समस्त पूर्वीय देशों की कला का सबसे बड़ा सौंदर्य है। पश्चिमी देशों की कला में अहम् की ठसक तथा कलाकार की उग्रता सबसे ऊपर दिखाई देती है। नम्रता निकट नहीं आती, पर यहाँ तो नम्रता कला के प्राण हैं। नम्रता का उत्कट अनुभव ही नय और विनय को आत्मउत्सर्ग; आत्मदौर्बल्य, और न जाने कितनी प्रकार की आत्मनगण्यता की दण्डायमान परिपाटियों में भ्रमण कराता है। दैन्य और विनय का भी एक अलग रूप बनाकर खड़ा कर दिया गया है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त सशक्त निर्माणक हैं। उन्होंने भारतवर्ष की पुरानी संस्कृति को आधुनिकता के वैज्ञानिक प्रकाश में सजाया है। अंधकार में पड़े हुए ऐतिहासिक पुरुष, भ्रांति में पनपे हुए पौराणिक ऋषि-मुनि, रूढ़ि और प्रमाद में ग्रस्त संस्कृत महा-काव्यों के पात्र; पुरानेपन में जकड़े हुए असंभाव्य परिस्थितियों में साँस लेनेवाले उपनिषदों के अर्धमानव; गतानुगति से प्राप्त परम्परा की टेढ़ी-मेढ़ी रेखा पर चलनेवाले केवल मौखिक उत्तरधिकार पर जीवित प्राणी—सबों को बाबू मैथिलीशरणजी ने अपनी लेखनी के चमत्कार द्वारा नितांत अर्वाचीन वातावरण में लाकर खड़ा कर दिया।

इतिहास बिगड़ने नहीं पाया; पुराणों और उपनिषदों के तत्त्व भी बने रहे; काव्यों के नायकों के स्वरूप भी विकृत नहीं हुए; मौखिक परम्परा को भी बल मिला; भारतीयता भी रक्षित रही तथा हमारी संस्कृति को नया प्रकाश और नई चमक मिली। संभाव्य के घेरे में आदर्श का मुकुट पहिनकर सारी प्राचीनता उनके काव्यों में मुस्कराती है और भारतीय संस्कृति की नई टीका करती है।

यही घटना पुरानी कहानियों के साथ घटी। पौराणिक कथानक, उपनिषदों के दृष्टांत, महाभारत और रामायण के प्रसंग, प्राचीन कहानियों के संदर्भ, वेदों के कथोपकथन, नानी-दादी की व्याख्याएँ—सबके सब नये सजधज, नई संस्कृति, नये रूप और नई कला में गुप्तजी की कविता में उतर आये हैं। प्राचीनता का इतना अच्छा और समीचीन मूल्यांकन और मूल्य-निर्धारण कदाचित् ही अन्यत्र किसी कवि में मिले। उन्होंने रूढ़ि के घिसे हुए सारे आवरण को धोकर भारतीय सभ्यता को नये प्रमाण में सामने रखा। मैथिलीशरणजी की यह सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में उन्होंने ऐसा किसी वाद के झमेले में पड़कर उसकी पुष्टि के लिए नहीं किया।

गुप्तजी पर आक्षेप और उनका महत्त्व

अपनी श्रद्धा के झोंक में यह नहीं कि मैंने यह सुना हो अथवा पढ़ा हो कि गुप्तजी में अब अस्पष्टता और दुरूहता आ रही है, उनके इधर के प्रबंध-काव्यों में प्रबंध-शैथिल्य आ रहा है; साकेत का नवाँ सर्ग काव्य सिद्ध विरह-वेदना विलापमात्र है, वस्तुस्थिति सिद्ध नहीं जिसके बिना प्रबंध काव्य की कला पूरी नहीं होती; उनके कुछ कविता-ग्रंथ गद्यात्मक हैं और बड़े-बड़े ख्यातनामा कविता ग्रंथों में गद्यात्मक प्रसंगों का अभाव नहीं, उनके ग्रंथों में प्रचार अधिक और काव्य कम है; आरंभ और मध्य काल के काव्यों में शब्दों का घटाटोप है, परंतु बात बहुत थोड़ी कही गई; यदि कहीं भाव-दुरूहता है तो कहीं-कहीं सरलता की अत्यंत साधारणता है; पिछले काव्यों में संगीत-प्रियता के मोह के कारण काव्य-कला कई स्थानों में ढीली पड़ गई है; गीतात्मकता ने प्रबंध-सौष्ठव की उपेक्षा की है; उनके पास मौलिक उद्भावना का अभाव है इसी लिए उन्होंने पुरानी कहानियों और पुराने नायकों को खोद-खोदकर निकाला है; उनमें भारतीयता का इतना मोह है कि वे साधारण से साधारण अंतरराष्ट्रीयता की धड़कन सुन नहीं पाते; उनकी कृतियों में पूर्वीय अधिनायकवाद की झलक मिलती है; उनमें वर्णविहीन अथवा वर्गविहीन भावना के साथ सहानुभूति नहीं है; वे पूँजीपतियों के कवि हैं शोषितों के नहीं; उनमें युग-चेतना का स्पंदन कम है और रूढ़ि-प्रतिष्ठा का पिछड़ापन अधिक है; वे प्रगतिशील कवि नहीं हैं;—इत्यादि, इत्यादि,

आरोपों की यह तालिका अधिक से अधिक विस्तृत की गई है। सम्भव है वह और भी बढ़ सके। मैं यह नहीं कहता कि बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त सर्वज्ञ हैं—वास्तव में आज तक इस संसार में ऐसा कोई कवि नहीं हुआ जिसके प्रतिकूल कुछ न कहा जा सके। यह भी उतना ही सत्य है कि गुप्त जी ने सब कुछ नहीं कह डाला। अभी तो संसार को बहुत कुछ कहना शेष है। इस दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास जी तक की प्रतिभा सीमित और कुंठित ही है। पर क्या यह सत्य नहीं कि गुप्त जी ने जो कुछ कहा है अपने ढंग से कहा है और अपना बनाकर कहा है?

ऊपर गिनाये हुए आरोपों में कहीं-कहीं पर किसी-किसी में आंशिक सत्यता भी हो सकती है पर उससे उनका महत्त्व बिलकुल कम नहीं होता। आरोपों की भ्रांतियों को एक-एक करके दिखाया भी जा सकता है। पर वह एक पुस्तक का विषय है इस छोटे से लेख का नहीं। यह भी बिलकुल सत्य है कि वे मार्क्सवादी विचार धारा के साम्यवादी कवि नहीं हैं। यदि यही प्रगतिवाद है तो वे अवश्य प्रगतिवादी नहीं है। उनका न यह विषय है और न मत। आज के प्रगतिवादी कहे जानेवाले कितने कवियों ने ईमानदारी से मार्क्सवाद को पढ़ा है और उसकी विचार धारा को पचाया है?

बाबू मैथिली शरण गुप्त अपने गीतों से कहीं अधिक अपने प्रबंधकाव्यों के लिये प्रसिद्ध हैं। प्रबंध पटुता उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

संस्कृत के ह्रास-काल में काव्य के कला-पक्ष की बहुलता इतनी बढ़ गई थी कि कवि का ध्यान भाषा चमत्कार, अलंकार-प्रयोग-कुशलता, छंद-बहुलता-प्रदर्शन की ओर तो था ही, पुराने लक्षण-ग्रंथों में इंगित किये हुये नायिका-भेद, रस-भेद, षट्-ऋतु वर्णन महाकाव्य-खण्ड काव्य की निभायी हुई परिभाषा के भीतर ही चक्कर लगाने का था। ये लोग आचार्य थे। कविता को उसी तल से तोलते थे और लक्षण ग्रंथों के बाँधों से सजाते थे। पुराने कवियों से आगे हम अब क्या लिख सकते हैं, उनके दिखाए मार्ग से हटना धृष्टता है। यह भावना जोरों से कार्य करती थी। प्राचीन परिपाटी का ही कुछ हेर-फेर से निवाहना अच्छी कविता का लक्षण था। श्री हरिऔधजी भी इसी भावना के पोषक थे। उन्होंने प्रिय-प्रवास में प्रिय के प्रवास जन्य क्लेशों की गहरी अनुभूति के धक्के से रस-गगरी नहीं छलकाई, उन्होंने खड़ी बोली का स्वरूप और अपनी विद्वता और आचार्य-पटुता दिखलाने के लिए प्रिय-प्रवास रचा। अन्यथा पवनदूत लिख कर मेघदूत की समता न करते। रस-कलश में नायिकाओं की नयी संख्या की वृद्धि न करते। यह प्राचीनता का मोह ही है, मौलिक रसात्मक उद्‌भावना नहीं।

हरिऔध जी ने राधा और कृष्ण के चरित्र-निर्वाह में आदर्शवादी सुधारवाद का जो जामा पहनाया है वह निरूपित स्वरूप के आभ्यंतर में स्पष्ट न होने के कारण अस्वाभाविक है। पात्रों में वर्णसंकरता है। वे लड़खड़ाते हैं। परंतु फिर क्या ? देखना यह है कि क्या 'हरिऔध' जी का ध्यान सशक्त पात्रों को देने की ओर था ? क्या उन्होंने अपनी काव्य-कला को उधर की ओर प्रेरित किया ? अथवा उसकी गति-विधि ही दूसरी ओर रही। जायसी के पद्मावत में कथा की गति भी वेग-सम्पन्न नहीं। वह बहुत ही मंद है, उसके पात्र तो नितांत निर्बल और आदर्श विहीन ही नहीं अयथार्थ भी हैं। फिर भी हम पद्मावत को महाकाव्य कहते हैं। देखना यह है कि क्या उपाध्यायजी का ध्यान कथा-विस्तार की ओर था भी ? यदि नहीं, तो इसका दोष उनकी अपनायी हुई काव्य-पद्धति पर है। प्रसाद गुण की एकांत उपयोगिता प्रभाव-प्रेषणीयता के लिए न भी स्वीकार की जाय तो भी प्रिय-प्रवास की भाषा बोझीली है—यह सभी स्वीकार करेंगे। हिंदी की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति बड़े-बड़े समस्त पदों और वाक्यों को सौकर्य्य के साथ कभी अपना नहीं सकती।

परंतु बाबू मैथिलीशरण गुप्त का कलाकार सुंदर कहानी की नाना प्रकार की मनोरम परिस्थितियों को सामने रखते हुए, घटनाओं और वर्णनों की संकुलता से छलकती हुई कथावस्तु को औत्सुक्य की बलवान पटरियों पर आगे वेग से बढ़ाता जाता है। वह विशद अध्ययन और व्यापक अनुभव द्वारा भीतर निर्मित हुए मौलिक रूपों को ही सशक्त पात्रों के रूप में बाहर रखता है, जो भुलाये नहीं जा सकते और मेटे नहीं मिटते। वह जीवन के गहरे तलों का घात-प्रतिघात गम्भीरता के साथ सद्गामिनी और विरोधगामिनी वृत्तियों के मेल में सामने रख देता है। यह कलाकार इस जीवन की और अतींद्रिय जगत की भाव-विभोर परिस्थियों की झाँकी ही सामने नहीं रखता वरन् उनकी समस्त आकांक्षाएँ और रागात्मक चितनाएँ उकसा दिया करता है। उसकी शैली में शब्दों का बोझ अथवा मृदंग का सारहीन नाद नहीं जिसके बीच से छन कर भाव और रस टपक जाते हैं। वह तो सूक्ष्म ध्वनियों के सहारे अर्थ-रमणीयता और आघात-प्रेषणीयता उत्पन्न करता है।

अब थोड़े समय के लिये गुप्त जी के प्रति किये गये आरोपों पर फिर ध्यान दीजिए। देखिये कि गुप्त जी की साहित्यिक महत्ता से उन्हें ऋण करके कुछ बचता है। किसी भी समीक्षक को यह न भूलना चाहिए कि कला का एक सांघातिक और सामुहिक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रभाव और इसी चोट को देखना चाहिये। इसी परख में

कला का मूल्य है। छोटे-छोटे किर-किराने वाले कणों का विराट संघर्षण में न कोई शब्द ही सुनाई पड़ता है और न कोई प्रतिरोध ही हो सकता है। मार्ग का भारी अथवा हल्कापन मार्ग में पड़ने वाले तार के खंभों का पिचकापन अथवा मील के पत्थर के इधर-उधर पड़े हुए टुकड़े नहीं बता सकते। सुंदर-से-सुंदर प्रवाह के तल में खुरखुरे कंकड़ और पैर पकड़ लेनेवाला कीचड़ मिल सकता है। अधोगामिनी वृत्ति ही सौंदर्य में रमण न करके कीचड़ उछालती है और कंकड़ फेंकती है। उँची कृति में व्याकरण की भूलें देखना अथवा प्रेस अशुद्धियों को ढूँढ़ना ओछी बुद्धि का परिचायक है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त का व्यक्तित्व उनकी कला से कम ऊँचा नहीं। सरल और मृदुल स्वभाव, बच्चों की सी उनकी निर्मल पवित्रता, उनका सादा जीवन और सादी वेष-भूषा, श्रद्धा और भक्ति को वलात आकृष्ट करते हैं। इन पंक्तियों के लेखक को उनका सौहार्द्र बहुत काल से प्राप्त है। अपने कालेज के दिनों में मैंने उनकी अरुण आभा भी देखी है उसका धीरे-धीरे जरोन्मुख मुद्रा का आज का परिवर्तन भी देखा है। उनकी पगड़ी से लेकर गांधी टोपी का एक सा परिचय है। उनका कविता पाठ का ढंग गाने का नहीं है, फिर भी स्वर विन्यास और अर्थ गरिमा को एक साथ समझा देने का उनकी वाणी में अनुपम सौकर्य है।

तीसरा भाग

हिंदी में वादों का विवाद

तर्क, व्याख्या और मीमांसा के सहारे विचार सिद्धांत बनते हैं। सिद्धांत जब तथ्य बनकर अपनी परम्परा स्थिर करते हैं तब वे वाद कहलाते हैं। वादों का नामकरण, अधिकतर, उनके व्याख्याताओं द्वारा निर्धारित अभिधानों के अनुसार होता है। कभी-कभी स्वयं व्याख्याता के नाम के पीछे भी उसके वाद का नाम रख लिया जाता है। साधारणतया वाद के अनेकार्थी विचारों को सबसे अधिक और व्यापक रूप में अभिव्यक्त करने वाले शब्द द्वारा ही उसका बोध कराया जाता है।

बहुत बार तर्क व्याख्या और मीमांसा की कसौटी में कसने के पूर्व ही किसी विचार धारा का चलन इतना दिखाई देने लगता है कि उसमें एक बलवती गतानुगति प्रवेश कर जाती है। चलन की व्यापकता जितनी बढ़ती जाती है वाद की प्रतिष्ठा को उतना ही बल मिलता जाता है। देश के अनेक चिंतकों द्वारा संकेतित, अनेक व्यक्तियों द्वारा प्रशंसित। अनेक वक्ताओं लेखकों और कवियों द्वारा अंगीकृत और देश की उदात्त प्रेरणाओं में सम्मिलित विचार परम्परा को वाद बनने में देर नहीं लगती। समीक्षक लोग आगे चलकर तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन द्वारा उसका रूप निखारते और पुष्ट करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कभी वाद पहले बनता है और परम्परा बाद में चलती है और कभी परम्परा सहले चल निकलती है और वाद का स्वरूप निरूपण पीछे होता है। कार्लमार्क्स ने साम्यवाद और स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद की स्थापना पहले की और परम्परा पीछे चली; परंतु अँगरेजी साहित्य में रोमांचवाद (Romance) और हिंदी में छायावाद की परम्परा पहले चल पड़ी और वाद की प्रतिष्ठा पीछे हुई।

चिंतना के सभी क्षेत्रों में वादों की प्रतिष्ठा देखने में आती है। राजनीति में न जाने कितने वाद सभी देशों में प्रचलित हैं। समाजनीति, अर्थनीति, शासननीति, सैन्यनीति, साहित्य, काव्य इत्यादि सभी स्वरूपों में कोई न कोई वाद सामने आ जाता है। हिंदी साहित्य के छोटे इतिहास में भी कई वाद समय-समय पर उदय हुए और बहुत काल तक अपना कार्य करते रहे। इस लेख में उन्हीं की चरचा की जायगी।

योगवाद (१)

हिंदी का प्रादुर्भाव अपभ्रंश के बाद हुआ। प्राकृत के साहित्यिक भाषा बन जाने पर लोक भाषा अपभ्रंश बनी। उसकां भी जब संस्कार हुआ और उसमें साहित्य बना और वैयाकरणों ने उसे लोकोपयोग से दूर पहुँचा दिया तब हिंदी का विकास हुआ। जिस प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश के संक्रमण युग की वर्णसंकरी भाषा का चलन बहुत काल तक रहा उसी प्रकार अपभ्रंश और हिंदी की वर्णसंकरी संतान का प्रयोग भी बहुत समय तक होता रहा। इस संक्रमण युग में बहुत से पद्य बने। उनके रचयिता, अधिकतर, बौद्धों की बज्रयान शाखा के सिद्ध लोग थे। यह युग वास्तव में योगवाद का युग था। हिंदी साहित्य का सबसे पहला वाद योगवाद है। यह भ्रम न होना चाहिए कि एक युग में एक ही वाद का प्रचार साहित्य में होता है। कई कई वाद एक साथ चलते रहते हैं। परंतु हिंदी में इस समय जिस प्रकार के पद्यों के नमूने मिलते हैं उनमें योगवाद की ही प्रधानता है। 'योगसार' इस समय की प्रसिद्ध पुस्तक है जिसका निर्माण किसी जैन ने किया है।

योगवाद के इस युग में योग का जो स्वरूप चल निकला उसका थोड़ा बहुत परिज्ञान कर लेने की आवश्यकता है। योग की दो परिभाषाएँ हैं—'योगश्च चित्तवृत्ति निरोधः' और 'योगः कर्मसु कौशलम' ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। पहली पातंजल सूत्र में है और दूसरी श्री भगवद्गीता में। केवल एक सहारे योग की सम्पूर्णता व्यक्त नहीं होती। योग शब्द युज् + घञ् से बनता है। 'युज्' धातु का अर्थ मिलाना है। सब ओर से चित्तवृत्ति को हटाने के साथ-साथ एक ओर उनका लगाना योग कहलायेगा। चित्तवृत्ति को लगाने के स्थान योगाभ्यासियों के लिए आरंभ से अंत तक निश्चित हैं। परंतु इस प्रकार से आभ्यतर में वृत्ति को समेट कर ध्यान करने वाला संसार के सारे कामों से विरत रहेगा। अतएव वह संसार साधना के प्रवृत्ति मार्ग के नितांत अनुपयुक्त सिद्ध होगा। यह न जीवन शास्त्र है और न जीवन कला है। विश्व के मंतव्य के भी यह बिलकुल प्रतिकूल है। इसीलिए दूसरी परिभाषा की रचना हुई जिसमें स्पष्ट लिख दिया गया कि किसी भी कार्य को कुशलता से अथवा औचित्य-पूर्ण ढंग से करने का नाम योग है। वास्तव में इन दोनों स्वरूपों का उचित सामंजस्य का ही नाम सच्चा योग है। बहुत बाद में गोस्वामी तुलसीदास ने इन दोनों सूत्रों के एकत्व का महत्व समझा और यह जीवनयापन कला की प्रतिष्ठा इस दोहे में की—

"घर कीन्हें घर जात है, घर छाड़े घर जाय।
'तुलसी' घर बन बीच रहु, राम प्रेम पुर छाय ॥"

अकेले पहले सूत्र के पीछे चलने वाले, लोक वाह्य अथवा लोक-विरोधी बन कर ही नहीं रहे वे कभी-कभी धर्म विरोधी, समाज-व्यवस्था-भंजक, लोकाचार प्रतिकूल घोर ऐहिक आनंद की योजना में लीन, वे लीक लीक चलने वाले फक्कड़ बन गये आभ्यंतरीय योग साधना का रस योग सिद्ध को तो अगम लोक में निरंजन के समकक्ष ले गया परंतु योगभृष्ट को माँस, मदिरा और मैथुन की गलियों में घुमाने लगा। सब ओर की चिन्तवृति निरोध ने लोकाचार व्यवस्था को पहले से ही घृणित कर रक्खा था। गिरने के लिये आध्यात्यिक हरीतिमा के भीतर रपटने वाली काई उपस्थित थी।

'कर्मसु कौशलम' को अकेले-लेकर चलने वाले सृष्टि-विस्तार के पवित्र कार्य के लिये भी कामशास्त्र और कोकशास्त्र बनाने में उलझ गये। शिश्नोदर पंथ चल निकला। भोजनों के लिये पाकशास्त्र और वस्त्रों के लिए परिधान-शास्त्र बनाए गए। यह एकांगी पकड़ विचार और कर्म दोनों पक्षों के लिये घोर घातक सिद्ध हुई।

बौद्धधर्म के विकृत होने का भी यही कारण है। बौद्ध तांत्रिकों के बीच में बामाचार खूब फैला। ये लोग सिद्ध कहलाते थे और पूरबी भारत में उनका प्रसार खूब हुआ। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए। इन योगियों को लोग अलौकिक शक्ति सम्पन्न समझते थे। जनता में इनका प्रभाव पठानों के काल तक बराबर चला आया। विहार के नालंदा और विक्रमशिला इनके अड्डे थे। बखतियार खिलजी ने जब इन केंद्रों को ध्वंस कर दिया तो ये तितर बितर हो गए और बहुत से दूसरे देशों में चले गए। चौरासी सिद्धों के नाम किसी भी अच्छे इतिहास ग्रंथ में मिल जायंगे। इनके नामों के पीछे अधिकतर 'पा' अक्षर मिलेगा जो पाद का संक्षिप्त रूप है और आदर सूचक है।

ये सिद्ध अपनी वाणी अपभ्रंश मिश्रित देश भाषा में सुनाते आए हैं। राहुल सांकृत्यायन जी ने भोट देश से इनकी बहुत सी रचनाओं को प्राप्त किया। सबसे पुराने सिद्ध का नाम 'सरह' है जिनका समय ६६० माना गया है।

देखिये योगवाद की पुष्टि में ये क्या कहते हैं—

"जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि बट चित्त बिसाम करु, सरेहे कहिअ उवेस।
घोर अँधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ॥

जीवन्तह जो नउ जरइ सो अजरामर होइ ।
गुरु उपएसें बिमलमइ सो पर धरणा कोइ ॥"

विरूपा की पंक्तियों की अंतर्मुख साधना पढ़िये—

सहजे थिर करि वारुणी साध । जे अजरामर होइ दिट काँध ।
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ । आइल गराहक अपणो बहिआ ।
चउशठि थड़िए देट पसारा । पइठल गराहक नाहि निसारा ।

जैसा उधर कहा गया है योग-तंत्र-साधकों का विषयाभिमुखी रुझान उन्हें बहुत नीचे ले गया था । मद्य सेवन डोमिनी और रजकी का अबाध संसर्ग उनकी साधना का अंग था । उनके आलेखों में इनकी चरचा मिलती है । सिद्ध कण्हपा लिखते हैं—

"आलो डोंबी, तोए सम करिब म साँग ।"

और देखिये—

"बाहतु डोंबी, बाह लो डोंबि बाट त भइल उछारा ।
सद्‌गुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा ॥"

सद्‌गुरु भी बीच में घुस आए हैं ।

साथ ही साथ योग की साधना देखिये—

नाड़ि शक्ति दिअ धरिअ खदे ।
अनह डमरू बाजइ बीर नादे ।
काण्ह कपाली जोगी पइठ अचारे ।
देह-नअरी बिहरइ एकारे ॥"

इन सिद्धों के संबंध में तथा इनके योगवाद के स्वरूप को समझाने के लिये पंडित रामचंद्र शुक्ल के इतिहास की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

बौद्धधर्म ने जब तांत्रिक रूप धारण किया तब उसमें पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्त्वों की भावना की गई जो सृष्टि का परि-चालन करते हैं । वज्रयान में आकर 'महासुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ । प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुखदशा की प्राप्ति मानी गई । इसे आनंद-स्वरूप ईश्वरत्व ही समझिये । निर्वाण के तीन अवयव ठहराए गये—शून्य, विज्ञान और महासुख । उप-निषद् में तो ब्रह्मानंद के सुख के परिमाण का अंदाजा कराने के लिये उसे सहवास-सुख से सौगुना कहा था पर वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास-सुख के समान बताया गया । शक्तियों सहित देवताओं के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चली और उनकी

नग्न मूर्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं, जो कहीं-कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान स्थान पर होने लगे। ऊँचे-नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ अनेक बीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्ध प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय देश के पूरबी भागों में (बिहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।"

इन्हीं वज्र यानियों से ही आगे चल कर कौल और कापालिक निकले। योग की एकांत साधना में 'गुह्य' और 'रहस्य' की उपासना सामने आई और अनाचार का प्रचार हुआ। योगवाद बेजान में भोगवाद बना।

गोरखनाथ भी इन्हीं सिद्धों में थे पर उन्होंने अपना योग भोगरूप से बिलकुल ही प्रथक रक्खा। उनका पंथ बौद्धों के प्रभाव से प्रथक शुद्ध हिंदू साधना के अनुकूल था। पतंजलि के उच्च लक्ष्य भगवद् प्राप्ति को सामने रखकर गोरख ने हठयोग की साधना चलाई। गोरखपंथियों ने पश्चिमी भारत में अपना प्रचार किया। इनके सकाश से योग वाद में पवित्रता फिर आई। गोरख के अनुयायियों को नाथ कहा गया और उनकी संख्या नौ थी और इस प्रकार सिद्ध एवं नाथ दो दल योगवादियों के हो गये।

जो मुसलमान भारतवर्ष में सिंध और मुलतान में बस गये उनमें से कुछ सूफी लोगों ने प्राणायाम-क्रिया हिंदू योगियों से सीखी। सिद्धों और नाथों के अलौकिक चमत्कारों का सामना करने के लिए मुसलमानों में पीर और फकीर सामने आए और परस्पर एक दूसरे के पछाड़ने की जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हो गईं। परंतु हिंदू और मुसलमान दोनों प्रकार के साधकों को गोरखनाथ के हठ योग में बल मिला क्योंकि उसमें कोई सांप्रदायिक भेद भाव न था। योगवाद के लपेट में मुसलमान भी आ गये।

देखिए मलिक मुहम्मद जायसी हठयोग के विभागों के अनुसार शरीर का वर्णन सिंहलगढ़ के वर्णन के भीतर करते हैं—

"गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया, पुरुष देखु ओही कै छाया॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हें, जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हें॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा, औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुवार गुपुत एक ताका, अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका।
भेदै जाइ कोइ वह घाटी, जो लह भेद चढ़ै होइ चाँटी॥

गढ़ तर कुंड सुरँग तेहि माहाँ, तहँ वह पंथ कहाँ तोहि पाहाँ ।।
दसवँ दुवार ताल कै लेखा, उलटि दिष्ट जो लख सो देखा।"

पंडित रामचंद्र शुक्ल ने इस प्रसंग को जायसी ग्रंथावली में निम्नलिखित ढंग से समझाया है—

"हठ-योगी अपनी साधना के लिए शरीर के भीतर तीन नाड़ियाँ मानते हैं। मेरु-दंड या रीढ़ की बाईं ओर इला और दहनी ओर पिंगला नाड़ी है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना नाम की नाड़ी है। स्वरोदय के अनुसार बाएँ नथने से जो साँस आती जाती है, वह इला नाड़ी से होकर और दहने नथने से जो आती जाती है वह पिंगला से होकर। यदि श्वास कुछ क्षण दहने और कुछ क्षण बाएँ नथने से निकले तो समझना चाहिए कि वह सुषुम्ना नाड़ी से आ रहा है। मध्यस्था सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्म-स्वरूपा है और उसी में जगत अवस्थित है। बिना इन नाड़ियों के ज्ञान के योगाभ्यास में सिद्धि नहीं होती। जो योगाभ्यास करना चाहते हैं वे पहले इला, फिर पिंगला और उसके अनंतर सुषुम्ना को साधते हैं। सुषुम्ना के सबके नीचे के भाग में, नाभि के नीचे, योगी कुंडलिनी मानते हैं। इसी को जगाने का प्रयत्न वे करते हैं। जाग्रत होने पर कुंडलिनी चंचल होकर सुषुम्ना नाड़ी के भीतर-भीतर सिर की ओर चढ़ने लगती है और हृत्कमल तथा बाहर चक्रों को पार करती हुई ब्रह्मरंध्र या मूर्द्ध-ज्योति तक चली जाती है। जैसे-जैसे वह ऊपर को चढ़ती जाती है, योगी के सांसारिक बंधन ढीले पड़ते जाते हैं। यहाँ तक कि ब्रह्मरंध्र में पहुँचने पर मन और शरीर से उसका संबंध छूट जाता है और साधक पूर्ण समाधि या तुरीयावस्था को प्राप्त होकर ब्रह्म के स्वरूप में मग्न हो जाता है।

"ऊपर जो पंक्तियाँ उद्धृत हैं उनमें 'नौ पौरी' नाक, कान, मुँह आदि नवद्वार हैं। दशमद्वार ब्रह्मरंध्र है जिसके पास तक पहुँचने में बहुत से विघ्न या अंतराय पड़ते हैं। पाँच कोतवाल काम, क्रोध आदि विकार हैं। गढ़ के नीचे का कुंड नाभि-कुंड है जहाँ कुंडलिनी है। इस नाभि-कुंड से गई हुई सुरंग सुषुम्ना नाड़ी है जो ब्रह्मरंध्र तक चली गई है। वह ब्रह्मरंध्र बहुत ऊँचे है; वहाँ तक पहुँचना अत्यंत कठिन है। संसार से अपनी दृष्टि हटाकर जो उसकी ओर निरंतर ध्यान लगाये रहता है वही साधक वहाँ तक पहुँच पाता है। जैसे रत्नसेन को शिव ने सिंहलगढ़ के भीतर पहुँचने का मार्ग बताया है, वैसे ही साधक को किसी सिद्ध पुरुष से उपदेश ग्रहण किए बिना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। आरम्भ में कवि ने जो सिंहलगढ़ का वर्णन किया है उसमें कहा है कि "चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार"। ये चार बसेरे सूफी-साधकों की चार

अवस्थाएँ हैं—शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत। यही मारफत पूर्ण समाधि की अवस्था है जिसमें ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति होती है।"

नाथ-सम्प्रदाय के शास्त्रों में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा है। घट के भीतर ही उसका स्थान है। वेद शास्त्रों का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर पढ़ों-लिखों की निंदा की गई।

'योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः।
न वेदो वेद इत्याहुर्वेदा वेदो निगद्यते।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते॥
न सन्ध्यां सन्धिरित्याहुः सन्ध्या सन्धिर्निगद्यते।
सुषुम्णा-सन्धिगः प्राणः सा सन्ध्या सन्धिरुच्यते॥'

परमात्मा की अनिर्वचनीयता देखिए—

'शिवं न जानामि कथं बदामि, शिवं न जानामि कथं बदामि'

और इसे सिद्ध लूहिया की इस उक्ति से मिलाइये—

'भाव न होइ, अभाव न होइ'

और फिर कबीर के इस दोहे में ऊपर के विचारों का कितना अंश है समझिये—

'गरुआ कहौं तो बहु डरौं, हलका कहौं तो झूठ,
मैं का जानौं राम कूँ, नैना कबहू न दीठ।'

शुद्ध योग साधना में 'नाद' 'बिंदु' शब्द बराबर सिद्धों और नाथों में एक प्रकार से चलते रहे। साधकों में अशिक्षित और समाज के निम्न वर्गवाले अछूत और शूद्र ही अधिक थे।

योगवादियों के वेशभूषा की धज भी अलग थी। नाथपंथ के कनफटे जोगी कान के बड़े-बड़े छेदों में स्फटिक के भारी-भारी कुंडल पहले से ही पहनते आए हैं। इनकी भाषा राजस्थानी को लिए खड़ी बोली थी। पूजा तीर्थाटन और नमाज की चरचा इनकी पुस्तकों में है। इनका प्रभाव प्रारंभ में मुसलमानों पर भी पड़ा और आज तक ये अपनी विचित्र वेशभूषा में देखे जाते हैं। नाथपंथ की भी बहुत-सी पुस्तकें हैं। गोरख और उनके अनुयायियों ने इन्हें रचा है। गोरखपंथ में संस्कृत ग्रंथों की रचना भी हुई।

सिद्धों और योगियों ने अपनी पुस्तकों में योग के अंतरगत तांत्रिक विधान योग साधना, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों के स्थान, भीतरी साधना के महत्त्व इत्यादि सभी की चरचा है। इनके संबंध में शुक्ल जी लिखते हैं—

"वज्रयानी सिद्धों ने निम्न श्रेणी की प्राय: अशिक्षित जनता के बीच के भावों लिए जगह निकाली, उन्होंने बाह्यपूजा, जातिपाँति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया; रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया। घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद, बिंदु, सुरति, निरति' ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया। यही परंपरा अपने ढंग पर नाथपंथियों ने भी जारी रखी। आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदांत के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए इस रास्ते पर चल पड़ा। कबीर आदि संतों को नाथ-पंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले, उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिए बहुत कुछ सामग्री और 'सधुक्कड़ी' भाषा भी।"

ऊपर के प्रसंग से यह स्पष्ट है कि योगवाद की परम्परा इन सिद्धों और नाथों के बहुत समय बाद तक चलती रही। कबीर की एक वाणी देखिये—

'पंडित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि, न सिरजनहारा॥
जोति-सरूप काल नहिं उहँवाँ, बचन न आह सरीरा।
थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा॥'

और कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है, जैसे—

'आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती।'

रैदास ने योगसाधना की कठिनता कैसे बखानी है—

'अखिल खिलै नहिं, का कह पंडित, कोई न कहै समुझाई।
अबरन बरन रूप नहिं जाके, कहँ लौ लाइ समाई॥'

धर्मदास तो योगप्राप्त न जाने किन भूमियों का चित्र रखने लगते हैं—

'झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसैं, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनवैं करि जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥'

दादूदयाल का योगवाद देखिये—

'दादू देखा आदीदा, सब कोइ कहत सुनीदा
हवाहिरस अंदर बस कीदा, तब यह दिल हुआ सीधा।'

सिद्धावस्था का चित्रण देखिये। योग की परमता का रूप ध्याता और ध्येय का ऐक्य है—

'रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जानै दूर॥
केत पारखि पचि मुए कीमति कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं गूंगे का गुड़ खाइ॥
जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाइ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसैं रहै समाइ॥'

योगसाधना का एक तत्त्व अजपाजाप भी है। मलूकदास कहते हैं—

'अब तो अजपाजपु मन मेरे'।

संतों में अक्षर अनन्य अच्छे पंडित थे। योगवाद उनका विषय था। राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग इत्यादि ग्रंथ उन्होंने लिखे हैं। देखिए रसयोग की कैसी अनूठी व्याख्या है—

'परलोक लोक दोउ सधै जाय। सोइ राजजोग सिद्धांत आय॥
निज राजजोग ज्ञानी करत। हठि मूढ़ धर्म साधत अनंत॥'

बाद में भी योगवादी पदकार समय-समय पर हुए और उन्होंने अपनी वाणी में योगाभ्यास की चरचा की। आजकल के राधास्वामी मत को भी योगवाद का ही प्रतिरूप समझना चाहिए। 'सुरतिशब्द' योग उनकी प्रसिद्ध साधना है। प्रेमपत्र नामक ग्रंथ में निम्नलिखित पद ध्यान देने योग्य है—

'एरी आली अपने में देखो आप ॥टेक॥
तैं जपन में सखी जनम बिशेषा॥
लेखा सुपन बिलाप ॥१॥
तप तपना नहिं जोग समाधा॥
साधोरी सूरत साफ ॥२॥
दै दुरबीन चीन दर बारा॥
धारा गंग मिलाप ॥३॥

गगन गुहा तुलसी अली ऐजै ॥
खैंचे धनुवाँ चाप ॥४॥'

उसी पद्यकार की नीचे की पंक्तियाँ भी देखिए—

'तुलसी बिधिगाई अगम लखाई ॥
फूलदास बिधि राह लई ॥१॥
रेती अति दासा सुरत निवासा ॥
तिल में बासा जुगत सही ॥२॥
राती और दिवसा छिन २ बासा ॥
सुरत अकाशा निरत रही ॥३॥
मन सुरती लागी नेक न भागी ॥
निस दिन जागी ठहरत ही ॥४॥
रेती अरु फूला स्वामी अनुकूला ॥
सूल बंध सब काट दई ॥५॥
मनही बुधि पाई भूल नसाई ॥
स्वामी सहाई बाँह गही ॥६॥
मन के भ्रम भागे थिर है लागे ॥
कुछ अभिलाखा नाहिं रही ॥७॥
मन की ब्रत चेती छांड़ अचेती ॥
सेत द्वार पर लाग रही ॥८॥
तुलसी कह कहिया अगम लखइया ॥
चरन पाय स्रुत पाग रही ॥६॥'

कहने का अभिप्राय यह है कि योगवाद की परम्परा जो सिद्धों और नाथों ने हिंदी में आरंभ की वह आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। दोहा चौपाई की पद्धति भी उसी समय निकली जिसे सूफियों ने आख्यान लेखन का साधन बना कर गोस्वामी तुलसीदास का मार्ग प्रशस्त किया। अटपटी वाणी, व्यंग्यात्मक कशाघात की कथन प्रणाली, कूट और अन्योक्ति निबंधना ये सभी बातें कबीर को सीधे सिद्धों और नाथों से मिली थीं कुक्कुरिपा गाते हैं—

'ससुरी निंद गेल, बहुड़ी जागअ।
कानेट चोर निलका गइ मागअ।

दिवसइ बहुड़ी काढ़इ डरे भाश्र।
राति भइले कामरू जाश्र ॥

इसी प्रकार सिद्ध तांतिपा की श्रटपटी वाणी सुनिए—

'बेंग संसार बाड़हिल जाश्र। दुहिल दूध कि बेंटे समाश्र।
बलद बिश्राएल गविश्रा बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे।
जो सो बुज्झी सें धनि बुधी।
जो सो चोर सोइ साधी।
निते निते षिश्राला षिहे षम जूझश्र।
ढेंढपाएर गीत विरले बूझश्र ॥'

रहस्यवाद का श्रादि रूप भी योगवाद के भीतर ही भीतर उसी समय स्फुरित होने लगा था।

सामंतवाद (२)

देश में योगियों की यही टोली न थी जिन्हें सिद्ध श्रौर नाथ कहते हैं, श्रौर भी संसार का कार्य बदस्तूर चलता था। हिंदी साहित्य के प्रारंभकाल के समय देश श्रनेक सामंतों में बँटा था। परस्पर सहयोग कम था विरोध श्रधिक था। सब की श्रपनी-श्रपनी दुनिया थी। सबके दरबार के गायक श्रौर कवि थे। इस युग में जो भी हिंदी लिखी गई उसका विषय सामंतवाद था। हिंदी साहित्य में सामंतवाद की एक परम्परा इसी समय से चल निकली है। वैसे तो संस्कृत कवि भी श्रपने समय के राजा महाराजों के यहाँ प्रश्रय पाते थे परंतु श्रपने स्वामियों का वैसा चाटुकारिता पूर्ण वर्णन उन्होंने कभी नहीं किया जैसे हिंदीवालों ने किया है। संस्कृत के सबसे श्रेष्ठ कवि कालिदास भी भारतवर्ष के एक बहुत बड़े सम्राट की सभा में थे श्रौर उनका श्रद्वितीय सम्मान भी था परंतु उनकी श्रमर कृतियों में, कहीं भी, श्राश्रय दाता की खुली चरचा भी नहीं है चाटुकारिता तो दूर की बात है। हिंदी साहित्य के श्रमर कवि गोस्वामी तुलसीदास को इसी से ऊबकर कहना पड़ा—

'कीन्हें प्राकृत नर गुण गाना,
सिर धुनि गिरा लाग पछिताना।'

दसवीं श्रौर ग्यारहवीं शताब्दि के सामंतवादी कवियों में कुछ तो ऐसे कलाकार हैं जिनको श्रपने श्राश्रयदाताश्रों में महत् के दर्शन हुए श्रौर वे श्रनेक गुण सम्पन्न थे भी। महत् के स्वरूप ने श्रौर उदात्त गुणों की श्रनेक रूपता ने उनमें श्रद्धा की बलवती भावना

उत्पन्न की। उसी की प्रेरणा से जो काव्य निकला उसमें बल भी था निश्छलता भी थी। कुछ के सहारे जो बहुत कुछ कहा गया उसमें अत्युक्ति खटकी नहीं और कविता भी भद्दी नहीं हुई। परंतु उच्चता के आकर्षण के बिना ही रोटी-कपड़ों के लालच से जिन कलाकारों ने केवल प्रशंसा के लिए प्रशंसा करना आरंभ की उनमें न ईमानदारी थी और न कला थी। वे केवल तुक्कड़ बन कर रह गये। साम्यवादियों का इन पर यह अरोप उचित है कि ये पैसे के क्रीत सामंतवाद का जय उद्घोष करने वाले नगाड़ची थे।

इस युग में दो प्रकार की कृतियाँ मिलती हैं। एक तो वे जिनमें साहित्य का बल है और उन्हें हम काव्य कह सकते हैं और दूसरी वे जिनमें केवल छंदबद्ध इतिवृत्त मात्र है और उनके गायक सभाओं में आशुकवि का जामा पहनकर किसी राजा महाराजा की कीर्ति गान करते थे। इन गायकों की जातियाँ थीं जिन्हें चारण मागध, भाट इत्यादि कहते थे। इनकी कृतियाँ अधिकतर मौखिक ही रहीं और तत्कालीन बोली का अच्छा उदाहरण हैं। मौखिक परम्परा के उतार में जो भी नैसर्गिक सम्मिश्रण इतिहास कर सकता था उसने किया। पहले प्रकार की सामंतवादी काव्य में चंदवरदाई का पृथ्वी-राजरासो अपने समस्त प्रक्षिप्त अंशों के ॠण करने के बाद भी सबसे प्रसिद्ध और पुराना है और दूसरे प्रकार की रचना में नरपति नाल्ह का वीसल देवरासो अथवा जगनिक का आल्हा सबसे प्रसिद्ध हैं। और कृतियों की चरचा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है।

ऊपर सांकेतिक दोनों प्रकार की रचनाओं का विषय राजप्रशंसा ही था। शृंगार और वीर प्रधान रस थे। आश्रयदाता की, एकांत में, प्रेमलीला की अनेकरूपता का विवरण सामने रखना और उसे वासना और विलास के लिये उत्तेजित करना और सभा में उसके शौर्य का लम्बा चौड़ा वर्णन सुनाना। अतएव प्रेम और युद्ध दो ही विषय कवियों के सामने थे। वे अपने नायकों के साथ प्रेम व्यापार में भी सम्मिलित होते थे और युद्ध क्षेत्र में भी जाते थे। पृथ्वीराज रासो का शृंगारिक चित्र देखिये—

'मनहु कला ससभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल वैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय॥
विगसि कमल स्रिग, भ्रमर, बेनु, खंजन, मृग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब, मोति नषसिष अहिघुट्टिय॥
कुंट्टिल केस, सुदेस पोह परिचियत पिक्क सद।
कमल-गंध, वयसंध, हंसगति चलति मंद मद॥

सेत वस्त्र सोहै सरीर नष स्वाति-बूँद जस।
भ्रमर भवहिं भुल्लहिं सुभाव मकरंद बास रस॥

युद्ध का घोष सुनिये—

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहौं दिस।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मनबेग लगत मनो बीजु झट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिग गगन, रँगन मगन भइ शोन धर।
हदि हरषि बीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नव रत्त वर।

बीसलदेव रासो का शृंगार देखिये—

हुअउ पइसारउ बीसलराव। आवी सयल अँतेवरी राव।
रूप अपूरब पेषियइ। इसी अस्त्री नहिं सयल संसार॥
अति रंग स्वामी सूँ मिली राति। बेटी राजा भोज की॥

वीरत्व का उभार देखिये—

गरब करि ऊभो छइ साँभरयो राव। मो सरीखा नहिं ऊर भुवाल॥
म्हाँ घरि साँभर उग्गहइ। चिहुँ दिसि थाण जेसलमेर॥

आल्हा की युद्ध-ललकार देखिये—

बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन के धिक्कार।

सामंतवाद के काव्य में बड़ा भारी अंतराय भक्तिवाद के द्वारा उपस्थित हुआ। वैसे प्रेममार्गी कवियों ने अपने ग्रंथों में तत्कालीन शासक की प्रशंसा में जो कुछ लिखा है उसका बहुत बड़ा अंश सामंतवाद की भावना को ही पुष्ट करता है।

सम्राट् अकबर के दरबार में भी कुछ कवि शुद्ध सामंतवादी थे। कवि गंग की खानखाना स्तुति सुनिये—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमलबन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुंदरि पद्मिनी पुरुष न चहैं, न करैं रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रविरथ खस्यो।
खानान खान बैरम-सुवन जबहिँ क्रोध करि तँग कस्यो॥

और देखिये—

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन तें एक मानों सुषमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे बल की बयारि लगे,
फूटी गजघटा घनघटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं,
रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
गौरी गह्यौ गिरिपति, गनपति गह्यौ गौरी,
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की॥

कविवर केशव के वीरसिंह देव चरित और जहाँगीर जस चंद्रिका शुद्ध सामंदवादी ग्रंथ हैं।

होलराम की अकबर प्रशंसा देखिये—

दिल्ली तें न तख्त ह्वै है, बख्त ना मुगल कैसो,
ह्वै है ना नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
गंग तें न गुनी, तानसेन तें न तानबाज,
मान तें न राजा औ न दाता बीरबर तें॥
खान खानखाना तें न, नर नरहरि तें न,
ह्वै है ना दिवान कोऊ बेडर टुडर तें।
नवौ खंड सात दीप, सात हू समुद्र पार,
ह्वै है ना जलालुदीन साह अकबर तें॥

बिहारी रीतिकालीन दरबारी कवि अवश्य थे परंतु उन्होंने सामंतवादी रचनाएँ नहीं कीं। सब आश्रित कवि सामंतवादी न थे और न सब सामंतवादी कवि राजाश्रित ही थे। परंतु अधिकांश सामंतवादी राजाश्रित ही थे। रीतिकालीन कवियों में भूषण पूरे सामंतवादी हैं। उनमें वीर और शृंगार परमता को पहुँचे हैं, शृंगार कम और वीर अधिक।

शिवाजी की प्रशंसा देखिये—

इंद्र जिमि जृंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥

दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं॥

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधों मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलाम कीन्हे,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥

इसी प्रकार छत्रसाल की प्रशंसा में भी अनेक पद हैं। सुखदेव मिश्र ने औरंगजेब के मंत्री फाजिल अलीशाह के आश्रय में रहकर "फाजिलअली प्रकाश" नामक सामंत-वादी ग्रंथ रचा।

कुछ आश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के नाम पर ग्रंथ लिखे। देवकी-नन्दन का 'सरफराज चंद्रिका' और 'अवधूत भूषण' ऐसी ही पुस्तकें हैं। बेनी प्रवीन ने इसी प्रकार 'नानाराव प्रकाश' लिखा।

प्रतापसाहि की निज आश्रयदाता के प्रति उद्‌गार देखिये—

महाराज रामराज रावरो सजत दल
होत मुख अमल अनंदित महेस के।
सेवत दरीन केते गब्बर गनीम रहैं,
पन्नग पताल त्योंही डरन खगेस के॥
कहैं परताप धरा धँसत त्रसत,
कसमसत कमठ-पीठि कठिन कलेस के।
कहरत कोल, हहरत हैं दिगीस दस,
लहरत सिंधु, थहरत फन सेस के॥

महाराज जसवंतसिंह के बड़े भाई अमरसिंह की वीरता की चाटुकारिता कविवर बनवारी किस प्रकार करते हैं, देखिये। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि एक बार शाहजहाँ

के दरबार में सलावत खाँ ने किसी बात पर अमरसिंह को गँवार कह दिया, जिस पर उन्होंने चट तलवार खींचकर सलावतखाँ को वहीं मार डाला। इस घटना का बड़ा ओजपूर्ण वर्णन इनके इन पद्यों में मिलता है—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हन्यो सलावत खान॥
उत गकार मुख ते कढ़ी इतै कढ़ी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं भई कटारी पार॥

आनि कै सलावत खाँ जोर कै जनाई बात,
तोरि धर-पंजर करेजे जाय करकी।
दिल्लीपति साहि को चलन चलिबे को भयो,
गाज्यो गजसिंह को, सुनी जो बात बर की॥
कहै बनवारी बादसाही के तखत पास,
फरकि फरकि लोथ लोथिन सों अरकी।
कर की बड़ाई, कै बड़ाई बाहिबे की करौं,
बाढ़ की बड़ाई, कै बड़ाई जमधर की॥

संवत् १७३७ के आस-पास होनेवाले कविवर श्रीधर ने (इनका दूसरा नाम मुरलीधर भी था) 'जंगनामा' नामक एक प्रबंध-काव्य लिखा जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का अच्छा वर्णन किया गया है। अपने आश्रयदाता की वीरता व्यक्त करने के लिए ही यह काव्य रचा गया है। एक उदाहरण देखिये—

इत गलगाजि चढ्यो फर्रुखसियर साह,
उत मौजदीन करी भारी भट भरती।
तोप की डकारनि सों, बीर हहकारनि सों,
धौंसे की धुकारनि धमकि धमकि उठी धरती॥
श्रीधर नवाब फरजंदखाँ सुजंग जुरे,
जोगिनी अघाई जुग जुगन की बरती।
हहरयो हरौल, भीर गोल पै परी ही, तून
करतो हरौली तौ हरौलै भीर परती॥

ऐसे काव्यों में वीर रस अथवा रौद्र रस की योजना अपने-अपने सामंतों की चाटुकारिता के लिए ही की गई है। अत्युक्तिपूर्ण चित्रण का भी यही रहस्य है। युद्ध

में मुंडमाली, काली अथवा योगिनी को साधारण साधारण अवसरों में बुला लिया जाता है।

उसी समय के आस-पास लाल कवि ने 'छत्र प्रकाश' नामक ग्रंथ में बुंदेल वंश की उत्पत्ति, चम्पतराम के युद्ध पराक्रम, उनके अंतिम दिनों में मुसलमानों का आक्रमण तथा उनकी इनी-गिनी सेना द्वारा अपने प्रदेश का उद्धार और मुगलों पर धीरे-धीरे विजय प्राप्त करना इत्यादि सभी कुछ है। सामंतवाद की भावना को पोषित करनेवाला यह उत्तम ग्रंथ है। देखिए अपने सामंत छत्रसाल के लिए क्या कहते हैं—

लखत पुरुष लच्छन सब जानै। पच्छी बोलत सगुन बखानै॥
सत कवि कवित सुनत रस पागै। विलसति मति अरथन में आगै॥
रुचि सों लखत तुरंग जो नीके। बिहँसि लेत मोजरा सब ही के॥

चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं सूबा खान खुमान।
अब धौं धावै कौन पर छत्रसाल बलवान॥

आगे इसी प्रशंसा को उदाहृत करने के लिए कैसा अत्युक्तिपूर्ण शौर्य दिखलाया गया है—

छत्रसाल हाड़ा तहँ आयो। अरुन रंग आनन छवि छायो॥
भयो हरौल बजाय नगारो। सार धार को पहिरन हारो॥
दौरि देस मुगलन के मारौ। दपटि दिली के दल संहारौ॥
एक आन सिवराज निबाही। करै आपने चित की चाही॥
आठ पातसाही झकझोरे। सूबनि पकरि दंड लै छोरे॥

काटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सों, बाँटि धरनि धरि लेहु॥

चहूँ ओर सों सूबनि घेरो। दिसनि अलात चक्र सो फेरो॥
पजरे सहर साहि के बाँके। धूम धूम में दिनकर ढाँके॥
कबहूँ प्रगटि युद्ध में हाँकै। मुगलनि मारि पुहुमि तल ढाँकै॥
बानन बरखि गयंदनि फोरै। तुरकनि तमक तेग तर तोरै॥
कबहूँ उमड़ि अचानक आवै। घन सम घुमड़ि लोह बरसावै॥
कबहूँ हाँकि हरौलन कूटै। कबहूँ चापि चंदालनि लूटै॥
कबहूँ देस दौरि के लावै। रसद कहूँ की कढ़न न पावै॥

जोधराज का हम्मीर रासो १८७५ में लिखा गया। हम्मीर पृथ्वीराज के वंशज थे। दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन को उन्होंने कई बार परास्त किया था। कुछ नमूने देखिये—

कब हठ करै अलावदीं, रणथँभवर गढ़ आहि।
कबै सेख सरनै रहै, बहुरयो महिमा साहि॥
सूर सोच मन में करौ, पदवी लहौ न फेरि।
जो हठ छंडो राव तुम, उत न लजै अजमेरि॥
सरन राखि सेख न तजौ, तजौ सीस गढ़ देस।
रानी राव हमीर कों यह दीन्हों उपदेस॥

वीरत्व उकसानेवाली वाणी सुनिये—

जीवन-मरन-सँजोग जग कौन मिटावै ताहि।
जो जनमै संसार में अमर रहै नहिं आहि॥
कहाँ जैत कहँ सूर, कहाँ सोमेश्वर राणा।
कहाँ गए प्रथिराज साह दल जीति न आणा॥
होतब मिटै न जगत में कीजै चिंता कोहि।
आसा कहै हमीर सौं अब चूकौ मत सोहि॥

रीतिकाल के गुमान मिश्र संवत् १८०० में हुए। वे राजा अकबर अलीखाँ के आश्रय में रहते थे। अपने सामंत की प्रशंसा में क्या कहते हैं सुनिये—

दिग्गज दबत दबकत दिगपाल भूरि,
धूरि की धुँधेरी सों अँधेरी आभा भान की।
धाम औ धरा को, माल बाल अबला को अरि
तजत परान, राह चाहत परान की॥
सैयद समर्थ भूप अली अकबर-दल
चलत बजाय मारू दुंदुभी धुकान की।
फिरि फिरि फननि फनीस उलटतु ऐसे,
चोली खोलि ढोली ज्यों तमोली पाके पान की॥

सूदन कवि भरतपुर के राजकुमार सुजानसिंह के यहाँ रहते थे। इनका 'सुजान चरित्र' उन्हीं की प्रशंसा में एक प्रबंध-काव्य है। एक छंद देखिये—

सोनित अरघ ढारि, लुत्थ जुत्थ पाँवड़े दै,
दारूधूम धूपदीप, रंजक की ज्वालिका।

चरबी को चंदन, पुहुप पल-टूकन के,
अच्छत अखंड गोला गोलिन की चालिका ॥
नैवेद्य नीको साहि सहित दिली को दल,
कामना विचारी मनसूर-पन-पालिका ॥
कोटरा के निकट विकट जंग जोरि सूजा
भली विधि पूजा कै प्रसन्न कीन्हीं कालिका ॥

श्री चंद्रशेखर जी १८५५ में हुए। ये जोधपुर-नरेश मानसिंह के यहाँ रहते थे। बाद में पटियाले चले गये और महाराज कर्मसिंह के यहाँ रहने लगे। इनका वीर काव्य 'हम्मीर हठ' भी एक सामंतवादी कृति है। केवल एक उदाहरण देखिये—

उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ, दिन चंद प्रकासै।
उलटि गंग बरु बहै, काम रति प्रीति विनासै ॥
तजै गौरि अरधंग, अचल ध्रुव आसन चल्लै।
अचल पवन बरु होय, मेरु मंदर गिरि हल्लै ॥
सुरतरु सुखाय, लोमस मरै, मीर ! संक सब परिहरौ।
मुख-बचन बीर हम्मीर को बोलि न यह कबहूँ टरौ ॥

रीतिकाल में सामंतवाद की जो परम्परा चलती रही उसका कुछ वर्णन ऊपर किया गया है। इस युग की परिसमाप्ति के साथ साथ सामंतवाद की लहर बहुत धीमी पड़ गई। यह नहीं कि सामंतों का एकदम अंत हो गया हो अथवा उनके प्रश्रय में कवियों को आश्रय न मिला करता हो वरन् सामंतवाद की भावना का लोप-सा हो गया है और उसे न कवि और न जनता अब पसंद करती है। स्वर्गीय पटेल की राजनीति ने अब पूरे प्रकार से सामंतों को समाप्त करके उनकी जागीरों को भारत राज्य में मिला लिया है। अतएव अब सामंतवाद की व्यक्ति पूजा वीर पूजा के रूप में ग्रहीत हुई और वीरत्व धर्मवीर, जातिवीर, राष्ट्रवीर, बुद्धिवीर इत्यादि रूपों में उपासना का आलंबन बना और उन वीरों पर अच्छी अच्छी रचनाएँ सामने देखने में आईं। राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध इत्यादि विभूतियों की काव्यगत भक्ति पूर्ण अभिव्यक्ति बहुत पहले से ही चल रही थी अब महात्मा गांधी प्रभृति कवियों का विषय बने। देखिये लाला भगवानदीन 'दीन' क्या कहते हैं—

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता ॥

जो वीर सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता॥
सब वीर किया करते हैं सम्मान क़लम का।
वीरों का सुयशगान है अभिमान क़लम का॥

निर्गुणवाद (३)

योगवाद के मूल में ज्ञान और उपासना दोनों का अद्वैत था और उसके प्रसार में कर्म का योग था। कर्म पक्ष में मलिनता कैसे प्रविष्ट हो गई इसे योगवाद के अंतरगत समझाया गया है। ज्ञान का स्वतंत्र रूप से सहारा लेकर जो सृष्टि और सृष्टा के संबंध में ऊहापोह हुआ वह दर्शन का प्रथक विषय बन गया। सृष्टा की सूक्ष्मवित्रृत्ति ने उसे निराकार और निर्गुण रूप तक पहुँचाकर मानव चिंतना को श्रद्धा का नया आलम्बन तो दिया परंतु अरूप होने के कारण वह हृदय को पूरा पूरा ग्राह्य नहीं हुआ। जिन तत्त्वदर्शकों ने इस निराकार तत्त्व पर मन के भाव रूप को टिकाने का अभ्यास किया वे निर्गुणवादी कवि कहलाये और जिन्होंने निराकार की शक्ति को अनुगुण मानकर उसे साकार के भीतर देखने का मार्मिक प्रयास किया वे सगुणवादी कवि हुए। निर्गुणवाद और सगुणवाद की अवतारणा के मूल में चिंतकों और कलाकारों का यही प्रयास अंतरहित है। निर्गुणवाद के प्रमुख कवि कबीर और सगुण के गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास हैं। निर्गुणवाद की भक्ति में ज्ञान प्रधान और भावना गौण है और सगुणवाद की भक्ति में भावना प्रधान और ज्ञान गौण है। भक्ति की बलवान् साधना के कारण ही ये सरस और कोमल रह सके हैं। निर्गुणवाद जिन स्थलों पर अग्राह्य और अगोचर भूमियों की अनुभूतियाँ और अतींद्रिय जगत् के इतर लोक सुलभ परिस्थितियाँ सामने रखने लगता है तब रहस्यवाद की अवतारणा दिखाई देने लगती है। रहस्यवाद की चरचा आगे चलकर विस्तार के साथ दी जायगी।

निर्गुणवाद एक नकारात्मक तथ्य है। आराधना में उसे कसने के लिए चिंतकों ने उसका एक 'हाँ'कारात्मक रूप कल्पित किया। उसे अद्वैतवाद का नाम मिला। अद्वैत-वाद अथवा ब्रह्मवाद चिंतन जगत् से फिसलकर भावना-क्षेत्र में पहुँचा और हिंदुओं और मुसलमानों ने अपने अपने संस्कार के अनुसार उसका निरूपण किया। मुसलमानों में सूफी सम्प्रदाय इसी की देन है। मुसलमानों का एकेश्वरवाद वैसे तो उसी प्रकार से स्थूल है जैसे हिंदुओं का बहुदेववाद, पर अंततोगत्वा जैसे बहुदेववाद अद्वैत तत्त्व की सर्वव्यापकता और सर्वकालीनता में समा जाता है वैसे ही एकत्व की इस्लामी

कल्पना की जड़ में भी अद्वैत का रूप ही झलकता दिखाई देता है। कम-से-कम दोनों भावनाओं के स्थूल रूप के भीतर अद्वैत की अवच्छन्न शक्ति उपस्थित है। अतएव शून्य-वादी कबीर और एकेश्वरवादी मुसलमान कवि मलिक मुहम्मद जायसी दोनों ही एक प्रकार से निर्गुणवाद की धारा के अंतर्गत आते हैं। कबीर का निर्गुणवाद निरुपाधि ब्रह्मसत्ता के रूप में देखिये—

पंडित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि, न सिरजनहारा ॥
जोति-सरूप काल नहिं उहँवाँ, बचन न आहि सरीरा।
थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा ॥

अद्वैत भी देखिये—

आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती ॥
गहना एक कनक तें गहना, इन महँ भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापिन, इक निमाज, एक पूजा ॥

शून्यवाद देखिये—

"आदौ गगना अंते गगना मध्ये गगना भाई।"

आत्मा परमात्मा ऐक्य देखिये—

"जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुंभ जल जलहि समाना"

भक्तवर रैदास की ब्रह्म व्यापकता देखिये—

"थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराई।"

अनेकरूपता किस प्रकार मिथ्या है इसे सुंदरदास कैसे प्रतिपादित करते हैं देखिये—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्त्व, पुनि अहंकार है।
अहंकार हू तें तीन गुण सत रज तम,
तमहू तें महाभूत विषय-पसार है ॥
रजहू तें इंद्री दस पृथक् पृथक् भई,
सत्तहू तें मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूँ कहत गुरु,
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है ॥

पंडित रामचंद्र शुक्ल ने सूफी निर्गुणवादियों को प्रेममार्गी कहा है। कुतबन का निर्गुण अद्वैत देखिये—

"बाहर वह भीतर वह होई, घर बाहर को रहै न जोई।"

अनेकरूपता में एकरूपता पहचाननेवाले मंझन कहते हैं—

देखत ही पहिचानेउ तोहीं। एही रूप जेहि छँदर्यो मोही॥
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

मलिक मुहम्मद जायसी का सर्व भूतरत अद्वैत देखिये—

"करि सिँगार तापहँ का जाऊँ? ओही देखहुँ ठावहिं ठाऊँ।"

निर्गुणवाद का ग्राह्य विराट रूप देखिये—

'बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा। भई तहँ ओप जहाँ जो देखा।
पावा रूप रूप जस चहा। ससि मुख सहुँ दरपन होइ रहा।'

अद्वैतवाद का व्यवहारी साभिप्राय उदाहरण देखिये—

"हौं हौं कहत सबै मति खोई, जो तू नाहिं आहि सब कोई।"

और अखरावट में यह भी कहा है—

"सोऽहं सोऽहं बसि जो करई, सो बूझै सो धीरज धरई।"

निर्गुणवाद का कक्षवाद ब्रह्मवाद है जिसकी प्रतीति प्रतिबिंबवाद के रूप में देखिये—

देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अँतरपट पै नहिं अहा॥
सरवर देख एक मैं सोई। रहा पानि औ पान न होई॥
सरग आइ धरती महँ छावा। रहा धरति, पै धरत न आवा॥

परदा था भी और नहीं भी था—

ज्ञाता और ज्ञेय तथा ध्याता और ध्येय का अद्वैत देखिये—

आपुहि आपु जो देखै चहा। आपनि प्रभुत आपु स कहा॥
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा॥
आपुहि बन औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा, आपु अहेरू॥
आपुहि पुहुप फूलि बन फूलै। आपुहि भँवर बास-रस भूलै॥
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै॥

दरपन बालक हाथ, मुख देखै, दूसर गनै।
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिए॥

और सूफी मुसलमान आख्यान लेखकों में भी इसी प्रकार की उक्तियाँ मिलेंगी। सगुण-वादी कवियों में भी निर्गुणवाद की अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर मिलती है। गोस्वामी

जी के कई ग्रंथों में ऐसे प्रसंग बिखरे हैं। उन्होंने तो सगुण के भीतर अथवा यों कहिए कि अवतार के नाम का आसरा पकड़कर निर्गुणवाद की व्याख्या की है। अद्वैत की सर्वव्यापकता देखिये—

"सिया राम मय सब जग जानी
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।"

नाम की महिमा में भी निर्गुणवाद की छाप है। सूरदासजी कहते हैं—

"अविगत गति कुछ कहत न आवे" इसमें भी निर्गुण की ही अभिव्यक्ति है।

निर्गुणवाद की परम्परा रीतिकाल तक थोड़ी बहुत चलती रही। झाँसी के रहनेवाले नवलसिंह कायस्थ (लगभग १८७०) ने निर्गुण की कैसे व्याख्या की है, देखिये—

अभव अनादि अनंत अपारा। अमन, अप्रान, अमर, अविकारा॥
अग अनीह आतम अविनासी। अगम अगोचर अविरलवासी॥
अकथनीय अद्वैत अरामा। अमल असेप अकर्म अकामा॥
रहत अलिप्त ताहि उर ध्याऊँ। अनुपम अमल सुजस मैं गाऊँ॥

इस युग के रहस्यवादी कवियों में निर्गुणवाद के चित्र ज्ञान प्रधान न होकर रहस्य प्रधान हैं। उनमें ज्ञान का रूखापन नहीं है रहस्य की मार्मिकता है। आजकल के काव्य में, जहाँ कहीं भी भारतीय चिंतना में सृष्टा का निर्गुण रूप सामने रखा गया है वहाँ रहस्यात्मकता अवश्य आ गई है। निर्गुणवाद का प्रयोजनात्मक रूप अद्वैतवाद है ऐसा ऊपर कहा गया है। अद्वैतवाद का कत्तवाद सोऽहम्‌वाद है। उसकी निबंधना प्रसाद में देखिए—

"निर्झर कौन सहस बल खाकर
इठलाता बिलखाता फिरता,
खोज रहा है स्थान धरा पर
अपने ही चरणों पर गिरता।"

जब प्राणी समझ लेता है कि जो वह है वही हम हैं और अपनी आराधना के फूल अपने चरणों पर बिखेर देता है तभी शांति मिलती है। उस भाव की व्यंजना निर्झर से कितनी सुंदर की गई है।

निर्गुणवाद आज अनेक वादों के भीतर हिंदी-साहित्य में दिखाई देता है। उदाहरण देने से यह लेख बहुत बढ़ जायगा।

सगुणवाद (४)

यह बतलाया गया है कि कोई भी वाद बिना भावरूप में प्रवेश किये काव्य का विषय नहीं हो सकता। निर्गुणवाद ज्ञानप्रधान होने के कारण बहुत समय तक काव्य में नहीं चल सका। मानव मन ने आराधना के लिए सगुणवाद ढूँढ़ निकाला और स्वरूप के अनुसार अरूप को सरूप करके अपनी नाना मनोरम वृत्तियों का विस्तार किया। मनुष्य सारे दिन न भावप्रधान रह सकता है और न ज्ञान-प्रधान। उसका उपास्य ऐसा होना चाहिए जो उसकी दोनों वृत्तियों को संतुष्ट कर सके। वह अपने देवता के संबंध में सोचता विचारता और मीमांसा भी करता है और उसके समक्ष दण्डायमान होकर समस्त उत्सर्ग के साथ चिंतना को भुलाकर तन्मय भी हो जाता है। अतएव मानव उपासना के इतिहास में इसी लिए नये नये देवता आते हैं। चिंतना देवता की सृष्टि करती है, उसे उपासना के आसन पर बिठाती है और उसकी पूजा विधियाँ निश्चित करती है। विधानों में शिथिलता, मलिनता और अक्षमता आते ही नये देवता की ओर ध्यान पहुँच जाता है। एक से अनेक रूप में प्रतिमाओं के पहुँचने का यही इतिहास है।

निर्गुणवाद ज्ञान-मार्ग का ही सहारा रहा क्योंकि उसका जन्म ही बुद्धि की खोज ने किया था। निर्गुणवाद से जब ब्रह्मवाद की अवतारणा हुई तब भी ज्ञान ही प्रधान रहा। "सर्वम् खल्विदं ब्रह्म" कहनेवाले से अद्वैतवाद ने 'सोऽहम्' भी कहलाया। 'सोऽहं' में 'अहं' को ब्रह्म समझने और अनुभव करने का जो प्रयोग और अभ्यास सिखाया गया उससे अभ्यासी शुद्ध ज्ञान और शुद्ध अनुभवी के ही रूप में नहीं रहा वह 'अहं' पर जोर भी देने लगा। अहंभाव अहंकार बना और ब्रह्मज्ञानियों में मद आ गया। क्षुद्र व्यक्तित्व को महत्त्व मिल गया। मानव को शुद्ध ज्ञानरूप पर हमेशा टिके रहना सरल नहीं अतएव व्यवहार पक्ष में ब्रह्मवाद ने पाखंड और घमंड उत्पन्न कर दिया। और फिर ऐसी ऊँची मानसिक भूमि पर पहुँचना भी सरल नहीं है जहाँ ब्रह्मवाद सुलझा हुआ तथ्य बन जाय। बड़े अनुशीलन अध्यवसाय स्वाध्याय, मानसिक जागरूकता, निसंग ऊहापोह क्षमता इत्यादि गुणों की अनिवार्य आवश्यकता है। यह कष्टसाध्य प्रयास है जो सर्वसुलभ नहीं। अतएव तत्त्वदर्शकों ने ज्ञान-मार्ग को प्रकारांतर करके भक्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा की। ज्ञानी जिसे सोच-विचार करके बतलाता है भक्त उसे पहले से ही मानता और विश्वास करता है। वह साधना पर आस्था करता है और उसी के द्वारा भक्ति-मार्ग में आगे बढ़ता है। बुद्धि की उतनी दरकार न होने से इस मार्ग में सार्वजनीनता है।

'यह करनी का भेद है नाहीं बुद्धि विचार'

इसी लिए भक्तों के दल बढ़े और देवता के अनेक रूप में अवतीर्ण होने के कारण उनके भेद भी बढ़े। मानव संसार में रहता है। वह चौबीसों घंटे देवता के सामने तन्मय भी नहीं रह सकता। उसे ऐसे उपास्य की आवश्यकता हुई जिसका आलोक उसकी समस्त वृत्तियों पर पड़े और उन्हें माँजकर निखारे। इसी लिए अवतारों की प्रतिष्ठा हुई जिससे देवता के सदृश मानव बन सके इसलिए मानव के सदृश देवता बनाये गये। सगुणोपासना का यही रहस्य है।

परमतत्त्ववाची शब्द संस्कृत में, तीनों लिंगों में, अलग अलग हैं। ईश्वर शब्द पुल्लिंग ब्रह्म नपुंसक लिंग और शक्ति स्त्रीलिंग हैं। ईश्वर शब्द से किसी अवतार का बोध नहीं होता उससे केवल स्वामित्व का भाव सामने आता है, अतएव वह सगुणोपासना में केवल नाम उपासना से अधिक किसी प्रयोग में नहीं आ सका। ब्रह्म से निष्क्रियत्व, निर्विकारत्व, निर्गुणत्व इत्यादि भावों का बोध होता है और वह पूरा पूरा निर्गुणवाद के क्षेत्र में रहता है। अतएव ज्ञान-मार्ग की सारी गरिमा के बोझ के कारण वह उपासना के काम का न रहा। चिंतकों की ऊहापोह में फँसकर रह गया। स्त्रीलिंग शक्ति की अवतारणा दुर्गा, काली, भैरवी इत्यादि के रूप में की गई। निखिल क्रियाकलाप की गत्यात्मक प्रेरणा और गमन और आगमन की विकेंद्रकारिणी स्फूर्ति को बुद्धि भी शक्ति के अतिरिक्त दूसरा क्या अभिधान दे सकती थी। ज्ञान को यों परितोष मिला और हृदय ने चामुण्डा को मुंडमाल पहना-कर हाथों में खड्ग दिया और बल के अद्वितीय प्रतीक सिंह पर आरूढ़ किया। चरणों के नीचे बरिबंड, चंड और मुण्ड तथा शुम्भ और निशुम्भ को प्राण त्यागते हुए अंकित किया गया। सूक्ष्म और अमूर्त शक्ति को पशुबल का वेश देने के कारण ऐहिक बल संचय की आवश्यकता को जो स्वाभाविक प्रोत्साहन मिला उसके कारण शरीर पोषण मुख्य हो गया और वाम मार्ग निकल पड़ा। और भी न जाने क्या क्या दोष आ गये। इस परिस्थिति ने शाक्तों को मार्गान्तर कर दिया और भक्तों और चिंतकों दोनों को उपास्य के परिवर्तन की आवश्यकता हुई। शक्ति के तीन रूप सामने आये—

ब्रह्मापि यां नौति नुतः सुरेन्द्रै,
यामर्चितोप्यर्चयति इन्दुमौलिः
यांध्यायति ध्यानगतोऽपि विष्णु
स्तामादि शक्तिं शिरसा प्रपद्ये।

ब्रह्मा को कभी आदर नहीं मिला। सारे भारतवर्ष में केवल नौ दस मंदिर ऐसे हैं जिन्हें प्रधान रूप से ब्रह्मा का मंदिर कहा जा सकता है। यहाँ के सारे देवता सपत्नीक हैं। ब्रह्मा सब के सृजन करनेवाले किसके किसके पति बन सकते थे ? अतएव सपत्नीक भी उनकी पुत्री ही थी। उनका पत्नी रूप अपवाद का ही कारण हुआ। 'इंदु मौलि' की अर्चना रुद्र रूप में की गई। सारी सृष्टि का संहार करनेवाले भय के अवतार ही के रूप में सामने रखे जा सकते थे। उनके पास उपद्रव करनेवालों का जत्था था। इन्हें गण कहा गया है और इनके नायक को गणेश कहा गया। उपद्रव न किया जाय इसलिए इनकी अर्चना होने लगी। गोस्वामीजी का शिवविवाह वर्णन इन्हीं उपद्रव करनेवालों की डरावनी आकृति का ही चित्र खींचता है—

"कोउ मुख हीन विपुल मुख काहूँ,
बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहूँ।"

परंतु रुद्र के इस क्रूर और कठोर रूप में भक्तों के नरम और सुकुमार भाव-वृत्तियों को उभरने का अवकाश न मिला अतएव रुद्र की उपासना-इतिहास के विकास में उन्हें कल्याण करनेवाले शिव का रूप मिला और वे औघड़ दानी महादेव बने। गणेश विघ्नविनाशक आदि देव के रूप में सामने रक्खे गये। फिर भी माता-पिताविहीन शिव में भक्तों को वह सर्वाङ्गीण भाव प्रबोधन न मिला जो मानव के समूचेपन के लिए आवश्यक था। तीसरे देवता की खोज हुई और अत्यंत मनोरम और कोमल तंतु-वाले क्षीरसागर-शायी विष्णु की आराधना आरंभ हुई। इनका सगुण रूप इनका अवतार रूप था। राम और कृष्ण दो अवतारों के भौतिक देहों में ये सामने आये और इन्होंने सारी मानवोचित लीलाएँ कीं। कवियों का उन पर मन टिका और उन्होंने भक्तों से मिलकर उनका विस्तार किया। भक्ति की विधियाँ बनीं और अवतारवाद ने सगुणवाद का मार्ग प्रशस्त किया। यह न भूलना चाहिए कि देवपरिवर्तन का जो क्रम ऊपर दिखाया गया है किसी इतिहास के कालक्रम के अनुसार है और न वह उसी प्रकार से पूर्वा पर है जैसा ज्ञात होता है।

कृष्ण भक्ति के भीतर जो सगुणवाद पनपा उसका श्रेय हिंदी में सूरदास प्रभृति अष्टछाप कवियों को है। सूरदास ने कृष्ण को भगवान् कहते कहते मानव बना दिया और उनकी लीलाएँ पूरी पूरी यथार्थ रूप में अंकित की गई हैं। 'लरिकाई' और 'तरुणाई' ये ही दो अवस्थाएँ कृष्णजी की उन्होंने अंकित कीं। गीता के तत्त्वज्ञानी उनके उपात्य न थे। 'लरिकाई' में बालरूप वर्णन और बालभाव वर्णन दोनों पराकाष्ठा तक पहुँच गये। अंग-प्रत्यंग का चित्रण भी है और बालस्वभाव की अनेकरूपता भी

है। इस अनेकरूप में चोरी से लेकर झूठ बोलना और भाइयों और साथियों से झगड़ा बगड़ा करना सभी पाया जाता है। चित्र स्वाभाविक हैं परंतु आदर्शोन्मुख नहीं हैं। इसी प्रकार तरुणाई के प्रधान रस प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की मार्मिक अभिव्यक्ति तो है पर उसमें अपार्थिव चमक नहीं है उसमें ईश्वरोचित भव्यता नहीं है और उसमें वासना-बाह्य प्रभाव नहीं है। बचपन का यह प्रसंग—

"एक धार गोहन पहुँचावत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी"

वैसे ही ठेठ मानवीय है जैसे उनकी रासलीला, दानलीला, वस्त्रहरण लीला इत्यादि इत्यादि हैं।

सूरदास का दिखाया हुआ यह मार्ग सगुणवाद की परम्परा में इतना आगे बढ़ा कि भोगवाद के रूप में सामने दिखाई देने लगा। इसकी चर्चा आगे की जायगी। परंतु सूरदास के पूर्व कवियों से उन्हें स्वयं यह गतानुगति मिली थी। उनका उतना उत्तरदायित्व न था जितना सहसा समझ में आता है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम भक्ति धारा को पकड़कर अयोध्याधिपति दशरथ पुत्र राम की उपासना में रसमग्न होने और रसमग्न करने लगे। सगुणवाद की इस रामवतारी परम्परा में कुछ विशेषताएँ थीं जो कृष्ण-भक्ति में न थीं। गोस्वामीजी ने इस बात की चेष्टा की उनका प्रभाव जीवन को सद्गति देनेवाला ही न हो जीवन संस्तरण के लिए प्रकाश-स्तम्भ हो। उन्होंने सिद्धों और नागों की साधना और अभ्यास को जीवन की पवित्रता के लिए अपनाया परंतु उनकी एकांतप्रियता और लोक बाह्य मनोवृत्ति को सामाजिक जीवन के लिए अग्राह्य समझकर छोड़ दिया। उसी प्रकार कृष्णावतार की घोर नैसर्गिकता से सनी हुई जीवनलीलाओं को समाज के आध्यात्मिक उठान और समवेत आराधना के लिए अयोग्य ठहराया। कृष्ण भक्तों और उनके पोषकों ने इन लीलाओं में जो भी ईश्वरीय जामा पहनाने की चेष्टा की और काव्य-जगत् की अन्योक्ति साधना प्रतीक प्रयोग कहकर व्याख्या करने का प्रयास किया वह गोस्वामी सदृश्य मानव हितकारी के समक्ष इतना निर्बल सिद्ध हुआ कि उस पर केवल बनावटी आस्था ही टिक सकती थी। अतएव गोस्वामीजी ने जीवन संस्तरण कला का एक सूत्र रचा—

'घर कीन्हे घर जात है, घर छाड़े घर जाय।
'तुलसी' घर बन बीच रहु, राम प्रेम पुर छाय'॥

और इसी के ऊपर सगुणवादी रामावतार की लीलाओं को अपने काव्य में बाँधा।

'घर' गार्हस्थ जीवन का प्रतीक है और 'बन' साधना और तपस्या का प्रतिरूप है। इन्हीं दोनों के उचित सामञ्जस्य का आदेश इस दोहे में है। केवल एकांत साधना

और तपश्चर्या से भगवान् का वह समस्त उद्देश्य समाप्त हो जाता है जिसके लिए उसने मानव को जन्म दिया और घर की घोर ऐहिकता में लिप्त हो जाने से जीवन का आध्यात्मिक तात्पर्य नष्ट हो जाता है, वह केवल भोगाभिमुखी बनकर रह जाता है। गार्हस्थ्य-जीवन के भीतर साधना और आराधना करना और साधना और आराधना के भीतर भी सांसारी कर्तव्यों को न भूलना जीवन-कला की बड़ी भारी व्याख्या है।

इस दोहे का अंतिम चरण विशेष प्रकार से चिंत्य है। गोस्वामीजी ने 'राम-प्रेम' कहकर रामावतार के प्रति सगुणवाद को पूरा पूरा मोड़ा। ऐसा उन्होंने क्यों किया? उनके पास राम के लिए यह पक्षपात क्यों था? अपने अपने उपास्य का चयन साधारणतया लोग पैतृक परम्परा अथवा स्थानीय कारणों से करते हैं और कभी-कभी अपनी अनायास सकाम आराधना के सफल होने पर स्वार्थवश उपास्य का निर्धारण करते हैं। ये दोनों कारण स्थूल बुद्धिवाले भक्त के लिए सम्भव है परंतु तत्वदर्शी गोस्वामीजी के लिए नहीं। उनका प्रभु तो सारी चिंतना को परितुष्ट करनेवाला और सारी भावना का आराध्य हो तभी टिक सकता था। राम में 'सर्वभूतहिते रतः' का गुण उन्होंने पाया उनकी लीलाओं में मानव के उत्थान के लिए सोपान मिले। उनमें जीवन की समस्तता मिली। सभी प्रकार के सांसारिक संबंधों के आदर्श और सभी प्रकार की प्रवृत्तियों, भावनाओं और अवस्थाओं के परिष्कार के साधन मिले। कवियों ने अत्यंत प्राकृतिक मानवीय रूप देने की धुन में बालक कृष्ण से नवनीत चोरी कराई उनसे झूठ बुलाया, भाई और साथियों से लड़ाई करवाई, वस्त्राहरण और रासलीला हुई यह ऊपर बतलाया गया है। समाज के लिए भगवान् के इस पक्ष से गोस्वामीजी के अनुसार कोई लाभ नहीं पहुँचा। मुरली बजाकर गोपिकाओं को एकत्रित करने के स्थान पर समाज के हित के लिए धनुष-बाण लेकर—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे"॥

वाला रूप समाज की उदात्त वृत्तियों को टिकाने के लिए कहीं हितकर था। इसी लिए गोस्वामीजी कह उठते हैं—

'का बरनौं छवि आपकी भले बने हो नाथ।
'तुलसी' मस्तक तब नवै, धनुष बान लेव हाथ।'

मुरली लेकर आप बहुत सुन्दर भले ही लगें पर गोस्वामीजी का मस्तक तभी झुक सकता है जब दुष्टदलन और साधुरक्षण का बाना धनुष धारण करके सामने आवें।

यही नहीं, उनके राम प्रातः से रात्रि तक एक मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में आचरण करते हैं। वे हारी हुई बाजी भरत को जिता देते हैं। "मैया मोंहि दाऊ बहुत खिझायो।"

की बात नहीं आती और न बाप कसम खानेवाले सड़कवाले लड़कों की भाँति—

"दाँव दियो करि नन्द दोहाइयाँ" की नौबत आती है। उनके राम खेलने में भी बेइमानी नहीं करते?

सब भाइयों का विवाह होकर 'बधुओं' के साथ वे दशरथपुर आते हैं। कवि के लिए कितनी संयम की बात है कि उनके संयोग के चित्रण की बात तक न सोचे। संस्कृत साहित्य के अन्यतम कवि कालिदास कुमारसंभव में भगवान् शंकर और माता पार्वती को जननी समझ कर भी उनके शृङ्गार वर्णन करने में अपनी उमङ्ग न रोक सके। किसी भी कवि के लिए यह अवरोध कठोर लाचारीवाला है। परंतु गोस्वामी जी ने केवल एक पंक्ति लिखकर अनूठे शील की व्यंजना की है—

"बधुन समेत सास सब सोईं।"

अन्यत्र भी जहाँ थोड़ी बहुत उमंग भी आई है देखिए—

"उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनीदे नैन॥"

कैसा मीठा संकेत है जिसमें अभद्रता कहीं छू भी नहीं गई है।

दूसरी बात जो गोस्वामी जी के जीवन सूत्र में मिलती है वह उनकी समवेत भावना है। वे लिखते हैं कि 'राम प्रेम पुर छाय'। अकेले रहने की कल्पना नहीं करते। वे 'पुर' बसाकर रहने की बात करते हैं। मानव समाजगत उन्नति करे। उसे संसार के भीतर रहना है यह समझकर अच्छे व्यक्तियों का पड़ोस बसावे यह उसका आदर्श होना चाहिए। पुर में जो विभिन्न लोग रहें वे कैसे हों यह गोस्वामीजी रामचरित मानस में स्थान-स्थान पर संकेत करते हैं। गुरु की महिमा में लिखा है—

"गुरु आयसु सब धर्म क टीका।"
"गुरु बिन भवनिधि तरहि न कोई,
जो बिरंचि संकर सम होई।"

× × ×

'जे सठ गुरु सन ईर्षा करहीं,
रौरव नरक कोटि युग परहीं।'

× × ×

आरंभ में ही गुरु की स्तुति में लिखा है—

श्री गुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुर सुधार
वरणौं रघुवर विमल जस, जो दायक फल चार।

राजा का आदर्श देखिये—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवस नरक अधिकारी।

मित्र का रूप देखिये—

'मित्र के दुख रज मेरु समाना'

× × ×

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी
तिनहिं विलोकत पातक भारी।

पिता कैसा हो—

'मोरे राम भरत दोउ आँखी'

ऐसे ही पिता के लिए कहा है—

'अनुचित उचित विचार तजि जे पालहिं पितु बैन,
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमर पति ऐन।'

माता का महत्त्व देखिये—

'जो केवल पितु आज्ञा ताता,
तौ जनि जाव जानि बड़ माता।
जो पितु मातु कहेउ बन जाना,
तौ कानन सत अवध समाना।'

मंत्री की परिभाषा देखिये—

'मंत्रि सुमंत्र कहै बढ़ सोई'

पति पत्नी संबंध देखिये—

'जिन सपनेहु पर नारि न हेरी'

× × ×

'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते,
पिय बिन तियहिं तरनि ते ताते।'

भाई-स्नेह देखिये—

'सुत वित नारि भवन परिवारा,
होंहि जाहिं जग बारहिं बारा।
अस विचार जिय जागहु ताता,
मिलहि न बहुरि सहोदर भ्राता।'

इसी संबंध में चित्रकूट में भरत की उक्तियाँ ध्यान से पढ़ना चाहिये। सासु पतोहू का संबंध देखिये—

'नयनपुतरि जिमि जुगवत रहहूँ,
दीपबाति नहिं टारन कहहूँ।'

× × ×

'सीय सासु प्रति वेस बनाई, सेवा करै अधिक अधिकाई।'

× × ×

'सेवा समय दैव बन दीन्हा, मोरु मनोरथ सुफल न कीन्हा।'

सेवक कैसा हो—

'सेवक सोइ जो स्वामि रुख राखी।'

× × ×

'सेवक सोइ जो करै सेवकाई।'

संत और असंत की परिभाषा से रामचरित मानस भरा पड़ा है। संक्षेप में एक स्थान पर लिखा है—

'बिछुरत एक प्रान हरि लेंहीं, मिलत एक दारुण दुख देहीं।'

कवि ने अपने लिए भी लिख मारा—

"कीन्हें प्राकृत नर गुन गाना, सिर धुनि गिरा लाग पछताना।"

'राम प्रेम पुर' में ऊपर परिभाषित व्यक्तियों का ही निवास गोस्वामी जी चाहते हैं। कहने का अभिप्राय है कि गोस्वामी तुलसीदास ने सगुणवाद के भीतर रामावतार द्वारा भक्त गृहस्थों तथा अन्य सब लोगों के लिए एक ऐसा पुष्ट आधार तैयार किया है जो भारतीय संस्कृति से अभिन्न होने के कारण मिटाये नहीं मिटता और भुलाये नहीं भूलता। यही "राम प्रेम पुर" है। सगुणवाद की यह देन निर्गुणवाद की देन से भारतवर्ष के लिए कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध हुई और इसमें 'योगश्चित वृत्ति निरोध:' और 'योग: कर्म सु कौशलम्' का अनूठा समन्वय किया गया। इस सगुणवाद के युग में कोई ऐसा कुशल कृतिकार न हुआ जो भगवान कृष्ण के तरुणाई तक के जीवन को

लोकोपयोगी बनाता और उसका सामंजस्य महाभारत के कृष्ण से बिठाता हुआ एक ऐसा समूचा और पूरा नायक सामने रखता जिस पर गोस्वामी तुलसीदासजी के नायक की भाँति कोई उँगली न उठा सकता और ज्ञानी और भक्त एक प्रकार उसमें रमण कर सकते। यह कार्य कोई वाणी से वरदान प्राप्त साधक अथवा संत ही कर सकता था। वर्तमान युग में पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र ने अपने कृष्णायन में भगवान कृष्ण के दोनों रूपों को मिलाने का प्रयास किया है। वैसे हरिऔधजी तथा मैथिलीशरणजी गुप्त ने भी थोड़ा बहुत इसी दिशा में प्रयास किया है।

भोगवाद (५)

सगुणवाद के अनंतर हिंदी-साहित्य में भोगवाद का पदार्पण हुआ। सामंतवाद में सामंतों को प्रसन्न करने की योजना पहले से चली आती थी। एक ओर उनके शौर्य के लम्बे चौड़े आख्यान गाये गये और दूसरी ओर उनकी कामुक वासना उभाड़ी गई और रति के नये नये आलम्बन खड़े किये गये। इन दोनों योजनाओं में कवियों ने योग दिया ऐसा ऊपर लिखा गया है। रति प्रयोग और प्रयोजन बहुत बड़े रूप में रीतिकाल में विकसित हुई और शौर्य गान केवल कुछ कवियों (भूषण इत्यादि) को छोड़ कर इकदम भुला सा दिया गया। योगवाद के काल से जो सिद्धों में भ्रष्टाचार चला आ रहा था उसने काम व्यापार के नित नये रूप में शृंगारिक कवियों को रमण करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उसी प्रकार सगुणवादवाले अवतारी कृष्ण के भक्त कवियों ने जो उनकी संयोग वियोग लीलाओं का भगवद् उपासना और कथा वर्णन के नाम पर अमर्यादित वर्णन किया उसने भी रीतिकालवाले भोगवादी कवियों को प्रोत्साहित किया और वे कृष्ण भगवान की प्रेम-लीलाओं की आड़ में यहाँ तक उतर आये—

"केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।"

यह पंक्ति किसी साधारण कवि की नहीं है। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि मतिराम ने इसे रचा है। यह 'लला' वही विहारीलाल के ही 'लाल' हैं जिनके बातों के रस के लिए गोपिकाओं ने उनकी मुरली चुराकर रख दी थी। भोगवाद में "योगः कर्मसु कौशलम्" न रहकर 'भोगः कामे कौशलम्' हो गया और 'चित्तवृत्ति निरोधः' चित्त-वृत्ति प्रयोगः के रूप में समझा गया अन्यथा कवि स्नान करनेवाली किसी स्त्री को न ताकने जाते और न कहते—

'जाय जहाँ जहाँ ही वह बाल, तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिवेणी।'

और न केशव को यह कहने का उत्साह होता—

'केशव केशन असकरी, जस अरिहूँ न कराँय।'
चंद्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाँय ।।'

भोगवादी कविता अधिकतर इंद्री परायण रही । उसका सौंदर्य वर्णन ऐहिक प्रयोजनपूर्ण था । उसका नखशिख वर्णन पार्थिव और रति भाव का सहायक था। यह नहीं कहा जा सकता कि इस युग में शुद्ध प्रेम को पोषण करनेवाला, नितांत सात्विक और सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति किसी ने की ही नहीं । परंतु युग का रुझान इस ओर न था। पार्थिवता को अश्लीलता से बचाने के लिए या तो राधाकृष्ण का नाम बीच में डाल दिया गया या काव्य शास्त्र के उदाहरण रूप रतिभाव के अनेक रूपों और अंतरदशाओं की व्यंजना करनेवाली कविताओं का सार्थक बनाया गया। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने यह बिलकुल ठीक कहा है रीतिकाल के कवि—दो चार को छोड़ कर—प्रधानतया कवि ही थे आचार्य न थे। उनमें तर्कसंयत ऊहापोह की क्षमता न थी। वे अधिकतर हृदय-प्रधान थे । अतएव उनके उदाहरण काव्य के ही सुंदर रूप हैं। उन्होंने शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण देने का कार्य केवल शृङ्गारिकता के अतिशय्य को ढाकने के लिए किया। हिंदी में कई परिपाटियाँ चल निकलीं। नख से लेकर नायिका के शिख तक प्रत्येक अवयव का चित्रण नख शिख वर्णन कहलाया। छः ऋतुओं में संयोगी और वियोगी की क्या दशा होती है उसे षट्ऋतु वर्णन कहा गया। इसी प्रकार बारह महीनों में संयोग और वियोग के ऋतुकाल के अनुसार क्या प्रभाव पड़ता है उसे तोला गया। स्त्रियों के मन के भीतर इतना पैठा गया कि उनकी सारी मानसिक परिस्थितियों को खोल खोलकर अलग कर दिया गया और उनके अनुसार उनका वर्गीकरण हुआ। कुछ विभाजन परिस्थिति-जन्य भी हुआ। इस सब को नायिका भेद कहा गया। यह सारा प्रयोग केवल शृङ्गार के ही क्षेत्र में हुआ क्योंकि कवि का प्रयोजन तो भोगवाद से ही था । नायिकाओं के अनुसार नायक भेद भी स्थापित किया गया।

भोगवाद के भीतर जिन काव्य पद्धतियों का चलन निकल पड़ा उनकी परम्परा बहुत काल तक चलती रही। बहुत बार काव्य स्वरूप के प्राबल्य के कारण भावों को गौण स्थान मिल गया और यह परिपाटी भी स्वतंत्र रूप से चल निकली। इन सबकी चरचा यहाँ प्रासंगिक नहीं है। भोगवादी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

केशवदास जी लिखते हैं—

चंचल न हूजै नाथ, अंचल न खेंचौ हाथ,
सोवै नेक सारिकाऊ, सुक तौ सोवायो जू।
मंद करौ दीप-दुति चंदमुख देखियत,
दारिकै दुराय आऊँ द्वार तौ दिखायो जू॥
मृगज मराल बाल बाहिरै विडारि देउँ,
भायो तुम्हैं केशव सो मोहूँ मन भायो जू।
छल के निवास ऐसे वचन-विलास सुनि,
सौगुनो सुरत हू तें स्याम सुख पायो जू॥

यह वाक्-विदग्धता भी 'श्याम' के ही मत्थे मढ़ी गई है।

'रहीम' की सवैया देखिए—

जाति हुती सखि गोहन में मनमोहन को लखि ही ललचानो।
नागरि नारि नई ब्रज की उनहूँ नँदलाल को रीझिबो जानो॥
जाति भई फिरि कै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो।
ज्यों कमनैत दमानक में फिरि तीर सों मारि लै जात निसानो॥

यह भी नँदलाल का ही प्रेम-व्यापार है।

मुबारक का रूपक आरूढ़ दोहा नीचे दिया जाता है—

चिबुक-कूप, रसरी अलक, तिल सु चरस, दृग बैल।
बारी बैस सिंगार की, सींचत मनमथ-छैल॥

भोगवाद कहाँ अश्लीलता को छू लेता है उसका भी उदाहरण देखिये। यह कविता पंडित रामचंद्र शुक्ल के इतिहास पृष्ठ २७० से उद्धृत की गई है—

आँखिन मूँदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै॥
नाह छुई छल सों छतियाँ, हँसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै।
जोबन के मद मत्ततिया हित सों पति को नित चित्त चुरावै॥

चिंतामणि त्रिपाठी इसके रचयिता हैं।

कविवर बिहारी की भोग दृष्टि देखिए—

नासामोरि, नचाय दृग, करीकका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिए, गड़ी कँटीली भौंह॥

सुखदेव मिश्र की करामात सुनिए। वाक्विदग्धा नायिका क्या कहती है—

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
संग ना सहेली, बैस नवल अकेली,
तन परी तलबेली-महा, लाग्यो मैन-सरु है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है॥

और देखिए कृष्णजी से गोपिका कैसा काम लेना चाहती है यह कालिदास त्रिवेदी की कल्पना ही दिखा सकती थी। कृष्ण के जीवन में यही भाव भरा पड़ा है।

चूमौं करकंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह! मो तन निहारि दै।
कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै॥
कुँअर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु,
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेहँदी लगी है, नंदलाल प्यारे!
लट उरझी है नकबेसर सँभारि दै॥

हिंदी के प्रसिद्ध कवि देव क्या लिखते हैं—

सखी के सकोच, गुरु-सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
को जानै, री बीर! बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि
गोरो-गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात॥

दासजी कान्ह और कूबरी प्रसंग की कैसी झाँकी देते हैं—

ऊधो ! तहाँ ई चलौ लै हमें जहँ कूबरि कान्ह बसैं एक ठौरी।
देखिय दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र; लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरि-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बंदन रोरी॥

प्रतिदिन रति की नई व्यवस्था करनेवाले लम्पट नायक की शिकायत सुनिए। यह भी कृष्ण को ही अर्पित किया गया है। कवि सोमनाथ कहते हैं—

प्रीति नई नित कीजत है, सब सों छल की बतरानि परी है।
सीखी ढिठाई कहाँ ससिनाथ, हमैं दिन द्वैक तें जानि परी है॥
और कहा लहिए, सजनी ! कठिनाई गरै अति आनि परी है।
मानत है बरज्यो न कछू अब ऐसी सुजानहिं बानि परी है॥

दूलह कवि तो बड़ा खुला रति व्यापार चित्रित करते हैं। भोग का प्रकम्पन पंक्ति पंक्ति में भिदा है। शुक्लजी के इतिहास पृष्ठ ३२० और ३२१ का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

धरी जब बाहीं तब करी तुम 'नाहीं',
पायँ दियौ पलिकाही 'नाहीं नाहीं' कै सुहाई हौ।
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
कवि दूलह, उछाही लाख भाँतिन लहाई हौ॥
चुंबन में नाहीं, परिरंभन में नाहीं,
सब आसन विलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ।
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्ही चितचाही, यह
'हाँ' तें भली 'नाहीं' सो कहाँ तें सीखि आई हौ॥

रति संगोपन विदग्धा का उन्हीं कवि का चित्र उसी पृष्ठ में देखिए—

सारी की सरौंट सब सारी में मिलाय दीन्हीं,
भूषन की जेब जैसे जेब जहियतु है।
कहै कवि दूलह छिपाए रदछद मुख,
नेह देखे सौतिन की देह दहियतु है॥

बाला चित्रसाला तें निकसि गुरुजन आगे,
कीन्हीं चतुराई सो लखाइ लहियतु है।
सारिका पुकारै "हम नाहीं, हम नाहीं,"
"एजू ! राम राम कहौ," 'नाहीं नाहीं' कहियतु है ॥

इसी प्रकार दत्तजी का भोगवादी चित्र देखिये—
पंडित रामचन्द्र शुक्ल कृत हिंदी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३२४ देखिये—

ग्रीषम में तपै भीषम भानु, गई बनकुंज सखीन की भूल सों।
धाम सों बाम-लता मुरझानी, बयारि करैं घनस्याम दुकूल सों ॥
कंपत यों प्रगट्यो तन स्वेद उरोजन दत्त जू ठोढ़ी के मूल सों।
द्वै अरबिंद-कलीन पै मानो गिरै मकरंद गुलाब के फूल सों ॥

देवकीनंदन जी रति व्यापार के संगोपन चातुर्य की वाग्विदग्धता का कैसा चित्र खींचते हैं—

मोतिन की माल तोरि, चीर सब चीरि डारै,
फेरि कै न जैहौं आली, दुख बिकरारे हैं।
देवकीनंदन कहै धोखे नागछौनन के
अलकैं प्रसून नोचि नोचि निरवारे हैं ॥
मानि मुख चंद-भाव चोंच दई अधरन,
तीनौ ये निकुंजन में एकै तार तारे हैं।
ठौर ठौर डोलत मराल मतवारे,
तैसे मोर मतवारे त्यों चकोर मतवारे हैं ॥

उसी प्रकार का बेनी बंदीजन का यह चित्र देखिये—

अलि उसे अधर सुगंध पाय आनन को,
कानन में ऐसे चारु चरन चलाए हैं।
फटि गई कंचुकी लगे तें कंट कुंजन के,
बेनी बरहीन खोली, बार छबि छाए हैं ॥
वेग तें गवन कीनो, धक धक होत सीनो,
ऊरध उसासैं तन सेद सरसाए हैं।
भली प्रीति पाली बनमाली के बुलाइबे को,
मेरे हेत आली बहुतेरे दुख पाए हैं ॥

देखिए कृष्णजी की कैसी दुर्दशा होली में हो रही है । यह उत्सव का भोग है या भोग का उत्सव है कौन जाने । पद्माकरजी कहते हैं—

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी ।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी ॥
छीनि पितम्बर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी ॥"

ठाकुर कवि लिखते हैं—

सजि सूहे दुकलन बिज्जु छटा सी अटान चढ़ी घटा जोवति हैं ।
सुच्चिती ह्वै सुनैं धुनि मोरन की, रसमाती सँजोग सँजोवति हैं ॥
कवि ठाकुर वै पिय दूरि बसैं, हम आँसुन सों तन धोवति हैं ।
धनि वै धनि पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवति हैं ॥

भोग की कैसी तिलमिलाहट है । देखिये दूसरे ठाकुर तो साफ-साफ व्यभिचार को अंतिम पंक्तियों में बल देते हैं—

दस बार, बीस बार बरजि दई है जाहि,
एते पै न मानै जौ तौ जरन बरन देव ।
कैसो कहा कीजै, कछू आपनो करो न होय,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव ॥
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निहसंक रस-रंग बिहरन देव ।
बिधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव ॥

इस प्रकार के उदाहरण रीतिकाल के कवियों में भरे पड़े हैं । भोगवाद के अतिरिक्त शुद्ध प्रेम अथवा पवित्र शृङ्गार रस के उदाहरण भी बहुत हैं । उनकी यहाँ चरचा नहीं की गई है । वर्तमान युग में भी स्थूल भोगवाद की कविताओं के उदाहरण बहुत मिलेंगे । कवियों का नाम यहाँ देना निरापद नहीं ।

काव्य कला अनंत और अखंड है । भोगवाद की कृतियाँ भी उसमें आती हैं । इस दृष्टि से उन्हें कविता न कहना भूल है । उनमें एक विशेष प्रकार का मनोभाव, एक विशेष रुचि और एक विशेष परम्परा है । उसका मूल संस्कृत में मिलेगा । अतएव भोगवादी कविता को उसके निर्मित वातावरण के भीतर सहानुभूति के साथ समझना और समझाना चाहिए ।

रहस्यवाद (६)

स्थूलरूप वर्णन की भी प्रतिक्रिया हुई। नख शिख चित्रण के घिसे हुए उपमाओं से लोगों में विरक्ति हो गई। बारह मासा और षट्ऋतु प्रसंगों को लोगों ने अवास्तविक समझकर छोड़ दिया। नायिका भेद विलासी मनोवृत्ति का अभिशाप या वरदान समझ कर त्याग दिया गया। अलंकार की ऐसी अस्वाभाविक निबंधना की जाने लगी थी कि अभिव्यंजना का बोझ बढ़ता ही जा रहा था उसे भी छोड़ा गया। ऐहिक रूप-व्यापारों से चित्त हटा। ऐंद्रियता घिनौनी प्रतीत होने लगी। इहलोकवाद की प्रतिक्रिया हुई और ध्यान हटकर इतर लोक की ओर गया। ऐंद्रियता के स्थान पर अनैंद्रियता के वर्णन होने लगे। रूप अभिव्यंजन के स्थान पर अरूप अभिव्यक्ति होने लगी और उसका कथन-विधान भी बदला। इस प्रकार हिंदी साहित्य में रहस्यवाद की अवतारणा हुई।

रहस्यवाद क्या है और उसका आगमन कैसे हुआ इसका दिग्दर्शन आगे की पंक्तियों में मिलेगा।

ज्ञानगम्य और भावगम्य परिस्थितियों का समाहार स्थूल रूप से सत् और असत् में पूरा-पूरा विभाजित किया जा सकता है। सत् का स्थायित्व ज्ञान की निश्चयात्मकता और भावना की दृढ़ता पर टिकता है। परंतु असत् के निरूपित करने के लिए ज्ञान अक्षम है। वह अधिक से अधिक संदेह का आँचल पकड़कर कुछ दूर तक बढ़ सकता है। केवल भावना ही निश्चय के साथ उसे सम्हाल लेती है। असत् को सत् करने के इसी प्रयास को हम रहस्यवाद कह सकते हैं।

हिंदी-संसार में रहस्यवाद के संबंध में विचित्र-विचित्र धारणाएँ व्यक्त की जा रही हैं। ऐसे-ऐसे कवियों को रहस्यवादी कवियों की कोटि में ढकेला जा रहा है जो रहस्यवाद से कोसों दूर हैं। इधर हिंदी-कविता ने एक विशेष परिपाटी का आविर्भाव किया है। हिंदी में यह सर्वथा नई वस्तु थी। भाव-जटिलता और भाषा-क्लिष्टत्व उसके प्रमुख अंग हैं। इस अराजकता को देखकर साधारण आलोचक उसे सहसा रहस्यवादी कविता कहने लगता है। जहाँ कहीं कठिनता दिखाई पड़ी, वहीं रहस्यवाद आ गया। वास्तव में भाव-गंभीरता, भाषा-क्लिष्टत्व तथा विचार-जटिलता के कारण अभिव्यक्ति में जो दुरूहता आ जाती है, वह रहस्यवाद नहीं है। वरन् आधेय के अपूर्ण प्रवेश तथा आधार की अक्षमता और तथ्य के आलोक की लपक-मात्र के कारण जो अभिव्यक्ति में निर्देश-मात्र आ जाता है, उसे रहस्यवाद कह सकते हैं।

रहस्यवाद के वास्तविक स्वरूप के संबंध में हिंदी में जो भ्रम फैल रहा है उसके निराकरण की आवश्यकता है और उसके सच्चे स्वरूप की जानकारी भी अपेक्षित है। कुछ लेखों को छोड़कर इस संबंध में जो कुछ भी लिखा गया है, वह बहुधा अस्पष्ट और पक्षपात-युक्त है। अर्वाचीन लेखकों ने रहस्यवाद का स्वरूप समझाने का चाहे कष्ट न उठाया हो, किंतु रहस्यवाद की प्रशंसा के पुल अवश्य बाँधे हैं। उनके लेख आलोचनात्मक न होकर स्वयं रहस्यमय हो गये हैं, जिससे जिज्ञासु-मंडल तृप्त नहीं हो सका। दूसरी ओर प्राचीनवादी लेखकों में कविता की इस नवीन प्रगति की अराजकता का इतना भय समा गया है कि वे सारी प्राचीन पद्धति को विलीन हुई देखते हैं। अतएव नवीन विच्छृंखलता के अनादर की भावना उनमें जितनी ही वेगवती होती जाती है, उतना ही वे रहस्यवाद को कोसने लगे हैं। रहस्यवाद के विकृत स्वरूप को बुरा न कहकर रहस्यवाद को ही बुरा कहने लगे हैं। हिंदी-संसार रहस्यवाद के विवाद के उभय पक्ष के लेखकों से भली भाँति परिचित है।

इस विषय में अभी कोई अच्छी पुस्तक हिंदी में देखने में नहीं आई। हाँ, पं० रामचंद्रजी शुक्ल ने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है। कदाचित् अपने विचारों को लेख-रूप में व्यक्त करने के प्रयास में ही लेख का आकार बढ़ गया है और उसका रूप विशद बन गया है। पं० रामचंद्रजी शुक्ल एक निर्मल-बुद्धि समालोचक हैं। रहस्यवाद के विवाद में उन्होंने काफी भाग लिया है। विषय निष्पक्ष विवाद से सुबोध अवश्य होता है। शुक्ल जी हिंदी-कविता की नवीन कही जानेवाली प्रगति के आरंभ से ही विरोधी रहे हैं और बहुत सीमा तक उनका विरोध उपयोगी और सार-युक्त सिद्ध हुआ है। उन्होंने स्थान-स्थान पर इस प्रगति के प्रतिकूल कहा और गालियाँ भी खाईं हैं। उनके 'रहस्यवाद' में इस विषय की सुंदर और मार्मिक विवेचना की गई है। अँगरेजी कवियों में कौन रहस्यवादी है और कौन नहीं इसके संबंध में हिंदी भाषा-भाषियों में बड़ा भ्रम फैला हुआ था। इसका समाधान बहुत कुछ उक्त ग्रंथ से हो जाता है। वास्तव में अँगरेजी कवियों की ही उक्त ग्रंथ में चर्चा है और रहस्यवाद के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के विचारों की समीक्षा है। परंतु शुक्लजी के ग्रंथ को पढ़ जाने के पश्चात् यही कहना पड़ता है कि ग्रंथ कुछ एकंगापन लिये हुए है। उन विचारों के साथ लेखक की अधिक सहानुभूति ज्ञात होती है जो रहस्यवाद के प्रतिकूल हैं। निष्पक्ष से निष्पक्ष लेखक की आलोचना में एकंगेपन की निर्बल उपस्थिति इससे अधिक और क्या प्रकट कर सकती है कि लेखक के मस्तिष्क के किसी छोटे कोने में

प्राचीन पक्षपात अभी विद्यमान है। शुक्लजी के लिए भी कदाचित् यही संभव हो सकता है। परंतु वैसे शुक्लजी में इस दुर्बलता के दर्शन कम होते हैं।

हिंदी-रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है, यह अब सभी मानते हैं। शुक्लजी का भी यही मत है। हिंदी का रहस्यवाद शब्द अँगरेजी के मिस्टीसिज्म का भाववाची है। छायावाद से रहस्यवाद की अभिव्यंजना नहीं होती। अँगरेजी के प्रसिद्ध कोष में रहस्यवादी उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास हो। कभी-कभी अध्यात्म-संबंधी विचित्र धारणा के उपहास के लिए और कभी-कभी ईश्वर और संसार-संबंधी असाधारण विवेचना की मखौल उड़ाने के लिए भी रहस्यवाद का प्रयोग किया जाता है। रहस्यवाद के व्यापक स्वरूप में संसार की बड़ी-बड़ी विभूतियाँ और छोटी-से-छोटी हस्तियाँ सम्मिलित हैं। संसार के बड़े-से-बड़े व्यक्तियों की कृतियों में कभी-कभी रहस्यवाद की वृत्ति पाई जाती है और धूर्त-से-धूर्त की प्रवंचना में भी उसका आभास दिखाई देता है।

सुख की आशा करना और उसके लिए सतत प्रयत्न करना मानव-समाज का आदिम व्यवसाय है। चिंताओं की शांति ही सुख का कारण है। ईश्वर और संसार का संबंध, संसार की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और लय का इतिहास सारे संसार को आदि काल से मुग्ध किये है। इस मुग्धता में विस्मय है और विस्मय में उद्वेगाग्नि है। इसी लिए चित्त क्षुब्ध और अशांत रहता है। क्षोभ और अशांति में सुख का ह्रास होता है। अतएव सुखापेक्षी नर-समाज का चिंतनशील समुदाय इस गुत्थी को सुलझाने के लिए अपनी सारी शक्ति अनंत काल से व्यय कर रहा है। मनुष्य ने अपना सारा ज्ञान उस अखंड सत्ता की खोज में लगा दिया, जिसका क्रियमाण स्वरूप यह सारा विश्व है। ससीम ज्ञान असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनंत काल से कर रहा है, परंतु उसमें शांति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिए समीप हृदय उत्कंठा से निकला। यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है। चिंतन-जगत् में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना-जगत् में वही रहस्यवाद कहलाता है। भाव-प्राबल्य-जन्य तद्रूपशीलता में रहस्यवाद के प्रादुर्भाव का रहस्य है।

भारतीय ग्रंथों में रहस्यवाद की सुंदर व्याख्या गीता के अधोलिखित श्लोक में मिलती है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ;
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।

परंतु काव्य-गत रहस्यवाद का संबंध ज्ञान से न होकर हृदय से है। रहस्यवाद
की विवेचना में बोन साहब ने उसे तीन स्थितियों में अवस्थित किया है—(१) दैवी
भाव (२) दैवी ज्ञान तथा (३) दैवी उपासना। वास्तव में काव्य-गृहीत रहस्यवाद
पहली स्थिति की अभिव्यक्ति है। दूसरी और तीसरी से उसका संबंध उतना नहीं है।
मानसिक विकास द्वारा ज्ञान से ऐक्य अनुभव करना दूसरी बात है और भावातिरेक द्वारा
हृदय से भावात्मक ऐक्य स्थापित करना दूसरी बात है। काव्य-स्वीकृत रहस्यवाद का संबंध
दूसरे प्रकार से है, पहले प्रकार से नहीं। यद्यपि अंततः दोनों का आशय एक ही है, परंतु
साहित्य में दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। एक को दर्शन के और दूसरे को काव्य के अंतर्गत
रक्खा गया है। जहाँ-जहाँ एक का स्थान दूसरे ने लिया है, वहाँ-वहाँ अस्त-व्यस्तता
उत्पन्न हो गई है। महाभारत-काव्य में गीता का समावेश उसके दार्शनिक मूल्य को
बहुत कुछ कम कर देता है और काव्य का प्रत्यक्ष विरोध होने से गीता के विचारों पर
अतार्किक होने का दोष मढ़ा जाता है। इसी से गीता से भिन्न-भिन्न मत चल निकले हैं।
इसी प्रकार कबीर महोदय ने विशिष्ट दार्शनिक 'वाद' को पद्य के कटहरे में बंद करने
का कई स्थानों में प्रयत्न किया है। अतएव उनका काव्य कहीं-कहीं बिलकुल नीरस हो
गया है। उसके उदाहरण आगे दिए जायँगे। दूसरी ओर यदि कोई हृदय के भावों को
अथवा तद्रूपत्व के भावावेश को दार्शनिक भाषा में लिखेगा, तो उसका महत्त्व आधा
भी न रहेगा। गीता में भगवान् के विराट् स्वरूप की व्याख्या में भी रहस्यवाद की
भावना उपस्थित है।

रहस्यवाद वास्तव में कोई 'वाद' नहीं है। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति है।
भिन्न-भिन्न रहस्यवादियों ने समूचे तथ्य का कोई-न-कोई अंग-निरूपण करके सत्य की
अभिव्यक्ति में कुछ-न-कुछ नई बात कही है। उस महान् अखंड शक्ति के आलोक का
आभास भक्तजनों को पृथक्-पृथक् कोण से मिला है*। उनकी अपनी मनोवृत्तियों ने
उसका रूप सँवारा है। यही कारण है कि पहुँचे हुए संतों के अनुभव एक दूसरे से भिन्न
और कहीं-कहीं परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं। अँगरेजी कवि वर्ड्सवर्थ को दैवी

---

* इस भाव की व्यंजना नीचे दिये हुए रूपक द्वारा सूफी कवियों ने भली भाँति
कराने का प्रयास किया है—

सुनि हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाय कै;
जेहि टोवा जेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा।

—मलिक मुहम्मद जायसी

अभिव्यक्ति का साक्षात्कार प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त हुआ था और इसी लिए वह प्रकृति का उपासक था; परंतु वही प्रकृति का स्थूल स्वरूप दूसरे रहस्यवादी कवि ब्लेक के लिए अखंड सत्ता के अवगत करने में विरोध उपस्थित करता था। परंतु यह प्रत्यक्ष विरोध रहने पर भी प्रत्येक रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की तीव्रता में बड़ा साम्य है। इसी को आलोचकों ने प्रत्यक्ष विरोध में आभ्यंतरिक साम्य कहा है।

'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' के अनुसार जीव और ईश्वर, प्रकृति और पुरुष में कोई द्वैत-भाव नहीं है। इस मानसिक ज्ञान को भावना के क्षेत्र में रहस्यवादी कवि अभिव्यक्त करता है। परंतु अद्वैत की पूर्ण भावना की प्रतिष्ठा के लिए द्वैत का परोक्ष रूप से समर्थन हो जाता है। गेय और ध्येय की सार्थकता ज्ञाता और ध्याता की उपस्थिति से ही हो सकती है। अतएव यद्यपि इन उभय पक्षों का ऐक्य रहस्यवाद की रागात्मिका प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य है, तथापि उपासक और उपास्य, उभय पक्षों को आरंभ में अवश्य मानना पड़ता है। यह द्वैत उपासना अथवा रहस्यमयी भावना के स्फुरण का पहला सोपान है और अद्वैत की रागात्मिका प्रतिष्ठा उसका अंतिम स्वरूप है। इस सूक्ष्म विश्लेषण तक न पहुँचनेवाले व्यक्तियों को इसी लिए उपर्युक्त द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत के सिद्धांत में विरोध दिखाई पड़ता है।

वास्तव में रहस्यवादी मानता है कि दैवी स्फूर्ति का कोई-न-कोई स्फुलिंग जीव के निर्माण में निहित है। उसी स्फुलिंग द्वारा—उसी दैवांश द्वारा—वह उस अखंड सत्ता की अनुभूति कर सकता है। रहस्यवादी का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बुद्धि द्वारा मनुष्य भौतिक पदार्थों का निरूपण करता है, उसी प्रकार अध्यात्म भावना द्वारा मनुष्य रहस्यमय अखंड सत्ता का अनुभव कर सकता है। परंतु बुद्धि और भावना के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। जिस प्रकार बुद्धि के व्यवसाय में, तार्किक विश्लेषण में, भावावेश से काम नहीं चलता; उसी प्रकार भावना के क्षेत्र में बुद्धि का प्रयोग व्यर्थ है। रहस्यवादी उसे मूर्ख समझता है जो आध्यात्म निरूपण में बुद्धि का प्रयोग करता है।

यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि-विचार
बुद्धि छोड़ करनी करौ, तौ पाओ कछु सार*।

—कबीर

---

* इस पद में 'करनी' शब्द में ज्ञान-कांड और कर्म-कांड की सापेक्षिक विवेचना नहीं है। 'करनी' शब्द वेदोक्त कर्मकांड के लिए नहीं आया है। संत लोग वास्तव में

बाह्य पदार्थों का ज्ञान हम उनकी ओर देखकर अन्य पदार्थों के साम्य और
वैषम्य द्वारा निर्धारित करते हैं, परंतु आभ्यंतरिक परिज्ञान की उपलब्धि मनुष्य को
केवल तद्रूप होने से ही प्राप्त हो सकती है। एक रहस्यवादी के लिए जीवन प्रतिक्षण
उन्नति करता चला जा रहा है। नये-नये खंडों का भावमय अनुभव-उद्घाटन पग-पग
पर चकित करता है। रहस्य का उद्घाटन रहस्य को और भी रहस्यमय बनाता चला
जाता है।

रहस्यवादी जीव के विभिन्न चित्रों और जन्मांतर के विभिन्न संस्करणों के समूचे
संकलन को एक साथ तारतम्य में देखता है। इसी लिए उसे जन्मांतर में विश्वास करना
पड़ता है। आत्मा की नित्यता उसके रहस्यमय भाव-प्रासाद की नींव है। "न जायते
म्रियते वा कदाचन्" अथवा "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" रहस्यवादी के अद्वैतवाद की
पुष्टि ही करते हैं। "अजो नित्यः", "शाश्वतोऽयं पुराणो" में उसका अचल विश्वास
रहता है। इस प्रकार के जन्मांतर में विश्वास कोई जाति-विशेष के रहस्यवादियों तक ही
सीमित नहीं है। जन्मांतर-सिद्धांत के घोर विरोधी इसाइयों* में भी जन्मांतरवादी कवि
हैं। जन्मजन्मांतरवाद के कट्टर विरोधी मुसलमान-धर्म के पोषक कविवर मलिक
मुहम्मद जायसी ने भी सूफी रहस्यवादी होने के कारण जन्मांतरवाद की आभा दिखलाई

कर्मकांड-विरोधी रहे हैं। 'करनी' से यहाँ 'सुरत-शब्द' अभ्यास से तात्पर्य है। यह एक
विशेष प्रकार का साधन है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक निरूपण का विधान विवक्षित
किया गया है। अर्थात् 'करनी' शब्द से संत उस दैनिक अभ्यास की ओर इंगित करता
है, जिसके द्वारा अखंड ज्योति का साक्षात्कार होता है।

*Our birth is but a sleep and forgetting.
The soul that rises with us, our life star,
Hath had elsewhere its setting.
But like trailing clouds of glory do we come.
---Wordsworth.

अर्थ—हमारा जन्म एक प्रकार की निद्रा और विस्मरण है। जो आत्मा हमारे
साथ उठता है वही हमारा जीवन-नक्षत्र है—वह अन्यत्र कहीं अवश्य डूबा होगा। हम
दैवत्व के प्रकाश से लिपटे हुए जन्म लेते हैं।

है। 'पद्मावत' का 'सुआ' पूर्वजन्म का ब्राह्मण था। कबीर ने तो खुल्लम-खुल्ला जन्मांतर माना है*। स्वयं अपने जन्म के लिए उन्होंने कल्पना की है—

पुरब जन्म हम बाँम्हन होते ओछ करम तप-हीना;
रामदेव की सेवा चूकी, पकरि जुलाहा कीना।

*　　　*　　　*

दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहो
पहले जनम भूत का पैहो, सात जनम पछतैहो;
काँटा पर कै पानी पैहो, प्यासन ही मरि जैहो।
दूजा जनम सुआ का पैहो, बाग बसेरा लैहो;
टूटे पंख, बाज मँड़राने, अधफड़ प्रान गँवैहो।
बाजीगर के बानर होइहो, लकड़िन नाच नचैहो;
ऊँच-नीच से हाथ पसरिहो, माँगे भीख न पैहो।
तेली के घर बैला होइहो, आँखिन ढाँप ढपैहो;
कोस पचास घरै में चलिहो बाहर होन न पैहो।
पँचवाँ जनम ऊँट का पैहो, बिन तौले बोझ लदैहो;
बैठे से तौ उठै न पइहो, घुरचि-घुरचि मरि जैहो।
धोबी के घर गदहा होइहो, कटी घास न पैहो;
लादि लादि आपुहु चढ़ि बैठी लै घाटै पहुँचैहो।
पंछी माँ तौ कौवा होइहो, करर-करर गुहरैहो;
उड़िके जाइ बैठि मैले थल गहिरे चोंच लगैहो।

---

* इसका अर्थ यह नहीं है कि कबीर महोदय ने जन्मांतरवाद के प्रतिकूल कहीं नहीं लिखा—

गाँठी बाँध खरच न पठयो, बहुरि कियो नहिं फेरा;
बीबी बाहर महल में, बीच पिया का डेरा।

*　　　*　　　*

अरे मन, समझ के लाद लदनियाँ।
सौदा करु तौ यहिं करु भाई आगे हाट न बनियाँ;
पानी पी तो यहीं पी भाई, आगे देस निपनियाँ।

*　　　*　　　*

संत नाम की टेर न करिहो मन-ही-मन पछितैहो;
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, नरक निसानी पैहो।

सूफी कवि जलालुद्दीन रूमी, हाफिज, जामी, हल्लाज इत्यादि मुसलमानों में भी आत्मा की पुनर्भावना के चित्र मिलेंगे। भारतवर्ष के संत कवि तो थियासोफिस्त लोगों की भाँति जन्मांतर के विश्वास के साथ-साथ विकासवाद को भी कहीं-कहीं स्वीकार करते दिखाई देते हैं—

जन्म एक गुरु-भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम;
जनम तीसरे मुक्ति पद, चौथे में निरवान।

परंतु यह सार्वभौमिक सिद्धांत नहीं है कि प्रत्येक रहस्यवादी जन्मांतर को माने ही। अँगरेजी-साहित्य में इसके अपवाद उपस्थित हैं। धर्म-प्रचारक, विज्ञानवेत्ता, तार्किक और दार्शनिक तथा रहस्यवादी में बड़ा भारी अंतर है। इस विभिन्नता का थोड़ा-सा दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। विज्ञानवेत्ता की भाँति रहस्यवादी रहस्योद्घाटन के लिए बुद्धि से काम न लेकर अपनी निजी भावना और आंतरिक प्रेरणा का प्रयोग करता है। दर्शनकार नवीन शोध को सीधे सामने से लेकर अभिव्यक्त करता है। रहस्यवादी उसका परोक्ष निदर्शन करता है। वह अनुभव करता है कि उसने अखंड ज्योति की लपक देखी है; उसने अनहद शब्द सुना है; उसने अमृत-कुंड के छींटों से स्नान किया है।

भरत अमिय-रस, झरत ताल जँह, शब्द उठें असमानी हो;
सरिता उमड़ि सिंधु कहँ सोकै, नहिं कछु जात बखानी हो।

परंतु दूसरे उस पर विश्वास नहीं करते। अंधों की बस्ती में जिस प्रकार नेत्रवालों की कोई नहीं सुनता और उनकी बातों पर विश्वास नहीं किया जाता, उसी प्रकार असंस्कृत व्यक्तियों की भी स्थिति होती है। रहस्यवादी भावना सबमें नहीं होती। ऐसे लोग तो कदाचित् बहुत मिल सकते हैं, जिन्हें मनोवेगमय क्षणों में अस्पष्ट और कुंठित रूप में अखंड सत्ता की झलक मिली है, और मिलती है, परंतु ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होंगे, जो इस अस्पष्ट और क्षणिक झलक को अभ्यास द्वारा अपनी रहस्यमयी भावना के लिए चिरस्थायी आलंबन बना लें और अंत में अभ्यास द्वारा भाव के उस चरम लोक तक पहुँच जायँ, जहाँ पहुँचकर आध्यात्मिक आलोक से पुनर्जीवित होकर संसार की प्रत्येक वस्तु हस्तामलकवत् देखने लगें।*

---

* That serene and blessed mood.

*　　*　　*

We see into the life of things.

साधारण प्रकार से देखने में रहस्यवादी साधारण प्रणाली के प्रतिकूल चलता है। वह पहले विश्वास करता है और बाद में जानता है। वैज्ञानिक प्रणाली के यह प्रतिकूल है। परंतु तर्क-वितर्क की प्रणाली को रहस्यवादी व्यर्थ मानता है। अपने अनुभव की यथेष्ट व्यंजना उसे परमावश्यक है।

भाषा भावों के विकास से हमेशा पीछे रहती है। भाव की उत्पत्ति के बाद तद्रूप भाषा गढ़ी जाती है। भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, भावों की यथेष्ट व्यंजनता संभव नहीं। इसीलिए रहस्यवाद की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है। 'उपमा' के इतिहास से भी स्पष्ट है कि शब्द-संकोच के निराकरण के लिए ही 'अलंकार' का प्रयोग होता है। 'सुराही की गर्दन' शब्द उपमा-स्वरूप ही मानव-शरीर-संगठन से गृहीत है। घर के बाहर कड़ी धूप की गर्मी की भाव-तीव्रता की उपयुक्त व्यंजना जब वक्ता इस वाक्य से कि 'गर्मी बहुत है', अनुभव नहीं करता है और यथेष्ट व्यंजना के लिए जब विह्वल होता है, तब मस्तिष्क के द्वार खट-खटाने पर उसे यह सूझ पड़ता है कि धूप नहीं है, यह तो आग बरस रही है। यहीं अपह्नुति अलंकार हो जाता है। यद्यपि यह स्थूल रूप से वस्तु-प्रतीक का उदाहरण नहीं है, जैसा पहला उदाहरण—अर्थात् सुराही की 'गर्दन'—है, परंतु यह भाव प्रतीक का सुंदर दृष्टांत है।

रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के बिना काम ही नहीं चल सकता है। उस अखंड ज्योति की उपयुक्त व्यंजना के लिए संसार की कोई भाषा पर्याप्त नहीं है। अतएव सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य है। रहस्योद्घाटन की अभिव्यक्ति कितनी कठिन है, इसका अनुमान केवल एक ही बात से हो सकता है कि लगभग सभी संत कवियों ने उस अखंड ज्योति के साक्षात्कार के प्राप्त सुख की अभिव्यक्ति में 'गूँगे के खाये हुए गुड़' की उपमा दी है। कारण यह कि सभी कवियों की व्यंजना की कठिनता एक-सी है। परंपरागत पुराण-गाथाओं द्वारा भी अभिव्यक्ति-प्रणाली में सहायता मिलती है। अतएव परम्परागत पुराण-गाथाओं का आश्रय और प्रतीक-प्रयोग दोनों रहस्यवाद के अभिव्यंजन-पक्ष के अनिवार्य अंग हैं।

प्रतीक-प्रयोग की भावना के अंतर्गत संसार के ऐक्य की भावना निहित है। इसी लिए रहस्यवादी उसे अपनाता है। वह विश्वास करता है कि सब पदार्थों में तिरोहित साम्य है। मानवीय प्रेम में दैवी प्रेम का अध्याहार देखता है तथा संकेत द्वारा उसमें दैवी प्रेम का आरोप करता है। प्रकृति में गिरती हुई पत्तियों को देखकर मानव-

समाज के ध्वंस का रहस्य सामने आ जाता है। हिलते हुए वृक्ष से प्रकंपित वृक्ष शरीर का चित्र उपस्थित हो जाता है।

बाढ़ी आवत देखि करि, तरुवर डोलन लाग;
हमें कटै की कछु नहीं, पंखेरू घर भाग।
—कबीर

प्रतीक-प्रयोग से अभिव्यक्ति में शक्ति आ जाती है। दैनिक जीवन में दांपत्य प्रेम अत्यंत तीव्र और व्यापक है। समूचे जीवन-क्षेत्र में उसका प्रभाव अद्वितीय है। इसी लिए कबीर* जायसी, मीरा, दादू, दरिया इत्यादि संतों में उसकी भरमार है। वास्तव में

---

* कुछ उदाहरण कबीर के नीचे दिये जाते हैं—

(१) नैहर में दाग लगाइ आई चुनरी।

(२) मेरी चुनरी में परिगो दाग पिया!

(३) पिय, ऊँची रे अँटरिया तोरी देखन चली। ऊँची अँटरिया, जरद किनरिया, लगी नाम की डोरिया।

(४) का लै नैनी ससुर घर ऐबो।

(५) आयो दिन गौने को मन होत हुलास।

(६) खेल रे नैहरवाँ दिन चारि।

(७) हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।

(८) तोकों पीव मिलेंगे, घूँघट कर पट खोल रे।
घट घट में वह साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे।

(९) मिलना कठिन है, कैसे मिलोगी पिय जाय।
समुझि सोचि पग धरौं जतन से बार-बार डिगि जाय।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।
लोक-लाज कुल को मरजादा देखत ही सकुचाय।

(१०) दुलहिन गाओ मंगलचार, हमारे घर आए राम भरतार।

(११) बालम, आओ हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया के हरे।
सब कोइ कहैं तुम्हारी नारी, मोकों यह संदेह रे।
अन्न न भावै, नींद न भावै, गृह बन धरै न धीर रे।
ज्यों कामी को कामिनि प्यारी, ज्यों प्यासे को नीर रे।

दांपत्य प्रेम के ही विशद मनोविकार द्वारा किसी अंश में रहस्य-भावमय अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलंभ—की कुछ-न-कुछ अभिव्यंजना हो सकती है; अन्यथा असंभव है।

दैवी आलोक की ओर ससीम प्रकाश की लपक—उसके वेग और प्रयास की आतुरता विप्रलंभ दांपत्य रति द्वारा यावत्किंचित् अभिव्यक्त किया जा सकता है। तथा ससीम और असीम का मेल—प्राप्त सुख की व्याख्या—संभोग दांपत्य रति की यथेष्ट व्यंजना से ही किसी अंश में बखाना जा सकता है।

गौने जाना, झिलमिली गैल में चलना, विरह में तड़पना, सब प्रतीक ही है।

रहस्यवाद तथ्य के आलोक का मानसिक प्रतिवर्तन है। ऊपर जैसा कहा गया है, रहस्यवाद के दो व्यवसाय होते हैं—अखंड सत्ता का संपर्क प्राप्त करने के लिए 'वहाँ' तक पहुँचना और नीचे उतरकर अपने अनुभव की अभिव्यंजना करना। कुछ ऐसे रहस्य-वादी हैं, जो सारे निगूढ़ रहस्यों की क्रमशील निबंधना का साक्षात्कार करते और

है कोइ ऐसा पर उपकारी पिय को कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भए हैं बिन देखे जिय जाय रे।

(१२) चली मैं खोज में पी की; मिटी नहिं सोच यह जी की।
रहे नित पास ही मेरे; न पाऊँ यार को हेरे।
बिकल चहुँ ओर को धाऊँ; तबहुँ नहिं कंत को पाऊँ।
धरौं केहि भाँति सों धीरा; गयो गिर हाथ से हीरा।
कटी जब रैन की झाईं; लख्यो तब गगन में साईं।
कबीरा शब्द कहि भासा; नयन में यार को बासा।

(१३) छोड़े गेह-नेह लगि तुमसों भई चरनन लवलीन;
तालामेलि होत घर भीतर, जैसे जल बिन मीन।
दिवस-रैन भूख नहिं निद्रा, घर-अँगना न सुहाय;
सेजरिया बैरिन भइ हमको, जागत् रैन बिहाय।
हम तो तुम्हारी दासी सजना, तुम हमरे भरतार;
दीनदयाल दया करि आओ, समरथ सिरजनहार।
कै हम प्राण तजत हैं प्यारे, कै अपना करि लेव;
दास कबीर बिरह अति बाढ़यो, हमको दरसन देव।

* * *

उसे ज्यों-की-त्यों व्यक्त करते हैं। कबीर को ऐसा ही रहस्यवादी कहना चाहिए। इस साक्षात्कार की उपलब्धि की तीन अवस्थाएँ हैं—पूर्वतद्रूप, तद्रूप तथा परतद्रूप*।

इस लेख में कबीर के दृष्टांतों से बहुत सहायता ली गई है, अतएव यह अनुचित न होगा, यदि यहाँ पर यह बतला दिया जाय कि कबीर साहब का रहस्यवाद देशी और विदेशी रहस्यवादों से तीन बातों में भिन्न है। उनकी थोड़ी चर्चा नीचे की जाती है—

१—उपासना के नंगे स्वरूप का कबीर के रहस्यवाद में अभाव है। इसी लिए उनका रहस्यवाद कभी विकृत नहीं हुआ। रहस्यवादी के लिए इसकी आशंका सदैव है कि कहीं रहस्यमयी भावना का आलंबन भद्दी मूर्ति-पूजा और बेढंगी हुस्नपरस्ती न हो जाय।

२—एकेश्वरवाद का ही विकृत स्वरूप पैगंबरवाद है। आत्मा का अस्वीकार जितना इस वाद से होता है, उतना किसी अन्य से नहीं। जायसी इस पैगंबरवाद से सूफ़ी होते हुए भी, चिपटे रहे। इसी लिए उनके विचार उतने उदार नहीं दिखाई देते हैं, जितने और रहस्यवादियों के हैं। कबीर की फटकार ने उनके रहस्यवाद को इस दोष से बचा लिया है।

३—भारतीय वेदांत में परोक्ष-चिंतन का व्यववसाय इतनी सीमा तक पहुँच गया था कि भवपक्ष निर्जीव-सा हो गया है। यह एक बड़ी भारी त्रुटि है। कबीर का रहस्यवाद अधिकतर सरस है और रागात्मिका वृत्ति को चरम भाव-लोक तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। वह निर्जीव चिंतन प्रणाली के अनुसरण से बहुत अंशों में बाल बाल बच गया है। यही उसकी विशेषता है।

आज भरम हम जाना सोऊ;
जस पियार पिव और न कोऊ।—जायसी

*तद्रूप होने के प्रयास की आदिम अवस्था से लेकर तद्रूप होने तक की अवस्था को पूर्व-तद्रूप अवस्था कहते हैं। तन्मय हो जाने की अवस्था को तद्रूप अवस्था कहते हैं। तथा तन्मय होने के परे की अवस्था को परतद्रूप अवस्था कहते हैं। अँगरेजी में Becoming, being तथा more than being से यही बातें बताई गई हैं।

इसी संबंध में एक बात और समझ लेने की है। नाटक में रहस्यवाद की उद्भावना संसार में कहीं नहीं हुई*। शेक्सपियर आदि नाटककार रहस्यवादी नहीं हैं। रहस्यमयी भावनाएँ दर्शकों के लिए सुबोध नहीं कही जा सकतीं। शेक्सपियर की कृतियों में, कहीं कहीं पर, आध्यात्मवाद की अभिव्यक्ति अवश्य है। आध्यात्मवादी और रहस्यवादी में थोड़ा भेद है। आध्यात्मवादी व्यक्त क्रियाकलाप और गत्यात्मक स्वरूप-विधान के कारण की खोज में चिंतित रहता है। परंतु रहस्यवादी ऐसा अनुभव करता है कि वह प्रत्येक तथ्य के अंतिम निष्कर्ष को जानता है। हाँ, रहस्यवादियों में भी उपासना-विधान में विभिन्नता हो सकती है और उपासना के लिंगों में आध्यात्मवाद से साम्य हो सकता है। हाफिज, जायसी, कबीर, मीरा तथा दादू इत्यादि ध्यान और प्रणिधान को महत्त्व देते हैं और रवींद्र, माखनलाल, सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर प्रसाद तथा महादेवी वर्मा कल्पना के परिष्कार की ओर अधिक झुकते हैं; परंतु दोनों के चरम आदर्श आभ्यंतरिक शुद्धि में सहायक हैं।

इतिहास की भाँति युग के साथ-साथ किसी क्रम से रहस्यवाद का विकास नहीं हुआ। किसी तार्किक क्रम के कटहरे में रहस्यवाद की किसी स्थिति को बंद करना भी कठिन है। हाँ, देश-काल की परिस्थितियों द्वारा स्वरूप में कुछ परिवर्त्तन अवश्य हो गया है। हिंदू-सिद्धांतानुकूल प्रकृति का आवरण, आत्मा के लिए, परोक्ष सत्ता के निरूपण में विघ्न उपस्थित करता है, और वह उसके परित्याग की भावना को अत्यंत तीव्रता के साथ व्यक्त करता है। सूफी इस प्रतिरोध को नहीं मानता। सूफी भावना से प्रेरित होकर कबीर ने लिखा है—

मूए पीछे मत मिलौ, कहै कबीरा राम;
सोना माटी मिल गया, फिर पारस केहि काम।

कबीर इस मिट्टी को—इस शरीर को—प्रतिबंध न मानकर उसे भी सोना बनाना चाहते हैं। इस महान् सत्ता के संपर्क से जड़ प्रकृति भी चैतन्य हो सकती है। परंतु

---

* यह उक्ति इधर के नाटकों के लिए नहीं है। गत ५० वर्षों से सभी देशों की प्रगति रहस्यवाद की ओर झुकी रही। हाँ, जिन देशों में मार्क्सवाद अथवा अन्य किसी प्रकार के भौतिकवाद की भावना वेग सम्पन्न होती है वहाँ रहस्यवाद दब जाता है। हिंदी में जयशंकर प्रसाद के नाटक रहस्यवाद के प्रभाव के प्रतिनिधि हैं। पूर्ण रूप से उनके रहस्यवादी न होने पर भी नाटकों के भीतर आई हुई उनकी कविताओं में और कहीं कहीं गद्य में भी रहस्यमयी भावनाओं की भरमार है।

उसी समय तक, जब तक उसमें स्वयं उस महान् शक्ति का स्फुलिंग उपस्थित है। सारा विश्व एक बृहत् क्रिया-कलाप का गत्यात्मक पिंड है। उसी में अखंड सत्ता का हृदय—जिसे ईश्वर कह सकते हैं—है, और वही सारे स्वरूपों और नाम-रूपों की स्थिति, उद्गम और ध्वंस का केंद्र है। इसकी सम्यक् जानकारी अभ्यासी क्रमशः ही उपलब्ध कर सकता है। उसकी उन्नति उतनी ही गति से होगी, जितनी वेगवती उपासक की उपास्य-भावना होती है और जितना अधिक उसका हृदय परिष्कृत है। उपासना का अभिप्राय स्थूल देववाद की भावना से प्रेरित होकर पूजा इत्यादि करने का नहीं है। स्थूल देववाद और रहस्यवाद का वही विरोध है जो उसका और ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद का है। देववाद चाहे एकेश्वरवाद के रूप में हो चाहे बहुदेवोपसना के रूप में। बहुत से देवी-देवताओं को मानना अथवा उनके बाबा अकेले देवता को मानना एक ही बात है। बहु-देवोपासना अथवा एक देवोपासना में तत्वतः सिद्धांत का कोई भेद नहीं है। जिस जिस धर्म में बहुदेवोपासना अथवा एक देवोपासना की वृद्धि हुई है उस-उस धर्म में बुद्धि का ह्रास हुआ है, क्योंकि जिज्ञासा-स्वातंत्र्य के ऐसे धर्म प्रतिकूल हो जाते हैं। यही कारण है कि इस्लाम धर्म में स्वतंत्र दर्शन-सिद्धांतों का प्रणयन नहीं हुआ।

कट्टर देववादियों के समक्ष अद्वैतवाद एक प्रकार का नास्तिकवाद है। सूफियों का, बिहिश्त को न मानना, बिहिश्त को केवल एक प्रकार की स्थिति विशेष समझना, "कयामत के दिन रसूल मुहम्मद साहब बैठकर सबका निर्णय करेंगे" इस बात की मखौल उड़ाना, बुतों के सामने सिजदा करना, कट्टर पैगम्बरवादी मुसलमानों की दृष्टि से काफिरों के ही काम हैं। सूफी लोग एक प्रकार के रहस्यवादी थे। इस्लाम के कट्टर देववाद के प्रतिकूल उन्होंने बहुत सी कथाएँ प्रचलित कर रक्खी थीं। जैसे, कयामत के दिन जब मुहम्मद साहब काफिरों को देखकर खुदा से कहेंगे—"ऐ खुदावंद! ये लोग कौन हैं, मैं नहीं जानता।" खुदा उस वक्त कहेगा—"ऐ मुहम्मद! जिनको तुमने पेश किया है, वे तुम्हें जानते हैं, मुझे नहीं जानते। पर ये लोग मुझे जानते हैं, तुम्हें नहीं जानते।" इसी प्रकार से ये लोग कट्टर मुसलमानों की मजाक उड़ाया करते थे। सूफियों और पैगंबरी मुसलमानों में घोर संघर्ष हुआ। दोनों अपने अपने सिद्धांतों पर अधिक दृढ़ हो गये।

भारतवर्ष में अद्वैतवाद केवल चिंतन-जगत् तक ही रहा। भाव-जगत् में इसकी कुछ झलक उपनिषदों में अवश्य मिलती है, वैसे सारा संस्कृत-काव्य-साहित्य रहस्यवाद से दूर है। यह अवश्य है कि देश की सुख-समृद्धि से मनुष्य बाह्यमुखी रहता है, परंतु जिस भारतवर्ष में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने अपनी अंतर्दृष्टि के पैनेपन से संसार को चकित कर रक्खा है, वह रहस्यवाद की अभिव्यक्ति से बचा रहे, यह विचारणीय अवश्य है।

भारतीय धर्म में मूर्ति-पूजा की स्थापना करके भावना के लिए एक नई उर्वरा भूमि तैयार की गई। इसी में भक्तों का हृदय टिका। अव्यक्त और परोक्ष की लपक को स्थान न रहा। सारी भावना प्रतिमा में सम्मिलित कर दी गई। साहित्य के रागात्मक रूप—काव्य में—वह इसी रूप में स्वीकार किया गया। सारे संस्कृत-कवियों ने, तथा प्राचीन और अर्वाचीन हिंदी-कवियों को छोड़कर, सारे हिंदी-कवियों ने, अपनी भावना के विस्तार के लिए भगवान् के साकार स्वरूप को ही आलंबन बनाया। इन अवतारी स्वरूपों पर जनता का हृदय भी टिका। चित्रों की सुंदर-से-सुंदर व्यंजना दिखाई देने लगी। हिंदी-कवियों में—कबीर, जायसी और कहीं-कहीं सूर में—जो रहस्यवाद की झलक यत्र-तत्र दिखाई देती है, वह सूफी मत के प्रभाव के कारण। कहीं-कहीं तो कबीर की हिंदी की अटपटी वाणी कवींद्र रवींद्र के द्वारा अँगरेजी में पहुँचाई गई और वह योरप होती हुई हिंदी के नवीन उन्नायकों द्वारा हिंदी ही में नये संस्करण में उपस्थित की गई।

रहस्यमयी उदभावना को अधिक उत्तेजना मिली। इसके कई कारण हैं। इस लेख का विषय उनका विश्लेषण करना नहीं है। अखंड सत्ता की गुह्य शक्ति के प्रति रहस्य-भावना अनुभव करते-करते मनुष्य उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जब वह प्रकृति के नाना रूपों में उसी परोक्ष सत्ता का आभास देखता है। पुष्प की सुंदरता में, परमाणुओं की चमक में, बालक के मृदुहास में, कामिनी के चंचल नेत्र में, पृथक्-पृथक् रूप में मनुष्य की रहस्यमयी भावना-वृत्ति को अद्वैत भाव से लीन होने के लिए पर्याप्त सामग्री रहती है। सूफियों के लिए तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे 'पर्दे-बुतां' में 'नूरे-खुदा' देखते हैं, और बुतों के सामने सिजदा करना उतना ही पाक समझते हैं, जितना कि खुदा के सामने। इसी लिए कट्टर सुन्नियों ने सूफियों को काफिरों के दल में खदेड़ दिया।

व्यक्त स्वरूप पर अधिक अनुरक्ति ने सूफियों में अंतर्दृष्टि के अभ्यास को मंद कर दिया। वे अधिकतर बाह्य-सौन्दर्य तक ही सीमित रहे। किसी-किसी परिस्थिति में उनके मनोभाव में विकार उत्पन्न हो गया और सौंदर्य-बाहुल्य का प्रभाव मनोमुग्धकारी न रहकर स्थूल इंद्रियों में प्रकंपन उत्पन्न करने लगा। सौंदर्य हृदय में गड़ा तो, परंतु विस्मय परिपाक स्वरूप गत्यात्मक महान् अक्षय परोक्ष सौंदर्य आलोक की ओर न ले जाकर मांस-पिण्ड तक ही सीमित रह गया। इसी से लोग बिगड़े, और बुरी तरह बिगड़े। अमूर्त, गुण, दया, दाक्षिण्य, करुणा आदि के अमूर्त सौंदर्य तक उनकी पहुँच न हो सकी। मूर्त पदार्थों तक ही उनका मन टिका। करुणा-संपन्न व्यक्ति पर मुग्ध हो-

होकर सूफी रहस्य-भावना में लीन हो सकते थे, परंतु करुणा के अमूर्त गुण पर नहीं। हिंदी-साहित्य के वर्तमान रहस्यवादी कवियों ने किसी अंश तक इस कमी को पूरा किया है। जयशंकर प्रसाद के अजातशत्रु नामक नाटक में करुणा की व्याख्या में कवि किस प्रकार रहस्यमय हो जाता है, उसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है;
निर्निमेष तारात्रों में वह ओस-बूँद भर लाती है।
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से;
मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।

रहस्यवाद का सूफीवाद पर जो बुरा प्रभाव पड़ा, उसी से प्रेरित होकर सूफी लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री इसी में समझने लगे कि वे सुंदर स्त्री अथवा सुंदर बालक की ओर आँखें फाड़कर देखें। इसी से वे ऐहिक विलास में पड़ गये। भारतीय प्रवाह पहले मूर्ति-पूजा की ओर झुका और अब गुणों के सूक्ष्म सौंदर्य के आलोक में सच्चे रहस्यवाद का चित्र खड़ा कर रहा है।

सूफीवाद में अद्वैतवाद का प्रवेश कैसे हुआ, इसका भी थोड़ा परिज्ञान कर लेने की आवश्यकता है। सूफियों को अद्वैतवाद की ओर लाने वाले प्रभाव बाहर के थे। खलीफा लोगों के युग में कई देशों के विद्वान् बगदाद और बसरे में आते-जाते थे। भारतीयों का भी सम्पर्क अरबों से खूब था। आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान के अनुवाद अरबी में हो चुके थे। अरस्तू के सिद्धांतों से अरब लोग परिचित हो चुके थे और अरस्तू के दार्शनिक अद्वैतवाद की लोगों में बड़ी चर्चा थी। वेदांत-केसरी का गर्जन भी आँखों से कानों तक पहुँच चुका था। मुहम्मद बिन कासिम के साथ आये हुए अरब सिंध में रह गए थे। उनकी संतति ब्राह्मणों से बड़े मेल-जोल से रहती थी। उन पर भारतीय संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ा। इनमें कुछ सूफी भी थे। इन्होंने कुछ दिनों तक अद्वैतवाद की दीक्षा ब्राह्मणों से ग्रहण की। सिंध में आबू प्राणायाम की विधि जानते थे। उन्होंने ही 'फना' की शिक्षा बयाजीत को दी। सूफी-प्रवर दाराशिकोह के 'रिसाल-ए-हकनुमा' में व्यवहृत 'नासूत', 'मलकूत' और 'जबरुत' तथा 'लाहुत' हमारे पारिभाषिक शब्द सत्, चित, आनंद के पर्यायवाची हैं। दृश्य-जगत् मिथ्या है, परंतु उसकी भावनाएँ अनित्य हैं, यही किसी अंश में वेदांत भी मानता है। योरपीय दार्शनिक बार्कले का कथन भी यही है। सूफीवाद में अद्वैतवाद का चिंतन भावना-जगत् में निरूपित किया गया है। 'शरीअत', 'तरीकत', 'हकीकत'

और 'मारफत' भारतीय व्यवधान में उपासना, कर्म और ज्ञान-मार्ग का रूपांतर है। सूफियों में जलालुद्दीन रूमी, हल्लाज और हाफिज बड़े ऊँचे कवि थे।

मि० निकोलसन साहब ने सूफीवाद पर एक मार्मिक ग्रंथ लिखा है। उनका कहना है कि आरंभ में सूफीवाद के अनुयायी संत और दरवेस हुआ करते थे। शांति के पाठ इन्होंने ईसाइयों से सीखा। ज्ञानवादियों द्वारा दैवी शक्ति के आभ्यंतरिक ज्ञान की दीक्षा ली तथा बौद्धों के सकाश से उन्हें माला का प्रयोग आया। सूफियों के चार विधानों के साधन नीचे दिये जाते हैं—

१—यात्रा।

२—आलोक और आनन्द।

३—ज्ञान।

४—दैवी प्रेम।

सूफियों में दो बातों का स्पष्ट स्वीकार उनके रहस्यवाद में न था। (१) परम सत्ता चित्-स्वरूप है। (२) जगत् अध्यात्म-मात्र है। परंतु मलिक मुहम्मद जायसी ने इसको अपने 'पद्मावत' में काफी स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

देखि एक कौतुक हौं रहा, रहा अंतरपट पै नहि अहा।
सरवर देख एक मै कोई, रहा पानि पै पानि न होई।
सरग आय धरती पै छावा, रहा धरत पै धरत न पावा।

स्परजन नामक एक विद्वान् अँगरेज लेखक ने रहस्यवाद पर एक ग्रंथ लिखा है, जिसमें उसने रहस्यवादी कवियों को उनकी चिंतन-प्रणाली के अनुसार कुछ कोटियों में विभाजित किया है। उनकी कुछ चर्चा नीचे दी जाती है—

(१) प्रेम और सौंदर्य-संबंधी रहस्यवादी।

(२) दार्शनिक रहस्यवादी।

(३) धार्मिक और उपासक रहस्यवादी।

(४) प्रकृति-संबंधी रहस्यवादी।

पहली कोटि में अँगरेजी का प्रसिद्ध कवि शैली आता है। हिंदी के प्राचीन कवियों में जायसी, कबीर और नवीन कवियों में 'भारतीय आत्मा' इस कोटि में आ सकते हैं।

दूसरी कोटि में अँगरेजी कवि ब्लैक और कहीं-कहीं ब्राउनिंग हैं। हिंदी में महादेवी वर्मा, जयशंकार प्रसाद इस कोटि में आ सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी

का 'केशव, कहि न जात का कहिए' विनयपत्रिका का प्रसिद्ध छंद इसी कोटि में आता है।

तीसरी कोटि में मीरा, निर्गुणिक कवि दादू इत्यादि और कहीं-कहीं प्रेमवादी जायसी तथा कुतबन आते हैं। तुलसीदास रहस्यवादी नहीं हैं, परंतु उनका 'सियाराम मय सब जग जानी' पद इसी कोटि में आता है।

चौथी कोटि में अँगरेजी कवि वर्ड्सवर्थ आते हैं। हिंदी के वर्तमान कवियों में महादेवी वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, निराला, सुमित्रानंदन पंत तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी इसी कोटि में हैं। सुमित्रानंदन पंत* के कुछ पद इस कोटि में आ जाते हैं—

फारस और इँगलैंड के रहस्यवाद के इतिहास से एक बात तो स्पष्ट है कि जनसत्तात्मक विचारों की क्रांति से बहुधा रहस्यमयी भावना का प्रादुर्भाव होता है। यीट्स साहब आयर्लैंड-निवासी हैं। कबीर समाज के नीच जुलाहे थे। कभी-कभी बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता से भी आभ्यंतर-मुख होकर लोग रहस्यवादी हो जाते हैं।

यह बात न भूलना चाहिए कि किसी विशेष 'वाद' में पड़कर कविता अपना महत्त्व खो बैठती है। रहस्यमयी भावना बड़ी सुंदर वस्तु है। कविता में उसकी निबंधना कविता के स्वरूप को अत्यंत आकर्षक बना देती है। परंतु जब कविता की शक्ति किसी 'वाद' विशेष के निरूपण में लगाई जाती है, चाहे वह अद्वैतवाद ही क्यों न हो, तो वह कविता न रहकर केवल तुकबंदी ही रह जाती है। कबीर ने ही जहाँ कहीं रहस्यमयी भावना के बिना ही रहस्यवाद के निरूपण के लिए कविता के पद खड़े किये हैं, वहाँ के छंद नीरस हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी;
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी।

ऊपर की यह पंक्तियाँ रहस्यमयी कविता का अच्छा उदाहरण नहीं है। 'तोकों राम मिलेंगे, घूँघट का पट खोल रे' में सुंदर रहस्यवाद है।

---

*देख वसुधा का यौवन-भार—
गूँज उठता है जब मधुयाम।
* * *
सँदेशा कौन भेजता मौन ?
—'पंत'

वर्तमान युग की कविता में भी, कबीर की भाँति, 'वाद' विशेषों के निरूपण की कविता में नीरस पद्य संभवतः बहुत मिलेंगे, सुमित्रानंदन पंत का एक पद उद्धृत किया जाता है—

ठङ्—ठङ्—ठन !
लौह नाद से ठोंक-पीट घन
निर्मित करता श्रमिकों का मन,
ठङ्—ठङ्—ठन !
'कर्म-क्लिष्ट मानव - भव - जीवन,
श्रम ही जग का शिल्प चिरंतन;'
कठिन सत्य जीवन की क्षण क्षण
घोषित करता घन वज्र-स्वन,—
'व्यर्थ विचारों का संघर्षण
अविरत श्रम ही जीवन साधन;
लौह - काष्ठ - मय रक्त - मांस - मय
वस्तु रूप ही सत्य चिरंतन।
ठङ्—ठङ्—ठन !
अग्नि स्फुलिङ्गों का कर चुम्बन
जाग्रत करता दिग् दिगंत घन,—
'जागो, श्रमिकों, बनो सचेतन
भू के अधिकारी है श्रम जन'
मांस पेशियाँ हृष्ट, पुष्ट, घन,
बटी शिरायें, श्रम बलिष्ठ तन,
भू का भव्य करेंगे शासन,
चिर लावण्य पूर्ण श्रम के कण !
ठङ्—ठङ्—ठन !

कवि ने हसिया हथौड़ावाद के चक्कर में पड़कर काव्य शक्ति को व्यक्त किया है। मार्क्स के भौतिकवाद का रूप चिंतना द्वारा स्वीकृत अवश्य है, परंतु हृदय में चिंतना का वह प्रत्यय, पैठ कर घुल-मिल नहीं पाया। इसी लिए पंक्तियाँ अधिकतर नीरस प्रतीत होती हैं। अग्रगामी साहित्य के नाते कोई उन्हें ऊँचा काव्य नहीं कह सकता।

बहुत से कवियों में ऊटपटाँग चित्रों की भरमार है। इनके बीच में पड़ कर सच्चे चित्रों और मार्मिक कवियों को भी लोग संदेह से देखते हैं। 'भारतीय आत्मा' की निम्न-लिखित पंक्तियों की सुंदर भावना की ओर ध्यान दीजिए—

अजब रूप धरकर आए हो, छवि कह दूँ या नाम कहूँ ?
रमण कहूँ या रमणी कह दूँ, रमा कहूँ या राम कहूँ ?
तीर बने तम चीर रहे हो, सौदामिनि अभिराम कहूँ ?
मोर नचाते ग्वाल हँसाते, या जलधर घनश्याम कहूँ ?
हृदय-प्रदेश उजाला-सा है, उन्हें चंद्रिका कह दूँ क्या ?
चमको नील नभोमंडल में, बालचंद्र प्यारे आहा !

भाषा भावों को समेट नहीं पाती परंतु व्यक्त में अव्यक्त की झाँकी अच्छी दिखाई गई है। प्रसादजी एक दार्शनिक वृत्ति के कवि हैं। उनमें सर्वत्र रहस्यवाद नहीं है। हाँ, उनकी चिंतन-शैली दुरूह अवश्य है और उनके चित्र संश्लिष्ट हैं। उपमाएँ उनकी अनूठी और भाव-व्यंजना नितांत नवीन है। सुमित्रानंदन पंत अधिकतर विस्मयवाद के रूपक सामने रखते थे अतएव रहस्यवादी न होकर वह 'विस्मयवादी' कहे जा सकते हैं। इधर उनमें नवीन भौतिकवाद अथवा हसिया हथौड़ावाद अधिक मिलता है। इसी विशेषवाद की ओर उनका सारा ध्यान रहा है। पहले की कविताओं में, कहीं-कहीं, उनकी उपमाओं और चित्रों के व्यक्त से अव्यक्त की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है—

ओ अकूल की उज्ज्वल लस,
भरी अनल की पुलकित साँस।
महानंद की मृदुल उमंग,
अरे अभय की मंजुल—
मेरे मन की विविध तरंग।
रंगिणि ! सब तेरे ही संग,
एक रूप में मिले अनंग।

पं० रामनरेश त्रिपाठी की निम्नलिखित पंक्तियों में भी रहस्यवाद की कुछ झलक मिलती है—

कुरूप है किरण में, सौंदर्य है सुमन में;
कुप्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।

'नवीन' जी के विप्लव-गान में—

कण-कण में हैं व्याप्त वही स्वर,
रोम-रोम जाता है वह ध्वनि;
वही तान गाती रहती है—
कालकूटफणि की चिंतामणि।

'निराला' जी की पंक्तियों में रहस्यवाद अधिकतर छायावाद की क्रोड में पनपा है। अतएव कहीं-कहीं वह दुरूह हो गया है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वर्तमान हिंदी के कवियों।में रहस्यवादी बहुत कम हैं। समासोक्ति अथवा अन्योक्ति में रहस्यवाद देखना भ्रम है। दुरूहवाद और रहस्यवाद दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने ठीक कहा है कि काव्य-शक्ति के परिज्ञान से शून्य बहुत से अभिमानी कवि परोक्ष की ओर झूठा इशारा करके असीम और ससीम का समन्वय कराया करते हैं। चित्रों की विकृति को ही वे रहस्यवाद समझते हैं। कुछ थोड़े से शब्द हैं, और कुछ थोड़े प्रतीक। बस, उन्हीं का बार-बार पुनरुद्धरण उनकी तुकबंदियों में मिलता है—

वेदना उठती है मन में,
तड़क-सा उठता है ब्रह्मांड;
छनक जब होती है मन में,
नहीं थिर होती है मनुहार।

इस पद्य में न कोई छंद का ही विचार दिखाई देता है, और न भाव का ही क्रम रहस्यवाद के नाम पर ज्ञात होता है। चित्र कैसा बेढंगा है और भाषा कैसी है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इस प्रकार की कविताएँ भी सम्पादकों की असावधानी अथवा नासमझी से प्रकाशित हो जाया करती हैं।

सच्चे रहस्यवाद के लिए भी इस समय एक नया भय उत्पन्न हो गया है। साहित्य के निर्णायकों में एक नई लहर बह रही है। उसकी गति में राजनीतिक मनोभाव है। भारतीय राजनीति को आजकल साम्यवाद जितना प्रभावित किये है उतना कदाचित ही कोई दूसरा आदर्श प्रभावित किये होगा। साम्यवाद किसी युग, किसी देश, किसी विशेषता, किसी परिस्थिति की प्रतिमा, नहीं; यह युगांतर के चिंतनार्णव का मथा हुआ नवनीत है। अतएव उसकी व्यापकता, उसकी विशदता, उसकी संकुलता स्वभावतः सार्वभौमिक है और उसका प्रभाव जीवन के सभी पक्षों पर पड़ना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य है। अशेष से समत्व की स्थापना के लिए यह विपर्यय नितांत आवश्यक भी है।

इतिहास यह आवृति कर चुका है कि चिंतना से चिंतकों में अधिक प्रतिक्रिया होती है। कभी-कभी विचारकों के जोश में फँसकर विचार ऊब जाता है। वास्तव में बली से बली विचार को व्यावहारिक जगत् में प्रवर्तकों का मुँह ताकना पड़ता है। किसी भी विचार के स्वरूप में यथार्थता कहाँ तक रह जाती है इसका उत्तरदायित्व निरूपण करनेवालों की सजग और असजग ईमानदारी पर है। विचार-प्रचार में जो संशोधन प्रचारक आवश्यक समझता है उसकी स्वीकृति वह विचार के आदर्श से कब लेता है ? और वह स्वाभाविक भी है।

साम्यवाद के स्वरूप की अवतारणा साहित्य-जगत के गौरव की बात है। अपने देश के जीवन, विचार, कला और साहित्य की प्रगति में आज कौन क्रांति पसंद न करेगा ? क्रांति के समर्थकों के बहुत से कथन में सार है और जिनमें उतना सार नहीं है उनमें भी वेग काफी है। इस क्रांति के जहाँ और अर्थ हैं वहाँ साहित्यिक क्षेत्र में इसका यह भी अर्थ है कि हम अपने समस्त इतिहास और अपनी सम्पूर्ण संस्कृति का पुनः मूल्यावधारण और पुनः स्पष्टीकरण करें। साथ ही साथ हमारा आज और कल का साहित्य और आज और कल की कला हमारे जीवन के उन क्रांतिकारी परिवर्तनों का सजग और सावधान निष्कर्ष होना चाहिए जिनके बिना वे प्रवाह-हीन और गँदले हो जायँगे। साम्यवादी कला और साहित्य संबंधी जीवन के उन समूचे प्ररोहणों में जिनका संबंध समाज या समाजवाद से है, ठोस, गत्यात्मक वास्तविक और यथार्थ पर जोर देते हैं। इस पूर्वी करण के बिना हमारी कला और संस्कृति अवश्यमेव निर्जीव हो जायगी।

इतिहास बतलाता है कि समस्त उन्नतिशील और क्रांतिकारी आन्दोलन का सबसे प्रमुख लक्षण यह रहा है कि जीवन और चिंतना की अत्यंत महत्वपूर्ण समस्याओं को सीमा से अधिक सरल कर दिया जाय। उन्नतिशील और क्रांतिकारी विचारधारा में हमेशा जल्दबाजी से संक्षिप्त मार्ग और जल्दी पहुँचाने वाली पगडंडियों का सहारा लिया गया है। उन्नतिशीलता की ऊष्णता में अग्रगामी बनने की धुन में और क्रांति के जोश में रुक कर यह स्वीकार करना कि अमुक समस्या अथवा घटना जटिल उलझी हुई और दुर्भेद्य है; अथवा किसी भी गतिविधि का प्रचारवादी की जिद्द से परिचालना न करके उसमें उपयोगवाद निहारने लगना बहुत ही साहस पूर्ण है। तुरंत ही ऐसे नेता को युग कहने लगेगा कि वह प्रतिक्रियावादी है, सीधासादा सुधारवादी है, दीर्घसूत्री है, बचाव-वादी है, तरंगी है, स्वप्न देखने वाला है अथवा पूर्ण कल्पनावादी है। संक्षेप में, वह उन्नति विरोधी समझा जायगा।

यही मनोभाव है जिसके कारण साहित्यिक साम्यवादियों ने रहस्यवाद को कोसा है और कोस रहे हैं । धर्म और रहस्यवाद का कला से क्या संबंध है इस विषय को साम्यवादी जरा जल्दी से टाल देते हैं नहीं तो रहस्यवाद को मिथ्या, शून्य, अनुन्नतशील और हानिप्रद न कहते। हम यह आशा नहीं करते कि कोई साम्यवादी रहस्यवाद का पक्ष लें परंतु हम यह आशा अवश्य करते हैं कि वह शांति और सावधानी के साथ, जीवन और रहस्यवाद का क्या संबंध है, इसका विचार करें । हम विश्व की किसी जोरदार परिस्थिति को ज्वलंत से ज्वलंत उक्ति से धाराशायी नहीं कर सकते। धर्म और रहस्यवाद के प्रतिकूल लेनिन से बड़ा सेनानी कदाचित ही कोई होगा। इस विषय में उनके विचार बड़े ही कड़े और कट्टर हैं। स्वयं उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि धर्मवाद और रहस्यवाद को कोरा आदर्शवाद, मिथ्यावाद, अंध विश्वासवाद, या अविज्ञानवाद समझ कर, अथवा यह समझ कर कि इन चीजों का निरूपण उन्नत कक्षा वाले व्यक्तियों ने अनुन्नत जनसाधारण को फाँसने के लिये, उन्हें मूर्ख बनाए रखने के लिये अथवा उनसे बेजा लाभ उठाने के लिये किया है, सहसा टाल न देना चाहिये। धर्मवाद और रहस्यवाद को उन्होंने अपने सिद्धांत के बड़े भारी शत्रु माने । वास्तव में वे हैं भी भौतिकवाद और अनात्मवाद के भारी विरोधी। अतएव प्रत्येक साम्यवादी को उनकी विशद समीक्षा करनी चाहिए। साथ ही साथ यह भी न भूलना चाहिए कि आदर्शवाद या रहस्यवाद के प्रवाह ने ही स्पिनोजा और हिगेल के निर्माण में योग दिया है और लेनिन की बनावट में भी उनका प्रभाव पड़ा है। कार्ल मार्क्स, एंजिल और अन्य रूसी क्रांतिकारी विद्वानों की जाज्वल्यमान मंडली ने बहुत कुछ आलोक प्राचीन विचार प्रकाश से ही ग्रहण किया है।

और फिर यह एक बड़े साहस का कार्य है कि हम डायट्स्के, गेटे, वर्क अथवा वर्तमान लेखक यीट्स, ए० ई० और इसी प्रकार के अन्य लेखकों की कृतियों को खाली शून्य, अयथार्थ, अनन्नुत, अनुदार, प्रतिक्रियाशील कहें । किसी के लिए भगवद्गीता ऐसे ग्रंथ को शून्यवाद, शांतिवाद, ओंकारवाद, बचाववाद, प्रतिक्रियावाद अथवा कोरे अहिंसावाद का प्रतिरूप कहना उतना ही असम्भव है जितना कि कबीर, जायसी, रवींद्र, माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा और बालकृष्ण शर्म्मा की कृतियों को ।

रहस्यवाद क्या है उसका साहित्य और कला से क्या संबंध है इसका थोड़ा बहुत निरूपण अन्यत्र किया गया है। साहित्यिक के प्रत्येक समीक्षक को, चाहे वह साम्यवादी हो या न हो, यह न भूलना चाहिए कि कला की प्रत्येक कृति में एक 'सार' एवं तथ्य

होता है। उसी को हम कला की आत्मा या प्राण कह सकते हैं। साहित्य और कला के विवेचन में इस 'सार' 'तत्त्व' 'आत्मा' या 'प्राण' को उसके तह से निकाल कर उसके स्वरूप का स्थिरीकरण सबसे अधिक आवश्यक है। इस प्राण के रूप पर कला का मूल्य है। वास्तव में आदर्शवाद और कला की आत्मा को एक ही वस्तु समझना भारी भूल है। आदर्श की प्रेरणा किसी कृति के 'सार' में कोई परिवर्तन नहीं करती। अभिव्यंजना, स्वरूप-निरूपण, आदर्श, वर्गपक्षपात, वातावरण इत्यादि को छोड़कर कौन ऐसी 'सार' बात है जो बेकन, एडीसन, स्विफ्ट, थेकरे, गाल्र्सवदी को स्काट, डिकेंस, हेजलिट से पृथक् करता है अथवा सुमित्रानंदन, जयशंकर प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा को मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथदास रत्नाकर, गोपालशरण सिंह से पृथक् करता है। यही वैषम्य विधायिनी विशेषता साहित्य या कला का 'प्राण' या 'सार' है। उसी को हम सौंदर्य भावना कहेंगे। यह किसी युग की बलवती विचार-धारा से निर्मित नहीं होती और न वैयक्तिक वातावरण ही इसका निर्माण करता है। कला की ऐसी कृतियों पर समय कभी हस्ताक्षर नहीं करता और न अमरता वर देती है जिसमें केवल चलते फिरतों की भीड़ हो। यह वास्तविकता काल की गोद का चबेना है जो आधा मुँह में है और आधा हाथ में। सुग्राह्य अग्राहिता, असीम की लपक, अत्यंत तीव्र और आमोद पूर्ण सजगता, अखिल प्रकाश की कौंध, पीड़ा का टिकाव, खुलना, सेहत होना और बंद होना, वह परिस्थिति जो समूचे जीवन सी तो है ही समस्त जीवनप्रद भी है, जिसमें अमृत का बहाव है, जो मर्त्य और स्वर्ग्य का सुहाग है, जो गणित के आँके हुए मूल्य के परे हैं, ये सब लक्षण किसी युग में भी कला और साहित्य की महत्ता से ऋण नहीं किये जा सकते।

फकीरी न पवित्र रहने से मिलती है और न ऋषि बनने से। केवल दोष परित्याग पवित्रता की परिभाषा नहीं है। साम्यवाद के अनुसार वर्गविहीन व्यक्तियों की समाज-स्थापना में जो वृत्ति सहायक हो वही केवल उच्चतम पुण्य है यह विचार भ्रामक है। किसी भी अतिवाद के कशमकश और संघर्ष से साहित्य का कोई न कोई नगण्य अंश अछूता भी रह सकता है। उसे अछूत समझना ठीक नहीं है।

आप यूनान का प्राचीन साहित्य पढ़िए और प्राचीन संस्कृत साहित्य देखिए। यूनान के साहित्य और मूर्तिकला में अद्वितीय आकार विधान की योजना है। उसमें एक सहेतुकता है और वर्ग विशेषता है। भारतीय महाभारत के वीर पात्रों को देखिए। एक अतींद्रिय अंतरस्थ—आध्यात्म का परिवेष्टन उनके निर्माण में ही मिलेगा। यहाँ की चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला, संगीतकला में भी यही भेद है। शकुंतला अथवा किसी

यूनान की वीरांगना में काफी अंतर है। युधिष्ठिर और भरत ऐसे व्यक्ति न एचीलीज हैं न हरकुलीज। देवताओं को लीजिए; सरस्वती या लक्ष्मी और मिनरवा या हेलन में आकाश-पाताल का भेद है। जापान के अद्वितीय कला-पारखी निगूची ने अपने एक भाषण में, एक बार कहा था कि योरप की समस्त कला सामग्री में एक अकड़ की ठसक हैं। वहाँ के कलाकार खड़े होकर ग्रीवा बहुत उन्नत किये हुए अपनी कृति का निर्माण करते हैं। उनमें पार्थिव उद्दण्डता की अनम्रता है। भारतीय कला की सबसे बड़ी विशेषता, उनके अनुसार, यहाँ की नम्रता की सौम्यता है। वास्तव में रवींद्रनाथ से लेकर साधारण से साधारण साहित्यिक तपस्वी ऊपर से झरते हुए अमरत्व के नीचे झुककर अपनी कला की सृष्टि करता है।

भारतवर्ष की कला की ऊँची कृति में सुधा की अवधारणा है, दैवी आलोक की एक परिधि है, एक अपार्थिव जगमगाहट है, एक मंगल है, एक सौंदर्य है, जिसकी कमी यूनान के यथार्थ और आकार विधान की अद्वितीय कलाकृतियों में पाई जाती है।

मैं यह नहीं कहता कि भारतीय कला की एकांतता को आप रहस्यवाद, धर्मवाद या आदर्शवाद कहें, परंतु इस विशेषता की उपस्थिति से कोई इनकार नहीं कर सकता। यथार्थवाद के हिमायतियों को यह भी समझ लेना है कि कला में जितने ही आप यथार्थ-वाद की धुन में रहेंगे उतनी ही आपकी कृति कम यथार्थ होगी। विदेशी लेखक वुल्फ और जोवी अपने मनोविज्ञान के ज्ञान के लिए बड़े प्रसिद्ध हैं फिर भी उन्होंने आज तक कोई ऐसा पात्र न पैदा किया जो युग को चीरता हुआ चला जाता। डोन क्विकजोट और मि० पिकविक किसी भी जीवनी के नायक से अधिक सजीव हैं। गोस्वामीजी के भरत, कैकेई और मंथरा, मैथिलीशरण की उर्मिला और शूर्पणखा, प्रसाद की देवसेना और विजया, प्रेमचंद्र के आत्माराम, प्रवीन और सूरदास जितने यथार्थ और अमर हैं उतनी सम्राट् जार्ज, और सेठ हुकुमचंद की लिखी हुई जीवनियाँ नहीं हैं।

यह न भूलना चाहिए कि सम्पूर्णता में पृथक्त्व के योग से अधिक शक्ति होती है। एक और एक मिलकर, कला तथा साहित्य में, दो नहीं होते, ग्यारह होते हैं। जिन जिन अंकों का योग लगाया जाता है उनके पृथक्-पृथक् प्रभाव से इस सम्मिलित योग के प्रभाव में कुछ नवीनता और कुछ अधिकता आ जाती है। वास्तव में सौदर्य के इस समीकरण में कला की कृति का रहस्य छिपा रहता है। इसीलिए कला की परख करने में ऐसी ऐसी उक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे सामूहिक प्रभाव, वातावरण, प्राण या आत्मा, अतींद्रिय और उच्च तत्त्व।

मेरा विश्वास है कि कला में रहस्यवाद आवश्यक रूप से दुरूहवाद का प्रतिरूप नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि रहस्यवाद, अनुदार प्रतिक्रिया पूर्ण काल्पनिक, निष्क्रिय, अयथार्थ, अहेतुक, शांत, अथवा अनुन्नतिशील है। वह ऐसा पहले रहा है यह भी पूर्ण रूप से ठीक नहीं है। उसमें विक्षुब्धता और प्रकाश के तत्त्व हैं। वह असीम अशांति के तह की असीम शांति है। रहस्यवाद जीवन है और जीवन देनेवाला भी है, अतएव साम्यवादी मित्रों को समझ लेना चाहिए कि रहस्यवाद कोई अपराध नहीं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे लेखक का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह रहस्यवादी कविता का प्रत्येक दशा में, पोषक है। रहस्यवादी कविता ही सब कुछ नहीं है। काव्य के अन्य रूपों में रहस्यवाद भी काव्य का एक रूप है। 'रहस्यवाद' शब्द के साथ साथ आज एक दूसरा शब्द 'छायावाद' भी बहुत व्यवहृत होता है। अतएव यह उचित होगा कि, साथ ही साथ, छायावाद क्या है, यह भी समझ लिया जाय। 'छायावाद' और 'रहस्यवाद में, क्या अंतर है इसकी जानकारी हो जानी चाहिए।

छायावाद (७)

रहस्यवाद की व्याख्या करते समय छायावाद के मूल कारणों का भी परोक्षरूप से उल्लेख आ गया है। मोती के भीतर के पानी में अथवा कांति की तरलता होती है। उसी को उसका लावण्य, सौंदर्य अथवा छाया कहते हैं। मानव शरीर में भी इसी प्रकार की छवि होती है। इस तरलता को पकड़कर इस छाया को अभिव्यक्ति-बद्ध करना छायावाद है। वृक्ष की भी छाया होती है परंतु वह वास्तविक की अवास्तविक परिस्थिति है। मानव छवि की भाँति अथवा मोती की तरलाई की भाँति वह वास्तविक नहीं। अतएव छायावाद को वास्तविक को वास्तविक की अवास्तविक स्थिति का चित्र समझना भूल है। छायावाद स्थूल की छाया जैसी अस्पष्ट अथवा असत्य परिस्थिति की अभिव्यक्ति नहीं है। वास्तविकता से अस्पष्ट होकर छायावाद नहीं रहता। प्राकृति में विश्वात्मा के अरूप अरोप का चित्रण ही छायावाद है। वह तो वस्तु और व्यक्ति के लावण्य की अनुभूति का व्यक्तीकरण है। सुंदरता के प्रभाव की भीतरी पुलकन, सिहरन अथवा आनंद को नये नये स्वरूप और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं में सामने रखना छायावाद है। रूढ़िगत कथन विधानों को छोड़कर नई नई कथन सारिणियों की उद्भावना छायावाद का प्रधान लक्षण है।

साधारण प्रकार से यह समझ लेना चाहिए कि रहस्यवाद और छायावाद काव्य के पृथक्-पृथक् रूप हैं। जहाँ ये दोनों मिल जाते हैं वहाँ एक नया वर्ग प्रस्तुत हो जाता है।

रहस्यवाद का संबंध सीधे वस्तुविधान से रहता है, अभिव्यंजन विधान से नहीं। परंतु छाया-वाद का संबंध अधिकतर अभिव्यंजना की विचित्रता और दुरूह भाव-गम्यता से रहता है। वस्तु का लगाव उसका गौण रहता है। इसीलिए आध्यात्मिक रहस्यवाद का—जो बहुधा अच्छी छायावादी कविताओं में वस्तुरूप से स्वीकृत देखा जाता है—प्रत्येक छायावादी कविता में होना आवश्यक नहीं। आज की छायावादी कविता अभिव्यंजन की अनेक रूपता की ही सबसे बड़ी विशेषता रखती है। वह केवल उक्तिवैचित्र्य पर टिकी है। अतएव उसका छायावादी अभिधान सार्थक है। प्रतीकवाद, अन्योक्तिवाद, लक्षणावाद, संकेतवाद, अरूपवाद, नीहारवाद और न जाने कितने ऐसे ही वाद छायावाद में ढूँढ़े जा सकते हैं। पुराने युग में वक्रोक्तिवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, और कुछ अंशों में ध्वनिवाद भी उक्ति-वैचित्र्य के ही रूप समझे जाते थे। कुछ तो आज की छायावादी कविता में भी, परिवर्तित रूप में, मिलेंगे।

आज की छायावादी कविता अभिव्यंजन के समस्त पेंचीदे 'वादों' के सहारे आगे बढ़ती है और साथ ही साथ पुराने रूढ़िगत अभिव्यंजन के स्वरूपों को पीछे छोड़ती चली जाती है। हम अन्यत्र रहस्यवाद की कविता की चरचा करते समय संकेत कर आये हैं कि रहस्यवाद की उत्तम अभिव्यंजना के लिए प्रतीकवाद, लक्षणावाद, अरूपवाद, अन्योक्ति अथवा समासोक्तिवाद अत्यंत आवश्यक होते हैं। अतएव यह प्रश्न उठता है कि क्या छायावाद का प्रश्रय रहस्यवादी कविता के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसके उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि वस्तु कविता के प्राण हैं। प्राणी कोई भी जामा पहन कर प्रकाश में निकल सकता है। यह मानते हुए भी कि छायावाद के जामे में रहस्यवाद खिल उठता है यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि रहस्यवादी कविता का छायावादी होना अनिवार्य है।

नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनकी अभिव्यंजना में वह पेंचीदापन नहीं है कि उन्हें हम छायावादी उक्तियाँ कह सकें, परंतु वस्तु रूप में उनमें, रहस्यवाद का पूर्ण प्रवेश हुआ है। ऐसी पंक्तियाँ ठेठ रहस्यवादी कहलावेंगी। पुराने कवियों में इसके उदाहरण बहुत मिलेंगे, कबीर कहते हैं—

पानी ही तैं हिम भया हिम ह्वै गया विलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय॥

इस उक्ति में 'अहम्' और 'परम्' की अद्वैतता की प्रतिष्ठा दृढ़ता और पूर्ण विश्वास के साथ की गई है। 'हिम' और 'पानी' की तत्वतः एकरूपता को केवल उदाहरण रूप में आरोपित करके मायाजन्य द्वैत के भीतर अद्वैत का आभास दिया गया

है। इसी प्रकार अंत के पद में 'अब कुछ कहा न जाय' लिखकर साक्षात्कार किये हुए रहस्यवादी की यथेष्ट अभिव्यंजन—कठिनता की ओर भी संकेत कर दिया गया है। इस उक्ति में छायावाद की कोई छाया नहीं है, फिर भी रहस्यवाद उपस्थित है।

मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

बिगसा कुमुद देखि ससि—रेखा भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा।
पावा रूप रूप जस चहा, ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर॥

इस उक्ति में 'कुमुद', 'शशि', 'कँवल', 'नीर,' 'हंस', 'नगहीर', ऐसे जितने शब्द आये हैं वे संदर्भ की प्रतिष्ठा के लिए हैं। पद्मावती जलाशय में स्नान कर रही है। कवि, पद्मावती को 'परमरूप' का प्रतिरूप समझता ही है, अतएव समय-समय पर और स्थान-स्थान पर वह प्रत्यक्ष के सहारे परोक्ष की ओर संकेत कर दिया करता है। यहाँ भी जलाशय को अखिल विश्व का प्रतिनिधित्व देकर पद्मावती के विराट रूप में उसे विलास करते हुए दिखाया है। 'शशिमुख' अर्थात् पद्मावती मानों दर्पण है जिसमें समस्त (विश्व) जलाशय उपस्थित है। 'कँवल' ने 'नीर' ने 'हंस' ने 'नग' ने और हीरों ने (ये सब विश्व की अनेकरूपता के चिह्न हैं) अपना असली रूप पद्मावती के विराट रूप में देखा और अपने को यथार्थ की अयथार्थ छाया के रूप में पाया। 'अहम्' 'ब्रह्म' में लय पाकर उसी में विलास करने लगा। मायाजन्य 'अहम्' की माया टूट गई। भाव यह है कि ऊपर की पंक्तियों में, वस्तुरूप में, रहस्यवाद के जिस रूप को पकड़ा है उसमें छायावाद का छल नहीं है। प्रतिवस्तूपमा प्रसंग की आवश्यक और व्यक्त रूढ़ि है। उसमें लाक्षणिकता बदुत कम हैं। वस्तुओं का परिगणन रूपक की परम्परा के भीतर है।

पुराने कवियों में ही नहीं, नये कवियों में भी, छायावाद से बचा हुआ, कोरा रहस्यवाद प्रचुर मात्रा में मिलता है। जयशंकर प्रसाद ने स्कन्द गुप्त नाटक में लिखा है—

भरा नैनों में मन में रूप,
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल-थल, मारुत, व्योम में जो छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गई मैं, पागल-प्रेम-विभोर॥

भाँग से भरा हुआ यह कूप,
भरा नैनों में मन में रूप।
धमनी की तंत्री बजी, तू रहा लगाये कान,
बलिहारी मैं, कौन तू है मेरा जीवन-प्राण।
खेलता जैसे छाया - धूप।
भरा नैनों में मन में रूप॥

ऊपर का उदाहरण नितांत स्पष्ट है। उसमें कहीं भी छायावाद की दुरूहता नहीं है। 'अहम्' 'ब्रह्म' की जुस्तजू में परेशान है और वह इसके साथ लुका-छिपी खेलता है। कहीं अपनी छवि की कौंध दिखाकर भक्त को उद्विग्न कर देता और वह उसी ओर दौड़ता है। झिलमिल प्रकाश वहाँ से छिप जाता है। खोजता खोजता 'अहम्' स्वयं 'अहम्' नहीं रह जाता—

'खोज खोज कर खो गई मैं'

और कबीर की यह रहस्यमय उक्ति—

'तू' 'तू' कहता 'तू' भया, मुझमें रही न 'मैं' चरितार्थ हो जाती है। आगे चलकर पूर्णतद्रूप की परिस्थिति में 'अहम्' में ही 'ब्रह्म' समा जाता है—

बूँद में समुद्र प्रवेश कर जाता है जायसी कहते हैं—

बूँद समुद्र समान, यह अचरज कासों कहौं
हेरनहार हिरान, मुहमद आपुहि आपु मैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि ऊपरवाली उक्ति में साधक और साध्य का रहस्यमय एकीकरण का रूप देकर भी प्रसाद ने उसमें छायावाद का प्रश्रय नहीं लिया। वह कोरे रहस्यवाद का ही अच्छा उदाहरण है। ठीक इसी प्रकार का, एक दूसरे कवि सुमित्रानन्दन पंत का, 'छाया' से उदाहरण नीचे दिया जाता है।

हाँ सखि! आओ बाँह खोल हम लग कर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान।

ऊपर की पंक्तियों में रहस्यवाद बहुत स्पष्ट नहीं है क्योंकि प्रसंग में कल्पना के सहारे जिस रूप से कवि चल रहा था उसमें रहस्यवाद के लिए विशेष अवकाश भी न था, परन्तु 'मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान' इस व्यंजना में रहस्यमय झुकाव स्पष्ट है। इस रहस्यवाद की उक्ति में भी छायावाद का पूर्ण अभाव है।

पंडित बालकृष्ण शर्मा नवीन अपनी कविता इस प्रकार आरंभ करता है—

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

यहाँ स्पष्ट ही अव्यक्त के लिए तीव्र पुकार है। ध्याता ध्येय के लिए तीव्र वितृष्णा के साथ अग्रसर है। वह संसार के 'श्रद्धेयों' के अध्रुव चरण से परेशान है। उक्ति चिंतना की विशेषता के कारण अध्यात्मवादी न होकर रहस्यवादी हो गई है, परन्तु अभिव्यंजन के उलझाव से दूर होकर छायावादी होने से भी बची है। नवीन अन्यत्र कहते हैं—

जोह रहा हूँ बाट चाव से नये जनम के होने की ?
देखूँ यह माटी की प्रतिमा कब करते हो सोने की ?
रोने की घड़ियों का अंतिम क्षण कब आयेगा देखूँ ?
कब यह मनुआँ ढीठ पुण्य-पथ पर बढ़ पायेगा देखूँ ?
भँवरों में मैं फँसा हुआ हूँ।
मत्त भाव से कसा हुआ हूँ।
नदियाँ उमड़ रहीं घहराती।
कल-लहरों में गँसा हुआ हूँ।
अरे ! किनारा बहुत दूर है, प्रिय मेरे भुजदण्ड धरो।
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बंद करो।

इस उक्ति में पहली चारों पंक्तियों में तो भक्त का स्पष्ट आध्यात्मवाद है। दूसरी चारों पंक्तियों में भी, अन्योक्ति के रूप में, प्रतीक प्रयोग के सहारे, वही आध्यात्मवाद का भक्तिमय रूप और आगे बढ़ाया है। परंतु नवीं पंक्ति में "अरे किनारा बहुत दूर है" में रहस्यवाद झलकने लगता है। इस उक्ति में भी अभिव्यंजना कहीं भी छायावाद तक नहीं पहुँचती।

नीचे एक उदाहरण श्रीमती महादेवी वर्मा के सांध्यगीत से दिया जाता है—

फिर विकल हैं प्राण मेरे।
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या हैं।
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या हैं।
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ?

यह व्यक्ति की औत्सुक्यपूर्ण तड़पन है। विश्व के रहस्य को विदीर्ण करने के लिए आत्मा का प्रयास है। जीवन को ही घेरा समझनेवाला प्राणी, पहेली को सुलझाने के लिए श्वासों को भी पीछे छोड़ देने में हिचक नहीं सकता। वह देखता है कि जब तक वह सश्वास है तब तक रहस्य बिदीर्ण नहीं हो सकता। ऊपर की कविता की

अंतम दो पंक्तियों का भाव कबीर ने भी अपनी मस्तीवाली धुन में दूसरे प्रकार से कहा है—

जा मरने से जग डरे मोंहि परम आनंद,
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानंद।

महादेवीजी की पंक्तियों में भावों की कसमसाहट देखकर किसी को यह न समझ बैठना चाहिए कि उनकी अभिव्यंजना के वेग में छायावाद है। ऊपर की पंक्तियों में कहीं भी छायावाद नहीं है। केवल रहस्यवाद का कुछ रूप उन पंक्तियों में उतर सका है।

इतने उदाहरणों द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि रहस्यवाद का संबंध वस्तु से है अभिव्यंजना से नहीं और छायावाद का सीधा संबंध अभिव्यंजना से है। रहस्यवाद बिना छायावाद के सहारे भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। पंतजी का निष्ठुरता नामक कविता उद्धृत करके यह प्रसंग समाप्त किया जाता है—

मिले तुम राकापति में आज
पहन मेरे दृग-जल का हार
बना हूँ मैं चकोर इस बार।
बहाता हूँ अविरल जल-धार।
नहीं फिर भी तो आती लाज।......
निष्ठुर! यह भी कैसा अभिमान?
हुआ था जब संध्या-आलोक।
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर।
विहग-रव बन कर मैं चितचोर।
गा रहा था गुण, किंतु कठोर!
रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक!......
निष्ठुर! यह भी कैसा अभिमान?
याद हैं क्या न प्रात की बात?
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन, प्राण! लगाने धूल
पास आया मैं चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गांत......
निष्ठुर! यह भी कैसा अभिमान?

कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मैं भी वृक्ष-करील,
रात-दिन दृष्टि-द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हें (यही क्या शील !)
न आये पास सजा नव साज......
निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
अभी मैं बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक एक लिख घात
किया करते हो जो दिन-रात
बुझाते हो प्रदीप, बन बात ।
प्राण प्रिय ! होकर तुम विपरीत
निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

ऊपर की कविता में आत्मा परमात्मा की निष्ठुरता की फरियाद करता है। ससीम असीम का आलोक-मात्र देखता है पर उसमें रमण नहीं करने पाता। वह आलोक 'विपरीत' होकर छिप-छिप जाता है। आधार की कारा में आधेय फँस नहीं पाता। भक्त उन नाना रूपों का विरह संकलन करता है जहाँ यह बेरुखाई उसे दिखाई देती है। विरह में तीव्रता प्रदान करने के लिए ये सारे प्रसंग हितकर हैं। परंतु फिर भी अभिव्यंजना में कोई पेंचीदा पन अथवा लाक्षणिकता की दुरूहता द्वारा चमत्कार उत्पन्न नहीं किया गया। अतएव यहाँ भी कोई छायावाद नहीं है। यह रहस्यवाद का एक अच्छा उदाहरण है।

यह भी देखा गया है कि केवल अभिव्यंजन की दुरूह संकेतात्मतता के कारण ही कभी कभी आलोचक लोग किसी कविता को रहस्यवादी कविता कहने लगते हैं। यह शुद्ध भ्रम है। ऐसी कविताएँ छायावादी कविताएँ हो सकती हैं परंतु रहस्यवाद से उनका कोई संबंध नहीं। प्रसाद के स्कंदगुप्त से नीचे इस प्रकार की कविताओं के उदाहरण दिये जाते हैं—

मदकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।
मैं व्याकुल परिरम्भमुकुल में बंदी अलि सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला लहरी में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौंदर्य्य हुआ हो चपल चलीं भौंहें मिलने।
लीन हो गई लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।

श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा ।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा ।
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने-से ।
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से ।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना ।
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना ।

यह देखा गया है कि नवीन युग के हिंदी कवियों का रुझान छायावाद की ओर अधिक है । कभी कभी तो उनमें वस्तु निरूपण का पूरा पूरा अभाव रहता है, केवल छायावाद के उखड़े हुए चित्र सामने रखे जाते हैं । परंतु ऊपर की कविता में, चित्रों के रंगीन होने में, कोई कसर नहीं है । वास्तव में परिस्थियों की समस्त मूर्तिमत्ता छायावाद पर आश्रित है । कहीं कहीं तो मूर्ति की नग्नता अभद्र हो जाती यदि छायावाद का सहारा न लिया जाता । समझने की बात यह है कि इस कविता में वस्तुरूप में रहस्यवाद ग्रहण नहीं किया गया, अतएव यह रहस्यवादी कविता नहीं है । यह कोरा छायावाद है ।

वायु के एक ओर से झेले जाने पर जल दूसरी ओर उठेगा ही, इस साधारण सी बात को सांगरूपक के घेरे में डालकर जहाँ एक ओर उक्ति का उलझा चमत्कार सामने आता है वहाँ दूसरी ओर अधीरता के अधीन नाना छोटी छोटी उपभावनाओं की कसमसाहट हृदय को उकसाती भी है । प्याले के छलक उठने से यह अर्थ लेना कि मुस्कराहट समाप्त हो गई, 'सजग सुप्त सौंदर्य हुआ' से रौद्र रस उत्पन्न हो गया यह भाव निकालना, 'लीन हो गई लहर' से यह समझना कि मुस्कराहट समाप्त हो गई, ये नितांत नये संकेत हैं जिन तक पहुँचना कष्टसाध्य हो जाता यदि 'हो चपल चलती भौंहें मिलने'—से स्पष्ट क्रोध के सात्विक भावों का रूप सामने न खड़ा हो जाता । बहुत सी कोठरियों में बंद की हुई लाक्षणिकता अथवा ध्वनि काव्य के काम की तभी हो सकती है जब उसको प्रकाश में लानेवाला झटका, चाहे वह कितने सूक्ष्म कौशेयतंतु का क्यों न हो, बाहर अनुभव होता रहे । इसीलिए रूढ़िगत प्रतीक छायावाद को सुबोध रखने के लिए अधिक उपयोगी होते हैं । पाठकों के सामने वे स्वयं सिद्ध रूप में उपस्थित होते हैं । ऊपर का 'चपल चली भौंहें मिलने' को हम रूढ़ि का ही नवीन प्रयोग मानते हैं । आगे चलकर—

'श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित हुआ'

वाली उक्ति में चंद्रकला को रजनी (श्यामा) रमणी का प्राप्त नखदान के रूप में देखना और नक्षत्रमाला को उसके उर का मौक्तिकमाल समझना, जहाँ एक ओर शृंगार साधना का विराट् रूप उपस्थित करता है वहाँ—

'मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित हुआ'

वाली पंक्ति से प्रेमी के समक्ष रोकर अपने दोनों ओर आँसू की माला बनाने-वाली मूर्ति भी सामने आती है जिसकी सार्थकता 'लीन हो गई लहर' के बाद ठीक बैठ जाती है।

छायावाद की दुरूह उक्तियों में इस प्रकार का अर्थभेद हो जाना स्वाभाविक है। प्रसाद की कामायनी की एक दूसरी उक्ति देखिए—

> अब न कपोलों पर छाया सी पड़ती मुख की सुरभित भाप,
> भुज मूलों में शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप।
> कंकण क्वणित रणित नूपुर थे हिलते थे छाती पर हार,
> मुखरित था कलरव, गीतों में स्वर लय का होता अभिसार।

कपोलों पर सुरभित भाप का आकार बनाना जहाँ एक ओर चुंबन की क्रिया की ओर संकेत करता है वहाँ कपोलों की उज्वलता और निर्मलता की ओर भी ध्यान ले जाता है। छायावाद में जब इस प्रकार की अनेकार्थवाची ध्वनियाँ बिना कष्ट प्रयास के उपलब्ध हो जाती हैं तो अभिव्यंजना को सफल समझना चाहिए।

दूसरी पंक्ति से प्रगाढ़ और व्यस्त आलिंगन का संकेत तो मिल जाता है परंतु 'वसन' के आ जाने से भाव आघात कुछ शिथिल सा हो जाता है, यद्यपि "शिथिल" को 'वसन' का विशेषण बनाकर उसका परिहार किया गया है। ऊपर की पंक्तियाँ भी कोरे छायावाद की पंक्तियाँ हैं; रहस्यवाद से उनका कोई सरोकार नहीं।

ऊपर जैसा अभिव्यंजन-सौंदर्य नीचे की पंक्तियों में भी मिलेगा ये मैथिलीशरण जी गुप्त के साकेत नामक ग्रन्थ की है—

> पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसतीं,
> तब नःखज्योति-मिष, मृदुल अँगुलियाँ हँसती।
> पर, पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता,
> तब अरुण एड़ियों से सुहास्य-सा झड़ता!

मुस्कराने में या तो दंतपंक्तियों की धवलता कौंध जाती है या होठों की लाली चमक उठती है। दोनों रूपों को एक-एक करके सामने रखकर चमत्कार उत्पन्न किया गया है। 'नःखज्योति' धवल होगी और अरुण एड़ियों का सुहास्य लाल होगा। सहज में हम जान लेते हैं कि सीताजी के बाल लंबे और घने हैं। चाल में 'गजगामिनी' की ठसक है, उँगलियाँ कोमल हैं, नख चमक रहे हैं और एड़ियाँ अरुण हैं। इस उक्ति में भी रहस्यवाद ढूँढ़ना भ्रम है।

श्रीमती महादेवी वर्मा के सांध्यगीत की एक और कविता देखिए—

आज सुनहली बेला !
आज क्षितिज पर जाँच रहा है तूली कौन चितेरा ?
मोती का जल सोने की रज विद्रुम का रँग फेरा !
क्या फिर क्षण में,
सांध्य गगन में,
फैल मिटा देगा इसको
रजनी का श्वास अकेला !
लघु कण्ठों के कलरव से ध्वनिमय अनंत अम्बर है ?
पल्लव बुदबुद् और गले सोने का जग सागर है ?
शून्य अंक भर—
रहा सुरभि-डर;
क्या सूना तम भर न सकेगा
यह रागों का मेला !
विद्रुमपंखी मेघ इन्हें है क्या जीना क्षण भर ही ?
गोधूली-दिन का परिणय भी तम की एक लहर ही !
क्यों पथ में मिल,
युग युग प्रतिपल,
सुख ने दुख दुख ने सुख के—
वर अभिशापों को झेला ?
कितने भावों ने रँग डाली सूनी सासें मेरी,
स्मित में नव प्रभात चितवन में संध्या देती फेरी;
उर जल कणमय,
सुधि रङ्गोमय,
देखूँ तो तम बन आता है
किस क्षण वह अलबेला !

इस कविता में, विषादवाद, औत्सुक्यवाद, नश्वरवाद, परास्तवाद अथवा इसी प्रकार का कोई वाद हो सकता है जिसे छायावाद ने अपने क्रोड़ में सजाकर सामने रखा है। परंतु वह रहस्यवाद नहीं है। यह कविता भी दार्शनिक छायावाद का अच्छा उदाहरण है। और देखिए सुमित्रानंदन पंत छाया शीर्षक कविता कहते हैं—

पछतावे की परछाईं-सी तुम भूपर छाई हो कौन ?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई सी, अपराधी सी, भय से मौन,

इस उक्ति में छायावाद कल्पना के नाना रूपों के चित्रित करने में व्यय किया गया है। यहाँ भी वह कोरा छायावाद ही है। रहस्यवाद से उसे कोई सरोकार नहीं।

आगे जो पद उद्धृत किया जाता है उसका विषय दार्शनिक अवश्य है परंतु रहस्यवाद नहीं। महादेवी वर्मा की उपर्युक्त कविता की भाँति उसमें भी चिंतना की अच्छी सामग्री हैं परंतु काव्यवस्तु रहस्यवाद नहीं। चिंतनावाद और दर्शनवाद रहस्यवाद नहीं होते। उदयशंकरजी भट्ट की असहाय शीर्षक कविता देखिए।

पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अंत मेरा
फूल उठता शून्य में मेरा हृदय उच्छ्वास मेरा
ढूँढ़ने जाऊँ कहाँ मैं आँख में आलोक फीका
पैर लर जाने लगे हैं जी हुआ है भार जीका
उग्र जग के क्रोध पूरित व्यंग्य को दिल खोल सहता
और जग के राग में इन आँसुओं को घोल कहता
पागलों के स्वप्न ने उड़ चंद्र-मंडल आज घेरा।
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अंत मेरा॥

चिंतना को विश्व की बहुत सी समस्याएँ उकसा सकती हैं। नाना प्रकार के 'वाद' उसे सजग कर सकते हैं; परंतु परोक्ष की रसभरी झाँकी उपस्थित करना निस्सीम को ससीम बनाना यह कोई दार्शनिक प्रत्यय नहीं है। यह तो अरूप को निरूपित करने का सरूप का प्रयास है जिसकी प्रेरणा में समूचे हृदय की छलकती हुई वासना रहती है। केवल इस साधना को जब कविता वस्तुरूप में पकड़ती है तब रहस्यवाद की अवतारणा होती है। ऊपर दी हुई भट्टजी की सुंदर दार्शनिक छायावाद की कविता इस युग की, चिंतना-संबंधी, अच्छी कृति होते हुए भी रहस्यवादी कविता नहीं है।

कोरे छायावाद के चित्र उपस्थित करनेवाले वर्तमान कवियों में जयशंकर प्रसाद अच्छे सफल हुए हैं। अन्यत्र इसके उदाहरण दिये जा चुके हैं। जयशंकर प्रसाद के स्कंदगुप्त से एक और उदाहरण देकर इस प्रसंग की व्याख्या समाप्त की जायगी।

अगरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से।
मादकता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।
व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय घनमाला से।
आँसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से।

इस उदास मन की अभिलाषा अँटकी रहे प्रलोभन से।
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से।
छवि-प्रकाश-किरणें उलझीं हों जीवन के भविष्य तम से।
ये लायेंगी रंग सुलालित होने दो कम्पन सम से।
इस आकुल जीवन की घड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से।
बजा करे अगणित यंत्रों से सुख-दुख के अनुपातों से।
उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो।
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो।
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहे ठुकराओ।
निर्दयता के इन चरणों से जिसमें तुम भी सुख पाओ।

केशों के लिए 'अगरु' से सुगंध 'श्याम' से कालापन और 'लहरियाँ' से घुँघरालापन कितनी सुंदरता से व्यक्त किये गये हैं।

'अधर प्रेम के प्याला से' का यह भाव निकालना कि अधर-अधर से संलग्न हैं दूसरी लक्षणा का निष्कर्ष है। वास्तव में ऊपर की पंक्तियों में प्रेमी की याचना प्रेम के समस्त स्वरूपों में रमण करने की है जिनमें अनुनय भी हो, विनय भी हो, संयोग का सुख भी हो, वियोग की आहें भी हों, झिड़कियाँ भी हों, मनाना भी हो। प्रसादजी के अतिरिक्त यदि और कोई कलाकार इसी आशय को व्यक्त करने का साहस करता तो कदाचित् ही अश्लीलता को बरक सकता; और यदि स्वयं प्रसादजी भी संकेतात्मकता, लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता से काम न लेते और दुरूहता की ओर न झुकते तो उन्हें भी नागरिकता की रक्षा करना कठिन हो जाता।

वियोग के समस्त व्यापार को केवल 'उखड़ी साँसों' से संकेत कर देना और संयोग की यथार्थता को केवल एक शब्द 'धड़कन' से सुना देना और संयोग के बाद वियोग और वियोग के बाद संयोग का क्रम केवल 'इस उदास मन की अभिलाषा, अटकी रहे प्रलोभन में'[१], 'छवि प्रकाश किरणें उलझी हों, जीवन के भविष्य तम से'[२] अथवा 'बजा करें अगणित यंत्रों से, सुख-दुख के अनुपातों से' इन उक्तियों द्वारा हृदय तक

१—अर्थात् आज के दुख की उदासीनता आगामी कल की सुख की आशा से सीमित हो।

२—अर्थात् आज प्रिय की सामने की छबि भविष्य कल छिप सकती है इस दुख का भी ध्यान रहे।

उतार देना क्या कोई सरल काम है? प्रणय-व्यापार की समस्त लीलाओं की जानकारी, उनकी रुचि का मानसिक ज्ञान और साथ ही साथ सम-रसात्मकता के आतिशय्य से जी ऊब जानेवाली मानवी कमजोरी, सभी बातें इस कृती कलाकार ने सामने रख दी हैं। इतना सुंदर छायावाद का उदाहरण कदाचित ही कहीं देखने को मिले। परंतु स्मरण रहे यहाँ भी कोरा छायावाद है, रहस्यवाद वस्तु रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

कोरी छायावादी उक्तियाँ पुराने कवियों में भी मिलेंगी। अतएव यह न समझना चाहिए कि छायावाद नितांत आज की चीज है। मलिक मुहम्मद जायसी ने एक स्थान पर पद्मावती की वृद्धावस्था का चित्रण करते हुए लिखा है—

"भँवर छपान हंस परगटा"*

भँवर से संकेत केवल काले और घुँघराले केशों की ही ओर नहीं है, वरन् भ्रमर की स्वभाव-अस्थिरता, उसकी परिस्थिति के अनमिल वर्तन की सतत भनभनाहट (अर्थात् युवावस्था की अशांति की चिरंतन शिकायत) और उसकी सतत परिभ्रमण-शीलता तथा पुष्प पराग पान की उत्कण्ठा (भोगों में नये नये उपकरणों द्वारा विलास से चिपके रहने की यौवन की चाह) इन सब की सूचना केवल एक शब्द 'भँवर' दे जाता है और 'छिपान' से यह स्पष्ट हो जाता है कि युवावस्था की समस्त उद्दाम वासनाएँ और परिस्थितियाँ जिनका संकेत ऊपर किया गया है, छिप गई हैं।

इसी प्रकार 'हंस' से केशों की वर्णधवलता को ही सामने नहीं लाया गया है, वरन् हंस की भाँति वयस्क की समझ-समझ कर धीरे-धीरे पग रखने की बान, उसके मोती चुगने में वृद्ध के उज्ज्वल विचारों की धारणा तथा (कवि प्रौढोक्ति की लक्षणा द्वारा उसके क्षीर-नीर विवेकवाले स्वभाव का संकेत करते हुए) वृद्ध की बुद्धि परिपक्वता और समझ की गंभीरता तक पहुँचा दिया गया है। परंतु यह भी उक्ति रहस्यवाद की उक्ति नहीं है, लक्षणा और व्यंजना के बल पर केवल छायावाद खड़ा है।

छायावाद की सार्थकता बहुत बढ़ जाती है जब वह वस्तु रूप में रहस्यवाद को अपनाता है। छायावाद और रहस्यवाद के सोहाग के चित्र हिंदी में—विशेषकर नवीन हिंदी में—काफी मिलेंगे। पुराने कवियों में भी एक दो उक्तियाँ रहस्यवादी छायावाद की मिलेंगी—

काहे री नलनी, तू कुँभिलानी?
तेरे ही नाल सरोवर पानी ॥

---

*पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी

जल मैं उतपति, जल मैं बास, जल में नलिनी तोर निवास।
ना तल तपति, न ऊपरि आग, तोर हेत कहु कासन लागि ?
कहैं 'कबीर' जो उदिक समान, ते नहिं मूए हमरे जान ।।

'अहम् ब्रह्मास्मि' की परिस्थिति न प्राप्त कर सकने के कारण ही मनुष्य दुख भोगता है। कबीर ने उसे पा लिया है। साक्षात्कार हो चुका है। पर तद्रूपभावना का यह चित्र दूसरी आत्माओं को सचेत करने के लिए खींचा गया है।

"जल मैं उतपति, जल मैं वास, जल में नलिनी तोर निवास"
यह उक्ति वैसी है जैसी कबीर की दूसरी उक्ति—
"आदौ गगना, अंते गगना, मध्ये गगना भाई।"

अथवा—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी
फुटा कुंभ जल जलहिं समाना,..............

रूपकों की पेचीदगी के सहारे छायावाद का प्रश्रय ऊपर लिया गया है और रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति की गई है। केवल उक्ति वैचित्र्य पर आश्रित रहस्यवाद भी कबीर में है। एक उदाहरण आगे दिया जाता है—

समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखाँ चढ़ि गईं ।।

मानव की सांसारिक परिस्थिति का संकेत समुद्र से करना, इस दुनियावी मिलावट का संकेत बाहर से आकर समुद्र में मिली हुई नदियों से करना; उद्दीप्त भक्ति-भावना—संसार के विषयों को भस्म करनेवाली भावना—को अग्नि द्वारा संकेत करना और तन्मय के लिए ऊपर खिंची हुई आत्मा की अभिव्यंजना रूख पर चढ़ी हुई मछली से करना—इत्यादि छायावाद के अच्छे चित्र हैं। विषय पूर्ण रूप से रहस्यवाद है।

इसी प्रकार केवल प्रतीक प्रयोग के बल पर ब्रह्मवाद को, हृदय जगत की तन्मयता के साथ, उक्ति वैचित्र्य के सामुहिक सौंदर्य द्वारा, छायावाद का रूप नीचे के पद में दिया गया है—

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट नागपुर लूटा तीन लोक मचा हाहाकार ।।
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे नारद मुनि के परी पिछार।
स्त्रिंगी की मिंगी करि डारी पारासर के उदर बिदार ।।

कनफूँका चिदकासी लूटे, लूटे जोगेसर करत विचार।
हम तो बचिगे साहब दया से, शब्द डोर गहि उतरे पार॥
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो इस ठगनी से रहो हुसियार॥

दाम्पत्य रति ने ऊपर के पद को और भी सरस बना दिया है। 'शब्द डोर गहि उतरे पार' में 'सुरत शब्द' के अभ्यास की ओर एक रूखा सा संकेत है। पर तद्रूप भाववाली भक्त के मुखसे निकली हुई यह रहस्यवाद की वाणी अधिक सरस इसलिए नहीं हो पाई क्योंकि इसका झुकाव आध्यात्मवाद की ओर अधिक है। प्रयास करने पर कबीर के कूटों और उल्टवाणियों में भी कुछ पद छायावाद के मिल जायेंगे जिनका विषय रहस्यवाद है।

वर्तमान कवियों में रहस्यवादी-छायावाद के सुंदर चित्र कुछ ही कवियों के उत्तम बन पड़े हैं, शेष की कृतियों में या तो कोरा छायावाद है, या कोरा रहस्यवाद है अथवा ये दोनों वाद नहीं हैं; परंतु कवियों और उनके आलोचकों दोनों को भ्रम है कि वे इनके प्रवर्तक हैं। कुछ आलोचक तो अलंकार के नवीन प्रयोगों से चमत्कृत होकर उसी को छायावाद कहने लगे हैं। इस संबंध में आगे कहा जायगा। नीचे निराला की एक कविता उद्धृत की जाती है—

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शांति।
तुम सुरापान घन अंधकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रांति।
तुम दिनकर के खर किरण जाल मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

'तुम और मैं' के एकीकरण की ओर उतना प्रयास नहीं है जितना 'तुम और मैं' के तात्विक एकरूपता के सिद्ध करने की ओर है। इन पंक्तियों में द्वैताद्वैत की भावना को काव्यबद्ध किया गया है। इसी कविता में कवि आगे कहता है—

तुम हो प्रियतम मधुमास और मैं पिक कल-कूजन तान।
तुम मदन पंचशर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥

तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तड़िच्चूलिका - रचना ॥

तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य मैं युवति मधुर, नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद वेद आकार सार मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि ॥

तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुंद-इंदु-अरविंद-शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

छायावाद की क्रोड़ में रहस्यवाद की वस्तु रूप में प्रतिष्ठा सफल हुई है। ऐसी सुंदर कविताएँ कम मिलेंगी।

श्रीमती महादेवी वर्मा की एक दूसरी कविता नीचे और दी जाती है :—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी!
प्रिय के अनंत अनुराग भरी!
किसको त्यागूँ किसको माँगूँ,
हैं एक मुझे मधुमय विषमय;
मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय!
पालूँ जग का अभिशाप कहाँ
प्रतिरोमों में पुलकें लहरी!
जिसको पथ-शूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन गह्वर;
प्रिय के संदेशों के वाहक,
मैं सुख-दुख भेटूँगी भुजभर;
मेरी लघु पलकों से छल की
इस कण कण में ममता बिखरी!
अरुणा ने यह सीमंत भरी,
संध्या ने दीमें पद लाली;
मेरे अंगों का आलेपन—
करती राका रच दीवाली!

जग के दागों को धो धो कर
होती मेरी छाया गहरी !
पद के निक्षेपों से रज में—
नभ का वह छायापथ उतरा;
श्वासों से घिर आती बदली
चितवन करती पतझार हरा !
जब मैं मरु में भरने लाती
दुख से, रीती जीवन गगरी !

ऊपर की कविता में 'अहम्' के विस्तार का रूप यत्र-तत्र स्पष्ट दिखाई देता है। 'अहम्' का रहस्यमय प्रभाव काव्य का प्राण है—

"मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ, प्रस्तर, रसमय"

संध्या ने पद में लाली भर दी, राका ने अंगों का आलेपन किया, श्वासों से बदली घिर आती है, चितवन पतझारवाली है—इत्यादि छायावादी अभिव्यंजना में रहस्यवाद की ही प्रतिष्ठा दिखाई देती है।

पं० माखनलालजी का कोई कविता-संकलन इस समय उपस्थित नहीं है। परंतु मुझे स्पष्ट स्मरण है कि उनकी कृतियों में छायावादी रहस्यवाद के बड़े सुंदर और सुलझे हुए उदाहरण उपस्थित हैं—

"अगणित वार समाकर भी
छोटा हूँ यह संताप हुआ।"

कदाचित् यह उन्हीं की पंक्ति है।

नवीन कवियों में कभी कभी अभिव्यंजना के चमत्कार, या यों कहिए कि छायावाद का मोह इतना अधिक हो जाता है कि वस्तु रूप में ग्रहण किया हुआ रहस्यवाद पूरा-पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता। छायावाद की भूलभुलैया में वह स्थान-स्थान पर झाँकता सा प्रतीत होता है। क्रमपूर्ण निबंधना का अभाव रहता है। छायावाद का प्रश्रय जहाँ एक ओर रहस्यवाद को सशक्त और प्रभावापन्न बना देता है वहाँ दूसरी ओर छायावाद की अतिशय्यता उसे विरूपित भी कर देती है। आज के कवियों में भी कुछ ऐसे श्रेष्ठ कलाकार हैं जिनमें रहस्यवाद और छायावाद का बहुत ही उत्तम समन्वय मिलेगा। श्री जयशंकरप्रसाद की 'विषाद्' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ नीचे उदाहरण रूप में दी जाती हैं—

"निर्झर कौन बहुत बल खाकर,
बिलखाता ठुकराता फिरता,
खोज रहा है स्थान धरा में।
अपने ही चरणों में गिरता।"

जिस प्रसंग में ये पंक्तियाँ आई हैं वहाँ रहस्यवाद का वस्तुरूप में ग्रहण करके काव्यबद्ध करने का कवि का कोई अभिप्राय न था फिर भी वेदांत के अद्वैतवाद की सुंदर भावमय अभिव्यंजना का समावेश ऊपर की पंक्तियों की पकड़ में अनायास आ गया है और साथ ही साथ छायावाद का उत्तम रूप भी बन पड़ा है।

शांति की प्राप्ति का इच्छुक ब्रह्म की तलाश में आत्मा न जाने कहाँ कहाँ मारा मारा घूमता है, कितने कष्ट झेलता है, अपने से बाहर ब्रह्म को अगति प्राप्ति के लिए ढूँढ़ा करता है परंतु उसे वास्तविक शांति तभी मिलती है जब वह अपने को 'अहंब्रह्मास्मि' समझकर सारी पूजा, अर्चना और श्रद्धा का केंद्र बनाता है और अपने ही चरणों पर भक्ति के फूल बिखेर देता है। 'सोऽहम्' की परिस्थिति हो जाती है। इसी भावना को निर्झर के प्रतीक द्वारा बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त किया गया है। 'बहुत बल खाना', 'बिलखाना', 'ठुकराना', 'खोजना', 'अपने चरणों में गिरना' ये समस्त क्रियाएँ वाच्यार्थ देकर लाक्षणिक अर्थ का संकेत करते हुए एक समूची रहस्यमय परिस्थिति को व्यंग्य करती हैं। वही ध्वन्यार्थ इन पंक्तियों का प्राण है।

छायावाद के रूप को और अधिक समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसका और अलंकारवाद का स्थूल भेद समझ लें। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जहाँ न छायावाद है और न रहस्यवाद है। 'नौका विहार' शीर्षक श्री सुमित्रानंदन की कविता पढ़िये :—

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल!
अपलक अनंत, नीरव भूतल!
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं शांत, क्लांत, निश्चल!
तापस-बाला-सी गंगा कल शशि-मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुंदर
चंचल अंचल-सा नीलांबर।

साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी-विभा से भर,
सिमटी हैं वर्त्तुल, मृदुल लहर।

ऊपर की कविता में कोई छायावाद नहीं है। रहस्यवाद भी नहीं है। केवल दृश्य की मूर्तिमत्ता बड़ी स्पष्टता और विशदता के साथ खड़ी की गई है। कवि का पर्य्यवेक्षण बड़ा सूक्ष्म है और वह स्वरूप को जैसे के तैसा अंकित कर देने में बड़ा पटु है। उपमाओं में अधिकतर नवीनता है और उनका भाव सादृश्य और रूप सादृश्य दोनों मिलकर चित्रों के हृदय प्रवेश में बड़ी सहायता देते हैं।

इसी प्रकार का एक दूसरे कुशल कलाकार श्री जयशंकरप्रसाद के प्रातःकाल वर्णन का चित्र देखिए—

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबा रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु-मुकुल-नवल-रस गागरी।
अधरों में राग अमंद पिये,
अलकों में मलयज बंद किये—
तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री!

संगीत की ऊँची गति विधि के साथ प्रातःकाल का इतना मूर्तिमान और सरस वर्णन बहुत कम देखने में आता है। नेत्र खोलकर कवि ने प्रातःकाल को देखा है। वह उस वर्णन का अवसान—

"तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री।"—

इन पंक्तियों से करके मानवता का प्रकृति के इस विपर्यय के साथ अटूट संबंध दिखलाता है और चित्र को तन्मयता के लिए और अधिक सफल बना देता है। इन पंक्तियों में प्रसाद ने छायावाद को नहीं अपनाया। वस्तुरूप में तो स्पष्ट प्रातःकाल वर्णन है, अतएव रहस्यवाद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

एक और कविता आगे दी जाती है। बिना ध्यान से पढ़े हुए लोग इसे रहस्यवादी कविता कहने की भ्रांति कर सकते हैं। एक प्रसिद्ध आलोचक ने ऐसा किया भी है। कुछ शब्द ऐसे आ गये हैं जिन्हें यदि उपमा के रूप में न लेकर ध्वन्यात्मक समझा जाय तो ऐसी भूल हो जाती है। नवीन भी अपनी 'शिखर' पर कविता में कहते हैं।

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे बलि
बध के सुंदर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर
है मंदिर की नींव

बड़े बड़े ये शिलाखण्ड मग
रोके पड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यदि जाना है
तुझे मरण के हेत;

ऊपर अगम शिखर के ऊपर
मचा मृत्यु का रास;
नीचे उपत्यका में जीवन—
पंकिल का है त्रास।

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू
बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावे तुझको
यह जीवन की कुंज;

मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू
देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरो कर करदे
पूरी माँ की माल;

है जीवन अनित्य, कट जाने
दे तू मोहक बंध।
कर दे पूरा आत्मनिवेदन
का तू आज प्रबंध।

कवि की स्पष्ट पुकार देश सेवा है। बलि पशु से देश सेवक की कठिनाई उसकी तपस्या और बलिदान को व्यक्त किया गया है। वह कहता है—

"अपना सीस पिरो कर कर दे
पूरी माँ की माल।"

यहाँ 'माँ' स्पष्ट रूप से भारत माता के लिए कहा गया है। अतएव जितने पद भी ऐसे मिले जिनके कारण आत्मा का परमात्मा तक आरोहण की कठिनता भासित हो, उन्हें रूढ़ि प्रयोग समझकर एक झिटके के साथ नीचे उतार लेना चाहिए और वाच्यार्थ वाला सीधा सादा अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। इस कविता में किसी प्रकार का रहस्यवाद नहीं है। केवल देश प्रेम को उद्दीप्त किया गया है।

नीचे की कविता में स्वरूप चित्रण के साथ साथ भाव चित्रण की रक्षा की गई है। यह कविता श्री निरालाजी की है :—

प्रिय, मुंदित दृग खोलो!
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल नव किरणों से धोलो—
मुंदित दृग खोलो!
जीवन-प्रसून यह वृंत हीन खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभ उर भर बह चलीं चतुर्दिक कर्म लीन
तुम भी निज तरुण-तरंग खोल नव अरुण-संग होलो—
मुंदित दृग खोलो!
वासना-प्रेयसी बार-बार श्रुति-मधुर मंदस्वर से पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के जीवन में, प्रिय, आई बहार
बहती इस विमल वायु में बह चलने का बल तोलो—
मुंदित दृग खोलो!

निरालाजी की इस कविता में अभिव्यंजना का सौंदर्य सूक्ष्म निरीक्षण और भाषा-प्रयोग-कौशल पर आश्रित है छायावाद पर नहीं। इसका विषय भी रहस्यवाद नहीं है। कविता के संकलित सौंदर्य का प्रभाव उसकी भावसुकुमारता और मूर्तिमत्ता पर आश्रित है।

दो कविताएँ और उद्धृत करके अब यह प्रसंग समाप्त किया जाता है। पहली कविता अज्ञेयजी का 'नाम तेरा' शीर्षक के अंतर्गत है।

पूछ लूँ मैं नाम तेरा!
मिलन रजनी हो चुकी विच्छेद का अब है सवेरा।

(१)

जा रहा हूँ और कितनी देर अब विश्राम होगा,
तू सदय है, किंतु तुझको और भी तो काम होगा।
प्यार का साथी बना था, विघ्न बनने तक रुकूँ क्यों?
समझ ले, स्वीकार कर ले यह कृतज्ञ प्रणाम मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(२)

और होगा मूर्ख जिसने चिर-मिलन की आस पाली।
'पा चुका—अपना चुका' है कौन ऐसा भाग्यशाली?
इस तड़ित को बाँध लेना देव से मैंने न माँगा—
मूर्ख उतना हूँ नहीं, इतना नहीं है भाग्य मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(३)

श्वास की हैं दो क्रियायें—खींचना, फिर छोड़ देना,
कब भला सम्भव हमें इस अनुक्रम को तोड़ देना?
श्वास की उस संधि-सा है इस जगत में प्यार का पल,
रुक सकेगा कौन कब तक बीच पथ में डाल डेरा?
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(४)

घूमते हैं गगन में जो दीखते स्वच्छंद तारे।
एक आँचल में पड़े भी अलग रहते हैं बिचारे।
भूल में पल-भर भले छू जाँय उनकी मेखलायें—
दास मैं भी हूँ नियति का, क्या भला विश्वास मेरा!
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(५)

प्रेम को चिर-ऐक्य कोई मूढ़ होगा तो कहेगा।
विरह की पीड़ा न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा?
जो सदा बाँधे रहे वह एक कारावास होगा।
घर वही है जो थके को रैन-भर का हो बसेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(६)

रात बीती, यदपि उसमें संग भी था, रंग भी था,
अलस अंगों में हमारे व्याप्त एक अनंग भी था।
तीन की उस एकता में प्रलय ने ताण्डव किया था।
सृष्टि भर को एक क्षण-भर बाहुओं ने बाँध घेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(७)

सोच मत, "यह प्रश्न क्यों जब अलग ही हैं मार्ग अपने ?
सच नहीं होते इसी से भूलता है कौन सपने ?"
मोह हमको है नहीं, पर द्वार आशा का खुला है—
क्या पता फिर सामना हो जाय तेरा और मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(८)

कौन हम-तुम ? दुःख-सुख होते रहे, होते रहेंगे।
जान कर परिचय परस्पर हम किसे जाकर कहेंगे ?
पूछता हूँ, क्योंकि आगे जानता हूँ क्या बदा है।
प्रेम जग का, और केवल नाम तेरा, नाम मेरा ॥
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

मिलन-रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सवेरा।

अज्ञेय जी की कृति में मिलन और वियोग के बड़े विचारपूर्ण चित्र हैं। अंत में जहाँ एक ओर वेदना की विह्वलता और मस्ती है वहाँ दूसरी ओर चिंतना के ऊँचे रूप और विचार की सुलझी प्रणाली देखने में आती है। व्यक्ति के मिलन और वियोग की दार्शनिक व्याख्या के भीतर संसार की नश्वरता और प्राणियों की चिरंतनता का रूप भी सामने आ जाता है। परंतु ध्वनि की सरल सीढ़ी से यह मुक्त भी है। यहाँ न छायावाद है और न रहस्यवाद—

दूसरा उदाहरण देखिए यह श्री पंत की 'याँछा' शीर्षक कविता है।

इस अबोध की अंधकारमय
करुण-कुटी पर करुणा कर
अये रंध्र-मग-गामी स्वागत,
आओ मुसका उज्ज्वल तर !

रजत-तार से हे शुचि-रुचिमय !
हे सूची - से कृशतर अंग !
इस अधीर की लघु कुटीर का
तिमिर चीर कर, कर दो भंग।

हे करुणाकर के करुणाकर
तुम अदृश्य बन आते हो,
रज-कण को छू, बना रजत-कन
प्रचुर - प्रभा प्रकटाते हो।

अरुण अधखुली आँखें मल कर
जब तुम उठते हो छवि-मय !
रंग - रहित को रंजित करते,
बना हिमालय हेमालय।

तुम बहु-रंगी होने पर भी
सदा शुभ्र रहते हो नाथ !
मुझको भी इस शुभ्र ज्योति में
मज्जित कर लो अपने साथ।

हे सुवर्णमय, तुम मानस में
कमल खिलाते हो सुंदर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद-पद्म अमर।

और नहीं तो, अपना-ही-सा
मुझको भी सीधा जीवन
हे सीधे - मग - गामी, दे दो,
दिव्य अप्रकट गुण पावन।

इस कविता की पुकार सूर्य के प्रति है। वाच्यार्थ का प्रयोजन उसी के लिए है। परंतु स्थान-स्थान पर कुछ ऐसे शब्द आ गये हैं जिनके कारण एक ध्वन्यार्थ का भी आरोप होता चलता है। उसका विषय भगवान् हो सकता है। अतएव यहाँ पर समासोक्ति अलंकार की पुष्टि दिखाई देती है। व्यंग्यार्थ का विषय अध्यात्म है परंतु वस्तु रूप में रहस्यवाद नहीं है। अतएव इस कविता को रहस्यवादी कहना भूल है।

अभिव्यंजना पक्ष में केवल समासोक्ति का अंचल पकड़ने से कोई कविता छायावादी नहीं कही जा सकती। छायावादी कविता की और विशेषताएँ इसमें नहीं हैं अतएव यह छायावादी कविता नहीं है। वाच्यार्थ और ध्वन्यार्थ दोनों पक्षों का अर्थ स्पष्ट है। कहीं कहीं श्लेष द्वारा और कहीं कहीं लक्षणा द्वारा शब्दों में अर्थों का द्वैत निबाहा गया है। कुछ शब्द अथवा वाक्य एकपक्षीय हैं। उनकी प्रतीति या तो वाच्यार्थ में होती है या ध्वन्यार्थ में; उभय पक्षों में नहीं।

उदाहरणार्थ—

"अरुण अधखुली आँखें मल कर"

× × ×

"बना हिमालय हेमालय।"

अंतिम आठ पंक्तियों में तो, बिलकुल अंतिम पंक्ति छोड़ कर पूरा झुकाव वाच्यार्थ की ही ओर हो जाता है। ध्वन्यार्थ की ओर से हलकी आभा भी विलीन हो जाती है। 'पद पद्म अमर कर तो ऐसे व्यक्त रूप में खुलकर ध्वन्यात्मकता से पीछा छुड़ा लिया गया है कि कविता की कला ही नष्ट हो गई है। परंतु यह कवि कि आरंभिक कृति है। समझना केवल यह है कि आध्यात्मिकता की ओर वस्तु का अधिक झुकाव होने पर भी इस कविता में किसी प्रकार का भी परोक्षवाद अथवा रहस्यमय परिस्थिति का उद्‌घाटन नहीं किया गया। स्पष्टतया इस कविता ने वस्तु रूप में रहस्यवाद को नहीं अपनाया है। अतएव यह रहस्यवादी कविता नहीं है। अभिव्यंजना में समासोक्ति अलंकार का प्रश्रय इतना स्पष्ट है कि हम उसे छायावाद नहीं कह सकते।

मैथिलीशरणजी एक स्थान पर उर्मिला के सौंदर्य वर्णन के प्रसंग में लक्ष्मण से कहलाते हैं—

नाक का मोती अधर की कांति से
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से,
देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है?

पहली पंक्ति में तद्‌गुण अलंकार का आभास है। इसी में भ्रांति-मान अलंकार स्पष्ट है। हेतूत्प्रेक्षा तथा अर्थांतरन्यास का आरोप भी दिखाई देता है। इतने अलंकारों की लपेट में उक्ति का जो रूप सामने है उसमें छायावाद ढूँढ़ना व्यर्थ है। वह तो कोरा अलंकारवाद है।

अलंकारों का प्रयोग वहीं तक श्लाध्य है, जहाँ तक वह भावोत्कर्ष का साथ दे। कभी-कभी ऊहा के बल पर कवि नितांत उक्ति वैचित्र्य में फँस जाता है और भाव का सूत्र उसके हाथों से छूट जाता है। ऐसे अवसरों पर वह उक्ति केवल प्रदर्शन की वस्तुमात्र रह जाती है।

—कोई कवि किसी सुंदर रमणी को रोते देखकर समासोक्ति की निर्वंधना में यह कहे—

भ्रमर के मँडराने से आंदोलित पुष्प की आंतरिक पँखुड़ियों से निकलकर ओसबिंदु गुलाब के फैले हुए लाल दलों पर ढलता दिखलाई दे रहा है—"

तो इस उक्ति में कपोल भी हैं, नेत्र भी हैं, पुतली का संचलन भी है, अश्रु भी हैं, अतएव रूप सादृश्य के ध्यान से यह उक्ति एक बड़े सामयिक प्रसंग में अदोष हो सकती है और यदि भाव सादृश्य की ओर विचार किया जाय तो भी कोमलता के भार के कारण भावों की भी सुकुमार उद्भावना होती है; परंतु यदि यही कवि ऊहा के फेर में पड़कर छायावादी बनने के धुन में उक्ति को यों हेर-फेर कर दे—

"पुष्प का हृदय चीरकर भ्रमर ओस के मोती निकालता है, और गुलाब के लिए हार गूँथ-गूँथकर पहना रहा है," तो इस उक्ति में 'चीरने' और 'गूँथ-गूँथकर पहनाने' में जो "सजग प्रयत्न" का भाव आ गया है वह रस की तन्मयता के लिए घातक है। ऊहा से अत्यधिक काम लिया गया है। जो आनंद-विस्मरण भावविभोरता में होना चाहिये वह सजगता के उद्दीत हो जाने से नष्ट हो जाता है। शृंगार भाव विलीन होकर रसाभास हो जाता है। दूसरा रस उत्पन्न हो जाता है। छायावादी कवियों को, जो अलंकार की गूढ़ विवंधना के पोषक हैं, ऐसे दोष से बचना चाहिए।

प्रगतिवाद (८)

आजकल हिन्दी साहित्य में एक नया वाद सुनाई देता है। किसी उपयुक्त नाम के अभाव में उसे प्रगतिवाद कहते हैं। यह वाद संसार के और देशों में भी प्रचलित हुआ है। इस वादवाले साहित्य को वहाँ प्रोग्रेसिव लिट्रेचर कहते हैं। कदाचित् इसी का अनुवाद हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम से हुआ है।

प्रगति शब्द में 'प्र' उपसर्ग लगाने से गति में प्रकर्ष आ जाता है। इसका भाव अधिक गति सम्पन्न साहित्य से है। वास्तव में सभी साहित्य गति सम्पन्न होता है। वह अतीत से आगे बढ़ा होता है। साहित्य की शोभा प्रवाह पूर्णता ही होती है। वह बहते हुए निर्झर की भाँति पीढ़ी के साथ विचारों को लेता हुआ चलता चला

जाता है। यदि प्रवाह गुण किसी साहित्य में नहीं है तो वह समय के साथ पग मिलाकर नहीं चल सकता। वह नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में प्रगतिवाद का क्या विशेष अभिप्राय हो सकता है? यदि प्रगतिवाद से केवल यह अर्थ लिया जाय कि काव्य में भावों की नवीनता, विचारों की अद्वितीयता, उद्गारों की मौलिकता अथवा अभिव्यंजना की केवलता जिसमें उपमाओं, रूपकों और अलंकारों की समीचीनता हो तो भी सारा अच्छा सहित्य इसी प्रकार का होता है। फिर उसमें प्रगतिवाद की क्या विशेषता रहती है।

इस समय प्रगतिवाद एक रूढ़ि अर्थ में प्रयुक्त होता है। रूसी विचार-धारा संसार के सभी चिन्तनशील व्यक्तियों के सामने है। संसार की आर्थिक विषमता के कारण जो मानव मानव में इतना बड़ा भेद भाव खड़ा हो गया है उसके दूरीकरण का प्रश्न सब सोचते हैं। जर्मन तत्वदर्शी कार्लमार्क्स ने इसका हल सोचा है। अपनी पुस्तकों में बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से अपना मंतव्य भी प्रतिष्ठित किया है। उनके सिद्धांत को साम्यवाद कहते हैं। ईश्वर के नाम पर, पुण्य और पाप के नाम पर, नरक और स्वर्ग के नाम पर, तथा धर्म और अधर्म के नाम पर सांसारी लोग इस महान् विषमता को समझा देते हैं और इसके सहन करने की लाचारी व्यक्त करते हैं। ये इतरलोकीय विवशताएँ दलित को दलन करनेवाले के प्रति उठने नहीं देतीं। क्रांति की भावना सजग नहीं हो पाती। अतएव समाज का ढाँचा जैसे का तैसा शोषण शील बना रहता है। कार्लमार्क्स ने मानव की इस दुर्बलता को समझकर अपना हल सामने रखा। उसने ईश्वर की सत्ता, स्वर्ग नरक भेजनेवाले कर्मों का महत्त्व, स्वयं स्वर्ग और नरक की स्थिति, इनका विस्तार करनेवाले धर्म का इंद्रजाल यहाँ तक कि समस्त अगोचर परिस्थितियों का स्वीकार इन सभी को अवास्तविक कहकर असत्य ठहराया और परोक्ष रूप में शोषकों को सशक्त बनानेवाले षड्यन्त्र के रूप में सामने रखा। अतींद्रिय जगत् के भाव विभोर चित्रणों को व्यक्त जगत् की भ्रांतिपूर्ण प्रतिक्रिया कहकर समस्त देवोपासना को निज के मलिन रूप अथवा अहंकार की सदोष पूजा बतलाई। संसार का सारा हेतु भौतिक माना गया और केवल भौतिक योजनाओं और साधनों पर जोर दिया गया। आध्यात्म, ईश्वरपरायणता, अथवा परमार्थता को रूढ़ि परम्परा की अन्धी दौड़ कहकर ज्ञान-विहीन, तर्क-विहीन और बुद्धि-विहीन मूर्खों का सहारा समझाया गया।

यह नहीं कि भारतवर्ष के दार्शनिकों में ऐसी चेतना कभी सामने न आई हो। घोर भौतिकवादी नास्तिकों का यहाँ भी जोर चला था। कार्लमार्क्स के बहुत

पहले यह युग यहाँ आ चुका है। कार्लमार्क्स ने सृष्टि की उत्पत्ति का जो इतिहास दिया है और जो भौतिक प्रयोजन सिद्ध किया है उससे बहुत कुछ मिलता जुलता यहाँ भी कहा गया है। भारतवर्ष में ईश्वर कहे जानेवाले महान् शक्ति-तत्त्व के स्वरूप निरूपण में सूक्ष्मातिसूक्ष्म मीमांसा तो की गई है परंतु उसे जिस चिंतक दल ने बिलकुल अस्वीकार कर दिया है उसका आदर कभी नहीं हुआ। गीता में भी 'आसुरी' सृष्टि कहकर उनकी निन्दा की गई है। चारुवाक ऋषि अवश्य थे और बड़े भारी विचारक भी थे परंतु उनके मंतव्यों का सार्वभौमिक प्रचार कभी नहीं हुआ।

साम्यवाद का इतना प्रचार बढ़ा और चारुवाक को प्रगति न मिली इसके कई कारण हैं। घोर पार्थिव दृष्टिकोण दोनों का है परंतु चारुवाक का जीवन-सिद्धांत इंद्रिय परायणता, भौतिक भोग योजना, समाज चेतना की ओर से असजगता तथा निज सुख साधना थी। इन्होंने ईश्वर, धर्म, नरक और स्वर्ग को केवल इसलिये अस्वीकार किया कि वे भोग-विलास में आड़े आते थे। "पीत्वा पीत्वा पुन: पीत्वा यावद् पतति भूतले" अथवा "ऋणम् कृत्वा घृतं पिवेत" इत्यादि कथन जीवन यापन कला का उज्वल रूप सामने नहीं रखते। "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरा गमनो कुत:" का जो परिणाम भारतीय नास्तिकों ने निकाला वह कार्लमार्क्स से बिलकुल भिन्न था। साम्यवाद की सबसे बड़ी देन जीवन की समाजगत चेतना और सामाजिक नैतिकता थी। उनका उद्देश्य क्रांति द्वारा आर्थिक ढाँचा बदलने का था और धन और श्रम की समवितरण योजना थी। इसी की सिद्धि के लिए उन्होंने अदृश्य परिस्थितियों को बिलकुल अस्वीकार किया। चिंतकों में वैज्ञानिक विवेचन रीति की प्रतिष्ठा हुई। विश्व के आर्थिक असाम्य और उसकी शोषक और शोषण नीति नग्न रूप में सामने आ गई। इसी को क्रांति द्वारा बदलना था। क्रांति साधन बनी और साम्यवाद साध्य समझा गया।

साम्यवाद की अवतारणा के लिए सारे साधन जुटाए गये। साहित्य से भी वही काम लेने का प्रयास हुआ। दरिद्रता का विशद चित्रण, शोषकों का अन्यायपूर्ण व्यवहार, धर्म आध्यात्म के सड़े गले रूप इत्यादि इत्यादि न जाने कितने स्वरूपों पर कविताएँ बनीं और साहित्य रचा गया। लोगों में क्रांति का संदेश पहुँचाना और उन्हें भड़का कर क्रांति करा देना सभी के लिए साहित्य की योजना की गई। इस प्रकार के साहित्य को आज प्रगतिवादी साहित्य कहते हैं। प्रगतिवादी साहित्य साम्यवादियों का ही साहित्य नहीं रहा समवितरणवाद के सिद्धांत के माननेवाले समाजवादी इत्यादि वर्गों का भी साहित्य बना। यही नहीं; परम्परागत हिंदी में जिस प्रकार के साहित्य का

सृजन अभी तक हो रहा था उसकी भी प्रतिक्रिया हुई और नये रूप में जो साहित्य सामने आए उसे भी प्रगतिवादी अभिधान मिला। रहस्यवाद ने अलौकिक और अतींद्रिय जगत् के अस्पष्ट और अटपटे चित्रण सामने रक्खे थे। अब व्यक्त जगत् के पुष्ट इंद्रीगम्य स्वरूपों के स्पष्ट और सीधे-सीधे चित्रण लिखे जाने लगे। छायावाद की लाक्षणिक और दुरूह अभिव्यंजन प्रणाली के स्थान में वाच्यार्थवाली सुलझी शैली में कविता लिखी जाने लगी। स्थूल शृंगार वर्णन और रूप वर्णन की प्रतिक्रिया ने अरूप और अतींद्रिय परिस्थितियों को रहस्यवाद और छायावाद द्वारा उपस्थित किया जब उसकी प्रतिक्रिया हुई तो फिर विवरण और विम्ब वर्णन का रूप काव्य में आया, यद्यपि यह रीतिकाल के इंद्रिय परायण चित्रों से भिन्न था। काव्य ने विषयों की अनेकरूपता स्वीकार की। भावपूर्ण और अनुभूतिपूर्ण ममत्वमय मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन करनेवाले कवि हृदय प्रधान समझकर पिछड़ों में गिने जाने लगे और मस्तिष्क प्रधानता और बुद्धि प्रखरता को नवीनता और सभ्यता का अनिवार्य रूप समझकर कवि कर्म इसी ओर प्रवृत्त हुआ और चिंतना प्रधान काव्य सामने आने लगा। कभी-कभी तो यह नितांत गद्य रूप ही रहा यद्यपि प्रगतिवादी अपनी जिद से इसे कविता ही कहने का हठ करता रहा। उपमाओं और रूपकों का समस्त अलंकार विधान के बीच रीतिकाल के भोगवादियों का प्रयास एक परम्परागत रूप था। रहस्य वादियों और छायावादियों की अंतरमुखी टेव ने उसे छोड़ सा दिया और अभिव्यक्ति के स्वरूप ने एक दूसरे प्रकार का ही रूप ग्रहण किया। प्रगतिवादी युग में एक दूसरी ही प्रतिक्रिया हुई और बिलकुल नये दैनिक रूप व्यापारों का प्रयोग उपमाओं और रूपकों के रूप में सामने आया। इस प्रकार प्रगतिवाद साम्यवाद के सहारे सामने आया परंतु नितांत स्वतंत्र रूप में लिखा जाने लगा। परंतु प्रगतिवाद के संबंध में एक भ्रम है। कलाकार शब्दों की राष्ट्रीयता में और उनके परंपरागत विकास में तथा उनके संगीत तत्त्व में रमण करता है। उसका एक संसार बन जाता है जिसमें वह विचरता है। इस जगत् पर क्रमानुगत युग का भी प्रभाव पड़ता रहता है। रूप-व्यापार अतीत होते जाते हैं और युग के स्पंदनशील व्यक्तियों के असजग और अर्धसजग तल में पैठ जाते हैं। परंतु यह न भूलना चाहिए कि वातावरण में प्राणी को रमण करके आत्मसात करने के लिए भारी समय की अपेक्षा होती है। चाँदनी रात, बिखरे हुए तारे, प्रातःकालीन समीरण, ओस, वनस्थली, हरे वृक्ष ये सब हमारे इतने पुराने साथी हैं कि हमारे भाव जगत् में अच्छी तरह पैठ चुके हैं। ताजमहल और कुतुबमीनार भी अब पुराने पड़ चुके हैं। उन्हें भी पर्याप्त समय हो गया है। मानवों के रूप-व्यापार भी दाम्पत्य

रति, भाई का प्रेम, गुरु की आज्ञा, सौतेली माता का झगड़ा, राजा का दायित्व इत्यादि इत्यादि सब भीतरी तलों तक घुल-मिल गये हैं। हमने युगों से दरिद्रता भी देखी है और सुदामा-चरित में उसके चित्र भी देखे हैं—

सीस पगा न झगा तन में, प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँय उपानह की नहिं सामा॥
द्वारे खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

इसी प्रकार और देखिये—

कोदौं सँवा जुरतो भर पेट, तो चाहति ना दधि दूध मठौती।
सीत बितीतत जो सिसियात ही, हौं हठती पै तुम्हें न हठौती॥
जानती जो न हितू हरि सों, तो हौं काहे क द्वारका पेलि पठौती।
या घर ते न गयो कबहूँ पिय, टूट तवा अरु फूटि कठौती॥

इन गरीबी के चित्रों में शोषकों के मुँह नोच लेनेवाली क्रांति के दर्शन न होंगे। यह भावना बिलकुल आज की है। गरीबी का सौंदर्य, अतीत युग में, त्याग और तपस्या में था। उस मूल्य में लिपटा हुआ गरीबी का नकशा गुर्रानेवाला कैसे हो सकता था? अमीरी के साथ शोषण न था; कम से कम लोग समझते न थे।

भोज-प्रबंध के कवि की कोई गरीब गृहणी जब खोमचेवाले को लइया लइया कहते सुनती थी तो बड़े यत्नपूर्वक अपने लड़कों के कान बंद कर देती थी जिससे कहीं लइया खरीदने के लिए वे जिद न करने लगें। राजाओं और धनिकों के चित्र इसलिए नहीं खींचे गये कि कवि सरमायादारों के हाथ बिके हुए थे—संभव है कुछ कवियों के लिए वह ठीक भी हो—पर सम्राटों और योद्धाओं में कवियों ने महत् के दर्शन भी किये। वे उनके मन में गड़े और इसी लिए उन्होंने उनका गान गया। जो भक्त थे उन्होंने अपनी सुमन-माला भगवान के चरणों पर चढ़ाई। कहने का अभिप्राय यह है कि संसार के रूप-व्यापारों को साहित्य में उतार लाने के लिए पहिले कवि के हृदय में पहुँचना परम आवश्यक है।

हृदय तक वे रूप-व्यापार तभी पहुँचते हैं जब कि कलाकार को, उनके साथ रमण करने का पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। नवीन वैज्ञानिक वस्तुओं से अभी थोड़े समय से सभ्यता ने हमारा नाता जोड़ा है। अभी उनके साथ हमारे रागात्मक संबंध में गहराई नहीं आई। जिन वस्तुओं से संबंध अधिक दिनों का है उन पर यों ही बहुत कविताएँ लिखी गई हैं। ग्राम गीतों में रेल को पति का हरण करनेवाली सौत कहकर

संबोधित किया गया है। बिजली का पंखा, रेडियो, हवाई जहाज, तोप, बंदूक, फाउण्टेन पेन, आराम कुर्सी, टार्च, बिजली ये सब इतने नये साथी हैं कि इनके साथ अभी कोई सहजात राग नहीं उत्पन्न हो पाया है। फिर भी आज के साहित्य में उपमा, उदाहरण और रूपक में इनका प्रयोग आ ही जाता है।

कोई कह सकता है—"उसकी जीभ कतरनी की तरह चलती है।" "मिल के चिमनी के धुएँ की भाँति दीपक कालिमा उगल रहा था।" "स्वप्न में वह रेडियो के 'अनाउन्सर' की तरह क्षण-क्षण की अपनी गाथा सुनाता था।" "वह ऐसा स्तब्ध रह गया जैसे उसे करेंट मार गया हो" ऐसे प्रयोग हो सकते हैं और होते जायेंगे। पर प्रकृतिवादी प्रचारकों को उतावलेपन से काम न लेना चाहिए। बिना पचे हुए, ऐसे प्रयोग, चाहे उपमा के रूप में हों चाहे स्वतंत्र, कवित्वपूर्ण और सरस न होंगे। वे केवल तुकबंदियों में बाँधे जा सकते हैं। जिस सरलता से, तन्मयता के साथ चाँदनी पर, वट-वृक्ष पर, एकांत खड़े हुए नगाधिराज पर, सूखे ताल पर, फुदकते हुए हिरन पर, नटखट बच्चे पर, चंचल तरुणी पर, 'चूँचरर मरर' करनेवाली भैंसा गाड़ी पर, लोहार पर, बढ़ई पर, काले मजूर पर, बोझ से दबे हुए वृद्ध पर, झरे फूस की झोपड़ियों पर और इसी प्रकार परंपरा से संपर्क प्राप्त अन्य चित्रों पर कविता की जा सकती है, उतनी तन्मयता के साथ ग्रामोफोन, रेडियो, फाउण्टेनपेन या टार्च पर नहीं हो सकती। पुरोगामी कुछ भी कहें, आज्ञा से कविता नहीं बनती।

आजकल बहुत से कवि प्रगतिवादियों में अपना नाम लिखाने के लिए नये ढंग की कहलानेवाली रचनाएँ लिखा करते हैं। ख्यातिप्राप्त अच्छे कवियों ने भी यह भरती का काम किया है और इससे उनकी प्रतिष्ठा को धक्का भी पहुँचा है। कुछ उसी दल के समीक्षकों को भी यह धुन है कि वे चंदबरदाई से लेकर गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास में भी प्रगतिवाद ढूँढ़ते हैं अथवा उसका एक अपना रूप खड़ा करके उन महाकलाकारों में उसे दिखाते हैं। यह प्रयास अनावश्यक है।

पर्याप्त साथ रहने की जो बात रूप-व्यापारों के संबंध में कही गई है वही बात विचार-सिद्धांतों की भी है। हमारी विचार-परंपरा भी हमारे व्यक्तित्व के साथ मिलती-जुलती और पचती चली आ रही है। ईश्वरवाद, धर्मवाद, जातिवाद और न जाने कितने ही वाद हमारे व्यक्तित्व के साथ बहुत काल से घुल-मिल गये हैं। सरमायावाद अथवा शोषणवाद भी, संभव है, कि हमारे पुराने मित्र हों, पर हमें निश्चित रूप से मालूम नहीं। अब यदि समाजवाद या साम्यवाद भी घुलना-मिलना

चाहता है तो समय की प्रतीक्षा करनी होगी। इन सिद्धांतों को जब चिंतना अच्छी तरह से ग्रहण कर लेगी तभी वे भाव जगत् में अपने नाना तर्क-वितर्कों के साथ पैठेंगे और तभी घुलावट के चित्र निकल सकेंगे। मस्तिष्क यदि किसी विचार-तत्व को स्वीकार कर लेता है तो वह तुरंत ही हृदय का प्रत्यय नहीं बन जाता है। मस्तिष्क जब उसे स्वीकार करके सजग जगत से भुला देता है तब वह अर्द्ध सजग और असजग रूपों में पहुँचकर भाव रूप बनता है। अतएव समाजवाद और साम्यवाद को भी भावात्मक बनने के लिए काफी समय की प्रतीक्षा करनी होगी। तभी इन सिद्धांतों पर अच्छी और घुलावट वाली कविताएँ लिखी जा सकती हैं। अभी तो विधवा-विवाह, पातिव्रत-पालन, पिता और गुरु की आज्ञा-पालन, धर्म और भगवान् को दंडवत, इत्यादि विचारों ने ही हृदय को ग्रस रक्खा है। जिस साहित्य में वर्षों से "हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हाथ" चला आ रहा है और भाग्यवाद, लोकांतरवाद, स्वर्गवाद, नरकवाद, छायावाद, रहस्यवाद, बचाववाद और न जाने ऐसे कितने ही वाद चले आ रहे हैं उसमें सहसा उनके बिना उन्मूलन किये समाजवाद तथा साम्यवाद के दृढ़ विचारों की आशा करना व्यर्थ है।

यह बात भी भूलने की नहीं कि किसी विशेष वाद के निरूपण से अपनी शक्ति का व्यय करना कला की हत्या करना है। ऊपर भी कई स्थलों पर यह कहा गया है। कला पूर्ण, अखण्ड और समस्त है। सभी उसके अंग हैं पर सभी वादों से उसे दूर रखना चाहिए। किसी भी वाद की ओर कविता को घसीट ले जाना उसके ऊँचे उद्देश्य को कम करना है।

हिंदी गद्य-काव्य का रूप

गद्य गद्य है, काव्य काव्य है। न गद्य काव्य हो सकता है और न काव्य गद्य। फिर भी बिना छंद के सहारे काव्य गुणों को जब आलेख में समेटने की चेष्टा की जाती है, तो उसे गद्य-काव्य कहते हैं। न छंद हो और न और किसी प्रकार का वृत्त बंधन हो और फिर भी काव्य सदृश रमणीयता और सरसता हृदय पर प्रभाव डाले तो ऐसी गद्य पंक्तियों को हम गद्य-काव्य कहते हैं। फिर गद्य-काव्य की अपनी निजी विशेषताएँ हैं जिनकी चरचा आगे की जायगी।

यह सत्य है कि सच्चा कवि ही गद्य-काव्य लिख सकता है। छंदों से विरति अथवा उनके प्रयोग के प्रति श्लथ कवियों से गद्य-काव्य लिखा लेता है। वृत्तों के लक्षणों का ज्ञान और उनके अनुसार शब्दों की स्थापना करना और ढूँढ़-ढूँढ़कर तुक, यति तथा और प्रतिबंधों की चौकसी रखना असाधारण जागरूकता की उपेक्षा करता है। इसीलिए कवि कर्म गद्य-काव्य की ओर प्रवृत्त हुआ। इसके और भी कारण हैं।

परंतु यह स्पष्ट समझ लेना है कि गद्य-काव्य गद्य से भी भिन्न है और कविता से भी भिन्न है। एक अँगरेज साहित्य समीक्षक ने साहित्य के निर्माण के लिए मनुष्य में तीन तत्त्वों की स्थिति का उल्लेख किया है। राग तत्त्व, कल्पना तत्त्व और बुद्धि तत्त्व। बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से प्राणी में जो प्रतिकूलात्मक अनुकूलात्मक, विरागात्मक अनुरागात्मक, निवृत्यात्मक और प्रवृत्यात्मक, दुखात्मक और सुखात्मक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं वे आभ्यंतर में संग्रहीत होती रहती हैं। वे अनुभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं। प्रज्ञात्मक और भावात्मक। जिन अनुभूतियों का संबंध मनुष्य की चिंतन शक्ति बुद्धि शक्ति, विवेक और तर्क-वितर्क शक्ति से होता है वे प्रज्ञात्मक कहलाती हैं और जिनका संबंध उसके हृदयतत्त्व अथवा भावतत्त्व से होता है उन्हें भावात्मक कहते हैं। प्रज्ञात्मक अनुभूतियों के साथ सजगता, जागरूकता, विचारात्मकता और परिज्ञानात्मकता चिपकी रहती हैं और भावात्मक अनुभूतियों के साथ अंकज्ञान अस्पष्टता, तंद्रा, घुलावट और मस्ती मिली रहती है। अनुभूतियों के कोष का नाम 'मति' है। तादृश उत्पन्न परिस्थितियों से यह अनुभूति कोष प्रवाहित हो उठता है। जिस शक्ति द्वारा अतीत की अनुभूतियाँ एक-एक करके सामने आती हैं और उत्पन्न परिस्थिति को बल देती हैं उसे कल्पना कहते हैं। यदि सहेतुक और बुद्धि प्रधान लेख लिखा जा रहा है अथवा

भाषण दिया जा रहा है तो कल्पना तत्संबंधी प्रज्ञात्मक अनुभूतियों को एक-एक करके सामने खड़ा करेगी और यदि भावसंबंधी अभिव्यक्ति से काव्य साधना की जा रही है तो कल्पना रागात्मक अनुभूतियों को एक-एक करके उभार देगी।

काव्य के इन तत्त्वों पर आधारित समस्त साहित्य है। जिस आलेख में बुद्धि तत्त्व प्रधान होता है और बुद्धि की ही परिचालना और उसी की पृष्ठभूमि के भीतर चिंतना प्रधान कल्पना का प्रयोग होता है तथा रागतत्व नितांत अप्रधान रूप में केवल रूखापन बचाने के लिए प्रयुक्त होता है उसे गद्य-साहित्य कहते हैं। इसी प्रकार जिस आलेख में राग तत्त्व प्रधान होता है और भावात्मकता ही की परिचालना होती है तथा भावनाओं की ही पृष्ठभूमि के भीतर राग प्रधान कल्पना का प्रयोग होता है तथा बुद्धि तत्त्व नितांत अप्रधान रूप में केवल अनर्गलता और रुचिहीनता बचाने के लिए प्रयुक्त होता है उसे काव्य-साहित्य कहते हैं। गद्य और काव्य की बीच की एक स्थिति शेष रह जाती है। जिस आलेख में कल्पना तत्त्व प्रधान होता है और उसी की पृष्ठभूमि के भीतर राग तत्त्व सजता है और बुद्धि तत्त्व नितांत अपरिलक्षित रहता है उसे गद्य-काव्य कहते हैं। ऊपर बतलाया गया है कि कल्पना के दो रूप होते हैं। रागात्मक-कल्पना को प्रधान रूप में पकड़ने वाले गद्य-काव्य पूरी प्रकार से रसात्मक और भावना में डुबानेवाले होते हैं। प्रज्ञात्मक कल्पना को प्रधान रूप में स्वीकार करनेवाले गद्य-काव्य कार्यकारिणी सजगता के विकास में कौतूहल और जिज्ञासा को उद्दीप्त करते हैं। रसात्मकता की उद्दीप्ति उतनी नहीं होती।

गद्य-काव्यों में कल्पना के छोटे-बड़े चमकीले खण्ड सजे रहते हैं। उनमें कविता की भाँति डुबा देनेवाली भावुकता आवश्यक नहीं और न लय और संगीत की योजना आवश्यक है। नियमित शब्द-स्थापना द्वारा मात्राओं और वर्णों के विधान, जिन्हें छंद कहते हैं, उनका प्रयोग गद्य-काव्य में नहीं होता। नाद चमत्कार, शब्दोच्चारण अथवा वाक्य-विन्यास के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होता और वह भी अनिवार्य नहीं है। तक का सिलसिला यदि कहीं रहता भी है तो वह कौतूहल और उक्ति रमणीयता को सजग करने के लिये अथवा ऊहा के बढ़ाव में जिज्ञासा जगाए रखने के लिए न कि प्रतिपादनशील चिंतना अथवा सहेतुक बुद्धिमत्ता का पांडित्य प्रदर्शित करने के लिए। कविता में भाव रूप प्रवाह का वेग रहता है; गद्य-काव्य में कल्पनास्वरूप आलोक का प्रकाश छिटका रहता है। कविता में कथा का ताना-बाना मोटी भाव भूमि पर सजाया जाता है वहीं उसे चिंतना इतिवृत्त रूप देती है। गद्य-काव्य की कथा उसकी कल्पना का विस्तार है। वह कौतूहल, जिज्ञासा, आध्यात्मिक साधना, रहस्यवाद और न जाने कितनी भूमियों को

चमका सकता है। कविता भाव के सहारे किसी मंतव्य की ओर बढ़ती है। गद्य-काव्य किसी मंतव्य के सहारे कल्पना की ओर बढ़ता है। प्रकाश पर लिखे हुए लेखक के एक गद्य-काव्य को देखिये—

प्रकाश

प्रकाश अपवाद है, अंधकार सत्य है। 'प्रकाश हो' और 'प्रकाश हो गया' इसी का भाष्य तो वेदांती यों करेंगे—'माया हो, और माया हो गई।' नामात्मक भेद और स्वरूपात्मक पार्थक्य कब उत्पन्न होते हैं? इसी प्रकाश में। एक में अनेक भासित करने वाला कौन अभिशाप है? यही 'भासमान'। यही ज्ञान के नाम से पुकारा जाने वाला महान् अज्ञान। प्रकाश की रश्मियों में प्राणियों को भ्रम में डालने वाले पाश हैं। इंद्रियों को बहिर्मुखी करनेवाला, आभ्यंतर को बाह्य से उलझानेवाला यही प्रकाश है। आत्मा को परमात्मा से दूर करनेवाला, पुण्य के भेष में पाप कमानेवाला यही प्रकाश है। कभी यह नेत्र पर बैठकर किसी को घूरता है, कभी यह दाँतों पर बैठकर किसी पर आघात करता है। मनुहार की धवलता में भी यही मिला है और निर्जल बादल के टुकड़ों को यही इधर-उधर शून्य में घुमाता है।

इसी प्रकार लेखक के एक दूसरे गद्य-काव्य खंड को देखिए—

अंधकार

तुम प्रकाश के लिए तरसने का अभिशाप हो। तुम विधाता के स्थूल फुफ्फुस की गह्वर साँस हो। विश्वात्मा तुम्हारा ही छत्र धारण करके विचरण करता है। विराट का निराकारी आकार भी तो तुम्हीं हो। ब्रह्मवादियों का 'अनिर्वचनीय' और वेदांतियों की 'माया' तुम्हारे ही दूसरे अभिधान हैं। सृष्टि के महाप्रलय की परिस्थिति! महाशून्य का उजड़ापन! विश्व के तुम सबसे बड़े धोखे हो।

रजनी-वधू के घूँघरों को भी रात को तुम्हीं सजाते हो। सृष्टि के आरंभ से विश्व के बड़े-बड़े प्रकाश-पिंड तुम्हारे साथ छुई-छुऔव्वल खेल रहे हैं, परंतु आज तक किसी ने तुम्हारे छुई-मुई आकार के अंचल तक को छू नहीं पाया। सबसे बड़ा प्रखर-प्रभा-पिंड तो तुम्हारा अनन्य प्रेमी है। परंतु उसके भाल पर संयोग की रेखा ही नहीं पड़ी। वह बिना देखे ही प्रत्येक प्रातः और सायं तुम्हारे चरणों में जावक बिखेर कर चलता बनता है। परंतु तुम रमणी थोड़े ही हो। तुम न जाने क्या हो और कहाँ हो।

प्रकाश और अंधकार में वही अंतर है जो बूढ़े के धवल केश और तरुण के इठलाते हुए काले घुँघराले कुंतलों में। माना कि दूध की भाँति धोई आँखें अपनी

ओर बुलाती हैं, परंतु देखना काली पुतली ही को आता है। इस काले पर सफेदी की जबरदस्ती, आँखों के आँखपने को ही नष्ट कर देती है। और फिर काली पुतली पर सफेद परिधि क्यों खिलती है, क्योंकि उसके चारों ओर काजल की मोटी सीमा है। प्रकाश अंधकार का बंदी है।

नीलम की दमक में भी अंधकार ने उजाले को कैद कर रक्खा है। कैदी काले मोटे घूँघट के भीतर से झाँकता है परंतु निकल नहीं भागता। उजाला जब बदला लेने का प्रयास करता है तो केवल अपच की आशंका से ही दीपक उगल-उगल कर अंधकार से अपना मत्था काला कर लेता है।

ढोल बहुत बोलता है, परंतु पोल में छिपे अंधकार के कारण। असीम को ससीम से छिपाने के लिए उसकी पोली चादर भी तो तुम्हीं हो। सृष्टा के ऊपर अनंत काल की लगी हुई काली मुहर भी तो तुम्हीं को लोग कहते हैं। ऐ दैवी चितेरे के उर्वरा धरातलवाला कृष्ण-पाटव! ऐ विधना की लिपी हुई 'नकार' की स्याही! ऐ समस्त की लेखनी की नोक से टपककर फैला हुआ मसिबिंदु! तुम हम सबके लिए एक उलझी-सुलझी पहेली हो।

विष्णु की सलोनी आभा का पानी! राम और कृष्ण के कंधों पर उतरकर विश्व को सुंदरता की दीक्षा तुम्हीं तो देने आये थे। जहाँ एक ओर ब्रह्म के पद-रज धोकर ब्रह्मा ने अपना एक कमण्डल सजाया वहाँ दूसरी ओर पद-नखाग्र धोकर दूसरा भी कमण्डल सुसज्जित किया था। भागीरथी और कालिंदी गौरी शंकर पर साथ ही उँडेली गईं। प्रयाग आज भी अंधकार के महान् त्याग का आदर्श युगों को चीरता हुआ उपस्थित किये है। भूरी-भूरी आँखों की कहानी भी प्रकाश और अँधेरे के सोहाग और अँधेरे के बलिदान की गाथा ही है।

विश्व के विश्वत्व के नाते पाप का प्रतिरूप बनकर तुम पुण्य की चुनौती भी हो। तुम अच्छाई की सूखी आह हो और बुराई का अधिकार! उपासना की पहली सीढ़ी और समाधि का पहला बिंदु भी तुम्हीं हो। वास्तव में तुम उजाले की चाँद पर काले बालों का गुच्छा हो।

बिना शरीर के सर्व व्याप्त, कामदेव के सहचर, भगवान् के बड़े भाई अंधकार तुम्हें बार-बार प्रणाम है।

इन्हीं पंक्तियों के लेखक का एक आध्यात्मिक निर्वेद की कल्पना सामने रखने-वाला गद्य-काव्य देखिए—

'पतित कौन न बने ?'

का मुख लै बिनती करौं,
लाज आवति मोंहि ।
तुम देखत औगुन करौं,
कैसे भावहुँ तोहि ॥

छुद-भंग न ढूँढ़िए । भाषा की अशुद्धता पर ध्यान न दीजिए । कला न देखिए, चमत्कार के लिए व्यर्थ प्रयास न कीजिए । यह एक पतित की उक्ति है । इसमें पश्चाताप की ब्रीड़ा है; सत्यता का परिमल है; धर्म का ज्ञान है और पाप कर्म की क्षमता है । 'उसकी' देख में सारे कुकर्म करता है और शाम को उसी के समक्ष पापों से मुक्ति पाने के लिए विनती करता है । हाँ, नमाज पढ़ता है और गिरजे में प्रार्थना करता है । शाम और प्रातःकाल नाक दबाकर संध्या भी तो करता है ।

परंतु हाँ, हमारा पतित औरों से भला है । वह केवल देखावा नहीं करता । वह हृदय से विनती करता है । तभी तो मानता है कि वह पापी है । वह शर्माता नहीं, लज्जा नहीं करता । वह तो अपने देवता से भी कह देता है कि मैं तुम्हें मुँह नहीं दिखा सकता । तुम सर्वज्ञ हो । फिर भी लुक-छिपकर मैं पाप कर लिया करता हूँ और झूठ बोलकर कह भी दिया करता हूँ कि मैंने ऐसा नहीं किया । फिर तुम मुझे कैसे पसंद करोगे ? दिन रात पाप । दिन रात तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन । मैं बहुत चाहता हूँ कि बुराई न करूँ परंतु वह हो ही जाती है । मुझे ज्ञान भी है परंतु मैं ज्ञानी नहीं । भले-बुरे की पहिचान है परंतु अनुकरण नहीं । सुकरात ने लिखा है, ज्ञान शुभ कर्म प्रधान होता है । परंतु मुझमें वह ज्ञान भी नहीं । पवित्र व्यवहार में मैं शून्य हूँ । जानता हूँ सो करता नहीं और करता हूँ सो जानता नहीं ।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानामि कर्मं न च मे निवृत्तिः

फिर क्या करूँ सिर दे मारूँ । शरीर पर से मेरा बस उठ गया है । वह अनायास पाप की ओर दौड़ता है । एक भी नहीं सुनता । मुझसे तो रावण ही अच्छा था जिसने अपनी अकर्मण्यता ताड़कर पाप को न निकाल सकने के कारण पापी को ही समाप्त कर दिया ।

सुर रञ्जन भञ्जन महि भारा,
जो जगदीस लीन्ह अवतारा।
तो मैं जाइ बैर हठ करिहौं,
प्रभु सर ते भवसागर तरिहौं।
होहि भजन नहिं तामस देहा,
मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा।

अंतिम पंक्ति ठीक बैठी परंतु क्या किया जाय। न हैं 'प्रभु' और न उनके 'सर' यदि हिम्मत भी की जाय तो काम कैसे निस्तरे।

हाँ, तो रेल और इंजन के नीचे कट जाय तो भी वही बात। न सही 'सर' प्रभु को चुनौती देनेवाले बातुल वैज्ञानिकों के बनाये हुए यंत्र तो हैं। इन्हीं में जीवनोत्सर्ग करके भवसागर में कुछ दूर तो आगे ढकेला ही जा सकेगा। परंतु क्यों, कहीं दूर ? मनुष्य तो भगवान् की ठीक प्रतिकृति है। और गोस्वामीजी ने तो यहाँ तक कह दिया—

'राम ते अधिक राम कर दासा'

फिर क्यों देर की जाय। परंतु नहीं कोई कहता है कि आत्म-हत्यारे के लिए कुंभी-पाक और रौरव से भी कड़ी यातनाएँ हैं। सो क्यों, यह तो शासनकार जाने; परंतु अपने राम की समझ में यही आता है कि पापियों का हमारा दल नरक जाता है। वह तो स्वर्ग से कोसों दूर है। पापियों के स्वास की धधक तक भी नंदन वन नहीं पहुँच सकती। कदाचित् हमारे देवता को यह भय हो कि यदि सब पापी एक ही स्थान पर एकत्रित हो जायँ तो कहीं उनकी सेना न बन जाय, संगठन न हो जाय। कहीं स्वर्ग पर धावा न हो जाय।

परंतु हमारे देव ऐसे स्वार्थी नहीं। वे गज को उबारने के लिए नंगे पैर दौड़े। द्रौपदी की लज्जा-रक्षा के लिए जड़ वस्तु बन गये। कोई यदि देवता से पूछे कि हाथी पापी था इसीलिए तो आपत्तियाँ आईं। यदि ऐसी बात थी तो उसके शरीर का क्या मूल्य ? समाप्त करते इस मोम के मकान को, फोड़ देते इस मिट्टी के भाँड़े को, क्यों शत्रुता की ग्राह से ? अरे एक बार मेरे देव बतलाइए, हम पापी तेरी कौन विभूति हैं जो तू हमारी रक्षा करता है, हमें बचाता है ? हमारी सृष्टि से तेरा क्या लाभ ? हमने कब अर्जी भेजी कि पतितों की सृष्टि बनाइए ?

हम कब कहा कि हमका सिरजौ,
सिरजेउ तोरि बड़ाई आय !
सच पूछो, इंसाफ के रू तें ।
बंदे तलक खोदाई आय ।।

तूने हमें पैदा करके अपनी ही 'वाह-वाह' कराई । हम तो यह कहेंगे कि तेरी 'थू' 'थू' हो रही है । हाँ, तुझे तो अपनी खुदाई से मतलब, मैंने भी ताड़ लिया है।

तुम काले रंग की आड़ में सफेदी से चकाचौंध करना चाहते हो । तभी तो पापी से बहुत बहलावे की बातें किया करते हो, उन्हें मरने न दोगे और न पाप छोड़ने दोगे? सुग्रीव और विभीषण की इतनी प्रशंसा की परंतु उनसे पापकर्म को न छुड़ाया, युधिष्ठिर से झूठ बुलवाया, जलंदर की स्त्री का सतीत्व लूटा और फिर भी अच्युत! क्या ये काले धब्बे इसी लिए डाले हैं कि सफेदी में चमक आ जाय? पीतांबर को चमकने के लिए ही क्या कलूटा विग्रह सिरजा गया है? ललाट की दमक के लिए ही क्या काजल का ढिठौना है? चंद्रमा की धवलता के अर्थ समझाने के लिए ही क्या श्यामल कलंक है?

अच्छा तो देवता बतलाओ क्या हम लोग तेरे लिए अनिवार्य हैं? तो क्यों तू हमारी कालिमा धुलवाता है? क्या तू चाहता कुछ है और करता कुछ और है?

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।

इस युक्ति में तू पापियों को उठाने के लिए हाथ बढ़ाता है कि उन्हें पाप-पंक में ढकेलना चाहता है! तेरी बातें तू ही समझे।

हम पापी तो जिधर देखते हैं तेरा उदाहरण है । एक ओर यदि हम तुझे यह कहते सुनते हैं कि "जिन सपनेहु पर नारि न हेरी" तो दूसरी ओर परकीया राधिका के लिए भक्त प्रवर सूरदास क्या कहते हैं—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार गोहन पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।

एक स्थान पर यदि तू शिशुपाल की सौ गालियाँ तक सुन लेता है तो दूसरी ओर जयंत पर इतना क्रुद्ध हो जाता है कि तेरा 'बिन फर सायक' उसके पीछे-पीछे तीनों लोकों में उसे खदेड़ता फिरता है । कहीं पर त्याग की पराकाष्ठा दिखाते हुए—

'राजिव लोचन राम चले
तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं ।'

तो दूसरी ओर लक्ष्मी पाने के लोभ से मोहनीस्वरूप धारण कर देव-दानव युद्ध कराते देखते हैं। एक ओर असाधारण निर्मोही बनकर आप अपनी प्रेयसी तक को त्याग देते हैं तो दूसरी ओर मोह में फँसकर लक्ष्मण के लिए विलाप करते हैं। मद के अभाव में एक स्थान पर तो हम अपने देवता को ऋषियों और ब्राह्मणों के पैर छूते देखते हैं तो दूसरी ओर गीता में उनके गर्जन का जो घोष सुनाई देता है जिसके अनुसार विश्व की सभी विभूतियों में सबसे ऊँचे स्थान पर बैठा पाते हैं। यह मियाँ मिठ्ठूपन नहीं तो क्या? मीठे लड्डुओं के बीच का कड़ुआपन झूठा निकलता है। ऐ मेरे देवता मुझे तो ऐसा ही लड्डू पसंद है। अपनी जबान को क्या करूँ? तुम्हारे गुण तुम्हारी कमजोरियाँ हैं। यदि काली और सफेद सृष्टि के दो पूरकस्वरूप हैं, यदि सुख-दुःख, पाप और पुण्य अखंड सत्ता की दो वेगवती धाराएँ हैं जो आगे चलकर तुममें मिल जाती हैं, यदि पतित उतना ही आवश्यक है जितना पावन तो पतित कौन न बनेगा!

हिंदी गद्यकाव्य के अन्यतम लेखक पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की कल्पना देखिये—

मुरलीधर

'क्या तुम संगीत हो?'

तुम मेरे संगीत नहीं हो। आलापों की तरह तुम मेरी मर्जी पर लौटते कहाँ हो! माना कि तुम्हारी कृपा के बादल बेइख्तियार बरस पड़ते हैं। परंतु उस समय तुम मेरी मलार नहीं बने होते।

—'तब क्या तुम मेरे मृदंग हो?'

हाँ, तुम मेरे प्रहार सह लेते हो; किंतु मेरे बंधनों में जकड़े जाने के लिये कब तैयार होते हो? मीठे बोलते हो; परंतु मुँह पर आटा लगाने की रिश्वत उस मधुराई के बदले तुम्हें कब देनी होती है? और 'सब कुछ' मेरे, मैं तुम्हारी वाणी पर यह इलजाम कैसे रख सकता हूँ कि तुम बाहर बोल रहे हो; किंतु अंतःकरण रहित हो? क्या तुम्हारी वाणी पर थोथेपन का आरोप कर सकता हूँ?

'आह! तब तुम वीणा हो; नारद के नाद-ब्रह्म से विश्व झंकृत कर देनेवाली।'

परंतु वीणा तो मेरी गोद में रहती है; तुम कहाँ यह शर्त स्वीकार करते हो? माना, झनकारते ही वीणा स्वर देती है, मनुहारते ही तुम दौड़ आते हो; किंतु मेरे स्वर पर सदा ही तो तुम्हारे तार नहीं मिलते। स्वर से स्वर न मिलने पर, स्वरलहरी से

विश्व भर देनेवाली वीणा को गोद में लेकर, और हृदय से लगाकर भी, मुझे उसके कान ऐंठने पड़ते हैं। पर, हाय ! तुम तो मेरे कानों को वीणा बनाने के लिए घूमते हो।

—'तब मधुर मुरली के सिवा तुम और क्या हो ?'

पर अपने ओंठ पर तुम्हारे मुँह को रख कर अपनी वेदनाओं और उल्लासों की गूँज कहाँ मचा सकता हूँ ? तुममें छिद्र कहाँ हैं ? और उन पर मैं अपनी उँगलियाँ कहाँ रख सकता हूँ ?

आह जाना, तुम न संगीत हो, न मृदंग हो, न वीणा हो, न मुरली हो,—

'तुम तो मुरलीधर हो।'

यह देखिये हिंदी के प्रसिद्ध गद्य-काव्य लेखक रायकृष्णदास नीचे के गद्य-खंड में अन्योक्ति प्रधान काल्पनिक निबंधना में कितना मधुर संकेत करते हैं—

क्रय-विक्रय

जिन मणियों को मैंने बड़े प्रेम से कृत्याकृत्य, सभी कुछ करके संग्रह किया था उनको उन्होंने मोल चाहा। यदि दूसरे ने ऐसा प्रस्ताव किया होता तो मेरे क्षोभ का ठिकाना न रहता। अपने शौक की चीज बेचनी ! कैसी उलटी बात है। पर जाने क्यों उस प्रस्ताव को मैंने आदेश की भाँति अवाक् होकर शिरोधार्य्य किया।

मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा पर उन्हें देखते ही उनके सौंदर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा।

अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई।

उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला करोगे ? मैंने अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्वपूर्वक कहा—अजी यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं। मैंने दूसरी मणि उनके आगे रक्खी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिये। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा ? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो तब पूरा हो।

मैंने सहर्ष आत्म-अर्पण किया। तब वे खिलखिलाकर आनंद से बोल उठे—मुझे मोल लेने चले थे न ?

मैं गद्‌गद् हो उठा। आज परम मंगल हुआ; जिसे मैं अपनाना चाहता था उसने स्वयं अपना लिया।

गद्य में पद्य लिखनेवाले गद्य-काव्य के अद्वितीय लेखक श्री वियोगी हरि का मनोराज्य देखिए—

मनोराज्य

देखो, मौज ही तो राज्य है। जिनके मन में मौज है, वही राजा है। मन चंगा तो कठौती में गंगा, उदयाचल से लेकर अस्ताचल-पर्यंत प्रभुता पाकर भी जो संतोषी और शांत नहीं; भला वह राजा कहा जा सकता है? जिसका चंचल चित्त तृष्णा-तरंगिणी में गोते लगा रहा है, जो मिथ्याभिमान के पीछे लोलुप कुत्ते की नाईं दौड़ रहा है, उसकी अतुल सम्पत्ति, सम्पत्ति नहीं, उसका समस्त सुख, सुख नहीं; उसका आसमुद्रांत राज्य, राज्य नहीं। जो मन का दास है, वह जहान का ग़ुलाम है और जो मन का शासक है, वह दुनियाँ का शाहंशाह है। स्थितप्रज्ञ महापुरुष किस सम्राट् से कम है? विषयी और लोलुप सम्राटों की, दरिद्र बादशाहों की, उन बे-फ़िक्र मस्त फकीरों के साथ तुलना करनी ही मूर्खता है। सम्राटों की मुकुट-मणियाँ तो उन आत्माराम महात्माओं के पादपीठ पर सदा ही झिलमिलाया करती हैं। वे ही स्वर्गराज्य के युवराज; परमानंद के पूर्णाधिकारी हैं।

मनोराज्य सदा सर्वथा स्वतंत्र है। यहाँ की व्यवस्था, यहाँ का कानून, यहाँ का प्रबंध अपूर्व, अद्‌भुत और अनुपम है। यहाँ की प्रजा ईति-भीति से दुःखी नहीं रहती। इसे कोई जीत नहीं सकता। यह राज्य भक्ति-विभोर महात्माओं को छोड़ और किसे मिला है? जो इस राज्य में पैर रखता है, उसकी दृष्टि में संसार के समस्त रस नीरस हो जाते हैं। उसे कुबेर भी रंक जचता है। वह दीन-दुनियाँ दोनों की परवाह न कर पागल की तरह मस्त घूमा करता है। कभी हँसता है तो कभी रोता है, कभी दौड़ता है तो कभी नाचता है। बकता है अंट-संट, पर समझता है कि बड़े-बड़े फिलासफरों (दार्शनिकों) के भी कान काट रहा हूँ।

इस लेख को उदाहरणों से भर देने का मंतव्य लेखक का नहीं है। हिंदी में एक से एक अच्छे गद्य-काव्य लेखक आज दिखाई पड़ते हैं। परंतु पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने जिस परिपाटी को चलाया है वह अद्वितीय है। उनका 'साहित्य देवता' अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। उसमें छोटे-बड़े बहुत-से गद्य-काव्य मिलेंगे। रायकृष्णदासजी के गद्य-काव्य अन्योक्तिमय हैं। उनमें रागतत्त्व का अभाव और बुद्धितत्त्व का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। वियोगी हरि गद्य-पद्यमय हैं। उनका गद्य-काव्य केवल गद्य भाग में मिलता है और जिस कल्पना परिपाटी का उसमें सूत्र उठाया जाता है उसे आगे

बढ़ाने के लिए कविताओं को स्थान-स्थान पर सजाकर बल दिया जाता है। बड़ी मस्ती और मार्मिकता के साथ कल्पना दौड़ती चली जाती है। इस स्थान पर और गद्य-काव्य-कारों की चरचा इसलिए नहीं की जाती है कि वह इस लेख का विषय नहीं। केवल जो उदाहरण सामने मिल गये समझाने के लिए उनका प्रयोग कर लिया गया है।

प्रत्येक सुंदर गद्य प्रबंध में बहुत सी ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जिनमें काव्य की सरसता और काल्पनिकता प्रचुर मात्रा में मिल सकती है। परंतु उन पंक्तियों के कारण वह गद्य प्रबंध गद्य-काव्य नहीं कहा जा सकता। गद्य-काव्य साहित्य का समूचा अलग रूप है। वह कहानी, प्रबंध, नाटक अथवा कविता इत्यादि साहित्य के भीतर नहीं रहता वह सबसे प्रथक और स्वतंत्र रहता है। आलेख के पूरेपन में उसके तत्त्व परिव्याप्त रहते हैं। उसकी परिभाषा के स्वरूप का ऊपर उल्लेख किया गया है। अतुकांत कविता अंत्यनुप्रास विधान रचना, अथवा गीत, गद्य-काव्य नहीं हैं।

संस्कृत साहित्य में बाण और दण्डी के गद्य-काव्य अत्यंत अलंकारिक और साहित्य-प्रधान थे। हिंदी के आरंभ में के कुछ प्रबंध लेखकों ने उनके अनुसार अपना गद्य लिखा। परंतु यह परिपाटी अधिक न चली। संस्कृत की रूप योजना और साहित्य योजना हिंदी में जैसी की तैसी उतारी नहीं जा सकती थी अतएव इस दिशा का प्रयास उपहास्यास्पद ही रहा। गद्य-काव्यों का विषय, अधिकतर, आध्यात्मिक अथवा धार्मिक समझा गया और बंगाल से स्वर्गीय रवींद्रनाथ ठाकुर की चली हुई परम्परा ने हिंदी में अपना स्वतंत्र रूप स्थिर किया। इसका बहुत चलन रहा और अब भी है। प्रगतिवादी धारा ने इसके विकास को मंद कर दिया है। फिर गद्य-काव्य मनोरंजन के साधन के रूप में सामने आये और उनमें कल्पना ही प्रधान हुई। अभिव्यक्ति में कौतूहल और चमत्कार की साधना के लिए चतुर गद्य-काव्यकारों ने व्यंग को अनेक स्वरूपों में ग्रहण किया। इसके कारण कल्पना का आकर्षण और बढ़ गया और पाठकों की अभिरुचि में चारुतापूर्ण विस्तार हुआ। अलग-अलग चमकीले अभिव्यक्ति खंड किसी काल्पनिक साधना के महीन तंतु में बंधकर समवेत रूप में और प्रथक-प्रथक भी ऊँचा गद्य-काव्य रचकर सामने रख देते हैं। आज गद्य-काव्य की यही रूप-रेखा है।

नाटक

आगे कहीं लिखा है कि काव्य का श्रव्य और दृश्य में विभाजन तात्त्विक नहीं है। साहित्य के जिस प्रकार अनेक भेद हैं उसी प्रकार नाटक भी एक भेद है। साहित्य के अंगों की समीक्षा करते समय समीक्षक एक ओर उसकी आकारबोधिनी विशेषताओं की मीमांसा करता है और दूसरी ओर साहित्य के प्रतिष्ठित स्वरूप के महत्त्व को दर्शाता है। आकारबोधिनी सीमाओं की विशेषताएँ उतनी पुष्ट, चिरंतन और सार्वभौमिक नहीं होतीं जितनी साहित्य की मूल प्रतिमा होती है। देश, काल और परिस्थिति इन पर प्रभाव डालती हैं और कलाकार अपने बल पर इन विशेषताओं को बनाता-बिगाड़ता रहता है। परंतु साहित्य की मान्यताओं में कोई विशेष अंतर नहीं होता। उनमें अधिकतर सर्वजनीन, सर्वकालीन और सर्वदेशीय गुण होते हैं। अपने साहित्य देवता की प्रतिष्ठा के लिए साहित्यकार किसी भी आकार को चुन सकता है अथवा किसी भी आकार को अपनी प्रतिभा से जगमगा सकता है।

वह चाहे महाकाव्य लिखे चाहे खण्डकाव्य, वह गीत लिखे अथवा मुक्तक, वह कथा लिखे अथवा कहानी, वह एकांकी नाटक लिखे अथवा अनेकांकी, वह गद्य काव्य लिखे अथवा चम्पू, वह समासोक्ति में लिखे अथवा अन्योक्ति में अपनी बात कहे, वह किसी रूप और किसी ढंग का प्रयोग करे उसकी सफलता का अधिक महत्त्व साहित्य के उदात्त स्वरूप की प्रतिष्ठा पर है आकार की रूढ़ियों पर नहीं है। कलाकार साहित्य के नितांत नये अंग की सृष्टि भी कर सकता है। प्रतिभा प्रचलित आकारों का निर्वाचन करती है, उनका स्वरूप स्थिर करती है, उनमें पिछड़ापन दिखाकर विशेषताओं में हेर-फेर का अवसर प्रदान करती है और नितांत नये आकार की उत्पत्ति भी करती है। परंतु साहित्य तत्त्व से प्रतिभा अभिन्न है। साहित्य प्राण और आत्मा है आकार शरीर और परिधान है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि आकारबोधिनी विशेषताओं का मूल्य साहित्य के मूल्य को नहीं पा सकता। बस, इसी सिद्धांत को सामने रखकर साहित्य के किसी भी अंग की व्याख्या करनी चाहिए।

नाटक और रंगमंच

नाटकों का रंगमंच का संबंध आकार का संबंध है वाह्य संबंध नहीं है। यह सत्य है कि नाटकों के निर्माण के मूल में रंगमंच ही रहा है। साहित्य के इस अंग की सृष्टि

की प्रेरणा में मानव को कथा सुनने के स्थान में कथा देखने की साध ही थी। परंतु आज नाटक, साहित्य का एक बलवान् और स्वतंत्र अंग है। रंगमंच के फेरफार के साथ नाटकों के निर्माण और रूप-रेखा में बहुत काल तक परिवर्तन होता रहा है और आज भी जिन देशों में रंगमंच के पीछे ही नाटक रचे जाते हैं वहाँ उनकी रूढ़ियों से नाटक निकल नहीं पाया है। पर यह बात सर्वत्र नहीं है। मनोरंजन के अब और अनेक साधन हैं। अतएव अब नाटक भी केवल मनोरंजन का साधन न होकर मनोमन्थन का साधन बन रहा है। पुराने प्रकार का रंगमंच अब नहीं रहा है। आज-कल तो वाणीवाले चल-चित्रों का सर्वत्र प्रचार है। पुरानी थेटर कम्पनियाँ लुप्त होती जा रही हैं। इन वाक्चित्रों का रंगमंच समस्त विश्व है और उससे आगे भी कल्पना का मनोराज्य। न जाने कहाँ का कौन खण्ड किस समय सामने आ जाय। अब नाटक का रंगमंच के योग्य और अयोग्य का प्रश्न ही क्या रहा? कौन नहीं जानता कि दो पास-पास के दृश्यों को सामने रखने में कितने बड़े समय और स्थान की व्यवस्था आज के चित्र प्रणेता के पास रहती है। फिर यह आपत्ति कितनी निरर्थक है कि अमुक नाटक इसलिए असफल है कि उसके दो पास-पास के दृश्यों में एक ही पात्र आ जाता है। उसे नाटकीय परिच्छद परिवर्तन करने का समय नहीं दिया गया। ये आपत्तियाँ रानी ऐलीजबेथ के युग में अथवा भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में अपना महत्त्व रखती थीं। आज तो जो नाटककार ऐसे प्रतिरोधों की धमक पग-पग पर अनुभव करेगा उसकी लेखनी को आकारबोधिनी रूढ़ियों का भय आगे बढ़ने नहीं देगा। वह कुछ लिख ही नहीं सकता।

आज के नाटककार अधिकतर रंगमंच के लिए लिखते ही नहीं। हाँ, जो रंगमंच के लिए लिखते हैं वे पैसा पैदा करने के लिए लिखते हैं। वे साहित्य सृष्टा नहीं। जिसका इस फिल्मी जगत् का थोड़ा सा भी अनुभव है वह भली प्रकार जानता है कि कथा कहाँ से ली जाती है, उसमें न जाने कितने और कथानक मिलाये जाते हैं, कथोपकथन कौन लिखता है, संगीत एक और ही कलाकार बनाता है, गानों को सीनमा रागों में ढालने का काम कोई और करता है, शूटिंग कहीं और होती है और स्टूडियो कहीं और है। इन सबको एक वातावरण में व्यवस्थित करने का काम रंगमंच व्यवस्थापक करता है। इतने व्यक्तियों के सहयोग से जो कला निर्मित होती है, जो नाटक सामने आता है उसमें साहित्य का मूल्य ढूँढना विचित्र निकेतन में गोस्वामी तुलसीदास के ढूँढने की भाँति व्यर्थ है। कला व्यक्ति की निजी अभिव्यक्ति होती है। साहित्य में सृष्टा की केवलता की मुहर होती है। प्रत्येक कृति में कृतिकार के आभ्यंतर की प्रतिमा

सजाई जाती है। आदर्श, व्यवस्था, विधान तथा लोक जिसकी रचना कलाकार करता है वह पहले उसके भीतर बनता है। उसके बनने में सारे संसार का सहयोग हो सकता है परंतु लेखनी द्वारा उसके बनाने में किसी दूसरे का साझा नहीं होता। वह तो साहित्यकार की अद्वैत साधना का फल होता है। कला न वानरी वृत्ति का प्रतिरूप है और न वर्णसंकरी संतान है। फिर जो नाटककार रंगमंच का मुँह ताक कर अपनी रचना करते हैं अथवा जो अभिनेय नाटकों को साहित्यक समझते हैं दोनों शुद्ध भ्रम में हैं।

कथोपकथन

नाटक का प्रमुख अंग उसका कथोपकथन है। उसके संबंध में अँगरेजी समालोचकों ने पर्याप्त विवेचन किया है। उनका कहना है कि कथोपकथन की कोई परिपाटी नहीं बाँधी जा सकती। कथा में जिस प्रकार के संवाद अच्छे लगते हैं नाटक में वे अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं। कथाओं के संवाद में साहित्यिकता होती है पर रंगमंच-वाले अभिनय बोल-चाल को अधिक पकड़ने की चेष्टा करते हैं। पुस्तकी भाषा वास्तव में बोली नहीं होती परंतु इन अभिनय रूपकों में भी साहित्य के आभास में ही बाजारू बोली रक्खी जाती है। घर के प्रकोष्ठ का संलाप, मार्ग के यात्रियों का कथोपकथन, इधर-उधर के अनर्गल प्रलाप जैसे के तैसे अभिनय में नहीं रक्खे जा सकते। बाहर हम देखते हैं कि बहुत सा कहा जाता है और बहुत बे-कहे समझ लिया जाता है। उसमें कोई क्रम नहीं होता। बीच-बीच में विचार भी उखड़ जाते हैं। दो मित्र कहते कुछ और समझते कुछ और हैं। कहीं कहीं केवल एक शब्द में न जाने कितना भाव व्यक्त हो जाता है। परंतु यह सब रंगमंच के रूपकों के लिए संभव नहीं। वहाँ तो एक तीसरा व्यक्ति भी होता है जिसका संबंध उस संवाद से है। वह है अभिनय का दर्शक। उसे भुलाकर कोई भी नाटकीय कथोपकथन सफल नहीं हो सकता। बिना पूरा पूरा समझाये किसी भी विचार या भाव तक वे पहुँच न सकेंगे और अभिनय में आनंद न ले सकेंगे।

ऊपर यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि अभिनय के लिए रचे जानेवाले नाटकों में भी कहाँ तक यथार्थ बोल-चाल रक्खा जा सकता है। वहाँ भी नाटककार को बोलनेवालों से हटकर दर्शकों के बीच में पहुँचना पड़ता है; अतएव कथोपकथन में यथार्थता ऐसी कोई वस्तु नहीं है। दर्शकों की रुचि पर बिकनेवाले कलाकार कितना भी सम्हालें उनकी कृति का बजारू होना आवश्यक है। परंतु जहाँ नाटक

अभिनय के लिए लिखा ही नहीं गया वहाँ कथोपकथन पर यह दोष लगाना कि वे बड़े बड़े हैं, उनके विचार जटिल हैं, उनकी अभिव्यंजना दुरूह है, वे भारी और बोझिल हैं, उनकी भाषा संस्कृतमय है, अतएव उन्हें नाटक में न होना चाहिए अनुपयुक्त है। देखना यह है कि जो कुछ भी कहा गया है उसका मूल्य है; उसमें उदात्त भावना और चिंतना निवास करती है, उसकी अपनी निजी देन है, उसके कथन में नवीनता है; शैली में शक्ति है और उसमें साहित्य का अमर स्वरूप निवास करता है। यदि यह है तो ऐसे लेखक को नाटककार न समझना उसे बिकने के लिए प्रोत्साहित करना है।

प्रत्युत्पन्नमति नाटक के संवादों का प्रमुख गुण होना चाहिए। परंतु प्रत्युत्पन्न-मति अभिव्यंजन पर आधारित होती और वस्तु पर भी आधारित होती है। केवल शाब्दिक चमत्कार पर आश्रित त्वरा उत्तरशीलता थोड़े काल के लिए विनोद, उपहास अथवा परिहास का कारण बन सकती है परंतु निरुत्तर कर देनेवाली वाणी अथवा अपने पक्ष का सबल समर्थन और व्याख्या करनेवाला संवाद केवल ऊपरी वाक्जाल का खेल नहीं होता। तर्क और विवेक के गहरे अभ्यास से जो सत्य का निरूपण होता है वाणी में उसका अबाध स्फुरण ही सच्ची प्रत्युत्पन्न मति का उत्तम लक्षण है। बोलचाल के मुहावरों और दैनिक लोकोक्तियों के चमकीले खंडों का कथोपकथन में महत्त्व अवश्य रहता है। इस परिपाटी से परम्परावाली उक्तियों की सार्वजनीनता और सर्वसुबोधता की सजावट में उसे बल मिलता है और लोग उक्ति-वैचित्र्य के परिचय से 'वाह वाह' भी करते हैं। परंतु लोकोक्तियों और मुहावरों को भी तो कभी किसी ने पहले गढ़ा ही होगा। उनकी परंपरा भी तो किसी प्रतिभा ने ही स्थापित की होगी। कलाकार मौलिकता को जन्म ही नहीं देता वह उसके महत्त्व की टीका के लिए वातावरण भी निर्माण करता है। जब तक नवीनता परंपरा न बने, जब तक मौलिकता का अपरिचय दूर न हो तब तक के लिए समीक्षकों को उतावलेपन से कार्य न लेना चाहिए। अन्यथा प्रतिभा को सामने आने में हिचक होगी और नवीनता संकोच का अवगुंठन न छोड़ेगी।

अस्पष्टता, छद्माशय तथा विषय-दुर्गमन ये सभी साहित्य के अंगों के दोष हैं। नाटकों के कथोपकथन में वे गुण नहीं हो सकते। परंतु प्रसादगुण के लिये हल्ला मचाने-वाले समीक्षक बुद्धि के दौर्बल्य और समझ की अक्षमता का दोष कृति के मत्थे बहुधा मढ़ दिया करते हैं। यथार्थ पर बलिदान होनेवाले आलोचक विभिन्न प्रांतों और विभिन्न देशों के पात्रों से अपनी-अपनी बोली और भाषा में बुलवाने की उपहास्यात्मक योजना

की कल्पना करें और सोचें कि क्या नाटक में बेबीलान के टावर के वास्तुकारों का नाद जमघट उन्हें रुचिकर है। यदि किसी साहित्यिक नाटक के किसी कथोपकथन को कोई पाठक तुरंत समझ नहीं पाता तो वह उसे दो तीन बार पढ़ सकता है। ऐसा हम साहित्य के अन्य अंगों के अनुशीलन में करते ही हैं। नाटककार को इसके लिए क्यों अभिशप्त किया जाय।

कथावस्तु

नाटक का दूसरा तत्त्व कथावस्तु है। कथावस्तु का जो महत्त्व साहित्य के दूसरे अंगों में है, जैसे प्रबन्ध-काव्य, कथा अथवा खंड-काव्य, वही नाटक में भी है। अंतर केवल इतना है कि नाटक में कथा कही नहीं जाती है कहाई जाती है। इस प्रतिबंध के कारण पात्रों के लिए ऐसी परिस्थितियाँ, ऐसे अवसर, ऐसे संदर्भ उपस्थित करने पड़ते हैं जिससे वे कथा को आगे बढ़ा सकें। कथा का विस्तार धीरे-धीरे इस प्रकार किया जाता है कि जिससे नाटक में केवल उचित गति रहे और अनावश्यक अप्रासंगिकता न आवे। कौतूहल का स्फुरण भी धीरे-धीरे होना चाहिए जिससे जिज्ञासा और औत्सुक्य को अंत तक आहार मिलता रहे। इतिहासिक अथवा पौराणिक कथा पर आधारित नाटकों में नाटककार का कार्य बड़ा दुस्तर रहता है। उसे अतीत को समस्त आवश्यक स्वरूपों में पकड़े रहना पड़ता है और फिर भी उसका अर्वाचीन मूल्यांकन करना पड़ता है। बिना इस नवीन मूल्यांकन के उसके नाटक में सौंदर्य नहीं आता और कथा बासी मालूम होती है। ये मूल्यांकन ही नाटक के प्राण हैं। नाटककार की प्रतिभा इसी के द्वारा सामने आती है। साथ ही साथ कथा के बढ़ाव में ऐसी योजनाएँ सामने आती हैं जिनमें नाटक-कार न जाने कितने मंतव्य, कितने संदेश, कितने निष्कर्ष, किंतने विचार सामने रखता है। ये ही उसके साकार साहित्यिक स्वरूप हैं जो उसके आभ्यंतर में स्पष्ट होते हैं। परंतु सामने रखनेवाले पात्र ही होते हैं। नाटककार तो बिलकुल ही तिरोहित रहता है। पौराणिक कथाओं और व्यक्तियों की एक परंपरा होती है। उस परंपरा में जनता अनंतकाल से रमण करती चली आई है और उसमें रस लेने की अभ्यस्त है। अतएव अतीत की इन गाथाओं और नायकों का सहारा जब नाटककार पकड़ता है तो उसकी प्रभाव प्रेषणीयता को स्वतः एक बल मिल जाता है। इसी लिए पौराणिक नाटक बड़े लोकप्रिय होते हैं।

घटनाचक्र

घटनाओं की उचित व्यवस्था कथा-कला की सबसे प्रमुख चातुरी है। पात्रों को निश्चित स्वरूप दान देने के लिए और भीतर के साहित्य-देवता को बाहर सजाने के

लिए घटनाओं की योजना की जाती है। बिना घटनाओं के कथा भी आगे नहीं बढ़ती। वास्तव में उचित गाथाओं में आवश्यक घटनाओं की लड़ी को गूँथने का नाम कथा-कला है। घटनाओं के चक्र में पात्र को नहलाने से उसका शील निखरता है।

कथा का उचित विस्तार ही घटनाचक्र के सहारे वह वातावरण उपस्थित करता है जिससे नाटक की अनुकूल पृष्ठभूमि बनती है। वातावरण ही वास्तव में वह बात का आवरण है जिसमें दर्शक अथवा पाठक स्वाँस लेता है और कला के सौंदर्य को भीतर पहुँचाता है। नाटक के लिए, अपितु सभी कला के लिए वातावरण प्राणवत् आवश्यक है। उसका निर्माण कला की सबसे बड़ी चेष्टा है और कला की सबके बड़ी सफलता है। उसके स्वरूप में समस्तता रहती है। वह संपूर्ण तत्त्वों के समाहार से निर्मित होता है। उसी की प्रभविष्णुता में कलाकार का महत्त्व निर्भर है।

पात्र

पात्र नाटक का तीसरा तत्त्व निर्माण का कौशल है। यह बड़े महत्त्व का प्रयास है। वास्तव में मानव लीला ही में मानव रमण करता है और उसी से साक्षात् अथवा परोक्ष में वह बनता-बिगड़ता है। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि डाकू को अभिनय में देखकर उसकी लीलाओं को सुन अथवा पढ़कर कोई डाकू हो जाता है। कहने का भाव यह कि प्रत्येक व्यक्ति की निजी तिरोहित वृत्ति को बाहरी मानव लीलाएँ सजग, उद्दीप्त, परिष्कृत अथवा मलिन अवश्य कर देती हैं। उनके सामने आने से जो मानव मन की तादृश वृत्ति पर बार बार आघात या प्रकंपन उत्पन्न होता है उससे तादृश अविकार अवश्य उत्पन्न होता है। इसी लिए हमारे साहित्य शास्त्री साहित्य को जीवन से अभिन्न समझते हैं और काव्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन मानते हैं। पापी अथवा दुष्ट पात्रों की योजना भी इसी लिए की जाती है कि उनके मलिन रूप और दुष्परिणाम को इतना स्पष्ट रख दिया जाय कि दुष्टता से विराग और साधुता से अनुराग स्वतः उत्पन्न हो जाय। यही प्रेरणा कला का आदर्श है और इसी को कला में आदर्श कहते हैं।

पश्चिम सिद्धांततः वैज्ञानिक है। उसके मंतव्य अधिकतर भौतिक हैं। इसकी विचारधारा इहलोकवादी है। इसी लिए उसके साहित्य और कला में वास्तविकता की पकड़ बहुत है। साहित्य को जीवनभोगी रूप में देखने का पश्चिम अभ्यस्त है। यह बात नहीं कि कला को जीवनोपयोगी बनाना उनका लक्ष्य नहीं परंतु जीवन की पूर्णता इसी लोक के जीवन से नापी जाती है अतएव उसका सारा बोझ यहीं के कुछ वर्षों के

भीतर ही सँभाला जाता है। अतएव यथार्थ को रमणशील बनाना उनका मुख्य लक्ष्य है। इसी हेतु वे साहित्य में वास्तविकता के अधिक पक्षपाती हैं। उनकी आदर्श की प्रेरणा में भी भौतिक युग की आकांक्षा ही काम करती है और जहाँ आदर्शोन्मुख साहित्य हुआ भी है वहाँ उसका रूप भौतिक सुख ही रहा है।

भारतीय संस्कृति जीवन की लम्बी योजना सामने रखती है। यहाँ मानव जीवन अनंत है। मानव रूप में आने के पूर्व और परे न जाने कितना लम्बा विस्तार दोनों छोर फैला रहता है। यहाँ के कुछ वर्षों के समस्त जीवन का महत्त्व मेल ट्रेन में पड़ने-वाले मील के खम्भों से अधिक मूल्य नही रखता। गमनारंभ और गंतव्य की लम्बी रेखा में जीवन की स्थिति एक बिंदु से अधिक नहीं है। यहाँ के चिंतकों ने इसे यही महत्त्व दिया है। इसी लिए जीवन योजना के निस्सीम रूप को साहित्य में पकड़ने का अभ्यास किया गया है जिसमें, कोई पुण्यात्मा, चाहे जितना कष्ट झेले, अंत में दुखी नहीं रह सकता और कोई भी पापी-पापी नहीं रह सकता; उसका कल्याण होगा ही। इसी आदर्श की पुष्टि में यहाँ इसी छोटे से जीवन में वास्तविकता के विपरीत होने पर भी पुण्यात्मा का जीवन सुखांत ही सजाया जाता है और यहाँ के नाटकों में दुखांत रूपकों का पूरा अभाव रहा है। इसी जीवन में लम्बे निस्सीम जीवन की कल्पना करके कलाकार देश की संस्कृति की रक्षा करता है।

यहाँ के साहित्य-सृजन में देश की संस्कृति कहाँ तक काम करती थी इसका संकेत ऊपर किया गया है। लेखक चाहे यथार्थ हो चाहे आदर्शवादी, बुद्धि अब इतना विकसित अवश्य हो गई है कि साहित्य को मानव सृष्टि समझने लगी है। चेतन भाव से इस रूप को विवेक यदि समझे रहे तो पश्चिम के अनुसार जो विषादांत नाटक लिखे जा रहे हैं उनसे हमारी संस्कृति पर कोई धक्का नहीं लग सकता है।

यदि नाटक में किसी पात्र को, किसी ओर, चाहे वह आदर्श की दिशा हो अथवा नीति का लक्ष्य हो, साभिप्राय रूप से मोड़ने का प्रयास किया जायगा तो कला मलिन पड़ जायगी। रूप निरूपण नाटककार के भीतर होना चाहिए। पात्र का समूचा रूप वहीं बनता है। वहीं से गति लेकर वह बाहर आता है। यहाँ गति में अभिप्राय पहनाने से कृत्रिमता आ जाती है और सौंदर्य नष्ट हो जाता है।

पात्रों के स्वरूप-निर्माण में परिस्थितियों की विभिन्नता के साथ-साथ रसांतर में वृत्तियों के अनेकार्थी अवसर भी आने चाहिए। उत्तम पात्र में अनुभूति की अमीरी का व्यावहारिक प्रयोग भी होना चाहिए और शील के स्वरूपों में उदात्त आकांक्षाएँ और मनोदशाएँ निवास करनी चाहिए। पात्र चाहे जितने ऊँचे पहुँचाया जाय उसे पृथ्वी

पर ही चलना चाहिए और उसके हाथ इतने लम्बे हों कि झुककर सबको ही ऊपर उठा सके। उसे ऐसे प्रयोगों में पड़ना चाहिए कि जिससे उसके मानवीय रूप का दर्शन सब कर सकें। उसे भावनारहित जगन्नाथ की केवल प्रस्तर मूर्ति न बनाया जाय। साधारण मानवों की भाँति पाप और पुण्य, पुण्य और पुण्य का मानवीय अंतर्द्वंद्व दूर से ही दिखाई दे। घटनाचक्र की नियोजना इसी लक्ष्य को रखकर करनी चाहिए। काले रंगवाले पात्र पाप की वास्तविक परिधि में ही रक्खे जायँ उनका अस्वाभाविक अतिरंजित रूप न बनाया जाय। कोई भी मानव न पूरा पापी होता है और न पूरा पुण्यात्मा। पाप पुण्य की अधिकता से ही वह बुरा और भला बनता है।

भाषा

नाटकों की भाषा कैसी हो, इस पर भी हम लोग विवाद करते हैं। कथोपकथन के संबंध में ऊपर बतलाया गया है कि भाषा की अनेकरूपता अभिनेय नाटक का भी गुण नहीं है। साहित्यिक नाटक की भाषा तो निर्विवाद रूप से साहित्यिक होनी ही चाहिए। साहित्यिक से केवल यह अभिप्राय है कि उसमें अभिव्यंजन की अनेकार्थी आकांक्षाएँ विद्यमान हों। वह भावनिर्देश के लिए लँगड़ी न हो। वह विचारों की अभिव्यक्ति के लिए हकलाती न हो। उसमें संकेत और निर्देश का सौकर्य हो। उसमें अप्रयुक्त शब्दों के बोझ के स्थान में गाम्भीर्य का प्रयास हो। वह व्याकरण संयत हो परंतु उसमें अध्यापक की हिचकिचाहट न हो। उसमें प्रवाह हो परंतु बिकनेवाला हल्कापन न हो। नाटक के लिए किसी ऐसी भाषा की योजना नहीं करनी है जो साहित्य के दूसरे अंगों से अपेक्षित न हो।

स्वगत

आलोचना के व्यवसायी प्राध्यापकों ने, विशेषकर रंगमंच से सोहागिल नाट्य कृतियों के भक्तों ने 'स्वगत' कथनों को अस्वाभाविक कहकर शेक्सपीयर से लेकर समस्त संस्कृत नाटककारों का उपहास किया है। इन महानुभावों को पश्चिम से समय-समय पर प्राप्त समीक्षा सीकरों को मनोयोग के साथ खींचना चाहिए और बिना पचाये अपना कहकर सामने न रखना चाहिए। अस्वाभाविक कहने के लिए पहले निज के स्वभाव के परिष्कार की भी दरकार है। 'स्व' को संकीर्ण 'निज' के घेरे से निकालकर विस्तार देने की आवश्यकता है। तभी उसके 'स्व' से संकीर्णता दूर हो सकती है। क्या मानव अकेले कभी नहीं सोचता? क्या उसके भाव और विचार चिंतित होकर

उसमें कलह नहीं उत्पन्न करते ? ऐसी कलह जिसे वह दूसरों तक प्रकट नहीं करना चाहता। क्या ऐसी परिस्थितियाँ जीवन में नहीं आतीं जिनकी चर्चा मित्र भी सँभाल नहीं सकता और वे उसके समक्ष भी व्यक्त नहीं की जातीं ? यदि यह सब वास्तविक जगत् में सत्य है तो क्या इनका व्यक्तीकरण ही अस्वाभाविक है ? किसी व्यग्र मन की भड़भड़ाहट, किसी विक्षुब्ध चिंतना की चिता, किसी भावावेश का मानसिक रुदन और हास कैसे सामने आवे ? क्या ये साहित्य की निधि नहीं हैं ? यदि यह विक्षोभ साकार होकर व्यक्ति में नहीं अट पाता और छलककर उसके मुख से ही एकांत में बाहर आ जाता है तो इसमें अस्वाभाविकता क्या है ? वस्तुतः दर्शकों तक इन परिस्थितियों को पहुँचाने का और उत्तम साधन ही क्या है ?

जब दो पात्र पास-पास बातें करते हैं और उनमें से एक थोड़ा हटकर स्वगत रूप में दूसरे से छिपाकर दर्शकों से कोई ऐसी मार्के की बात कहता है जिससे दूसरे के रंग-ढंग अथवा वस्तुस्थिति की वैयक्तिकता का पता लगता है तो इसमें दोष क्या है ? आप यहीं तो कहते हैं कि जब दर्शक सुन सकते हैं तो पास का व्यक्ति भी सुनता होगा। कुशल नट अपनी मुद्रा और भावभंगी से यह कभी नहीं व्यक्त होने देता कि वह दूसरे की समस्त वाणी बिलकुल सुन रहा है। आप कल्पना भले ही करें कि वह सुन रहा है। यह कल्पना बच्चों की नासमझी की कल्पना है। अपनी जिस वृत्ति से आप वीरेंद्र नामक नट को राम के रूप में स्वीकार करते हैं अथवा नटी रामरती को सीता महारानी समझने लगते हैं उसी भूल का प्रयोग यहाँ भी क्यों नहीं करते ? रस के अबाध पान में यह किरकिरा अंतराय क्यों खड़ा कर देते है ? इस प्रकार की समीक्षा वृत्ति हल्की बुद्धि और चलताऊ आलोचना की बान व्यक्त करती है। साहित्यिक नाटकों के लिये तो यह विवाद और भी अस्वाभाविक है।

संगीत

नाटकों में संगीत की व्यवस्था सभी देशों में कथोपकथन के बीच में होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि रंगमंच के रूपक प्रधानतया मनोरंजन के ही साधन थे। मनोरंजन के लिये संगीत उत्तम साधन है। नाटकों में संगीत का विरोध करनेवाले वास्तविकता के आधार पर उसे अस्वाभाविक कहते हैं। उनका कहना है कि कोई संगीत में नहीं बोलता। बहुधा नाटक के प्रमुख पात्र धीरोदत्त और आदर्श शील वाले नायक बीच-बीच में गाने लगते हैं यह अच्छा नहीं लगता है। राजा अथवा रानी का अपने मंत्रियों और सेवकों के बीच में खड़े होकर गाने लगना अशोभन प्रतीत होता है।

विवाह के समय संगीत समझ में आता है परंतु मृत्यु में भी संगीत बिलकुल नहीं रुचता।

संगीत विरोधियों के तर्क में काफी बल है। परंतु संगीत में स्वतः बड़ा बल होता है। भाव के चढ़ाव के लिए, मंतव्य को बिना समझाए हृदयंगम करने के लिये, काव्य का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए, संगीत की योजना अनावश्यक नहीं है। मनोरंजन का मूल्य तो अभिनयों के साथ समाप्त हो गया। संगीत का महत्त्व केवल मनोरंजन का ही नहीं है। पढ़नेवाले साहित्यिक नाटकों में काव्य संगीत की व्यवस्था से रस की पूर्णता आती है और कथा तथा पात्रों के शील विकास में योग मिलता है। संगीत उस वातावरण के उपस्थित करने में सहारा देता है जो नाटक की पृष्ठभूमि है। हाँ, संगीत अथवा कविता उन स्थलों में दोष पूर्ण है जहाँ वे व्यर्थ का विषयांतर उपस्थित करें, कथा की गति मंद करें, शील के उदात्त स्वरूप को हलका बनावें, सस्ते विनोद उपस्थित करने के लिए अथवा इक्कावाला मनोरंजन सामने रखने के लिये बाजारू रूप सामने रक्खें अथवा प्रसंग के बिलकुल अनुकूल न होने के कारण किरकिरापन खड़ा करें। यदि नाटककार संगीत की योजना बिना अपनी कला में पूर्ण सौकर्य ला सकता है तो उसकी आवश्यकता भी नहीं है।

हास्य रस

नाटक के लिए विनोद आवश्यक है अनिवार्य नहीं है। हास्य रस की निष्पत्ति अन्य रसों की थकावट से मन को सम्हालने के लिये अच्छी है। प्रसन्नता की सामग्री का नाम आमोद है। आमोद आलम्बन भी होता है और संचारी भी। हल्की प्रसन्नता को विनोद कहते हैं। विनोद के स्थायी भाव का नाम हास है। हास की परिपक्वावस्था को हास्य रस कहते हैं। विचारों और भावनाओं के विनोदाभिमुखी अभिव्यंजन की कला (Wit) से भी हास्य उत्पन्न होता है और केवल शब्द स्थापना के तोड़-मोड़ से भी हास्य उत्पन्न होता है। बक्रोक्ति के सहारे ध्वनि प्रधान उक्ति में जब तिलमिलानेवाले आघात की साधना की जाती है तो उसे व्यंग कहते हैं। व्यंग से भी हास की निष्पत्ति होती है परंतु सर्वत्र नहीं।

हास मानसिक परिस्थिति है। वह बाहरी अथवा आभ्यंतर के स्वीकृत रूप व्यापार में सहसा विपर्यय घटित होने से उदीप्त होती है। एक सभ्य व्यक्ति सहसा मोटर से उतर कर हाथों के बल चलने लगे तो दर्शक हँस पड़ेंगे। यदि वह जिह्वा को वक्र करके बोलने लगे अथवा विचित्र वेश-भूषा धारण कर ले तो भी लोग हँस पड़ेंगे।

अपने श्रद्धास्पद के सहसा रपट के गिर कर उलट जाने पर भी लोग एक बार तो हँस ही देते हैं। हास्य वृत्ति हल्की होती है और सबसे पहले जागरित होती है। दूसरी वृत्तियाँ बाद में जागरित होती हैं। यदि कोई इंद्रजाली हास्यपूर्ण विपर्यय की योजना करता है तो लोग सहसा नहीं हँसते क्योंकि उसके संबंध में मन में विपर्यय करने की क्षमता वाली धारणा आबद्ध है। उपहास दूसरों को अवास्तविक प्रमाणित करने से होता है और परिहास में दूसरों का मन दुखाने के लिए उन्हें मूर्ख, अयोग्य, दुर्बल और न जाने क्या-क्या प्रमाणित करना पड़ता है और यह सब विनोदी परम्परा में ही होता है। हास्य रस को हल्के मनोविनोद से लेकर गहरे तलों को प्रभावित करने के योग्य बनाना कुशल कलाकार का काम है। वे ऐसे आलम्बन नहीं ढूँढ़ते जिससे क्षणिक विनोद हो अथवा दूसरे का मन दुखे।

नाटक अनेक रसों की योजना करता है। कुछ रस परस्पर विरोधी होते हैं अतएव एक रस के प्रभाव को उतारे बिना दूसरे रस का प्रभाव सम्भव नहीं। इसीलिये दो विरोधी रसों के बीच में दोनों रसों के मित्र किसी रस को डाल देते हैं। हास्य रस बहुत रसों का मित्र है। यह बीच में पड़ कर किसी भी रसोद्दीप्ति को सहला कर उतार लाता है और हृदय को दूसरे रस के योग्य बना देता है। दूसरे रसों में जो गहरी थकान होती है वह हास्य रस में नही होती अतएव इसकी उपस्थिति से एक प्रकार की निर्बोझ सी स्थिति हो जाती है। पर यह न भूलना चाहिए कि अश्लील और शील के बीच बड़ी पतली रेखा होती है। रेखा में लम्बाई होती है चौड़ाई नहीं होती। यदि कलाकार थोड़ा भी धोखा खा गया तो उसका हास उसे अश्लीलता से बचा न सकेगा।

साहित्यिक नाटक

कुछ लोगों की यह आपत्ति है कि साहित्यिक नाटकों में रंग मंच संकेतों के लिखने की क्या आवश्यकता है। यदि नाटक को अभिनेय बनाना है तो व्यवस्थापक को परामर्श रूप में यदि लम्बे-लम्बे भी संकेत लिख दिये जायँ तो उनका थोड़ा बहुत उपयोग अवश्य हो सकता है; परंतु अनअभिनेय नाटकों में तो वे बिलकुल ही व्यर्थ और अप्रासंगिक हैं। साधारणतया यह आपत्ति उचित प्रतीत होती है, परंतु जब हम साहित्यिक नाटकों की ओर संसार भर में दृष्टि विक्षेप करते हैं तो हमें यही देखने में आता है कि उनमें रंग मंच के संकेत बड़े विशद और संकुल हैं। दर्शकों के सामने तो रंग मंच होता है और नट होते हैं। परंतु पाठकों को तो अपने अंतर नेत्र के समक्ष केवल कल्पना से ही उन्हें उपस्थित करना पड़ता है। कल्पना को उत्तेजित करने के

लिए, उसे उचित चित्र निर्माण में सहायता देने के लिये ये रंग मंच संकेत अत्यंत आवश्यक हैं। जितना ही ये स्पष्ट होते हैं उतना ही, मन पर विशद चित्र अंकित हो जाता है और पाठक भी दर्शक सा नेत्र-रमण कर सकता है। नाटक के प्राण वातावरण हैं। उसके निर्माण में ये रंग मंच संकेत बड़ा योग देते हैं।

कुछ समालोचक किसी नाटक के भीतर लम्बी वक्तृता पसंद नहीं करते। इसका विरोध वास्तविकता के आधार पर तो किया नहीं जा सकता, उनकी आपत्ति केवल यह रहती है कि एक ही पात्र का बड़े विलम्ब तक बोलते रहना अच्छा नहीं लगता। यह ठीक तो है, परंतु सम्भाषण यदि रुचिकर हो, तो उसे कौन बुरा कहेगा? वक्तृता में वक्तृत्व कला होनी चाहिए। उसमें उलझाव होना चाहिए। उससे सुननेवाले और पढ़नेवाले को कुछ मिलना चाहिए। उससे कथा मंद न हो और असंदर्भीय अंतराय न खड़े हो यह देख लेना चाहिए।

नाटकों के निर्माण का इतिहास

भारतवर्ष में नाटकों का इतिहास विचित्र है। यहाँ के नाटक विश्व के सबसे पुराने नाटक हैं। यूनान के नाटकों पर भी यहाँ के नाटकों का प्रभाव पड़ा था और 'यवनिका' शब्द के आधार पर यह भी कहा जाता है कि यूनानी नाटकों का प्रभाव यहाँ के नाटकों पर भी पड़ा है। संसार के सभी देशों में नाटकों का जन्म धर्म प्रचार और मनोरंजन के लिए हुआ है। यूनान में डायोनिसस की पूजा से यूनानी सुखांत नाटकों का श्रीगणेश हुआ। धीरे-धीरे मनोरंजन ने इतना बल पकड़ा कि धर्म की क्रोड़ से निकल कर नाटक प्रथक् खड़े हो गये।

प्रसिद्ध किंवदंती है कि एक बार सभी देवता मिल कर ब्रह्मा के पास गये और उनसे अपने मनोरंजन का कोई साधन माँगा। समस्त सृष्टि के उत्पादक से ही यह प्रार्थना की जा सकती थी। ब्रह्मा ने ऋग से नृत्य लिया, सामवेद से गान लिया, यजुर्वेद से रूपक कला ली और अथर्व से भाव लिये। इस प्रकार एक पाँचवें नाट्यवेद की रचना की। पहला रंग मंच दैवी शिल्पी स्वयं विश्वकर्मा ने इंद्रोद्यान में उसके भवन के निकट निर्माण किया। पहला नाटक स्वर्ग के पर्व के सुंदर अवसर पर 'अमृत मंथन' अभिनय किया गया। दूसरा 'त्रिपुर-दाह' का खेल हुआ। इन नाटकों में स्वयं भरत मुनि ने अपने शिष्यों और पुत्रों के साथ गंधर्वों और अप्सराओं को लेकर अभिनय किया था। यह तो स्वर्ग की बात थी। पृथ्वी में पहले पहल राजा नहुष ने

रंग मंच की स्थापना की और देवांगनाओं, अप्सराओं और गंधर्वों को पृथ्वी पर आने के लिये बाध्य किया।

इस किंवदंती में सार इतना अवश्य है कि नाटकों की प्राचीनता सिद्ध है और उनका प्रादुर्भाव मनोरंजन के लिए हुआ। उनका अभिनय धर्म पर्वों भर हुआ करता था। अन्य देशों की भाँति यहाँ भी नाटकों का पिंड धर्म से छूटा तो परंतु बहुत काल के बाद और आज भी सबसे बड़ा धार्मिक नाटक जो प्रतिवर्ष हुआ करता है वह दशहरा में राम रावण प्रसंग है। रास लीला भी हुआ ही करती है। धर्म से प्रथक् होते ही नाटक व्यवसाय में अपवित्रता आने लगी और प्रतिष्ठित कुल के बालक और बालिकाएँ इस व्यवसाय से विरत होने लगे। 'शैलूष' कार्य अधम समझा जाने लगा। इसके प्रमाण संस्कृत में ही मिलते हैं। रंग मंच का कभी पतन हुआ और कभी किसी ने फिर उसका उत्थान करना आरंभ किया। यह परिस्थिति बहुत काल तक रही। हिंदी नाटक का प्रादुर्भाव काल भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही मानना चाहिए। उन्होंने रंग मंच को उत्तेजन दिया। वे स्वयं अभिनेता थे। परंतु विज्ञान की गति ने, जीवन के सँकरेपन से मिलकर त्वरा भावना को ऐसा जन्म दिया कि रंग मंच के लम्बी और सारी रात्रिवाली व्यवस्था को स्वयं धीरे-धीरे नष्ट होना पड़ा। मनोरंजन-प्रियता ने थोड़े समय तक रंग मंच को इस धक्के से बचाये रक्खा परंतु एक ओर वाणीवाले चल चित्र आ गये और मनोरंजन को उधर झुकना पड़ा और दूसरी ओर साहित्यिकता के घोर अभाव ने अभिनय रूपकों को एक और ठोकर मारी जिससे न रंग मंच और न अभिनय नाटक सम्हल पाये हैं। नाटकों की रचना बराबर होती है परंतु देखने के लिये नहीं पढ़ने के लिये, विनोद के लिए नहीं साहित्य के लिये। अतएव दो प्रकार के रूपकों में भारी अंतर प्रवेश कर गया है। समीक्षकों को इस परिवर्तित परिस्थिति से परिचित होकर ही अपनी लेखनी चलानी चाहिए।

एकांकी नाटक

दृश्य काव्य क्यों ?

भारतीय साहित्य के आचार्यों ने काव्य को दृश्य और श्रव्य दो भागों में विभक्त कर रखा है। नटों द्वारा अभिनय, पात्रों की मुद्रा उनकी भावभंगी, उनके कंठ की सरसता और उच्चारण पटुता की ओर विशेष ध्यान देकर, दृष्टि के अधिक प्रयोग के कारण नाटकों को दृश्य काव्य में स्थान दे रखा है। उच्चारण कुशलता और संगीत सौष्ठव श्रवणेंद्रिय के प्रयोग की अपेक्षा करते हैं परंतु संवादकों की अंगपरिचालना और गायकों की भाव भरी मुद्रा की ओर ध्यान अधिक रहता है और नेत्र ही इस सौंदर्य का स्वाद लेते हैं इसीलिये नाटकों को दृश्य काव्य कहा है। अभिनय के पारखी भी दर्शक ही कहे जाते हैं।

नाटकों के अतिरिक्त अन्य काव्य को श्रव्य काव्य क्यों संज्ञा दी गई इसको भी समझना चाहिए। कदाचित् अन्य सब प्रकार के काव्य को लोग परस्पर सुना सुनाया करते थे। लिखना अधिक कष्टदायक था। एक प्रति को कवि अपने मित्रों के बीच में बैठकर सुनाया करता था। एक पढ़ता होगा बहुत से लोग सुनते होंगे। नाटकों को पढ़कर सुनने सुनाने की परिपाटी न होगी। सुनाने के बाद उसी नाटक को अभिनय में देखने की रुचि न रह जाती होगी। अतएव नाटककार अपनी कृति को अभिनय के पहले सुना देना पसंद न करता होगा। पढ़ने में कंठ-सौंदर्य और संगीत प्रभविष्णुता का खासा प्रभाव पड़ता होगा। अतएव काव्य का प्रभाव बढ़ जाता होगा। पुस्तकें आज की भाँति उपलब्ध न थीं कि अपने-अपने विश्राम स्थल पर बैठे-बैठे धीरे-धीरे बड़े मनोवेग के साथ पढ़ी जायँ। शास्त्रों और काव्यों का बहुत बड़ा भाग मौखिक रहता था और उसे गुरु परम्परा द्वारा सुनाकर ही संरक्षित रखा जाता था। यही कारण है कि अभिनय की सीमा से बहिष्कृत समस्त काव्य श्रव्य काव्य की शरण आ गया।

आचार्यों का अनादर न करते हुए भी इस समय यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि काव्य का यह भेद नितांत स्थूल है। पश्चिम के समीक्षक ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं करते।

किसी इंद्रिय विशेष का अकेला सहारा कभी भी सौंदर्य को मन तक नहीं पहुँचाता। मन पर प्रत्यक्षीभूत सौंदर्य समस्त ज्ञानेंद्रियों का संकुलित संदेश होता है। किसी भी पदार्थ का ज्ञानेंद्रियों का संपर्क हलका अथवा गहरा प्रकंपन प्रत्येक इंद्रिय में उत्पन्न करता है। तद्‌जनित विकारानुभूति ही ज्ञान है। ये ज्ञान सामान्य और विशेष दो रूपों में आकुलित रहते हैं। 'मनोहर' कहने से व्यक्ति विशेष का आकार, उसकी बोली, उसके चेहरे के चेचक के दाग, उसके वस्त्रों की सुगंध इत्यादि सभी बातों का ध्यान आगे पीछे आ सकता है। यह ज्ञान हमारी भिन्न-भिन्न इंद्रियों में पहुँचा कर उस व्यक्ति का स्वरूप निरूपण मन:पटल पर किया है। सजग, असजग अथवा अर्ध-सजग किसी भी अवस्था में यह मानसिक क्रिया संपन्न हुई है। यह ज्ञान न दृश्य और न श्रव्य पथ का अकेला निष्कर्ष है।

यह ठीक है कि कुछ वस्तुओं के अभिधान में किसी विशेष-इंद्रिय की अधिक सजग प्रेरणा रहती है अतएव उसके नाम लेते ही उस इंद्रिय-ज्ञान का भाव जल्दी आ जाता है। मखमल अथवा नवनीत में स्पर्शेंद्रिय का ज्ञान आ जाता है। गुलाब में घ्राणेंद्रिय, कोयल में श्रवणेंद्रिय, मिरच में स्वादु इंद्रिय, हाथी में नेत्रेंद्रिय का भाव सजग हो उठता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मिरच का आकार नेत्र नहीं जानते अथवा गुलाब और नवनीत का स्वाद याद नहीं आता अथवा मखमल की धीमी चरमराहट कान तक नहीं पहुँचती।। सामान्य ज्ञान में अपनी-अपनी ज्ञानेंद्रियों के स्पष्ट भावों की संकुलता पृथक् पृथक् अनुभव होगी। मनुष्य कहने में हर एक व्यक्ति का मनुष्य सामान्य गुणों में भरा पूरा, पर फिर भी ध्याता की व्यक्तिगत विशेषताओं से आपूरित सामने आता है। किसी को गौरवर्ण, किसी को साँवला, किसी को भारी कद वाला, किसी को कोयली बोली वाला इत्यादि-इत्यादि आदर्श रूप सामने आयेगा। नाटक देखते समय सब इंद्रियाँ साथ-साथ प्रभावित होती रहती हैं। नेत्र ही सब कुछ नहीं है। वास्तव में संवादों में अथवा रसीली कविताओं में जो कुछ भी काव्य पकड़ा गया है वही तो काव्य है। सुंदर मूरत अथवा पतला गला, संगीत की बारीकी, वेशभूषा, कथोपकथन का लहजा और बोलने का झटका दृश्य की सजावट—इन सब का काव्य से कोई संबंध नहीं है। ये सब मिलकर काव्य के असली रूप पहचानने में भ्रम पैदा कर देते हैं। अतएव काव्य का दृश्य और श्रव्य का विभाजन अस्वाभाविक है।

नाटकों की प्राचीनता

भारतवर्ष के नाटकों की प्राचीनता निर्भ्रांतरूप से सिद्ध है। ऋग्वेद में इसका रूप है। यज्ञ के समय नाटक होते थे। देवताओं के समक्ष नाटक खेले जाते थे।

अग्निपुराण में इसकी चरचा है। यातायात की त्वरा ने दुनिया को काफी सिकोड़ दिया है। आज दुनिया के दूरस्थ दो कोने जितनी शीघ्रता से परस्पर प्रभावित हो उठते हैं उतना पहले कभी सम्भव न था। कला के आदर्शों का आदान-प्रदान भी बड़ी शीघ्रता से घटित होता है। योरप के नाटकीय आदर्शों का प्रभाव भी हम पर बड़ी शीघ्रता से पड़ता है। आज के एकांकी नाटक भी इसी परस्पर आदान-प्रदान की योरोपीय देन हैं। यह मैं नहीं कहता कि हमारे यहाँ उनकी कला का अभाव था। एकांकी नाटकों का हमारे यहाँ चलन था और उनके नाम और उनकी परिभाषा लक्षण ग्रंथों में विद्यमान है।

'भाण' एकांकी नाटक है। इसका मुख्य उद्देश्य परिहास पूर्ण धूर्तता प्रदर्शन करना है। 'व्यायोग' में भी एक ही अंक होता है। इसमें पुरुष पात्रों की बहुलता होती है। 'अंक' भी एकांकी नाटक है। इसका करुणरस निश्चित रस है। इसके नायक और नायिका साधारण व्यक्ति होते हैं। 'वीथी' में भी एक ही अंक होता है। 'प्रहसन' में भी कभी-कभी एक ही अंक रखने की परिपाटी देखी गई है। उपहास पूर्ण ढंग से व्यंग पूर्ण भाषा में यह लिखा जाता है। 'गोष्ठी' भी एकांकी नाटक है। इससे स्त्री-पुरुष पात्र साधारण व्यक्ति होते थे। 'नाट्यरासक' भी एकांकी नाटक है। 'उल्लाप्य,' 'काव्य,' 'प्रेषण,' 'रासक,' 'श्रीगदित' तथा 'विलासिका' ये सब अपनी अपनी विशेषतायें रखते हैं। पर सब एकांकी नाटक है। परंतु आज के एकांकी नाटकों का इनसे कोई विशेष साम्य स्थिर नहीं किया जा सकता।

पश्चिमी एकांकी नाटक

पश्चिम के साहित्य में एकांकी नाटक का इतिहास और उनकी प्रगति अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। साहित्य के अन्य आकारों की भाँति एकांकी नाटक का भी एक रूप रहा है। उसके स्वतंत्र अस्तित्व की सबसे पहले घोषणा इटली में कमेडिया-डेल-आर्टी (Comedia-Dell-Arti) में दिखाई देती है। पन्द्रहवीं सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के एकांकी नाटकों में कथानक की संक्षिप्तता और विषय का एकाकीपन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था। मिस्ट्री, मिरेकिल तथा मोरेलटी प्लेज (Mystery, miracle and Morality Plays) भी एकांकी होते थे। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में एलीजाबेथ के युग में विनोद के लिए बड़े-बड़े नाटकों के बीच में गर्भांक (Interlude) के रूप में भी एकांकी नाटक दिखाई देते हैं। यही नहीं विषादांत अभिनयों के गंभीर और बोझीले प्रभाव को हलका करने के लिए प्रधान नाटक के अंत

में 'आफटर पीसेज़' (After Pieces) नामक एकांकी नाटक हास्यपूर्ण वस्तु को लेकर खेले जाते थे। यह सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में बराबर पाया जाता था। इसी प्रकार बड़े नाटक के अभिनय के पूर्व दर्शकों में मनोरंजन के लिए भी एकांकी नाटकों का अभिनय होता है। इन एकांकी नाटकों को कर्टन रेजर्स (Curtain Raisers) कहते थे। विक्टोरिया युग में इनका बहुत चलन था।

धीरे-धीरे पश्चिम का नाट्य-साहित्य यथार्थता की ओर बढ़ने लगा। पुरानी अभिनय परिपाटी, पुराने प्रसिद्ध नट, पुराना काव्यमय कथोपकथन, पुराना रंग मंच सबकी ओर से प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के प्रेरक इबसेन (Ibsen) और पिनेरो (Pinero) प्रसिद्ध हैं। इबसेन के सोसायटी (Society) नामक नाटक में अभिनय-संकेतों (Stage directions) की प्रधानता है। दृश्य-प्रदर्शन को गौण स्थान दिया गया है। इन सब ने एक बात और यह की कि उन्होंने तुकबंदी का बहिष्कार करके ठेठ गद्य में अपने नाटकों को लिखा। केवल नेत्रों के मनोरंजन करनेवाले दृश्य और तड़क-भड़क वाले प्रदर्शन इनके नाटकों में न मिलेंगे। उनमें स्वगत (Soliloquy) और विलग (Aside) दोनों परिपाटियों को अस्वाभाविक समझ कर छोड़ दिया गया है। दैनिक जीवन की सुंदर झाँकी उनमें मिलेगी। नैतिक और सामाजिक समस्याओं के प्रति युग की क्या प्रतिक्रिया है यह भी उनमें उपस्थित है।

यही नहीं स्वयं अभिनय मंचों में प्रतिक्रिया हुई। रेपेरेटरी थियेटर्स (Repertory theatres) की सृष्टि वास्तव में लंबे-लंबे पुराने खेलों के प्रति प्रतिक्रिया समझनी चाहिए। पुराने बड़े-बड़े साहित्यिक नाटकों के प्रति तथा प्रसिद्ध बड़े-बड़े नटों के प्रति एक विरोध की भावना जाग उठी थी और ध्यान टिकट की बिक्री की ओर से हटकर यथार्थता की ओर आ गया। व्यवसायी कंपनियों और नटों से हट कर अभिनय शौकीन नागरिकों के हाथ में आ गया। उनका काम केवल समाज के लिए विनोद उपस्थित करना था। ऐसे एकांकी नाटकों में बिशप्स कैंडिल स्टिक (Bishops Candle Stick) प्रसिद्ध है। उसकी रचना भी जनसाधारण के मनोरंजन के लिये हुई है। शैर्प (Shairp) ने अपनी भूमिका में छोटे बच्चों के अभिनय के लिए एकांकी नाटकों की चरचा की है।

एकांकी नाटक को भी कला और साहित्य की वर्तमान प्रगति का अंग समझना चाहिए। पुरानी परिपाटी और पुराने आदर्श के विध्वंस में ही इसके वर्तमान रूप का निर्माण हुआ है। डी० एच० लारेंस तथा सिटवेल (D. H. Lawrence and Sitwell) इत्यादि को घोर प्रतिक्रियावादी कहा जा सकता है। इप्सटीन (Epstein)

के सदृश कला की नई गति विधि के प्रदर्शक भी इसी प्रेरणा के अंतर्गत हैं। उपन्यासों से ऊब कर आख्यायिकाओं के लिखने की ओर लोग बढ़े, नाटकों से एकांकी नाटक की ओर झुके तथा बड़ी-बड़ी जीवनियों से ऊब कर छोटी-छोटी प्रभावापन्न जीवनियाँ लिखी जाने लगीं। यही नहीं विषय में भी आदर्श की उद्भावना की प्रतिक्रिया स्पष्ट दिखाई देती हैं। वर्लिबा (Verse Liberer) में नायक को ही विरूपित किया गया है। यह एक गद्य-काव्य है।

आजकल अँग्रेजी में नीचे दिये हुए नाटककारों का एकांकी नाटक रचने में नाम है—

ए० ए० मिनी, ऑर्नेल्ड बेनेट, जान गाल्सवर्दी, लार्ड डन्सेनी, जे० जे० बेल, जान डिक्वाटर।

कुछ में एक दृश्य कुछ में एक से अधिक दृश्य रहते हैं। पटक्षेप अंत में ही आता है और मध्य यवनिका बीच में ही गिर जाती है।

नाटकों का दर्शकों से संबंध

कभी-कभी यह प्रश्न सामने आ जाता है कि दर्शकों की रुचि नाटकों के निर्माण में प्रबल होती है अथवा नाटकों का प्रभाव दर्शकों की रुचि परिवर्तन में योग देता है। वास्तव में इसका उत्तर देना सरल नहीं। दर्शक का और नाटक का अन्योन्याश्रित संबंध है। यह ठीक है कि अँग्रेजी नाटककार बर्नार्डशा अपने दर्शकों का स्वयं निर्माण करते हैं यद्यपि साधारणतया योरप और भारतवर्ष में दोनों में ही अधिकांश नाटकों की वृद्धि रंग मंच की रुचि परितुष्टि के अनुकूल होती है। एकांकी नाटकों के अभिनय के विषय में भी यही बात है। यूनान के नाटक, शेक्सपीयर के नाटक, संस्कृत के नाटक, हरिश्चंद्र के नाटक अधिकांश में लंबे होते हैं अतएव उनके अभिनय में सारी रात्रि का झमेला रहता था। आज कल के व्यस्त जीवन के संघर्षमय वातावरण से फेनिल मुख दौड़ने से हमें अवकाश बहुत कम मिलता है। हम अपने उलझे जीवन में से यावत् किंचित विश्रांति उपलब्ध करने के लिए कुछ क्षण सुलझा कर मनोरंजन भी कर लेते हैं। बस इस युग के एकांकी नाटकों की सृष्टि का सबसे बड़ा कारण यही है। समूचे बड़े नाटकों के लिए दर्शकों अथवा पाठकों को अधिक समय की अपेक्षा होती है। पुराने युग के एकांकी नाटकों के निर्माण की प्रेरणा में और कारण थे जिनका संकेत अन्यत्र हो चुका है। आज के एकांकी नाटक तो उन बड़े नाटकों के प्रति प्रतिक्रिया मात्र हैं। बड़ी देर तक बैठ कर बड़े-बड़े नाटकों के रसों में डूबने और उतारने में जो

एक गहरी भावुकता का बोझ पड़ जाता है, उससे हमारी नसें थक जाती हैं। अभिनय-कला की एक बँधी परिपाटी से मन ऊब जाता है और हम यंत्र की एक सी चाल के प्रति क्रांति करते हैं। हमारा आज का जीवन मन से, विचार से तथा कलात्मकता की दृष्टि से पूर्ण रूप से नागरिक हो रहा है और जहाँ हम वस्तुओं के साथ नित नये प्रयोग करते हैं वहाँ कला के भी नये-नये प्रयोग किया करते हैं। बड़े नाटकों के लंबे-लंबे कथोपकथन, उनकी भद्दी अभिव्यंजना, दृश्यों की सजावट की अतिशयता, विषयांतरता तथा वर्णन बाहुल्य, चरित्र-विकास और काव्य-विकास के लिए एक लंबा प्रयोग, कथावस्तु को औत्सुक्य पूर्ण रूप से देने के लिए एक उलझी कल्पना—ये सब बातें युगों से हमें परेशान किये हैं। एकांकी नाटक में हम इनकी छाँह भी देखना पसंद नहीं करते। एकांकी नाटक का निश्चित और सुचिंतित एक लक्ष्य होता है। उसमें केवल एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या प्रबल होती है। कार्य कारण की घटना शृंखला अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमें बिलकुल स्थान नहीं होता। वेग-संपन्न प्रवाह में किसी प्रकार के अंतर प्रवाह के लिये अवकाश नहीं होता। वह तो समूचा ही केंद्रीभूत आकर्षण है। उसके निर्माण में उत्कर्षता और परमता सर्वत्र बखरती चलती है। शिथिल विवरण के लिए कहीं भी अवकाश नहीं रहता। कला, कथावस्तु, परिस्थिति और व्यक्ति के स्वरूप-निरूपण में मितव्ययिता और चतुरता का जो रूप एकांकी नाटकों में मिलता है वह साहित्य कला की अद्वितीय निधि है। आकार का केंद्रीकृत प्रभाव तथा वैयक्तिक और स्थानिक विशेषताओं की केवलता एकांकी नाटकों को सुंदर बना देती है। कथोपकथन में मुहावरेबाजी, वाक्चातुरी अथवा दरबारी त्वरा बुद्धि के स्थान में तार्किक मौलिकता, निष्पक्ष समीक्षा तथा विषय प्रतिपादन का होना बड़ा आवश्यक है। पात्रों में केवलता की गहरी छाप होनी चाहिए। इसके अभिव्यंजन में निश्चल भावुकता का बल होना चाहिए। वास्तविकता की गहरी पकड़ में कला की गति यदि बढ़े तो अभिनय अच्छा होगा।

एकांकी नाटक के विषय

एकांकी नाटक का विषय कुछ भी हो सकता है। रानी-राजा की कहानी से लेकर पंचतंत्र की कहानियाँ, जातक, हितोपदेश, फेरीटेल, सहस्ररजनी चरित्र इत्यादि सभी के कथानक समझदारी के साथ एकांकी नाटक में लाए जा सकते हैं। अद्भुत कथाएँ, साहस के आख्यान, जासूसी वृत्त, प्रेम, हत्या के प्रसंग, हड़ताल, बाजार की उथल-पुथल, धार्मिक सहिष्णुता, राजनैतिक क्रांति, वैयक्तिक सनक, सामाजिक और

मानसिक समस्याएँ सभी एकांकी नाटक में दिखाये जा सकते हैं। पर उनकी सफलता केवल नाटककार की कुशलता पर आश्रित है। रसात्मकता तथा भावविभोरता हमारे यहाँ नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता कही जाती है। उनका प्रभाव एकांकी नाटकों में और अधिक वेग संपन्न होता है।

वास्तविकता के एक स्फुलिंग को पकड़ कर एकांकी नाटककार अपने रेखा चित्र अथवा सुकुमार संक्षिप्त मूर्ति द्वारा उसे ऐसा प्रभावपूर्ण बना देता है कि मानवता के समूचे भावना विश्व को झनझना देने की उसमें शक्ति रहती है। केवल कतिपय उज्ज्वल पृष्ठों में वह हमें जीवन का एक जाज्वल्यमान खंड उपस्थित कर देता है। साधारणतया लोग समझते हैं कि एकांकी नाटक बड़े नाटक का संक्षिप्त संस्करण अथवा उसका एक अंक है। यह धारणा भ्रामक है। वह बावन अंगुल का बलि को छलने वाला भगवान् नहीं है और न चक्र-सुदर्शन के साथ विष्णु का हाथ। वह अपनी निजी पृथक् सत्ता रखने वाला साहित्य का एक अंग है। उसमें अपने निर्माण की विशिष्ट आत्मा है और उस आत्मा के व्यक्तीकरण का उसका अपना निजी ढंग है। उसका कुछ-कुछ साम्य बड़े नाटक के साथ भी है और कुछ-कुछ छोटी आख्यायिका के भी साथ। नाटक के साथ उसके साम्य और वैषम्य का संकेत कराया जा चुका है। कहानी से उसका साम्य विषय और गति का साम्य है।

एक बात यह भी समझ लेनी है कि रंगमंच का नाटकों का संबंध केवल आकार का संबंध है। नाटकों को अनिवार्य रूप से अभिनेय होने के जो पक्षपाती हैं, वे साहित्य रसिक न होकर केवल मनोरंजन के उपासक हैं। साहित्य के सच्चे पारखी और रंगमंच के तमाशबीन दर्शकों में बड़ा अंतर है। साहित्य के अनेक अंगों में एकांकी नाटक भी एक अंग है। उसकी सार्थकता साहित्य देवता की स्थापना पर अधिक है, अभिनय अनुकूलता पर उतनी नहीं है। यदि किसी एकांकी नाटक में जीवन की ऊँची गति-विधि के साथ-साथ कला का पूर्ण स्वरूप और सच्चे साहित्य की सारी आकांक्षाएँ विद्यमान हैं तो कोई सहृदय समालोचक इसलिए उसका अनादर न करेगा कि वह अनभिनेय है और नाटककार रंगमंच की एकांकी विशेषताओं से अनभिज्ञ है। हम उसे रंगमंच में न देखेंगे; पढ़कर तो आनंद ले सकते हैं।

एकांकी नाटकों में ऊँची चिंतना

आजकल के एकांकी नाटकों ही में नहीं, समस्त काव्य साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता ऊँची चिंतना का प्रवेश है। उसमें दार्शनिकता की प्रधानता रहती है। प्राचीन

परिपाटी के साहित्य रसिकजन दार्शनिकता के प्रवेश को काव्य के लिये घातक समझते हैं। उनका कहना है कि काव्य का प्रमुख लक्षण उसकी रसात्मकता होनी चाहिये। दार्शनिक विचारधारा के प्रवेश से काव्य का प्रभाव हृदय पर न पड़ कर मस्तिष्क पर पड़ता है और वह भाव विभोरता में मस्त कर देने वाली वस्तु न रह कर चिंतना की गुत्थी सुलझाने में उलझ जाती है। काव्य दर्शन ग्रंथ हो जाता है। पर आज का युग तो चिंतनाओं के संघर्ष से ही प्राण ग्रहण करता है। उसके बिना साहित्य केवल रोने हँसने वाली बच्चों की वस्तु रह जाती है। चिंतना को एकदम बहिष्कृत करने वालों ने हृदय और मस्तिष्क की क्रियाओं का नितांत स्थूल भेद समक्ष रख कर निष्कर्ष निकाला है। भाव विभोर क्षमता हृदय की वृत्ति है। यह ठीक है, पर हृदय की वह सुषुप्त परिस्थिति, जिसके काव्य द्वारा जागरित हो जाने से मस्ती का आनंद मिलने लगता है, प्राणी को कहाँ से मिलती है? यह प्रश्न हमें मनोविश्लेषण विज्ञान की ओर ले जाता है। हृदय की समस्त वृत्तियों का निर्माण इसी संघर्षपूर्ण जीवन में ही होता रहता है। सजग मस्तिष्क की क्रियाओं, परिणामों और समन्वयों का वह भाग जो उससे फिसल कर अर्धसजग अथवा असजग परिस्थिति में पहुँच जाता है और सजग मस्तिष्क की पकड़ और पहुँच से परे हो जाता है। यही तो हृदय का भाव-कोष है। यही हृदय का वृत्ति-समाहार है। तादृश परिस्थिति से इसी हृदय कोष की कोई परिस्थिति फिर सजग हो उठती है, स्पंदित करने वाली परिस्थिति चाहे दृश्य जगत में मिले चाहे काव्य जगत में। सुषुप्त परिस्थिति अथवा राग का सहसा सजग होकर समस्त सजीव रूप को सहानुभूति से ओत-प्रोत कर देने का नाम आनंद है।

जब आज की मानसिक क्रियाएँ अथवा चिंतना के सजग प्रत्यय ही कल हृदय के भाव अथवा राग में परिवर्तित हो सकते हैं तब हृदय और मस्तिष्क के बीच मोटी मेड़ खड़ी करना अतार्किक है। मानवता की रुचि विभिन्नता का कारण उसकी चिंतना के विकास की विभिन्नता है। मूर्त्त और व्यक्त रूप-व्यापारों से ऊपर उठकर, अमूर्त अव्यक्त और अवच्छन्न रूप-व्यापारों में लीन होने वाला हृदय विकसित चिंतना और समुन्नत सभ्यता का परिचायक है। अमूर्त रूप-व्यापारी की निबंधना में चिंतना का प्रवेश स्वाभाविक है। सच्चा कवि-जीवन की मार्मिक गुत्थियों का निवेश ही नहीं करता, वह निसर्ग के सजग स्पंदन को ही नहीं दिखलाता, वरन उन गुत्थियों के सुलझाव और निसर्ग के तिरोहित प्राण को भी स्पष्ट करने में उसी तल्लीनता से चिंतना को पकड़ता है। सच्चे रसिक के लिये यह काव्य रूखा नहीं। यह मानसिक प्रयास की वस्तु नहीं। उसकी भीतरी रुचि इसी में रमण करती है। हृदय और मस्तिष्क का वह इसमें पूर्ण सोहाग पाता है। जिन व्यक्तियों को दार्शनिक कहा जाने वाला काव्य रूखा और नीरस प्रतीत होता है और दुरूह अथवा

जटिल मालूम होता है। उन्हें बुद्धि की उन्नति द्वारा हृदय को समुन्नत करना चाहिये। ऐसे काव्यों को कई बार पढ़ना और मनन करना चाहिये। जितने ऊँचे स्तर से कवि ने अपनी कृति की सृष्टि की है उतने ऊँचे पहुँचने का प्रयास करना चाहिये।

यह कहना कि जो उक्ति सीधे जाकर हृदय पर चोट नहीं करती वह कविता नहीं है, सत्य भी है और असत्य भी है। यदि हमारे हृदय का परिष्कार ही नहीं हुआ, यदि ऊँची चिंतना को प्रवेश करने के लिये हमारा हृदयद्वार पर्याप्त प्रशस्त नहीं है, यदि हमारे हृदय को व्यक्त से ऊपर उठकर अव्यक्त और अमूर्त्त के साथ रमण करने का अभ्यास नहीं है, अथवा हमारा हृदय व्यापक सहानुभूति नहीं रखता, यदि हम ध्वन्यात्मक उक्ति के व्यंग्यार्थ तक सहसा पहुँच नहीं पाते, यदि हमें दुरूह और ऊँची चिंतना की डोर पकड़े रहने का अभ्यास नहीं है, तो हमें किसी भी उक्ति पर यह दोष लगाना कि वह सीधे हृदय पर प्रभाव नहीं डालती अपनी मूर्खता प्रदर्शित करना है। हम स्वयं देखते हैं कि हृदय और बुद्धि वैषम्य के कारण काव्य के मर्म तक पहुँचने में कितना अंतर पड़ जाता है। हाँ, काव्योक्ति सदोष कहाँ हो जाती है जहाँ कृतिकार बुद्धि के प्रत्यय को ऐसे तत्त्वों के साथ समीक्षा करने बैठ जाता है जो उसके हृदय में स्वयं पैठे नहीं हैं। उसकी असजग अथवा अर्ध सजग परिस्थिति में तादृश परिस्थिति है ही नहीं अतएव वह स्वयं झंकृत अनुभव नहीं करता। ऐसी अवस्था में वह दूसरे के हृदय को भी स्पर्श नहीं कर सकता।

ऐसा व्यक्ति यदि अपनी निबंधना में सहेतुक व्याख्या के रूप में किसी सिद्धांत के प्रतिपादित करने का प्रयास करे भी तो वह किसी दार्शनिकवाद की सृष्टि कर सकेगा काव्य की नहीं। विषय को सुलझा-सुलझा कर सरल छोटे-छोटे वाक्यों में मस्तिष्क प्रज्ञात्मक शैली के सोपान में ऊर्ध्वगमन कर सकेगा पर मस्ती के पालने में बिठाकर पैंग नहीं लगा सकता। हृदय में घुली-मिली विचारधारा और चिंतना के न जाने कितने रंग विरंगे पंख होते हैं। सच्चे कवि की कृति में नाना आकार प्रकार की स्वतः निसृत उक्तियाँ उसी प्रकार एक के बाद एक सजती हुई चली जाती हैं जिस प्रकार नाचते हुए मयूर के रंग-बिरंगे पङ्ख। मयूर के पङ्खों में भी विभिन्न रंगों की रेखाएँ होती हैं और उन्हें ज्ञान के प्रकाश में गिना जा सकता है। पर उन्हें गिनने कौन बैठता है? उसके नृत्य के साथ पङ्खों का समूचा सौंदर्य घुल मिलकर भीतर क्रांति मचा देता है। कुशल काव्यकार की उक्तियों की दार्शनिक चिंतनाएँ कौन सुलझाने बैठता है, उसके समूचे सौंदर्य की ठेस रसिकों को तिलमिला देने के लिए पर्याप्त है।

निबंध

हिंदी में निबंध और प्रबंध दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। निबंध और प्रबंध के शाब्दिक अर्थों में ठीक विरोध है। किसी प्रकार के बंधन को न स्वीकार करनेवाला साहित्यिक गुंफन निबंध कहलाना चाहिये और विशेष प्रकार के बंधनों के अनुसार की गई साहित्यिक रचना को प्रबंध के नाम से पुकारना चाहिये। अंग्रेजी साहित्य में भी यह अर्थ-विरोध जैसे का तैसा मिलता है। प्राचीन आचार्यों ने 'एसे' का जो स्वरूप निरूपण किया था वह बहुत कुछ निबंध शब्द के ही अनुकूल है, परंतु यह रूप बदल कर आजकल प्रबंध के ही भाव में प्रयोग होने लगा है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कोषकार तथा अद्वितीय प्रबंध लेखक आचार्य जानसन निबंध की परिभाषा में लिखते हैं—

"निबंध को नियमित और सिलसिलेवार निबंधना न समझना चाहिये। वह तो अव्यवस्थित और बेपचा हुआ विचारांश है जिसे हम मानसिक जगत का ढीला-ढाला बुद्धिविलास कह सकते हैं*"। अंग्रेजी भाषा के सबसे प्रसिद्ध कोष† में दोनों धाराओं का एकीकरण मिलता है। तदनुसार "पहले किसी भी विषय अथवा उसके अंगविशेष पर लिखा हुआ असाधारण लम्बाई वाला 'असम्बद्ध तथा बिना अपनाये हुए विचारों से पूर्ण' (जान्सन) निबंध को प्रबंध की संज्ञा दी जाती थी परंतु अब उसमें सँवारने का भाव कुछ अधिक आ गया है, यद्यपि उसकी विचारपरिधि अधिकांश में सीमित ही है।‡"

---

*'A loose sally of mind, an irregular, indigested piece, not a regular and orderly performance.'

—Dr. Johnson.

† O. E. D. × The Treatise of Human Nature.

‡ "A composition of immoderate length on any particular subject, or branch of a subject, originally implying want of finish, 'An irregular indigested piece (j), but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range."

वास्तव में ये दोनों परिभाषायें संकुचित हैं और हम प्रबंध कहे जानेवाले सब साहित्यिक निबंधों को इसके अंतर्गत नहीं रख सकते। यदि हम निबंध में अपूर्णता और संक्षिप्तता को ढूँढ़ते हैं तो गवेषणापूर्ण बड़े निबंध में व्यवस्था और विस्तार की ही कल्पना करेंगे। लेकिन 'ह्यूम' का लेख§ छोटा है परन्तु व्यवस्था का उदाहरण है और 'लाक' का लेख† बड़ा है परंतु उतना स्पष्ट नहीं।

यह भी न भूलना चाहिये कि प्रबंध केवल गद्य के ही क्षेत्र की वस्तु नहीं है। उसका श्रीगणेश पद्य से ही आरम्भ हुआ है। १८ और १९वीं शताब्दी में भी इँगलैण्ड में प्रबंध छंदबद्ध होते थे। अंग्रेजी भाषा में गद्य प्रबंध साहित्य के जन्मदाता वास्तव में बेकन को समझना चाहिये। परंतु उसके पूर्व ही वहाँ के विद्वान मूर्ख राजा जेम्स के लेख लिख चुके थे।

अँग्रेजी में गीत ×, महाकाव्य†† और विषादांत अभिनय** का अपना एक विशेष अर्थ है; परंतु 'एसे' की रूपरेखा और विस्तार बिलकुल अनिश्चित है। अँग्रेजी शब्द 'एसे' का शाब्दिक अर्थ है—आरम्भिक प्रयास+। अतएव निबंध शब्द की अव्यवस्था और अपूर्णता की संगति भी उसके साथ बैठ जाती है। 'एसे' शब्द का सीमा विस्तार इतना ढीला है कि ऐसी वैसी सब साहित्यिक रचनाएँ, जिन्हें और कहीं स्थान नहीं मिलता, 'एसे' के नाम से पुकारी जाती हैं। एक ओर 'लाक' की प्रसिद्ध रचना‡ और दूसरी ओर लैम्ब की विचारधारा* यदि समानरूप से निबंध कही जा सकती है तो 'एसे' की परिभाषा की व्यापकता आप ही आप लुप्त हो जाती है।

सच पूछिये तो आकाश के नक्षत्र और पृथ्वी के चमकीले रज-कण, जीवन के सूक्ष्मतम पक्ष और सृष्टि की स्थूल आश्चर्यपूर्ण परिस्थितियाँ, इहलोक और इतरलोक, प्रत्यक्ष और परोक्ष कोई ऐसा विषय नहीं रह जाता जिसे हम प्रबंध में बाँध न सकें। न हम लेखन प्रणाली और अभिव्यञ्जन शैली के ही बल पर प्रबंध को एक निश्चित सीमा के भीतर ला सकते हैं। किसी प्रबंध की रोचकता बढ़ाकर कही गई बात के कारण भी

---

§ "Essay on criticism" Essay on man.'
† 'Essays of a practice in the divine Art of Poesie.'
× Lyric, †† Epic, ** Tragedy.
+ Something tentative.
‡ An essay concerning Human Nature.
* Lamb's Essays.

हो सकती है और कहीं कहीं अत्युक्ति का आश्रय लिये बिना ही एक सुंदर प्रबंध लिखा जा सकता है। कुछ प्रबंधों की शैली में सजग उपेक्षा के बीच में तन्मयता की तीव्रता और भावपूर्ण उद्‌गारों की मार्मिकता भी पाई जाती है जो अंतस्तल की गहरी वृत्तियों के मूल से जन्म लेती है। इन्हीं सब कारणों से अंग्रेजी में निबन्ध की परिभाषा-रचना असम्भव प्रमाणित हुई। प्रसिद्ध कोषकार और साहित्यिक अधिनायक आचार्य जान्सन की असफलता इसका ज्वलंत प्रमाण है।

व्यावहारिक रूप में अंग्रेजी में प्रबंध को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। एक शुद्ध प्रबंध* और दूसरे वे जिन्हें पूर्व परिचित परिपाटी के अनुसार यह नाम दिया गया है और जो केवल अपूर्णता और लघुरूपता के नाते ही प्रबंध कहे जाते हैं। इस लघुरूपता तथा अपूर्णता का कारण कदाचित् यही हो सकता है कि विषय को केवल संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है अथवा किसी बड़े विषय के अंग-विशेष को ही प्रबंध की परिधि में लाया जाता है। यह विषय मनुष्य के अनुभव का कोई भी अंग हो सकता है। यह पूर्ण वैज्ञानिक अथवा पूर्ण दार्शनिक रूप में लिखा जा सकता है—कभी इतिहासिक, कभी आलोचक का बाना पहन कर भी वह आ सकता है। परंतु यह प्रबंध शुद्ध प्रबंध के साहित्यिक रूप से इतर है। ऐतिहासिक प्रबंध की जोड़ गाँठ को अपूर्ण इतिहास की संज्ञा दी जा सकती है। एक दार्शनिक विचारपूर्ण निबंध का परिवर्धन उसे गवेषणापूर्ण बड़े निबंध† का रूप दे सकता है। लेकिन इन प्रबंध कहे जानेवाले निबंधों के अतिरिक्त जो शुद्ध साहित्यिक प्रबंध हैं वे हमें अंग्रेजी में सब से अच्छे रूप में 'लैम्ब' में और 'मानटेन' में मिलेंगे। इन प्रबंधों को हम कहीं से भी नहीं बढ़ा सकते। वह अपने में पूर्ण हैं। 'मानटेन' के 'एसे' निज के विचारों को एक कलात्मक सूत्र में पिरो देने का प्रयास करते हैं। शैली आकर्षक और भावमय है। किसी विषेश विषय का शीर्षक रखकर उसके अंतर्गत जीव जगत के अनेक पहलुओं का स्पर्श करते हुए 'मानटेन' के 'एसे' स्वतंत्र अनुभवों की मनोरम तालिका के रूप में प्रकट हुए। उसके 'एसे' विषय के प्रधान सूत्र को ही पकड़ कर चलते हैं और आत्यंन्तिक रूप से उसका त्याग कभी नहीं करते। निबंध के समाप्त होने पर हम उसकी अंतर्निहित एकता का अनुभव करते हैं। उसके निबंधों में आत्मीयता का भाव झलकता है। सहानुभूति और आत्मीयता के वातावरण के साथ-साथ 'व्यक्तिगत और स्वानुभूत

---

* Essays par Excellence.
† Treatise.

विचारों की नैसर्गिकता उनमें रहती है। एलेक्जेण्डर स्मिथ ने अपने निबंध में बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया है। उसका यह लेख स्वयं प्रबंध लेखन-कला पर लिखे गये सर्वोत्तम प्रबंधों में से है। वह लिखता है—

"किसी केंद्रीय मनोदशा के द्वारा स्वरूप निश्चित किए जाने के कारण प्रबंध सबसे अधिक गीतकाव्य के पास है। वह मनोदशा चाहे केवल सनक के रूप में हो अथवा गंभीर व्यंग्य के रूप में हो। मनोदशा विशेष होनी चाहिए और उसी के आस-पास प्रबंध उसी प्रकार बढ़ता है जैसे कौशेय-जंतु के चारों ओर कौशेय-तंतु।" आगे चलकर वह लिखता है : "साधारणतया प्रबंधलेखक किसी देश के साहित्य के इतिहास के आरम्भ में नहीं पाया जाता। स्वभावतः वह कवि और इतिहासकार के पीछे अवतीर्ण होता है। उसका मस्तिष्क स्वभाव से ही मंथर-गतिशील होता है। वह भावावेग के कारण लिखने में प्रवृत्त नहीं होता। न वह किसी नई सृष्टि का विधायक ही होता है। वह तो प्रस्तुत सामग्री पर अपनी टीका जड़ देता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि ग्रंथ लिखे जा चुके हों और कुछ अंशों में वह पढ़े भी जा चुके हों और कुछ ने उन्हें अपने-अपने अनुभव का अंग भी बना लिया हो। साधारणतया उसके लेखों में सीधे तौर पर या संकेत रूप में पूर्ववर्णित विषयों के उल्लेख होते हैं और इस कारण उनको हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक में उनके समझने की क्षमता भी हो।*"

---

* The Essay, as a literary form resembles lyric, in so far as it is moulded by some central mood whimsical, serious or satirical. Give the mood and the essay, from the first sentence to the last grows around it as the cocoon grows around the silkwarm." "The Essayist", he further says, "does not usually appear early in the literary history of a country; he comes naturally after the poet and the chronicler. His habit of mind is liesurly, he does not write from any special stress of passionate impulse. He does not create material already existing. It is essential for him that books should have been written and that they should, at least, to some extent, have been read and digested. He is full of allusions and references and these his readers must be able to understand and follow."

अंग्रेजी भाषा के साहित्य (१५६१—१६२६) में बेकन ने सर्वप्रथम 'प्रबंध-लेखन' का आरंभ किया था। उसके विचारों में अंग्रेजी भाषा का 'एसे' शब्द बाद की उपज है तथापि बीजरूप में यह भाषा के इतिहास के आरंभ की वस्तु भी कही जा सकती है। वह प्रबंधों को विचार-संग्रह के रूप में देखता था। उन्हें वह विचार-प्रकाशन की कसौटी भी समझता था। जिस प्रकार एक कलाकार किसी बड़े काम को हाथ में लेने से पहले छोटे कामों में अपना हाथ माँजता है उसी प्रकार महाकाव्य या अन्य कोई गवेषणापूर्ण ग्रंथ लिखने से पहले विचारों की परीक्षा करने के लिए 'एसे' उपयुक्त समझा जाता था। बेकन के प्रबंधों में बाह्यरूप अथवा शैली का अधिक ध्यान नहीं रखा गया है; परंतु उसका एक एक शब्द अर्थ गांभीर्य का उदाहरण है और यदि गागर में सागर भरना किसी उच्च शैली की कसौटी है तो बेकन से बढ़कर दूसरा लेखक अंग्रेजी में ढूँढ़ना कठिन है।

वास्तव में साहित्य के इस रूप को बेकन ने फ्रेंच के अमर कलाकार 'मानटेन'से उधार लिया था। परंतु 'मानटेन' के प्रबंधों में उसके व्यक्तित्व की छाप है। उसके विचार अपने विचार हैं। बेकन ने अपने लेखों से अपनापन यथाशक्ति निकालकर उन्हें ज्ञान की गठरियों के रूप में अपने से अलग कर रखा है। उसके बाद के प्रबंध लेखक—ओवरवरी (१५८१-१६१३) और अर्ल (१६०३-१६६५) ने इसे और भी अधिक लेखक से अलग की वस्तु बना दिया। नाटककार के पृथकत्व की भावना इनके विशेष प्रकार के निबंधों की विशेषता है। ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने विश्व के रंगमंच पर लाये हुये चरित्रों की समीक्षा अपने प्रबंधों में की है।

यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि सर टामस ब्राउनी (१६०५–१६८२) के समय में प्रबंन्ध शब्दों के संगीत पर ही निर्भर रहने लगे। उसके लेखों में मस्तिष्क की दौड़ भी है पर भाषा के संगीत का ध्यान उससे बहुत अधिक है। यह सब लेखक दुनियादारी से अलग होकर साहित्य के उद्यान के एक कोने में बैठकर ख्याली घोड़े दौड़ाने में बहुत कुशल थे।

लेकिन कौले (Cowlay) (१६१८–१६६८) के आने के साथ ही एक नये युग का प्रारम्भ होता है। आत्मीयता का भाव इसके प्रबंधों की विशेषता है। मानटेन के प्रबंधों की आत्मा के साथ साक्षात्कार का प्रयत्न कौले के ही हिस्से में पड़ा। इसने अपने लेखों में गद्य और पद्य दोनों को ही मिलाकर लिखा है। इसके बाद हम ड्राइडन के पास पहुँचते हैं। इसकी शैली स्पष्ट, जोरदार और सीधे हृदय पर प्रभाव

डालनेवाली होती थी। यद्यपि ड्राइडन नाटककार और आलोचक के रूप में विशेष प्रसिद्ध है परंतु उसकी सर्वोत्तम रचनाओं के नमूने उसके लेखों और प्राक्कथनों में ही पाये जाते हैं।

एडीसन (१६७२–१७१६) ने प्रबंध के रूप और रंग में काया पलट कर दी। उन्होंने साधारण रूप में व्यवहृत होने वाली सीधी-सादी भाषा में नागरिकता की रक्षा करते हुए बड़े-बड़े गम्भीर विषयों पर अपनी लेखनी का बल तोला है। बहुत से ऐसे विषय जो सांसारिक लोगों के सुनने में भी न आते थे, दैनिक संभाषण की सामग्री का रूप ले रहे थे।

आचार्य जान्सन (१७०६-१७८४), गोल्डस्मिथ (१७२८-१७३७) और ह्यूम (१७११-१७६०) भी उसी शताब्दी में उत्पन्न हुए। जान्सन एक भारी भरकम दीर्घकाय व्यक्ति था। उसकी शैली और भाषा उसके स्वरूप के अनुकूल थी। उसने अपनी गंभीर शैली में भारी भारी विषयों पर निबंध लिखे हैं। गोल्डस्मिथ उतना ही विनोदप्रिय था। विनोद-प्रियता उसके स्वभाव का अंग थी। उसे संसार के उतार-चढ़ाव का व्यावहारिक ज्ञान था। दूसरे उसमें दुराव कुछ भी न था। इन्हीं सब कारणों से वह सर्वप्रिय बन सका। ह्यूम ने प्रबंध में गाढ़ेपन और दार्शनिकता का समावेश किया। उसने अनेक विचारपूर्ण प्रबंध लिखे हैं।

धीरे-धीरे प्रबंध साहित्य ने भाषा साहित्य में अपना निश्चित स्थान बना लिया। अब लोग आत्मप्रकाशन के लिए गीतों के स्थान में इन्हीं का प्रयोग करने लगे। मासिक-पत्रों और आलोचना साहित्य का आरम्भ हो जाने के कारण प्रबंध में एक नई दिशा की सृष्टि हुई। दि एडिनबरा रिव्यू, दि क्वार्टरली रिव्यू, दि ब्लैकाउड नामक पत्रों के साथ जेफ्री, सिडनी स्मिथ और क्रिस्टफरनार्थ के नाम जुड़े हुए हैं। लेहण्ट, और डिक्वेन्सी भी इसी युग की देन हैं। प्रसिद्ध नाविक योद्धा नेलसन की जीवनी के ख्यात-नामा लेखक 'सदे' भी क्वार्टरली रिव्यू में अपनी रचनायें प्रकाशित करवाता था।

इसी प्रकार मैकाले का १८२५ ई० में मिल्टन पर लिखा हुआ लेख प्रबंध-साहित्य के इतिहास में एक नये परिच्छेद का आरम्भ करता है। वह तड़क-भड़क पसंद आदमी था। उसकी भाषा बड़ी ऊँची पैंगें मारती हुई आगे बढ़ती है। उसके लेखों को हम छोटी जीवनी या किसी स्थल अथवा दृश्य विशेष का चित्रमय वर्णन कह सकते हैं। संपूर्ण मानवता के न्यायाधीश के आसन से उसे हम गम्भीर निर्घोष करते हुए सुनते हैं।

कार्लाइल ने भी मैकाले की भाँति मासिक पत्रों के लेखक के रूप में अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया था। वह कल्पनाप्रधान व्यक्ति था। सदैव सातवें आसमान

की उड़ान भरना उसका स्वभाव बन गया था। रस्किन ने उसके विषय में कहा है—

"कार्लाइल के लिए इसके अतिरिक्त कहा ही क्या जा सकता है कि वह मेघमाला के मध्य वज्राघात से स्वयं मुरझाते हुए संसार में अमरता का संदेश दे जाता है!" स्फूर्ति और सच्चाई की इसकी रचनाओं में कमी नहीं है और पूर्णता इसके प्रबंधों की विशेषता है।

इसी युग में बहुत से ऐसे भी साहित्यिक हुए जो प्रबंधलेखक तो न थे परंतु गौण रूप से उन्होंने प्रबंध-साहित्य के परिवर्तन में योग दिया। उन्होंने इस कथन की सत्यता को प्रमाणित किया है कि कवि अच्छे गद्यलेखक भी हो सकते हैं। इनमें कालेरिज, वर्डसवर्थ, सदे, शैली, लैण्डर और स्काट के नाम मुख्य हैं। इनमें प्रथम नाम विशेष महत्त्व रखता है। उसने अनेक भावपूर्ण आलोचनात्मक प्रबंध-खंडों की रचना करके आलोचना के क्षेत्र में क्रांति की लहर उत्पन्न कर दी।

इन सब रचनाओं में मस्तिष्क की भूख मिटाने की सामग्री तो थी, कवियों द्वारा निश्चित खंड काव्यों में काव्य के रसास्वादन का अनुभव भी होता था और आलोचनात्मक प्रबंधों के अनुशीलन से जनता की रुचि परिष्कृत हो चुकी थी। परंतु इनमें एक बात की कमी थी। कौले की आत्मीयता धीरे-धीरे प्रबंधों से घुल चुकी थी। लैम्ब आकर प्रबंध को एक प्रकार से उचित दिशा में ले गया। उसने अपनेपन को अपने प्रबंधों में घोलकर एक ऐसे रस की सृष्टि की जिसके स्वाद ने सबको मस्त कर दिया। वह यह भली-भाँति जानता था कि पाठकों को अपनी ही बातों से कैसे मोह सकता है। जो कुछ भी उसके अनुभव में आता था, जो कुछ भी वह सोचता था और जितनी भी वस्तुएँ उसके सामने पड़ती थीं, उन्हीं सबको वह कागज पर ले आता था। उसकी शैली में कहीं पर भी विरानेपन की गंध नहीं और न उसमें कोई ऐसी ही बात है, जिससे पता चले कि वह पाठकों से बहुत दूर है। वह पाठकों से ऐसे घुल-मिल कर बातें करता है, मानों उनसे छिपाने योग्य उसके पास कुछ है ही नहीं। उसके व्यापक अध्ययन और मानव स्वभाव के पूर्ण परिचय ने उसके प्रबंधों को जीवन-गाथाओं का रूप दे दिया है। उनमें जीवन की सी ही सरलता है। इसी से तो उसे प्रबंध लेखकों का शिरोमणि कहा जाता है।

हैजलिट भी एक बड़ा मौलिक लेखक था। रस्किन की भाँति वह एक कलाकार भी था। साहित्य के विषयों पर उसके अपने विचार हैं। आलोचक के रूप में उसकी अपनी एक शैली है। लेकिन इन सब बातों के अतिरिक्त उसमें एक और आकर्षण

था। उसके प्रबंधों में एक विशेषता थी जिसे हम और कहीं नहीं पा सकते और वह थी उसकी लेखनशैली। वह उन कुछ इने-गिने लोगों में से है जो जैसा सोचते हैं वैसा ही निर्भयता से लिख भी सकते हैं। इसके एक प्रबंध के विषय में स्टीवेन्सन ने कहा था कि उन सब व्यक्तियों को जिन्होंने इस प्रबंध* को नहीं पढ़ा है अर्थ-दंड से दंडित करना चाहिए।

डीक्विन्सी और लेहण्ट के नाम भी प्रबंध लेखकों की गणना में आते हैं। परंतु हमें आनेवाली शताब्दी के लेखकों के विषय में कुछ ज्ञान न्यूमैन (१८०१-६०), मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८८) और रस्किन (१८१९-१९००) की रचनाओं में मिलेगा। कार्डिनलन्यूमैन वही लिखता था जो वह कहना चाहता था और उसकी भाषा में जोर था। इससे अधिक उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। मैथ्यू आर्नल्ड भी आलोचनात्मक निबंधों के लेखक के रूप में प्रसिद्ध है, कविताओं से उसकी अधिक ख्याति नहीं हुई।

रस्किन के अधिकांश ग्रंथ अब पुस्तकालय की आल्मारियों की ही शोभा बढ़ाते हैं, परंतु उसके प्रबंध-संग्रह अब भी बड़ी रुचि से पढ़े जाते हैं। उनसे पता चलता है कि उसकी कल्पना शक्ति कितनी पूर्ण थी और उसका अध्ययन कितना व्यापक था। इसके साथ ही ब्राउनी की भाषा का शब्द-संगीत भी उसकी भाषा के शृंगार के रूप में हमें देख पड़ता है। स्टीवैन्सन इसे सँवारने के प्रयत्न में रस्किन से भी दो पग आगे बढ़ जाता है। उसके प्रबंधों का आकर्षण उसके व्यक्तित्व के कारण है।

१९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के यही चुने हुए प्रबंध-लेखक हैं। इसके पश्चात् प्रबंध लेखकों का चुनाव असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कदाचित् ही ऐसा कोई ख्याति लाभ करने वाला लेखक हो जिसने प्रबंध न लिखे हों। मासिक पत्रों की बढ़ती हुई संख्या और समाचार-पत्रों के बाहुल्य तथा समय की तीव्र गति ने प्रबंध लेखक को सबसे आगे लाकर खड़ा कर दिया है। ढेर के ढेर प्रबंध लेखकों के नाम गिनाये जा सकते हैं। जिनमें से मुख्य-मुख्य ये हैं—

बेजहाट (१८२६-१८७७), वाल्टर पेटर (१८३९-४४), इमर्सन (१८०३-८२), लाएल (१८१९-६१), थैकरे (१८११-६३), फ्रूड (१८१८-६४), हर्बर्ट स्पैन्सर (१८२०-१९०३), लार्ड एववरी (१८३४-१९१३) ऐण्ड्रयूलैंग (१८४४-१९१२), जे० ए० साइमन्स (१८४०-९३), आर० एच० हटन (१८२६-९७), आस्करवाइल्ड (१८५६-१९००)

---

* On going a journey.

आर० डबल्यू० चर्च (१८१५-६०), लैस्ली स्टीफैन (१८३२-१६०४), मार्ले (१८३८-१६२३) फ्रीमैन (१८२३-६२) ग्रीन (१८३७-८३), हैक्सले (१८२५-६५), टिएडल (१८२०-६३), रिचर्ड जैफ्रसिन (१८४८-८७), एडमरड गास (१८४६) आगस्टिन बिरेल (१८५०) वाल्टर रेले (१८६१-१६२४), ए० जी० गार्डिनर (१८६५), डबल्यू० बी० यीट्स (१८६५), एच० जी० वैल्स (१८६६), ई० वी० लूकास (१८६८) जान गाल्सवर्दी (१८६१), आरनल्ड बेनेट (१८६७), डीन० इंग (१८५०), जे० के० जैस्टरटन (१८७४), रिचर्ड मिडिल्टन, मारिस ह्यूलेट (१६२३) वर्लनली ए० सी० बेन्सन, जे० मिडिल्टनमरी, इत्यादि और अनेक नाम इसमें जोड़े जा सकते हैं। उधर और भी नये-नये उत्तम लेखक उत्पन्न हो गये हैं। चाहे गीतिकाव्य और नाटक के भविष्य के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ न कह सकें, परंतु जहाँ तक अंग्रेजी भाषा के प्रबंध–साहित्य के भविष्य से सम्बंध है, यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह इन लेखकों के हाथों में सुरक्षित है।

भारतवर्ष में निबंध शब्द हमेशा प्रबन्ध के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लेखक के व्यक्तित्व का रूप और उसका विकास निबंध में ही देखने में आता है। आज का निबंध भी निज की रूप साधना की अवतारणा रखता है, चाहे यह साधना मौलिक हो अथवा कृत्रिम स्वीकृत हो अथवा ओढ़ी हुई। संस्कृत के आचार्यों ने निबंध को बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन बनाया था। समस्त दार्शनिक विश्लेषण छंदों में हुआ, पर थे ये निबंध ही। शैली कहीं-कहीं अत्यंत जटिल होकर सूत्रवत् हो गई। बड़ी महीन बुद्धि के सहारे काट-छांट के पैनेपन से यहाँ न जाने कितने खंड़न-मंडन हुए। ये आलेख रूखे, वैज्ञानिक और बुद्धि प्रधान थे। जितने प्रबंध गद्य में भी लिखे गये, वे इतने रूखे और शुद्ध तार्किक थे कि वे सरस साहित्य की कोटि में न आ सके।

हिंदी में प्रबंधों की अवतारणा पाश्चात्य प्रबन्धों के अनुसार हुई संस्कृति के आदर्श के अनुकूल नहीं। गोस्वामीजी ने लिखा है—

'भाषा निबंधमतिमंजुलमातनोति'

जिस प्रकार पद्य के निबंधों में भी सरसता परमावश्यक हुई उसी प्रकार गद्य के निबंधों में भी सरसता अनिवार्य समझी जाने लगी। निबंधों में प्रबंधत्व की अवतारणा और उनमें विचित्र-विचित्र शैलियों का विकास क्रमशः हुआ।

भारतेन्दु के समकालीन निबंध-लेखक कला से अवगत न थे। उनमें से कुछ तो अपने निबंधों का आरम्भ परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद देकर करते थे। प्राचीन लेखकों में रूढ़िगत धार्मिकता और भावुकता का प्रकाशन भी अधिक मात्रा में किया

गया था, किंतु भारतेंदु तथा उनके समाकालीन कतिपय लेखकों ने इस दिशा में सफलता प्राप्त की। इस क्षेत्र में सबसे अधिक उत्कृष्ट कार्य पंडित प्रतापनारायण मिश्र का माना जायगा। उनमें विनोद की मात्रा के साथ-साथ स्वगत भाव को अत्यंत स्पष्ट और स्वाभाविक रूप से कहने की क्षमता थी। आत्मीयता उनकी शैली का एक विशिष्ट गुण है। अन्य लेखकों में कृत्रिम गंभीरता का पुट रहता है जो उक्त कला के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ।

भारतेंदु मंडल के बाद पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ही ने प्रबंध लेखकों में बड़ी ख्याति पाई। मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक प्रबंधों में स्वर्गीय पं० रामचंद्र शुक्ल अपना विशेष स्थान रखते हैं। शैली की मौलिकता में अध्यापक पूर्णसिंह अपने ढंग के अकेले ही प्रबंध लेखक हैं। वर्तमान लेखकों में बहुत से उच्चकोटि के प्रबंध लेखक हैं। हिंदी साहित्य को उनसे बड़ी आशा है। जीवित प्रबंध लेखकों की चर्चा यहाँ नहीं की गई है।

कहानी

हिन्दी भाषा में कथा और कहानी दो शब्द बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। हम लोग भ्रमवश उन्हें एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। परंतु उनमें अंतर है। कथा वास्तव में, बड़ी गाथा को कहते हैं। आजकल इस अर्थ में उपन्यास शब्द का प्रयोग होता है। अंग्रेजी में नावल शब्द इसका भाववाची है। कहानी का भाववाची शार्ट स्टोरी अथवा आख्यायिका है। इतिहास की दृष्टि से कहानी से कथा पुरानी है। सब देशों में ही कथा की प्राचीनता देखने में आती है। वह गद्य और पद्य दोनों में मिलती है। वर्तमान कहानी का रूप और उसकी आकार बोधिनी परिभाषा पश्चिम की साहित्यिक परिपाटी से मिली है। भारतवर्ष के साहित्य में छोटी कथाएँ भी थीं और बड़ी भी परंतु उनका विभेद केवल आकार का था वस्तु का नहीं। यहाँ बड़ी-बड़ी कथाएँ भी थीं और बड़ी कथा से बँधी हुई कहानियों की लड़ी भी थी।

इस देश की परिपाटी है कि हम अपने समस्त वर्तमान स्वरूप का मूल वेदों में ढूँढ़ते हैं और उसके आरम्भिक रूप से विकास का इतिहास जोड़ने बैठते हैं। अधिकांश में मूल अन्वेषण का यह प्रयास अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता, परंतु मूल की शोध में हम बहुत बार रूढ़िवादी और प्राचीनवादी भावना से ऊपर नहीं उठ पाते। चेतना अपने विकास के साथ-साथ चिंतना का विकास भी करती चलती है। अतएव बुद्धि के उत्थान में कभी भी रोक नहीं लग सकती। फिर मूल का मूल्य केवल उतना ही रह जाता है जितना भगवान् रामचंद्र के महत्त्व के विस्तार में उनके पिता दशरथ का। कभी-कभी तो मूल से शाखाएं और फल-फूल नितांत प्रतिकूल रूप में सामने आते हैं और उनका नाता हिरण्यकश्यपु और प्रहलाद का सा हो जाता है। कथा का आदि रूप कथा के इतिहासकार ऋग्वेद में ढूँढ़ते हैं क्योंकि वह मानव सभ्यता का सर्वप्रथम ग्रंथ है। यह सत्य है कि मानव ने मानव के लिए उसमें कुछ कहा है, कथन चाहे किसी संबंध में हो। कथा में मानव की परस्पर के विचार विनिमय की प्रेरणा ही प्रमुख रहती है।

मनुष्य सामाजिक जीव है। वह अपनी बीती अथवा दूसरे की बीती अपने आत्मीय से कहेगा ही। अनुन्नत मानव में अद्भुत और औत्सुक्य का कौतूहल अधिक रहता है। कभी-कभी भीषण रूप व्यापारों की भयानकता का प्रभाव भी गहरा पड़ता

है। भयानकता का सामना शौर्य करता है अतएव शौर्य की गाथाएँ भी उसे रुचती हैं। शौर्य की अतिमात्रा में भी अद्भुता के दर्शन होते हैं। बच्चों और किशोरों में भी अनुन्नत मानवों की भाँति यही बृत्ति काम करती है। अतएव बच्चे अपनी दादी और नानी से कथा सुनते-सुनते सो जाने में सुख अनुभव करते हैं। एक ओर रौद्र, भयानक, अद्भुत कथा को उत्तेजना देते हैं और दूसरी ओर वीर, करुणा और दया उसका विषय बनते चलते हैं। सुननेवालों के स्तर से कथा की यह आकांक्षा रही है परंतु सुनानेवालों ने जब-जब वास्तविक वस्तुस्थिति में किसी शिक्षा के लिये, किसी सिद्धांत समझाने के लिए, किसी सुहावनेपन को लाने के लिए वस्तु अथवा अभिव्यञ्जना में हेर-फेर करना आरम्भ किया तब कथा-कला का सूत्रपात हुआ। वास्तविक को अवास्तविक और अवास्तविक को वास्तविक बनाकर सत्य की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा का नाम कला है।

वेदों के बाद कथा का रूप अन्यत्र भी बिखरा है। उपनिषदों में बहुत ऐसे आख्यान हैं जिन्हें हम शुद्ध कथा कह सकते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् की गाथा में युवक सत्यवान ने पशु-पक्षियों से शिक्षा प्राप्त की है। स्वयं संसार की उत्पत्ति की गाथा भी एक सुंदर कथा है। महाभारत और रामायण तो संसार की प्रसिद्ध कथाओं में से हैं। आज तक उनकी कथाओं के आधार पर न जाने कितने लेखक और कवि अपनी कहानियाँ और कविताएँ रचा करते हैं। साहित्य के लिए ये अक्षय भण्डार हैं। जेनिसिस (Genesis) को योरप निवासी सर्वप्रथम कथा कहते हैं। ईलियड और ओडिसी (Iliad and Odyssey) यूनान की प्रसिद्ध कथाएँ हैं; उनके भीतर से न जाने कितनी कहानियों का जन्म हुआ है। स्केण्डीनेविया की वीर गाथाओं का संग्रह इड्डा (Edda) नाम से प्रसिद्ध है। हमारे देश में रामायण और महाभारत के अतिरिक्त ब्राह्मणों में भी कथाओं की भरमार है। पुराणों में तो कथाएँ ही कथाएँ हैं। ये सब पद्य में हैं। प्राकृत भाषा में गुणाढ्य की 'बृहद कथा' प्रसिद्ध आख्यान हैं। वासवदत्ता, दशकुमार चरित, कादम्बरी, हर्षचरित ये सब संस्कृत की प्रसिद्ध कथाएँ हैं। पञ्चतंत्र और हितोपदेश नीतिप्रचार को दृष्टि में रखकर लिखी हुई कहानियों की कथाएँ हैं। जातक कथामाला भी तथागत संबंधी आख्यान मात्र हैं। ये पाली में लिखी गई हैं। नैतिक आवरण में जब कथावस्तु अधिक न रुची तो उसे रुचिकर बनाने के लिए साहस के आख्यानों में उसे लपेटा गया। इसमें भी एक कला थी परंतु वह आज की कहानी कला से सर्वथा भिन्न थी।

हिंदी में कथा साहित्य का इतिहास 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' अथवा 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से आरम्भ होती है। गोकुलनाथ की यह गद्य रचना कथा का आरम्भिक रूप प्रस्तुत करती है। जटमल की 'गोरा बादल की कथा' लल्लू लाल जी का 'प्रेमाश्रम' सदल मिश्र का 'नासिकेतो पाख्यान' इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' तथा शिवप्रसाद सितारेहिंद और भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का, 'राजा भोज का सपना' तथा 'एक अद्भुत और अपूर्व स्वप्न' वास्तव में हिंदी गद्य की आरम्भिक कथाएँ हैं। पद्य की कथाओं की यहाँ चरचा नहीं की जाती है। भारतेंदुजी मौजी और विनोदप्रिय प्राणी थे वैसी उनकी कहानी है। 'किस्सा साढ़े तीन यार' वैसी बेतुकी वस्तु नहीं हैं जैसा कि शीर्षक से ज्ञात होता है। 'सारंगा और सदावृक्ष' एक चम्पू का हिंदी में अच्छा उदाहरण है। बड़ी कथाओं में चंद्रकांता सन्तति की बड़ी धूम रही और अनुवाद में सहस्र रजनी चरित का भी अच्छा युग रहा। परंतु अभी तक कथा और कहानी का विभेद सामने नहीं आया जो आज दिखाई देता है।

हिंदी साहित्य में आज की कहानी अपनी विशेषताओं की केवलता रखती है। उसका निर्माण पश्चिमीय आकार प्रकार के अनुसार हुआ है। उसका आदर्श भी विदेशी है। अंग्रेजी साहित्य में कहानी को साहित्यिक रूप उन्नीसवीं शताब्दी में मिला। वह रानी एलीजबेथ का समय था। परंतु इस युग में रंग-मञ्च का विकास खूब हुआ और लोगों को कहानी पढ़ने के स्थान में कहानी देखना अधिक रुचिकर हुआ।

प्रेसों की बाढ़, मुद्रण की सुविधाएँ मासिक, पाक्षिक, सप्ताहिक और दैनिक पत्रों की अधिकता, साक्षरता का प्रचार, कौतूहल के प्रति पैतृक अनुराग—आदि कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिनके कारण कहानी के फैलाव में अद्वितीय प्रोत्साहन मिला है। जीवन साधन की कठोरता, वर्त्तमान सभ्यता की फेनिल मुख दौड़-धूप और व्यक्त जीवन के प्रति मोह इतना अवकाश कब छोड़ते हैं कि परीक्षार्थी और समालोचक को छोड़कर साधारण पाठक लम्बे उपन्यासों को पढ़ने बैठे। अवकाश ने रुचि का भी मार्ग प्रदर्शन किया है। पढ़ने की रुचि ने उपन्यास को छोड़कर कहानी का वरण किया। उपन्यासों के रस को अवकाश से, मित्रों के साथ, सिनेमा हाउस में, अभिनयों के रूप में, देखने का स्वभाव डाला गया। आज रसिक से रसिक के लिए भी उपन्यास के लम्बे कथानक केवल टाकीज के विनोदमय घूँट ही नीचे उतार सकते हैं।

हिंदी में कुछ पत्र तो केवल कहानियों के बल पर ही निकलते हैं। उनका उद्देश्य बिक्री मात्र है अतएव उनकी कहानियाँ अधिकतर ऐसी होती हैं जो निम्नस्तर का रतिभाव जागरित करती हैं।

कहानी और कथा के स्थूल अंतर को यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कथा अनेकार्थी होती है। उसमें अनेक कहानियों के तत्त्व मिल सकते हैं। उसमें नायक के अतिरिक्त अनेक और पात्र होते हैं जिनका पूर्ण अथवा आंशिक शील-निदर्शन कथा का अंग समझा जाता है। कथावस्तु का विस्तार, घटनाओं की निश्चित व्यवस्था और उनके घात-प्रतिघात को सामने रखकर किया जाता है। दूसरी ओर शील-निरूपण अंतरद्वंद्व का अच्छा मनोवैज्ञानिक रूप सामने आ सके इस ओर भी परिस्थितियों का ध्यान और घटनाओं की मोड़ रक्खी जाती है। कथोपकथन में अद्वितीय प्रत्युत्पन्नमति और तर्क का आनंद रहना चाहिए। रसों की अनेकरूपता और वृत्तियों की विभिन्नता कथा-साहित्य का गौरव है। विरोधी रसों और वृत्तियों को इस कला से अनुकूल परिस्थितियों को बीच में डाल कर पास पास सजा दिया जाता है जिसमें वैषम्य न खटके और मन भी उचाट न हो। कथा-विस्तार में रोचकता और रुचिमत्ता को शनैः शनैः विखेरा जाता है।

औत्सुक्य और कुतूहल को एक मुट्ठी से और आदर्श एवं लक्ष्य को दूसरी मुट्ठी से इतना धीरे धीरे खोला जाय कि समस्त ग्रंथ की रोचकता बनी रहे और लोग जानने के लिए व्यग्र रहें। परिस्थितियों के बलवान प्रवाह में पात्र इसलिए नहलाया जाता है कि उसका स्वरूप निखरे, उसकी भाव वृत्ति का संस्कार हो। दूसरी ओर परिस्थियों के बलाबल का मूल्य भी मानव जान जाय और संकल्प की दृढ़ता को शक्ति मिले। ये सब बातें कहानी के लिए सम्भव नहीं।

कहानी तो एक छोटी सी साहित्य-वस्तु है। उसमें कथा का सा भारीपन और साहित्यिक बोझ नहीं होता। नसों पर बैठ कर पढ़ते और थकते जानेवाली न भवुकता होती हैं और न गहरा लम्बे तनाववाला बड़ा कौतूहल होता है। अनुभूति की तीव्रता होती है पर अनेकरूपता नहीं होती। रस का गहरा अकेलापन होता है परंतु रसांतर नहीं होता और न अनेकार्थी स्वरूप और भावनाएँ होती हैं। एक तत्त्व, एक संवेदन, एकार्थी प्रेरणा; एक प्रयोजन, एक स्वरूप, तथा एक प्रकार की सर्वत्र मनोरमता कहानी की विशेषता है। कोई भी घटना, कार्य-व्यापार, शील का स्वरूप विषय तथा वस्तु कहानी की प्रेरणा बन सकती है और उस पर कहानी लिखी जा सकती है। कभी-कभी केवल मानसिक प्रत्यय अथवा मनोवैज्ञानिक तथ्य पर भी कहानी आधारित की जा सकती है। कहानी की गति में वेग होता है, कथा मंथर गति से चलती है। कहानी का गुण उसकी सर्वत्र व्याप्त क्षिप्रता और अद्वितीय निष्ठा है, कथा का गुण उसकी मंदता और निष्ठा बाहुल्य है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने कहानी को गहरी होने के प्रतिकूल नहीं कहा है परंतु सरल होना उसका गुण बतलाया है। यदि सरलता से उनका अभिप्राय पत्रों में निकलनेवाली साधारण बाजारूपन से है तो वह कोई गुण नहीं। वह तो दोष है। विचारों की जटिलता साहित्य के सभी स्वरूपों में प्रवेश कर सकती है। चिंतनागांभीर्य, मनोवैज्ञानिक असरलता, अभिव्यंजन की संकेतात्मक दुरूहता और वस्तु का कलात्मक तनाव सभी साहित्यिक कृतियों का गौरव भी हो सकता है और उनका अभिशाप भी हो सकता है। सब कुछ कहानीकार के प्रयोग पर ही आश्रित है अतएव तथाकथित सरलता गुण भी हो सकती है और दोष भी।

कहानी का छोटा होना अनिवार्य है। इस तर्क में कि कथा छोटी भी होती है और कहानी बड़ी भी हो सकती है सब कुछ वस्तु-विन्यास पर अवलम्बित है, केवल इतना ही सत्य है कि समीक्षक का ध्यान कथा और कहानी निभेदक स्थूल तत्त्वों पर अधिक है उसके सृजन के तथ्य पर कम। कहानी का जन्म ही व्यस्त मानव के व्यस्त क्षणों की माँग का उत्तर है। कहानी को मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों के स्तम्भों को सजानेवाली बनना ही पड़ेगा। कथा की सी पोथापंथी कहानी का न लक्ष्य होता है और न उद्देश्य। किसी मासिक के एक ही अंक में आकर अधिक से अधिक आध घंटे के लिए पाठकों का उसे मनोविनोद, अथवा मनोरंजन अथवा मनोमंथन करना होता है। वास्तव में साहित्य के सभी स्वरूपों में सबसे अधिक ढिल मिल होने के कारण उसे किसी परिभाषा में समेटना बड़ा दुस्तर कार्य है। परिभाषा का निर्माण विशेषताओं और आकार-स्वरूपों के निश्चय प्राप्ति से ही सम्भव है। कहानी कला अभी तरुणाई पर है। उसकी प्रौढ़ता अभी दूर है। उसमें नये नये उत्तम से उत्तम कलाकार आ रहे हैं और आये हैं। प्रतिभा का मार्ग लीक की कुटी सड़क नहीं होती। वह तो परिभाषा का पिछड़ापन सिद्ध करके नया स्वरूप दान देने ही में कृतकार्य होती है। अतएव इस समय कोई कड़ी सीमाएँ कहानी को घेरने के लिये नहीं खींची जा सकतीं। मनोवैज्ञानिक सत्य और काल्पनिक वास्तविकता किसी भी कहानी के प्राण हो सकते हैं परंतु कला की सार्थकता इनके व्यक्तीकरण के महत्त्व पर निर्भर है। प्राणों से मुखरित, जीवन से सचेतन, संसार में पुष्ट गति का निर्देशक साहित्य ही किसी उत्तम कहानी की शोभा हो सकता है। जिस वास्तविकता में पकड़ और प्रणोदना है, जिन घटनाओं में प्रस्वेद का आकर्षण है जिन स्वरूपों में आदर्श यथार्थ को ऊपर उठा रहा है वे सब कहानी को महत्त्व देनेवाले हैं। कहानी में अनुभूति की पूर्णता परमावश्यक है। उसकी निबंधना में समूचापन अवश्य होना चाहिए। हल्की कहानियों में रेखा स्वरूप अंकन अथवा परिहास स्वरूप निरूपण,

अथवा परिस्थितियों का विनोदी अभिव्यंजन सभी उचित समझना चाहिए। हाट में अपनी वासनाजन्य आकर्षण पर बिकनेवाली और अपने काले अक्षरों की सतरोंवाले कहानी-पत्रों के लिए रेल के डब्बों, यात्री-गृहों और ह्वीलरों की दुकानों में भीड़ बढ़ाने वाली कहानियाँ साहित्य और कला की श्रीवृद्धि नहीं करतीं। वे भोग के भूखों का पेट भर सकती हैं और साहित्य के व्यभिचारियों को धनी भी बना सकती हैं।

अन्य साहित्य स्वरूप की भाँति कहानी भी सच्ची कला की साधना है। वस्तु, कार्य, परिस्थिति, नायक सभी का उसका संबंध रहता है। मनोवैज्ञानिक अद्वितीयता और समूचापन उसका सबसे बड़ा गुण है। किसी भी बलवान विचारधारा का प्रभाव और किसी भी वाद का समन्वय उसमें मिल सकता है परंतु प्रचार-भावना की सीमा जहाँ पर छू गई कला मलिन हो जाती है। मार्क्सवादी, प्रगतिवादी, प्राचीनवादी, सम्प्रदायवादी, गांधीवादी और अन्य सभी वादियों में से किसी का यदि बोझ अधिक पड़ गया तो चाहे टाल्सटाय हों, चाहे एनातोल फ्रांस हो, चाहे प्रेमचंद हों और चाहे चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य हों सफल कहानी न लिख सकेंगे।

कहानी में भूमिका घातक है। आरंभ से ही गति-भर कर अंत तक पहुँचना चाहिए। विषयांतर का स्थान नहीं होता। स्मृति को केवल आनुषंगिक तीव्रता देने के लिए ही प्रयोग करना चाहिए। कल्पना केवल आसन्न स्वरूपों को सौंदर्य देने में सहायक होनी चाहिए। थोड़ा भी इधर उधर की मोड़ कहानी को मंद कर देती है। किसी स्थल का बोझ अथवा किसी प्रकार के अंतराय का समावेश जिसके कारण प्रभाव की एकदेशीयता अथवा सम्पूर्णता अथवा एकार्थता शिथिल हो जाय अहित-कर है। वस्तु हो अथवा न हो, पात्र हो अथवा न हो, घटनाओं की शृंखला हो अथवा न हो, कार्य हो अथवा न हो, परिस्थियों का निर्माण किया गया हो अथवा न किया गया हो, इससे कुछ बिगड़ता-बनता नहीं।

कथानक की सुबोधता और खुलावट, उसका क्रम-निर्वाह, उसका सुख-दुःख भरा विस्मयापन्न विकास, वस्तु की उच्चता और गम्भीरता, आदि, मध्य और अन्त की कला— ये ही कहानी के सब कुछ नहीं हैं; और न ये आज की कहानी के अपरिहार्य गुण ही हैं।

चरित्र-चित्रण में वर्णनात्मक ढंग के कारण आज प्रेमचंद को नये समीक्षक पिछड़ा हुआ कहते हैं। पर क्या शील-निरूपता की निष्कर्षात्मक प्रणाली प्रत्येक अच्छी कहानी में रह सकती है अथवा रहती है। यदि शील के गुप्त स्फुलिंग संकेत की फूँक से चमक जाते हैं और समीक्षक कला के लिए करतल-ध्वनि कर उठता है तो क्या कभी

ऐसा नहीं होता कि आरम्भ से ही, जाज्वल्यमान शील के अंग सबको अपनी ओर आकृष्ट किये रहते हैं और कला प्रभूत मात्रा में बिखरी रहती है ? क्या कहानियों के लिए एकमात्र घुलावट ही सब कुछ है ? वस्तु की नरमी अथवा कर्कशता किसे हम कहानी के लिए प्राण कहें ?

हिंदी भाषा में कहानी कला पर जो कुछ निकला है उसका सबसे बड़ा भाग कहानी और कथा में अंतर स्थिर करने में व्यय किया गया है। वह अंतर इतना व्यापक और अनेकपक्षी नहीं है जितना दिखाया जाता है। यह भ्रम पिछड़े हुए अंग्रेजी समीक्षकों का विवेकहीन अनुकरण के कारण देखने में आता है। कहानी में चरित्र-चित्रण, कथावस्तु, कथोपकथन तथा घटनाचक्र को उसके प्रमुख तत्त्व कहना और उनकी लम्बी चौड़ी व्याख्या करना अनावश्यक है। ये सब तो कथा के प्रमुख और अनिवार्य तत्त्व हैं। वहीं उनकी विशद समीक्षा अच्छी लगती है। यह भ्रांति भी योरपीय समीक्षकों के पुराने विवेचन के कारण होती है। किसी भी नायक के चरित्र का कोई अंश भले ही किसी कहानी में पकड़ा जा सके अथवा किसी कथा का कोई अंश किसी हेर-फेर के साथ कहानी में आ जाय, अथवा कहीं-कहीं या सर्वत्र कथोपकथन की व्यवस्था की गई हो, अथवा दो चार प्रमुख घटनाएँ तारतम्य के साथ किसी निष्ठा की पुष्टि के लिए नियोजित की गई हों पर इसका यह भाव नहीं कि इन तत्त्वों का सम्यक रूप स्फुरण कहानी में आ सकता है। यह दूसरी बात है कि इनमें से किसी तत्त्व की प्रमुखता के कारण हम किसी कहानी को चरित्र-चित्रण प्रधान कहें, अथवा कथा प्रधान कहें अथवा सम्वाद प्रधान कहें अथवा घटना प्रधान कहें। कहानी के लिये जो तत्त्व परमावश्यक है वह वातावरण का है। वातावरण वस्तु विन्यास के वर्णन से किसी कहानी में पूर्णता प्राप्त नहीं करता, वह तो बड़ी कथा का कार्य है, परंतु कहानी की समस्त गति की परख के लिए एक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि निर्माण करना उसका प्रमुख कार्य है। सारी कहानी के अभिज्ञान के लिए उसके निर्माण की बड़ी आवश्यकता है। उसका अस्तित्व बहुत बार चिंतना के सजग स्पंदन से बनता है और बहुत बार भाव जगत की एकतानता से उदय होता है। वास्तव में वातावरण ही कहानी का प्राण होता है कहानी चाहे पत्रों में लिखी जाय अथवा दिनचर्या के पृष्ठों में, सम्वादों में उसका निर्माण हो अथवा विवरण स्वरूप में, शील के कण वर्णन में आवें अथवा निष्कर्ष में, उत्तम पुरुष लेखक हो अथवा अन्य पुरुष, बड़ी तड़क और कड़क के साथ आरम्भ हो अथवा साधारण ढंग से, शीर्षक चाहे दूर से घोषणा करनेवाला हो अथवा केवल विषय निर्देश करता हो।

कहानी के लिए बोल-चाल की भाषा पर जोर देनेवाले सच्चे रसिक और प्रौढ़ समीक्षक नहीं हैं। वे छोटी कक्षाओं के अध्यापकों की जिद लेकर साहित्य-क्षेत्र में आना चाहते हैं।

हिंदी कहानी आज अनेक रूपों में मिलती है। वर्णनात्मक ढंग की उत्तम से उत्तम कहानियां हैं। वर्णनों में रूप व्यापार का अनोखा बिम्ब-प्रतिबिम्बित रूप उपस्थित करके कुशल कहानीकार स्वर्णनात्मक कहानियों को साधारण कहानी कहनेवाले समीक्षक की प्रतिभा को चुनौती देता है। उनमें साक्षात् और परोक्ष दोनों विधानों का आश्रय मिलेगा। प्रकृति चित्रण के नये-से-नये विधान कहानीकार सीख गये हैं। केवल संवादों से ही सब कुछ कह देना अथवा पत्रों की रचना में कहानी बढ़ा ले जाना भी कुछ उत्तम कहानियों में मिलता है। भाव और रस पक्ष में भी अनेक रूपता है।

ऐयारी के पिटारे और गहमरीजी की जासूसी चक्करदार चोरियाँ भी हैं। कहानियाँ सीधी-साधी भाषा में भी हैं और फिर भी ऊँची है तथा रहस्यात्यक दुरूह भाषा में भी हैं। समाज का चित्रण, राजनीति की चञ्चलता, प्रेम की आह और कराह, धर्म का संदेश, नीति का व्यवहार, व्याख्या, कुटुम्ब, राष्ट्र और अंतरराष्ट्र का स्वरूप, पुरानी गाथाओं का अर्वाचीन चित्रण, नवीन वादों के विवाद, सभी किसी न किसी रूप में आज की कहानी-दुनिया में मिलते हैं। आदर्श प्रेरणावाली कहानियों में नैतिकता ऐसी घुसी रहती है कि वह खटकती नहीं। आदर्श की पकड़ में घोर यथार्थ और यथार्थ के नाम पर आदर्श का सूत्र यह भी कहानियों में रहता है। अलौकिक को वास्तविक बना डालना और वास्तविक को बहुत ऊपर उठा ले जाना दोनों प्रकार के कलाकार कहानी-जगत् में हैं। संक्षेप में वर्तमान जगत् के सारे उत्पीड़न और उसकी समस्त आकाँक्षाएँ कहानियों में हैं।

रविबाबू और शरत्बाबू के प्रभाव से हिंदी कहानियों में दो वर्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं—मनोभाव प्रधान और घटनात्मक कहानियाँ। रविबाबू के अनुयायी कथानक के तारतम्य पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते हैं। वे मन की तह को खोज कर छोटे-छोटे, हलके और गहरे तथ्यों का स्पष्टीकरण ही अपनी कला का स्वरूप मानते हैं। वाह्य स्थिति विशेष का नाता आंतरिक परिस्थिति विशेष से कैसा है, दोनों का आदान प्रदान किस प्रकार का है, दोनों के आंदोलन में कैसे घात-प्रतिघात उत्पन्न होते हैं, इसी का स्पष्टीकरण उनका प्रमुख साधन है। कथानक को केवल साधनमात्र मानते हैं। शरत्बाबू के अनुयायी कथानक की सुचारुता को नहीं छोड़ते। विदेशों की कहानियों

के अध्ययन ने कुछ और तथ्यों को भी उन्हें दिया है। सब का समन्वय आज की अच्छी कहानी में मिल सकता है।

कहानी कला के संबंध में इतना उपारोह केवल इसलिए किया गया कि पाठक समझ ले कि कहानी की समस्त शास्त्रीय विशेषताएँ मिलकर भी कहानी का यथा तथ्य निरूपण नहीं कर सकतीं। कला गति वही होती है। शास्त्र उसे नियमों में जकड़ना चाहता है। अतएव जो भाग शास्त्र पकड़ पाता है वह उस क्षण, उस युग का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है जब इसकी सीमाएँ निश्चित होती हैं। आकार विधायिनी विशेषताएँ परिभाषा बनाते समय भी पिछड़ापन लिये रहती हैं। सच्चे आलोचक को केवल यह देखना चाहिए कि समस्त कहानी का कोई सांघातिक प्रभाव पड़ता है अथवा नहीं और उस प्रभाव के भुलाव में कला की भूलें भूल जाती हैं अथवा नहीं।

चौथा भाग

भारत में राष्ट्रभाषा की समस्या

भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा का निर्णय तो हो चुका है फिर भी इस निर्णय के औचित्य पर हम लोगों में से बहुतों को विश्वास नहीं। कुछ लोगों का विचार है कि संसार में इतनी व्याप्त होने के कारण अँगरेजी को ही यदि हम राष्ट्रभाषा बना सकते तो उसका सारा नया भंडार हमको ज्यों-का-त्यों मिल जाता और हमारा देश नवीनतम विचारों से लाभ उठा सकता। कुछ ऐसे प्रदेशवादी विद्वान हैं जो भारत के दूसरे दूसरे प्रदेशों की भाषाओं को राष्ट्रभाषा बनाने के इच्छुक थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन पर मुसलिम सभ्यता का प्रभाव अधिक है और वे हिंदी उर्दू को एक कहकर, उर्दू को ही खड़ी बोली में अधिक मँजी होने के कारण राष्ट्रभाषा का रूप देना चाहते थे। बहुत से लोग हिंदी उर्दू मिली हुई हिंदुस्तानी नामक भाषा का निर्माण करना चाहते थे और उसे सरलता के नाम पर भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनाने के इच्छुक हैं। अधिक लोग ऐसे भी हैं, जो, संस्कृत पर आधारित, उसके सहारे शब्द निर्माण करनेवाली, शुद्ध हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षपाती हैं। हम लोगों को इनमें से प्रत्येक वर्ग के तर्क की एक-एक करके परीक्षा करनी चाहिये।

अँगरेजी राष्ट्रभाषा क्यों न बने ?

अँगरेजीवादी व्यक्ति राजनीतिक विजय के ध्वंसावशेष हैं। अँगरेजों का शासन चला गया परंतु अँगरेजी का शासन अभी बना है। विजय कई प्रकार की होती हैं। राजनीतिक दासता से कहीं बढ़कर सामाजिक और सांस्कृतिक दासता का प्रभाव पड़ता है। यदि सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूपों की विजय नहीं हुई तो राजनीतिक विजय का अंत बड़ी शीघ्रता से होता है और देश की आत्मा और प्रेरणा दोनों अक्षुण्ण बनी रहती हैं। भारत की सामाजिक परम्परा और सांस्कृतिक शक्ति इतनी पुरानी और बलवती है, उसके तत्त्व इतने चिरंतन और सार्वभौमिक हैं कि उन्हें अपदस्थ करना अँगरेजों की सापेक्षिक नई सामाजिक और सांस्कृतिक प्रेरणा के लिये सरल न था। अतएव उनका प्रभाव वस्त्रों और बोलियों तक ही रहा। भारत की आत्मा अछूती बनी रही।

परंतु कुछ ऐसे भी भारतीय हैं जिन्हें अँगरेजियत के प्रकाश ने चकाचौंध कर दिया था। उनके पास अज्ञता के कारण अपना समाज तथा सांस्कृतिक बल न था। ऐंठ-

ऐंठ कर अँगरेजी बोलने को ही बड़प्पन समझने लगे। ये पूरे अँगरेज बनने में ही देश-हित और देश-कल्याण देखते थे। इनकी मंतव्य की पवित्रता पर मैं आक्षेप नहीं करता। इन्हें केवल अपने देश की संस्कृति को पढ़ने और समझने की आवश्यकता है। अँगरेजी को भारतीय भाषा बनाने का इनका जो आग्रह है वह बहुत कुछ देश-ज्ञान के अभाव के ही कारण है। विदेशी भाषा को भारतवर्ष में सर्वत्र चलाने का प्रयास करना दुस्साध्य ही नहीं है अवैज्ञानिक है। इसकी थोड़ी चरचा आगे की जा रही है।

वाकयंत्र की बनावट

अपने यहाँ शब्द को ब्रह्म कहा है। वेदांती ब्रह्म को सर्वत्र और अद्वितीय कहते हैं। शब्द भी शाश्वत और सर्वत्र है। गति शाश्वत और चिरंतन है। उसमें मंद और त्वरा का सापेक्षिक रूप है। धीमेपन के साथ वेग का संघर्ष है। इसी संघर्ष का परिणाम नाद है। नाद का अर्थ के साथ संबंध शब्द कहलाता है। अपरिचित स्वर संसार नाद तरंगों में सुरक्षित रहता है और परिचित स्वर संसार नियमों में दिखाई देता है।

दृश्य जगत का एक महान धर्म है। प्रत्येक शरीरी उन सब कणों को ग्रहण भी करता है जिनसे उसका निर्माण होता है और उनका विसर्जन भी करता रहता है। यह ग्रहण और विसर्जन व्यापार भी चिरंतन है। सृष्टि की उत्पत्ति, साधना और उसका लय कणों की आसक्ति और विरक्ति उनके लगाव और विलगाव की ही कला है। प्राणि वायु कणों को स्वास में खींचता और उच्छ्वास में छोड़ता है। पार्थिव उपाधियों को ऐहिक विकास में बटोरता है और स्वरूपों को सचेष्ट बनाये रखने के लिए अनुपयुक्त कणों को त्यागता चलता है। यही सारी व्यवस्था तेज कणों तथा जल कणों की होती है। नाद कण भी कर्ण विवरों से प्रवेश करते हैं और वाणी के रूप में बाहर आ जाते हैं। नाद जब शब्द बन कर अर्थ बल के साथ भीतर जाकर अनुभूति बनता है तो उसका भी बहिरागमन होता है। अनुभूति में जब अर्थ और मंतव्य का बोझ अधिक रहता है तब मानव लेखनी की नोक से अपनी बात बाहर निकालता है और जब नाद बोझ अधिक रहता है तब वही अनुभूति वाणी की मुखर ध्वनियों में बाहर आती है। परंतु लिखने में भी उच्चारण ध्वनि की सोई हुई स्थिति का उसी प्रकार का ध्यान आता रहता है जिस प्रकार बोलते समय सोते हुए अर्थ और मंतव्य की स्थिति का आभास मिलता रहता है। सारांश यह है कि प्रत्येक प्रकार के कणों का आदान-प्रदान नितांत भौतिक रूप में अहरनिशि चला करता है। इस नैरंतर्य में जहाँ कहीं भी असावधानी

हुई प्रकृति की सारी व्यवस्था में विपर्यय संघटित हो जाता है। यदि हमारी पश्चिमी सभ्यता मानव के मल-मूत्र तथा अन्य उच्छिष्ट विसर्जनों को उचित रूप से खाद्य के लिये पृथ्वी को दिलाती रहती और यह अपवित्र अभिशाप तथा मलिन अमूल्यता गंगा-जमुना की पवित्र निर्मलता में कण-कण विखर कर समुद्रों में सारी उपयोगिता न खो बैठती तो आज मरुस्थल का दानव हरी-भरी वनस्थली को निगलता न चला आता और पादप संसार का क्षय न बढ़ सकता। आदान-प्रदान का आवृत्त तो पूरा होना ही चाहिये। यही निस्सीम क्रिया-सत्ता का आदेश है।

नाद भीतर जाकर बाहर कैसे आता है यह थोड़ा स्पष्ट समझ लेना है। प्रत्येक नाद श्रवणेंद्रिय पर आघात करता है। परंतु श्रवणेंद्रिय पर वही आघात सफल होता है जिसे मन का सान्निध्य प्राप्त हो। मन जिस इंद्रिय की ओर होता है वही वाह्य सम्पर्क को स्वीकार करती है अन्यथा तद्संबंधी बाहरी आघात केवल ऊपरी स्पर्शमात्र होकर रह जाता है। हम नाना प्रकार के नाद सुनते हैं, नाना प्रकार की ध्वनियाँ कर्णरंध्रों तक पहुँचती हैं पर वे केवल श्रवण के बाहरी धरातल को स्पर्श करके विलीन हो जाती हैं। उनके आघात का प्रकम्प भी बाहरी यों ही सा होता है। वह प्रकंप श्रवण-यंत्र के भीतरी अवस्थाओं को स्पंदित नहीं करता। अतएव उनमें कोई परिवर्तन अथवा विकार उत्पन्न नहीं होता। जब हम मनोयोग से कुछ सुनते हैं तो वह सारी वार्त्ता स्मरण-पट पर अंकित सी हो जाती है। श्रवण-यंत्र पर नाद का आघात होते ही एक प्रकार का प्रकम्पन उत्पन्न होता है। प्रकम्पन की आवृत्ति द्वारा तादृश नाद वहन और तादृश नादोच्चारण की क्षमता एक साथ वाकयंत्र में उत्पन्न होती है। वाक्‌यंत्र एक लम्बी व्यवस्था है। उसके एक ओर का स्नायु तंतु श्रवण पुटों से आरम्भ होता है और दूसरी ओर उच्चारणयंत्र तक पहुँच कर एकतानता उत्पन्न करता है। जिस प्रकार का नादाघात कर्ण विवरवाले छोर पर होता है उसी प्रकार का प्रकम्पन उच्चारणवाले छोर तक वह-कर उसी के अनुकूल उच्चारण क्षमता को जन्म देता है। यह क्रम भौतिक और वैज्ञानिक है। यही कारण है कि एक देश में एक प्रकार के वातावरण में पले हुए बालक एक प्रकार की बोली बोलते हैं। उनकी उच्चारण-क्षमता भी अधिकतर एक प्रकार की होती है। बोली का मोटा अथवा पतला होना दूसरी बात है क्योंकि उसका संबंध प्रकंपनशील स्नायुपुंज से नहीं है वरन वाक्‌यंत्र की बनावट से है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी है। यह ऊपर कहा गया है कि नाद का अर्थ से संगम करने का नाम शब्द है। अतएव शब्दों का कर्णकुहरों में प्रवेश सार्थक ध्वनि समूहों का प्रकंपन उत्पन्न करता है और सार्थक ध्वनि समूहों को मुखर करने की क्षमता

वाक्यंत्र में जगाता है। नाद और अर्थ परस्पर अभिन्न हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने एक स्थान पर लिखा है—"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न" अर्थात् वाणी (नाद), और अर्थ पानी और लहर की भाँति एक तत्त्वस्वरूप हैं यद्यपि उनके रूप भिन्न हैं और नाम भिन्न हैं। सार्थक ध्वनियों के आघात अर्थ भूमियों से व्यक्ति के सजग स्वरूप को बिना अवगत कराये, सब कुछ समझा सा देते हैं अथवा बिना समझे मन समझ सा जाता है। अर्थ की व्याख्या अथवा तत्त्व का विश्लेषण विद्वान् की जागरूक वृत्ति के लिए चाहे जितना रुका रहे, शब्द के बूँदों का आघात पढ़े और बे-पढ़े सब पर एक प्रकार का प्रभाव तुरंत डाल देता है। गोस्वामी तुलसीदास का रामचरित मानस पढ़े और बे-पढ़े को एक प्रकार से इसी कारण प्रभावित करता है कि उसका स्वर संसार अर्थ गरिमा को बेजान में समेटे है और उसके पाठ में स्वरोत्थान का उदात्त आघात एक प्रकार से सबको तिलमिला देता है। परंतु रामचरित मानस का यह पाठ इँगलैंड निवासी अथवा रूसी समाज को उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सकता। कारण स्पष्ट है। भाषा दूसरी होने के कारण एक अँगरेज अथवा रूसी की श्रवणेंद्रिय अथवा वाक्यंत्र में रामायण की स्वर लहरी उसी प्रकार का प्रकम्प और प्रवाह उत्पन्न नहीं कर सकती जिस प्रकार का चिरंतन परिचय के कारण एक भारतीय के कर्ण-रंध्रों और वाक्-स्वरूप में उत्पन्न कर सकती है। और फिर भारतीय कण्ठ में पैतृक उत्तराधिकार के कारण परम्परा की एक लीक सी बन गई है जिस पर नाद और अर्थ दोनों सरलता से रपट सकते हैं। यही गतानुगति देशगत विशेषता है। इसी से बोली और भाषा दोनों का जन्म होता है और इसी के कारण देश की भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा सुग्राह्य और स्वीकरणीय है।

शब्द के विश्लेषण में अर्थ को जो रूप मिलता है उसमें जो मंतव्य बँधे पड़े रहते हैं उन्हीं को हम, स्थूल रूप से, देश की संस्कृति की गतानुगति कह सकते हैं। यह बड़े मूल्य के तत्त्व होते हैं और इनका प्रभाव बड़ा व्यापक और प्रेरक होता है। कर्ण-रंध्रों के छोरों से जो नसें वाणी यंत्र को बाँधती हैं उनकी प्रत्येक सिहरन में गतानुगति की यह प्रेरणा भी सोया करती है और साँस लेती है। जागरूकता इसे न समझे परंतु रक्त में यह घुली मिली रहती है। हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारा प्रत्येक कण चेतनता का पुंज है। यह गतानुगति देश भाषा का अविभाज्य अंग है। इसीलिए अपनी भाषा ही वह प्रणोदना, स्फूर्ति, सूझ, गति और बहाव देती है जो दूसरे देश की भाषा दे नहीं सकती। इसी शक्ति-विशेष को हम किसी देश भाषा की आकांक्षा (Genius) कहते हैं।

श्रवणेंद्रिय और वाक्‌यंत्र का ऊपर जो लम्बा ऐहिक विवेचन किया गया है उसका अभिप्राय केवल यही है कि दोनों इंद्रियों की पारस्परिकता और एकतानता समझ में आ जाय और किसी देश की भाषा का अनिवार्य संबंध देशवासियों के ऐहिक रूप से संस्थापित समझा जाय। यदि किसी देश पर दूसरे देश की भाषा लादी जाती है तो भाषा की असली आकांक्षा से मेल न खाने के कारण केवल सांस्कृतिक अव्यवस्था ही उत्पन्न नहीं होती वरन् एक भौतिक विघटन उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए अपनी ही भाषा देश में चलानी चाहिए।

तीव्र अनुभूतियों और साधारण प्रश्नों का व्यक्तीकरण बहुत बार प्राणी भ्रुव-संचालन, नेत्र-संकेत, शिर-आंदोलन अथवा हस्तगति से कर दिया करता है। बहुत बार किसी ऐसी ध्वनि से कुछ कह जाता है जो निरर्थक तो न कही जायगी परंतु व्याकरण-संयत अथवा भाषाविहित नहीं समझी जाती है। उसका व्यक्तीकरण जब सार्थक शब्द-समूहों में होता है तो उसे वाङ्मय अथवा वाणी कहते हैं। वाङ्मय के साधारण माध्यम के रूप में प्रयोग को बोली कहते हैं। प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रति व्यक्ति से हम किसी न किसी ढंग में अपनी बात कहते रहते हैं। कथोपकथन के इस सार्वजनीन माध्यम को बोली कहते हैं। जिस बोली में साहित्य का निर्माण होता है उसे भाषा कहते हैं। बोली से भाषा बनते बनते उसमें उस आकांक्षा का जागरण हो जाता है जिसके कारण उसका संबंध देशवासियों के कंठ से अनिवार्य हो जाता है। भारतवासियों की आदि भाषा संस्कृत थी। दक्षिण भारत की भाषाओं में भी बहुत बड़ा शब्द समुदाय संस्कृत का है। यह निर्भ्रांतरूप से कहा जा सकता है कि भारत की उच्चारण प्रगति और उसकी सांस्कृतिक अंतरात्मा संस्कृत में ही निवास करती है और जिस प्रकार संस्कृत से क्रमशः बदलते-बदलते आज हिंदी हमें प्राप्त हुई है उसी प्रकार उच्चारण साधना और स्वर क्षमता में भी अनुकूल परिवर्तन हुआ है और संस्कृत का भी नवीन मूल्यांकन किया गया है। परंतु मूल ज्यों का त्यों है।

प्रादेशिक भाषाएँ

भारत की अन्य प्रदेशीय भाषाओं के पास भी यह उत्तराधिकार है परंतु उनमें दूसरी दुर्बलताएँ हैं। किसी के पास हिंदी के सदृश अतीत का उदात्त साहित्य नहीं है। किसी के पास उतने बड़े कलाकारों की कमी है जिनकी अनिवार्य उपस्थिति राष्ट्रभाषा में होनी चाहिए। मराठी को छोड़कर अन्य लिपियों की वैज्ञानिकता संदिग्ध है। उनकी दुर्बल आलेख-पद्धति सापेक्षिक रूप से सर्वमान्य नहीं हो सकती। यह सब प्रदेशीय

भाषाओं के लिए तो नहीं कहा जा सकता परंतु अधिकांश प्रदेशीय भाषाओं में भाव, विचार और विषय-संबंधी स्थानिक संकीर्णता भरी पड़ी है। साहित्य के निर्माण में महान् परार्थता, विशालता, सार्वजनीनता, सार्वकालीनता तथा व्यापकता की आवश्यकता होती है। केवल ऐसे ही साहित्य से किसी भाषा में भाषापना जागरित होता है और उसकी प्रभाव प्रेषणीयता बढ़ती है। प्रदेशीय भाषाओं में उसका वह प्राचुर्य नहीं है जितना हिंदी में है। सबसे बड़ी बात यह है कि हिंदी का विस्तार सबसे अधिक है। वह जितना अधिक भारत में बोली और समझी जाती है उतना दूसरी प्रदेशीय भाषा का व्यवहार नहीं होता। उसके पास एक लम्बा इतिहास है और उसकी लिपि नितांत वैज्ञानिक देवनागरी है। इन्हीं सब कारणों से हिंदी को ही राष्ट्रीय मंच पर बिठाना उचित समझा गया।

अँगरेजी भाषा और भारतीय कण्ठ

जो लोग अँगरेजी को ही देश व्यापक भाषा बनाने के पक्ष में हैं उनका कहना है कि विश्व में सबसे अधिक जन-संख्या में बोली जानेवाली भाषा अँगरेजी है। यह सत्य है कि उसका साहित्य विश्व का सर्वश्रेष्ठ साहित्य है। यह भी उतना ही सत्य है कि बिना अँगरेजी सीखे संसार के प्रांगण में हमारे देशवासी अपनी सत्ता की यथेष्ट रक्षा नहीं कर सकते। उसमें अभिव्यंजन की विराट् साधना है। उसमें समस्त आधुनिक दर्शन, विज्ञान और राजनीति अपने उदात्त रूप में संग्रहीत हैं। साथ ही साथ विज्ञान के साधनों ने विश्व को इतना छोटा कर दिया है और हमारे सम्पर्क इतने आशु और व्यापक हो गये हैं कि हम विश्व से अछूते नहीं रह सकते और विश्व से संबंध स्थापित रखने के लिए अँगरेजी का ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। ये सारी बातें सत्य हैं।

इस संबंध में निवेदन यह है कि साहित्य मनीषी और ज्ञानपिपासु को अँगरेजी क्या विश्व की सभी उदात्त भाषाएँ सीखना चाहिए। ऊँची चिंतनाओं का परीक्षण करके अपनी भाषा में भी उसे भरना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान का अर्जन भी जिस भाषा में मिले उसे करना चाहिए। राजदूतों तथा राजनीति के पंडितों को अँगरेजी बोली जाननेवाले देशों की संस्कृति और उनके मानसिक दाँव-पेंच समझने के लिए भी अँगरेजी का पूर्ण पांडित्य प्राप्त करना चाहिए। व्यापार केंद्रों में अपनी सत्ता स्थिर रखने के लिए भी अँगरेजी आवश्यक है। परंतु इन समस्त कार्यों में देश की कितनी जन-संख्या उपयोगी हो सकती है और पड़ सकती है। इन विशेषज्ञों को उपयुक्त शिक्षा देने के लिए क्या यह आवश्यक है कि देश का बच्चा-बच्चा अनैसर्गिक पाठन विधि में

अभिषिक्त किया जाय ? क्या पहले यह आवश्यक नहीं है कि अपनी भाषा और अपनी संस्कृति का सम्यक् ज्ञान कराने के बाद ही यह विशेष शिक्षा दी जाय ? तभी तो भारतीयता के सच्चे स्वरूप को तरुण समझ सकेगा और इतर भारतीयता से उसकी तुलना कर सकेगा। यही नहीं, अभारतीय स्वरूपों की वाह-वाह करने और उनसे चकाचौंध होने से पहले वह यहाँ के महत्त्व को भी समझ सकेगा। अन्यथा आज की भाँति सारी भारतीयता को सड़ी-गली कहनेवाले और उसे कोसनेवाले अभारतीय भारतवासियों का गिरोह बढ़ता ही जायगा।

भारतवर्ष में अँगरेजी सार्वभौमिक रूप से स्वीकार हो सकती है, जो यह समझते हैं वे बड़े भ्रम में हैं। यहाँ की भाषा में नाद-बल है, और भारतीयों के अधिकांश कण्ठों से उसका सामंजस्य है। यहाँ की भाषा में अद्वितीय वैज्ञानिक सारल्य है जिसकी सुबोधता में जन-जागरण की प्रेरणा है। यहाँ की भाषा में ऊँची चिंतना और ऊँची संस्कृति का परिचायक अपना निजी साहित्य है जिसका स्थान विश्व में किसी से हेय नहीं और यहाँ की भाषा के विकास का लम्बा इतिहास है जो जनता और जननायकों के सामूहिक प्रयास का प्रतिफल है। अतएव अँगरेजी भले ही ऐसे प्रदेशों और देशों में फैल जाय जहाँ के आदि निवासी अर्धमानव और असभ्य थे और जिनकी बोली लड़खड़ानेवाली और भाषा दुर्बल थी और जिनमें निज का राष्ट्रीय जागरण न था। ऐसी कोई आशंका यहाँ नहीं है। अमेरिकन बड़ी सुंदर अँगरेजी लिखते और बोलते हैं परंतु क्या स्वयं वे यह नहीं कहते कि इँगलैंड के पास अतीत का महान् साहित्य-भंडार होने के कारण उसकी परम्परा और साहित्य-साधना की अमेरिका समता नहीं कर पाता। वह उतने ऊँचे साहित्य सृष्टा अँगरेजी में उत्पन्न नहीं कर पाता। उसका ध्यान भौतिक ज्ञान की ओर अधिक है कलात्मक सौंदर्य की ओर कम। यह बात भारतवर्ष के लिए नहीं है। यहाँ यदि किसी जिद्द की परिचालना में अँगरेजी को अंतर प्रदेशीय भाषा बनाने का प्रयास किया गया तो वह विनाश का लक्षण है। देश-भाषा का पराजय देश-साहित्य का पराभव है। देश-साहित्य का पराभव देश संस्कृति का बहिष्कार है। देश की खोई हुई राजनीतिक स्वतंत्रता मिल सकती है यदि देश की संस्कृति जीवित है और उसमें बल है परंतु यदि देश की संस्कृति नष्ट हो गई तो हम देश के भीतर विदेशी बनकर जीवित रह सकते हैं। यह अभारतीयों का भारतवर्ष केवल नकशे की रँगी लकीरों में भले ही एक अलग देश दिखाई पड़े परंतु इसकी निजी सत्ता बिलकुल नष्ट हो जायगी।

अँगरेजी को समस्त देश पर लादना देश को अशिक्षित बनाये रखने की अवधि बढ़ाना है। अपने विगत पैंतीस वर्षों के अध्यापन-कार्य के अनुभव के बल पर मैं कह

सकता हूँ कि अँगरेजी के माध्यम होने के कारण छात्रों में भारी अज्ञान फैला रहा। न जाने कितना समय अँगरेजी पढ़ने और लिखने में व्यय करना अनिवार्य था। दूसरे विषयों के ज्ञानार्जन का छात्र को बहुत कम अवकाश मिलता था। यदि अँगरेजी शुद्ध न लिख आई तो परीक्षा के समस्त उत्तर अशुद्ध हो गये। मेरे विद्यार्थी-जीवन के समय तो पाँचवीं कक्षा से अँगरेजी का माध्यम था। टापू और अंतरद्वीप की परिभाषाएँ हम लोग अँगरेजी में रटते थे। सारे इतिहास और अंकगणित के प्रश्नों को अँगरेजी में करना पड़ता था। समय और परिश्रम का कितना बड़ा अपव्यय था। माना कि उच्च शिक्षा के लिए अभी हिंदी में अच्छे ग्रंथ नहीं हैं, पर अच्छे ग्रंथ आवेंगे कैसे यदि उनकी माँग न होगी। शासन विद्वानों द्वारा उनके निर्माण का प्रबंध कर सकता है। यह तर्क तो अँगरेजी को बनाये रखने का तर्क है। हम अँगरेजी में पले और पनपे हैं। अँगरेजियत ऊपरी वस्त्रों में ही नहीं है वह भीतर भी पैठी है। अँगरेजों के समक्ष हम अँगरेजी में उनसे दबते थे। उनके जाने के बाद अँगरेजियत हमारा महत्त्व बन गया है और हम अहम् के ममत्व के साथ उससे चिपके रहते हैं। हम उसे अपने सम्मान के कारण बनाये हैं। वह दासता का उत्तराधिकार है। हमारा यह गौरव नहीं है कि हम शुद्ध उच्चारण से अँगरेजी बोल सकें। हमारा महत्त्व इसमें है कि हम शुद्ध उच्चारण से संस्कृत और हिंदी बोल सकें। भारतीयत्व हमारा महत्त्व है अँगरेजियत नहीं। और फिर अँगरेजियत के फेर में पड़कर जो आप अपने छोटे बच्चों को ठेठ अँगरेजी शिक्षालयों में भेजते हैं उससे, बेजान में, आप महान् अहित कर रहे हैं। शिशुओं की श्रवणेंद्रिय और उनके वाक्यंत्र में घोर विदेशीयता उत्पन्न हो रही है। माता पिता से उत्तराधिकार में उन्होंने जो भारतीय श्रुति क्षमता और उच्चारण क्षमता प्राप्त की थी वह कुंठित हो रही है और उसके स्थान में अनैसर्गिक और अँगरेजी के नाम पर अनुपादेय योग्यता की स्थापना होती जा रही है। ऐसी परि-स्थिति धीरे-धीरे उत्पन्न हो जायगी कि देशी उच्चारण के लिए शिक्षण क्षेत्र की यह वर्ण-संकरी संतान नितांत अयोग्य होकर रह जायगी। घर का वातावरण और पड़ोस का स्वर संसार भारतीय होने के कारण अँगरेजी शिक्षालयों के अँगरेज भारतीय बच्चे नाद संगम के प्रखर विलोड़न में पड़कर घर और घाट कहीं के न रहेंगे। शिशु के आरंभिक जीवन में सब ओर की अनुकरण आकांक्षा रहती है। वह उसे केवल वेश-भूषा की ही ओर नहीं ले जायगी उसके कंठ को बिगाड़कर रख देगी। वह युग तो अब है नहीं जब हमें अपने अँगरेज स्वामियों को प्रसन्न करने के लिए उनसे बढ़िया अँगरेजी बोलनेवाले बच्चे प्रस्तुत करने थे। अब तो हमें भारतीय बच्चों का निर्माण करना है। इस संबंध में मैं भारतीय महिलाओं से प्रार्थना करूँगा कि उन्होंने जिस बल के साथ पेटीकोट का

सामना किया है और अपनी साड़ी नहीं छोड़ी उसी बल के साथ अपनी संतान की इस अभारतीय आघात से रक्षा करें। यदि उन्हें अच्छी बैठक-उठक सिखाने के लिए बच्चों को इन शिक्षालयों में भेजना पड़ता है तो धनी मानी महानुभावों को प्रेरित करके ऐसे शिक्षालयों को भारतीय वातावरण में निर्माण करने की चेष्टा करनी चाहिए।

एक उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त किया जायगा। मुझे एक उच्च भारतीय के यहाँ उनकी पुत्री को हाई स्कूल परीक्षा के लिए हिंदी में देखभाल करनी थी। उसका हिंदी-शिक्षक भी था परंतु एक मास के लिए मुझे भी उसे पढ़ाना था। ठेठ कानवेंट में शिक्षित वह कन्या घर में भी अँगरेजी ही बोलती थी। घर के सभी लोग अँगरेज-प्रिय और अँगरेजी-प्रिय थे। सूर, तुलसी और प्रसाद पढ़ने में उसे भारी कष्ट होता था। उसने एक बार मुझसे कहा, 'मिस्टर अवस्थी, योर रमायना इज् एन आफुल बुक'। मैंने कई बार उससे यह उच्चारण कराने की चेष्टा की कि वह 'रमायना' के स्थान पर 'रामायण' कहे परंतु उसका वाक्-यंत्र इतना भ्रष्ट हो चुका था कि उसके लिए यह असंभव था। वह मुझे घर पहुँचाने मोटर पर आ रही थी। मैंने अनायास यह पूछ दिया; 'तुम्हारा शोफर तो इसाई है न? पहले यह कौन था?' उसने तुरंत उत्तर दिया, "ही वाज ए टामबोली बफोर"। मैं बिलकुल न समझ पाया कि यह 'टामबोली' कौन बला है। बड़े प्रयास से मैं समझ पाया कि उसका अभिप्राय तमोली से है। 'खाना माँगता है', 'जाना माँगता है', 'दुबला कागज माँगता है'—इत्यादि अँगरेजों के वाक्य अब वरदान समझ कर दोहराना नहीं चाहिए। ख, घ, ङ, छ, झ, ञ, ठ, ढ, ण, त, ध—इत्यादि तथा और अनेक संयुक्ताक्षरों के उच्चारण अँगरेजी भाषा में नैसर्गिक नहीं हैं। अतएव केवल अँगरेजी भाषा के उच्चारणों पर आधारित शिक्षापद्धति आपके बच्चों की श्रवणेंद्रिय और वाक्इंद्रिय को नितांत अयोग्य कर देती है। न वे हिंदी शुद्ध पढ़ सकेंगे और न संस्कृत। आपका समूचा उदात्त चिंतन-भंडार उनके लिए विदेशी बनकर रह जायगा। अँगरेजी भाषा तभी आरंभ करनी चाहिए जब अपनी भाषा और बोली का पूर्ण अधिकार बच्चे के कण्ठ पर हो जाय।

उर्दू भाषा की योग्यता

इधर उर्दू को स्थानिक भाषा बनाने का प्रबल आंदोलन चल रहा है। इसके पीछे दो शक्तियाँ काम करती हैं। एक तो साम्प्रदायिक मनोभाव के पोषक जो इस प्रदेश में अभी पर्याप्त संख्या में हैं और जो किसी न किसी बहाने अपनी स्थिति की मान्यता चाहते हैं, यह प्रयास करते हैं कि भारतीय उर्दू भक्त और उर्दू लेखक और शायर के सहारे

उनका मंतव्य फिर पनप सके और दूसरे वे जो हिंदी और संस्कृत की महान् परम्परा और उसकी बलवती संस्कृति के प्रभाव से भयभीत हैं और उसका प्रसार अपनी नवीन योजना और विचारधारा के लिए महान् व्याघात समझते हैं। वे जिस प्रकार की समवितरणवादी विचारधारा को आज आवश्यक समझते हैं उसका बिलकुल मेल यहाँ की शाश्वत परम्परा से नहीं खाता। अतएव प्रगतिवाद के नाम से नया नारा लगाकर कुछ प्रगतिवादियों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उर्दू को चुना। वास्तव में रूसी साम्यवाद के पीछे चलनेवाली प्रगतिवादी विचार परम्परा को जितना प्रश्रय उर्दू में मिला उतना हिंदी में नहीं। बात स्पष्ट है। उर्दू के अतीत का स्वरूप बलवान् जीवन तत्त्वों से परिपूर्ण तथा भारतीय संस्कृति और प्रेरणा से सन्निविष्ट नहीं है। उसकी शायरी माशूकाना अधिक है। इश्क के महीन से महीन ताने-बाने और उसके दाँव-पेंच की सारी घातें, उसकी अनेकार्थी मनोदशाएँ कदाचित् ही विश्व में उर्दू से अधिक मिलें। इसके अतिरिक्त भी उर्दू काव्य है पर संस्कृति और हिदी की भाँति उदात्त नहीं। यह सही है कि उर्दू खूब मँजी है। न जाने कितने शायर कितने समय से इसमें लिखते आ रहे हैं। उसकी अभिव्यंजन विधि हिदी से अधिक व्यापक और बामहावरे है। व्याकरण संयत भी है और नागरिकतापूर्ण भी। नाद योजना का भी सुंदर विकास हुआ है। परंतु लंबी तानी जानेवाली पुष्ट चितना और जीवन-यापन विधि की उदात्त योजना के न होने के कारण वह नये अभारतीय साम्यवाद के आक्रमण को हिंदी की भाँति झेल नहीं सकती।

उर्दू का एक और दोष भी है। वह अधिकतर मुसलमानों के प्रश्रय में पली। आगंतुक और विजेता के रूप में जो मुसलमान बाहर से आये उनकी अपनी संस्कृति थी। उनके साहित्य में स्थानगत और देशगत विशेषाएँ थीं। उसमें मुस्लिम धर्म के तत्त्व थे। अरब और फारस की जलवायु, वहाँ के वातवरण और निसर्ग के प्रति उनका ममत्व था। वहाँ के वृत्त, वहाँ के पत्ती, वहाँ का राजकीय अथवा जनजीवन से उनकी आसक्ति थी। फारस और अरब का साहित्य उनका आदर्श था। कुरान उनकी पूज्य पुस्तक थी। अतएव उनके प्रयास से जो उर्दू बनी उसके निर्माण में अभारतीयता का आ जाना स्वाभाविक है। कल्पना और चितना की ऊँची उड़ान में अभिव्यक्ति के जिस स्वरूप से वाणी लिपट कर निकलती है वह कवि अथवा लेखक की निजी संस्कृति और सभ्यता के रुझान पर बनती है। अतएव उर्दू का इतरदेशीय होना स्वाभाविक है।

मैं यह नहीं कहता कि उर्दू में ऐसे शायर अथवा लेखक नहीं हैं जिन्होंने भारतीयता भरने की चेष्टा नहीं की परंतु अधिकांश कलाकारों ने विदेश के वातावरण

से ही स्वास ग्रहण किया है और करते हैं। मुअर्रब और मुफ़र्रस अलफाज भी साहित्यिक उर्दू में भरे पड़े हैं। हमारी कण्ठ-क्षमता उनके अनुकूल नहीं है। माना कि उर्दू लिपि अवैज्ञानिक समझकर छोड़ भी दी जाय फिर भी उसमें भाव, विचार और भाषा की विदेशीयता का ठीक ठीक निकल पाना सम्भव नहीं। स्वयं मुसलमानों की एक बड़ी संख्या हिंदुओं से हिल मिलकर देहातों में रहती है। उसके लिए भी लखनऊ और दिल्ली के अशार बहुत कुछ स्वदेशी हैं। रामायण के सदृश उर्दू में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं जो जन-रुचि और वर्ग-रुचि का संगम करता हो और जो समस्त जीवन को ऊपर उठाता हो। एक सूत्र में जीवन को बाँधनेवाली उर्दू में कोई कृति कठिनता से मिलेगी।

उर्दू हिंदी ही का अंग है, उसकी लिपि-मात्र भिन्न है यह सत्य है। जिस व्याकरण को जो भाषा मानती है उसी के नाम पर उसका नामकरण होता है। हिंदी के व्याकरण के ही उर्दू अधीन है। संस्कृति के 'तिङन्त' अथवा 'कृदन्त' रूप के सारे क्रियापद हिंदी से होते हुए उर्दू में पहुँचे हैं। परंतु फिर भी उसमें अहिंदीपन भर गया है। किताब, लफ्ज, कानून, मोलवी इत्यादि की जमा हिंदी के अनुसार किताबों, लफ्जों, कानूनों, मोलवियों न लिखकर कुतुब, अलफाज, कवानीन और उलमा लिखते हैं। इसी प्रकार की और भी विदेशीयता आ रही है। अतएव आज उसे हिंदी की विभाषा कहकर प्रदेशीय भाषा के रूप में चलाने का प्रयास करना अनधिकार लाभ उठाने की बात है। ढाका में भले ही सरकारी फरमान द्वारा आंदोलन को कुचल दिया जाय, इसी प्रकार अँगरेजों ने बहुत समय तक हम लोगों पर भी अँगरेजी लाद रखी थी, परंतु इससे भाषा में जनोपयोगिता अथवा सौकर्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

हिंदुस्तानी भाषा

अब हिंदुस्तानी की व्याख्या सुनिये। यह हिंदी उर्दू और अँगरेजी की त्रिवेणी है। अँगरेजी उसी प्रकार गुप्त है जिस प्रकार प्रयागराज में सरस्वती गुप्त हैं। अँगरेजी का प्रभाव काम करता है और हिंदी उर्दू का संगम है। हिंदुस्तानी का एक वाक्य नीचे दिया जाता है—

"सब्सक्राइबर को बुलाने के लिए रिसीवर को मूव करो, किंतु रेस्ट को जर्क मत करो। जब तक डायल-टोन सुनाई न पड़े, तब तक डायल मत करो। जब यह टोन सुनाई पड़े तो डायल को क्लाक वाइज रोटेट करो। जब तक अंगुलि फिंगर-स्टाफ तक नहीं पहुँचती।" इस वर्णसंकरी वाक्य को हिंदुस्तानी कहेंगे। हिंदी उर्दू और हिंदुस्तानी का झगड़ा कोई सवा सौ वर्ष से चल रहा है। इधर जाकर इसका कुछ

निर्णय हो पाया है। हिंदुस्तानी के पक्षपाती भी कम हो गये हैं। "हिंदुस्तानी चाहनेवाले तत्सम शब्दों के स्थान में तद्भव प्रयोग पसंद करते हैं। आदर्श तो इसका यह था कि सकील और गैरमानूस अरबी फारसी अलफाज और दुरूह तथा दुर्बोध संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से जहाँ तक हो सके बचने की कोशिश करना चाहिए और इस पर भी ध्यान रखना चाहिये कि नित्य के कारबार में जो शब्द और मुहावरे बोलचाल में काम आते हैं वही पोथियों और अखबारों में भी बरते जायँ। वास्तव में मोलवियों के खुतबे मुश्किल से सुननेवालों की समझ में आते हैं। परंतु हिंदुस्तानी की सबसे बड़ी कठिनाई है कि शास्त्रों के महान तत्त्व और चितना की ऊँची उड़ान को समेटने की उसमें क्षमता नहीं है। बोलचाल के लिए अथवा साधारण लिखने पढ़ने के लिए वह भले ही कुछ बल दे सके। काव्य के लिए भी मनचाही उड़ान का साथ वह नहीं दे सकती। उसमें सीधी सादी तुकबंदियाँ भले ही लिखी जा सकें। हिंदुस्तानी के पक्षपाती जनहित कामना से उसको सरल बनाए रखना चाहते हैं। उनका ध्यान है कि मुसलमान अपनी फारसी अरबी की एकांगी कट्टरता से नीचे उतरेगा और हिंदू अपनी घोर संस्कृत धर्मिकता को हिंदुस्तानी के स्वीकार करने से शिथिल करेगा। हिंदू मुसलमान परस्पर एक दूसरे के साहित्य को पढ़ेंगे और निकट आवेंगे। हिंदुस्तानी के पक्षपातियों का एक दल यह भी कहता है कि हिंदी का संस्कृतमय रूप और उर्दू का मुअरब और मुफर्रस रूप बड़े-बड़े एम० ए० बी० ए० के समझ में नहीं आते। ऐसी भाषा लिखने से क्या लाभ जो विद्वानों को भी दुरूह हो।" ये समीक्षक अधिकतर अँगरेजी के विद्वान् हैं जिन्हें शेक्सपियर, मिल्टन, तथा बेकन और रसकिन समझने में कठिनाई नहीं होती। उनमें भारी त्रुटि यह है कि जितना समय उन्होंने अँगरेजी भाषा के पठन-पाठन में लगाया है उसका शतांश भी हिंदी उर्दू को पढ़ने में बिना लगाये उसकी कठिनता की शिकायत करने लगते हैं। प्रत्येक भाषा और साहित्य का अपना निजी स्वरूप होता है। वह यों ही समझ में नहीं आ जाता।

हिंदुस्तानी के लेखकों की जो यह जिद है कि शब्दों को तद्भव रूप में लिखा जाय उन्हें यह जान लेना चाहिए कि बहुधा तत्सम शब्दों का प्रयोग तद्भव शब्दों से अधिक सुंदर और सुबोध होता है। तत्सम शब्द 'राजा' से ही 'राव' और 'राना' बना है परंतु जो सुबोधता 'राजा' में है वह किसी में नहीं है। घर शब्द तत्सम गृह से बोलचाल में अच्छा लगता है परंतु गृहस्थी, गृहणी, गृहस्थ, गृहकार्य गृहशास्त्र इत्यादि शब्दों से 'गृह' निकालकर तद्भव शब्द का उनके स्थान में कैसे प्रयोग किया जा सकता है ? गृहणी को गोस्वामी जी ने 'घरनी' कर लिया—घरनी घर का समझाइहौं जू—पर और शब्द तो

परिवर्तन हो ही नहीं सकते। तद्भव शब्द 'तिरिया' से तत्सम शब्द 'स्त्री' अधिक नागरिक है। 'पत्र' शब्द की व्यापकता और शालीनता उसके तद्भव 'पत्ते' में अट नहीं पाती। 'पुंगव' और 'बुद्धि' तो तद्भव बनते बनते 'पोंगा' और 'बुद्धू' बनकर बिलकुल प्रतिकूल अर्थ देने लगे। वे असली भाव में प्रयोग ही नहीं हो सकते। यूनानी शब्द 'फैलसूफ' फिलासफर न रहकर 'मक्कार' और धूर्त के अर्थ में फिसल आया। पुनरुक्ति वाची अरबी का 'तकरार' शब्द झगड़े के अर्थ में हम लोग प्रयोग करने लगे। ये दोनों तत्सम शब्द बिना तद्भव बने ही अर्थ खो बैठे। 'मुफलिस' कंगाल को कहते हैं पर कलकत्ते में बिना पत्नीवाले के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पुर्तगाली भाषा में 'पाव' का अर्थ रोटी है पर हम उसके सामने रोटी और लगाकर डबलरोटी अर्थ सिद्ध कर लेते हैं। संस्कृत शब्द 'शाला' का अर्थ पत्ते की बनी कुटिया है। उससे पत्ते की कुटिया का भाव ही निकल गया। इसी लिए अब हम उसे लाने के लिए पर्णशाला लिखते हैं। 'आम्रराजी' संस्कृत तत्सम से तद्भव 'अमराई' बना है। मूल का अर्थ है आम के वृक्षों की पंक्ति अर्थात् बहुत से आम के वृक्ष जो एक स्थान पर उगे हों। आगे चलकर अमराई से आम का भाव ही निकल गया केवल राजी अर्थात् पंक्ति का भाव ही शेष रह गया। कबीर कहते हैं—

चंदन की कुटकी भली नहिं बबूर अमरॉंव।
बैस्नव की छपरी भली नहि साकत बड़ गाँव॥

यहाँ बबूल अमराँव का अर्थ बबूल के वृक्षों की पंक्ति है। तत्सम शब्द यौवन से तद्भव शब्द जोबन बना जिसके लिखने में भी घृणा होती है। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिन्हें मूल में तत्सम स्वरूप में ही लिखना सुंदर और उपयुक्त प्रतीत होता है। अतएव तत्सम शब्दों के स्थान में तद्भव शब्दों के निरंतर प्रयोग की धुन संभव नहीं। संस्कृत के तत्सम शब्दों में एक अंतरप्रदेशीयता है। देश के सभी प्रदेशों और प्रदेश भाषाओं में उनका प्रचार और अर्थ ग्रहण संभव है। तद्भव स्वरूपों में वह राष्ट्रीयता नहीं है। हिंदुस्तानी के समर्थक हिंदी की आर्य व्याकरण को ही बदले दे रहे हैं। 'अंदरूनी' समझ में आता है। 'अंदरूनी बातें' भी लिखा जाता है परंतु उसके आधार पर 'भीतरूनी' शब्द गढ़ लेना उपहास्यास्पद है। नवाब राम और बेगम सीता की चरचा तो अभी थोड़े दिन हुए समाप्त हुई है। कुछ लोग अपने घर के लड़कों का नाम डिपटीलाल, कलक्टर सिंह, इकबालशंकर और माशूकसिंह रखने लगे हैं। मैंने 'गरीबी' अथवा 'निर्धनता' सुना है परंतु अब 'गरीबता' देखने में आता है। हुतात्मा के स्थान पर अमर शहीद तो चल निकला ही था अब अमर महफिल और अमर हुस्न तक लोग लिखने लगे हैं। हुस्न-

परस्ती के अनुसार पत्नी-परस्ती तो चलता ही था पर मैंने विद्या-परस्ती और कर्तव्य-परस्ती तक पढ़ा है। यही नहीं ठेठ अँगरेजी, संस्कृति या ठेठ फारसी का सोहाग हिंदुस्तानी के पैरों कभी कभी नितांत बोली के शब्दों से करा देते हैं। 'जालिम लोशन' के विज्ञापन तो मैंने देखे ही थे, इधर "जम्ंस मार" का विज्ञापन दीवालों में चिपका मिलता है। रेल के लिये वाष्प लदिया, कलश के लिये पूजा मटकी, अर्घ के लिए—इस्तकवाली भेंट, रहस्यवादी अभिव्यक्ति के लिए गुप-चुप की बातें, कर्म-कांड के लिए काम-काज, आध्यात्मिक-साधना के लिए रूहानी सोच, विचार इत्यादि इत्यादि प्रयोग हिंदुस्तानी में गौरव समझे जाते हैं। ये प्रयोग कहाँ तक चल सकेंगे और कहाँ तक उचित हैं इस पर दो मत नहीं हो सकते।

हिंदी के शब्द ढूँढ़ ढूँढ़कर निकालने का प्रयास भी बहुत दिनों तक चलता रहा। यह न समझ कर कि 'कुशल' शब्द में भारतीय सभ्यता का वह युग प्रतिबिंबित है जब सरल जीवन में कुश लवन का बड़ा महत्त्व था उसे निकालकर होशियार शब्द सर्वसुबोधता के नाम पर प्रविष्ट किया गया। 'अतिथि' के स्थान पर मेहमान शब्द को हिंदुस्तानी ने वरदान दिया। इस पर न ध्यान दिया गया कि बिना किसी निश्चित तिथि के अनामंत्रित आये हुए अभ्यागत को भी भली प्रकार स्वागत करनेवाली यहाँ की संस्कृति का पता 'अतिथि' शब्द से ही लग सकता है। उसके लोप हो जाने से उस महत्त्व का ही चिह्न मिट जायगा। स्वर्गवासी हुआ के स्थान पर मर गया का प्रयोग एक प्रकार की भारतीय चिंतना-व्यवस्था के इतिहास को ही लोप कर देता है। पादप में जो अपनी चरण-शिराओं से खाद्य-ग्रहण करने का वैज्ञानिक सत्य-निहित है वह पेड़ से उसे बदलने में लोप हो जायगा। इसी प्रकार ग्रंथ शब्द में जो उलझी हुई उदात्त विचारधारा का महान् पुस्तक बद्ध प्रयास की ओर सहसा ध्यान जाता है उसके स्थान में हिंदुस्तानी के जिंदी किताब लिखना चाहें तो वह अहितकर और अनुपयुक्त है। 'मा' का अर्थ है नहीं और 'या' का अर्थ है 'जो'; अर्थात् जिसकी स्थिति है ही नहीं उसे माया कहते हैं। इस शब्द का परिवर्तन यदि नकली शब्द से किया जाय तो यह शुद्ध भ्रम है। 'मि' अंधकार को कहते हैं 'त्र' उससे रक्षा करनेवाला। अर्थात् अज्ञान अंधकार से रक्षा करनेवाला मित्र हुआ। इस भाव का ही लोप हो जायगा यदि उसके स्थान में दोस्त शब्द को अपना लिया जाय। गुरु शब्द में जो गंभीरता और गरिमा का बोझ है वह उस्ताद में नहीं है। साक्षी से हिंदुस्तानी के पक्षपाती गवाह को अधिक उपयुक्त मानते हैं परंतु वस्तु की आँखों देखी स्थिति का जो आभास साक्षी में मिलता है वह गवाह में नहीं है। विद्यार्थी और तालीबिल्म शब्द एकार्थ वाची अवश्य हैं परंतु विद्यार्थी में भारतीय

व्याकरण का शासन है वह बात तालीविल्म में नहीं है और तालीविल्म का—विद्यार्थी से सरल और आम फहम कहना उपहास्यास्पद है। उससे भी अधिक अशुभ यह है कि 'छात्र' शब्द को भी तालीविल्म से ही बदला जाय और उसके मूल अर्थ पर ध्यान न दिया जाय। छात्र का भाव है अपने गुरु की रक्षा करनेवाला। इससे प्राचीन काल की वह प्रथा व्यक्त होती है जब गुरु के स्थान में जाकर छात्र गुरु के भोजनों इत्यादि की, गृहस्थियों से माँग कर व्यवस्था करना भी विद्यार्थी-जीवन साधना का पुनीत आदर्श समझते थे। यह शब्द निकाल दीजिए आपके इतिहास का यह गौरव और संस्कृति की यह चेतना भी लुप्त हो जायगी। संजय दृष्टि हिंदी में एक मुहावरा है। उसके स्थान में उर्दू का कोई दूसरा मुहावरा प्रयोग करके उसे खदेड़ने का प्रयास कीजिए। महाभारत के इतिहास का जो संकेत है वह भी विलीन हो जायगा। दर्पण का अर्थ है जिसके सामने व्यक्ति अपने को सँवारे और अपने अहंभाव को परितुष्ट करे। वह केवल मुख देखने का साधन नहीं है। इसके स्थान पर आप शीशा लिखकर उसके अर्थ ही की हत्या कर डालेंगे।

'वनिता' शब्द को लीजिए। वनम् (जलम्, रसम्) इता वनिता, रसयुक्त प्रेम-युक्त रमणी को वनिता कहते हैं। इसकी एक दूसरी निरुक्ति भी है। वनम् इता जो कृष्ण की वंशी से आकृष्ट होकर मधुवन लाई गई। वास्तव में इस शब्द का रूढ़ि प्रयोग श्रीमद्भागवत से ही प्राप्त हुआ है। उस समय के इतिहास का बोझ इस पर है। आप इसके स्थान पर औरत शब्द प्रयोग करने लगिये। उसमें यह भाव कदापि नहीं आ सकता। इतिहास शब्द को ही लीजिये। इति (यह) हा (भूत) आस (था) क्या यह बिम्ब-प्रतिबिम्ब अर्थगति आपको इतिहासवाची किसी दूसरे शब्द में मिल सकती है? नदी एक बहुत ही साधारण शब्द है। नदयंतीति नद्यः कलकल शब्द करनेवाली अथवा नयन्तीति नद्यः जल बहा ले जानेवाली। क्या यही भाव दरिया शब्द से व्यक्त होता है? कम् (जल) अलंकरोति इति कमलम् जल को आभूषित करनेवाले को कमल कहते हैं। इस शब्द का क्या पर्यायी हिंदुस्तानी के समर्थक दे सकते हैं?

उर्दू के शायर शब्द से क्या वह अर्थगरिमा व्यक्त होती है जो कवि शब्द से ध्वनित होती है। कं (सुखं) वांति (विस्तार यंति) इति कवयः सुख का विस्तार करने-वाले, अथवा कवयंति (वर्णयंति) इति कवयः। कवि कर्म और कवि रूप के समस्त लक्षण इस व्युत्पत्ति में आ जाते हैं। मननात् मुनिः इसका पर्यायी तो किसी भाषा में न मिलेगा। मनन करनेवाले को मुनि कहते हैं; परंतु (मनसो रचना) कल्पना का उचित भाववाची न 'मुवालगा' है और न 'ख्याल' है। संस्कृति का जार शब्द हिंदी में यार बन गया है।

उर्दू में भी इसी अर्थ में इसे प्रयोग करते हैं। परंतु इसकी तिरस्कृतार्थ ध्वनि बराबर उतरी चली आ रही है और इस यार शब्द को अच्छे भाव में कोई प्रयोग नहीं करता। यदि हम जार शब्द के शुद्ध रूप की रक्षा कर सकें तो तिरस्कृत भावना बिलकुल सामने बनी रहती है। जरयति धर्म, कर्म इति जारः। धर्म और कर्म को भस्म कर देनेवाले को जार कहते हैं। साधारण शब्द अंग है। अंगति इति अंगः। स्पंदनशील, संचलनशील को अंग कहते हैं। हिंदुस्तानी में कौन ऐसा शब्द है जो उसके बदले में प्रयुक्त किया जाय और इसका भाव जैसे का तैसा बना रहे। क्या अखबार शब्द में वह भाव है जो समाचार-पत्र में है? सम + आचार से समाचार बनता है। समत्व बुद्धि और भावना से जो आचरण किया जाय उसकी सूचना समाचार-पत्र में होनी चाहिए। सम्पादक को भी समबुद्धि के निष्कर्ष सामने रखने चाहिए। क्या इस शब्द द्वारा समाचार-पत्र तथा उसके सम्पादक का शुद्ध स्वरूप सामने नहीं आ जाता? फिर इसे क्यों परिवर्तित किया जाय? मुकुंद शब्द के परस्पर विरोधी भावों को देखिये और उनके भीतर कृष्ण विषयक शील विस्तार के ऊपर क्या प्रकाश पड़ता है उसे ध्यान दीजिये। मुकुन (मुक्ति) नंदतीति मुकुंद और दूसरी ओर मुकुन् द्यति (काटती है) यह भाव देखिये। यदि यह शब्द निकाल दिया जाय तो कृष्ण लीला के ये विरोधी प्रभाव भी तो लुप्त हो जायँगे। गोविंद भी, इसी प्रकार, गा विदतीति गोविद जो तरह तरह की सुंदर वाणी बोल सकता है अथवा इंद्रियों का अनुरंजन करता है। यह भाव शब्दों में अनायास ही नहीं आ गये हैं। उर्दू में 'दर्द' शब्द की प्रशंसा में शायर ने कहा है कि जिस पहलू से उसे लौटा जाय दर्द, दर्द ही रहता है। क्या यही बात सरस शब्द की नहीं है? सरस सब ओर से सरस ही रहता है। हाँ, यदि पढ़े लिखे व्यक्तियों में (साक्षराः) में धूर्तता प्रवेश कर जाय और उनका स्वभाव उलट जाय तो साक्षराः को राक्षसाः होते देर नहीं लगती।

मैं यह नहीं कहता कि उर्दू के शब्दों में अतीत नहीं है अथवा वे भावशून्य अथवा चिंतनाशून्य हैं। परंतु आपके शब्दों में जो भारतीय संस्कृति, इतिहास, पुराण, शास्त्र तथा दर्शन कण संग्रहीत हैं उन्हें निकाल फेंकना और अभारतीय संकेतों को सरलता के नाम पर क्रोड़गत करना अराष्ट्रीय भावना नहीं तो है क्या? यह भारतीयता पर सबसे बड़ा कुठाराघात है।

बोलचाल की भाषा साहित्य की भाषा से सर्वदा भिन्न रहती है। बोली में सब भाषाओं की खिचड़ी रहना स्वाभाविक है। परंतु जहाँ साहित्य सृष्टि के लिए भाषा ढूँढ़ना है वहाँ हिंदुस्तानी नितांत अक्षय सिद्ध हुई है और होगी। और फिर हिंदुस्तानी

का शब्द भंडार रीता है। उसमें पारिभाषिक शब्दों का अभाव है। उसमें अभिव्यंजन की गहनता और उदात्त भावनाओं और विचारों का समावेश सम्भव नहीं। उसके पीछे किसी एक महान् प्राचीन भाषा की परम्परा नहीं है और न उसके पास संस्कृति की गतानुगति है। उसके शब्दों में अभद्र और अवैज्ञानिक वर्ण संकरता है। उसके वाक्यों और अक्षरों में स्वर विस्तार और नाद आत्मीयता की एकतानता न होने के कारण राष्ट्र को एकरूपता देने की क्षमता नहीं है। डाढ़ी चोटी के इस अनैसर्गिक ग्रंथिबंधन से भाषा का जो वर्ण सांकर्य उत्पन्न होगा वह दोनों भाषाओं के लिये घातक है।

संस्कृत प्रधान हिंदी की योग्यता

अब संस्कृत प्रधान हिंदी की योग्यता पर ध्यान दीजिए। मैंने एक स्थान पर कहा है कि समस्त भारतवर्ष की राजभाषा और जनभाषा एक युग में संस्कृत थी। सारी प्रदेशीय भाषाएँ—कुछ दक्षिण की भाषाओं को छोड़कर जिनमें भी संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है—संस्कृत से ही प्राप्त हुई हैं। उनके मूल में संस्कृत की नाद आकांक्षाएँ और संस्कृत का वातावरण पूरा-पूरा विद्यमान है। प्रत्येक प्रदेश के निवासियों के कण्ठों में संस्कृत के ही उत्तराधिकार के कारण एक प्रकारता है। संस्कृत से आये हुए शब्द, चाहे तत्सम रूप में हों अथवा तद्भव रूप में, भारतवर्ष में एकार्थता के साथ बोले जाते हैं। जातीय संस्कारों के समय, सामाजिक उत्सवों के अवसर पर, विवाह और मरण के कर्म-काण्डों के समय और सबसे बड़े रूप में, समस्त धार्मिक कृत्यों के क्षणों में जो वैदिक मंत्र पढ़े जाते हैं, जो देवताओं का आवाहन स्थापन और विसर्जन होता है, तथा सारे कृत्यों के विस्तार में जो स्थान-स्थान पर प्रसंग आते हैं वे सब संस्कृत में ही तो होते हैं और सारा भारतवर्ष उन्हें एक प्रकार से अपनाये है। प्रतिदिन की गायत्री और संध्या द्विजातियों को किस भाषा में पढ़नी पड़ती है वह संस्कृत ही तो है। प्रत्येक प्रदेश का चिंतनशील जन समुदाय चाहे धार्मिक तत्त्वों का अन्वेषण करे, चाहे दार्शनिक परम्पर को समझने की चेष्टा करे, चाहे अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास की खोज करे, चाहे पुराने भाषा शास्त्र और साहित्य शास्त्र का रूप अवगत करना चाहे अथवा साहित्य के महत्त्व को समझना चाहे, चाहे भारतीय अनेक देशीय ज्ञान भंडार का परिचय प्राप्त करे और यहाँ की संस्कृति तथा सांसारिक और आध्यात्मिक गतिविधि का रूप समझना चाहे उसे संस्कृत की ही शरण जाना पड़ेगा और उसी के अनुशीलन से उसकी तृप्ति होगी। ऐसी दशा में राष्ट्रीय भाषा का सबसे बड़ा लक्षण यह होना चाहिये कि वह अधिकाधिक संस्कृत

शब्दों को पकड़े रहे। इसी से उसकी अंतर प्रदेशीयता अक्षुण्ण रहेगी और स्वर्ण-पूर्ण अतीत से संबंध बना रहेगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि हम ऐसे शुद्धवादी बन जायँ कि लालटेन को दीप-मंदिर अथवा हस्त काँच दीपिका कहने लगें। जीवित भाषा का सर्वोपरि लक्षण यह है कि उसकी ग्राहिका शक्ति और पाचन क्षमता बड़ी प्रबल होनी चाहिये। वह अपना बना कर तथा अपने कण्ठ और व्याकरण में ढालकर विदेशी शब्दों को पचा ले। यदि हम लैंटर्न शब्द को लालटेन न बनावेंगे तो वह किसी दिन अपच रहकर उगलना पड़ेगा। 'मेरे पास चार लैंटर्नस' हैं के स्थान पर मेरे पास चार लालटेनें हैं लिखना अधिक समीचीन है। हिंदी की पाचन शक्ति पर्याप्त है। हमने न जाने कितनी भाषाओं के शब्द ग्रहण कर लिये हैं। दरकार, आईना फारसी हैं। काजू, बिस्कुट, फीता, नीलाम, पादरी, अँचार, चाबी, कुर्त्ता इत्यादि पुर्तगाली शब्द हैं। किताब तुरकी शब्द है। फ्रैंच, स्पेनिश, रूसी, चीनी इत्यादि भाषाओं के भी शब्द ढूँढ़ने से मिल जायँगे। अरबी और फारसी के अल्फाज तो सदियों से भाषा में घुल मिल गये हैं। पेंसल, सिलेट, स्टेशन, रेल, इंजिन, टेलीफोन, रेडियो इत्यादि अनगिनत शब्द हमारे वाक्यों में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। अँगरेजी मुहावरों के भी सुंदर अनुवाद कर लेने चाहिये। मैंने एक स्थान पर अँगरेजी में पढ़ा है Football is a pursuit of blown leather by blown humanity—यदि उसके अनुवाद में यह कहा जाय कि बातुल कंदुक का बातुल मानवों द्वारा अनुगमन तो असंगति न होगा। ऐसे बहुत अनुवाद हुए हैं और हो रहे हैं। इनकी उपस्थिति हिंदी के बल को घोषित करती और उसकी सजीवता प्रमाणित करती है। शुद्ध वादी महानुभाव उन्हें खदेड़ने का यदि प्रयास करेंगे तो अपने हाथों अपनी भाषा का चीर हरण करके उसे दरिद्र करेंगे और यदि उन्हें अस्वाभाविक ढंग से अनुवादित करेंगे तो उपहास के साथ-साथ अज्ञान का भी परिचय देंगे। नये शब्दों को रोकने की चेष्टा करना भाषा को भूख से मारना है। मृत भाषा उसी को कहते हैं जिसमें नये शब्दों का आगमन बंद हो जाय।

इस स्थान पर एक बार यह भी समझ लेना है कि बोलचाल में संस्कृत का बोझ लादना अथवा साहित्यिकता का भोंडा आवरण देना अथवा व्याकरण की सांगोपांगता की जिद करना भाषा की गति कुंठित करना है। 'इक्के से मेरी छड़ी गिर गई' इस सीधी बात को मेरे एक शुद्धवादी मित्र ने मुझसे जिस प्रकार वर्णन किया उसे सुनिए। "द्विचक्री एकाश्व वाहन से मेरी यष्टिका पतित हो गई।" एक दूसरी उक्ति सुनिए। मेरे अंगुष्ट में व्रण हो गया है और मैंने आर्द्रवस्त्र परिवेष्टन कर रखा है।" सीधी-सादी

बात कहनी यह है कि मैंने अँगूठे के घाव में पनकपड़ा बाँध रखा है। इस प्रकार के उपहास्यास्पद वाक्य बोलने में क्या लिखने में भी गँवारू प्रतीत होते हैं। ऐसी अस्वा-भाविकता से भाषा उत्तम नहीं बनती और न साहित्य की श्रीवृद्धि होती है। चिंतना की ऊँची उड़ान में मानसिक तत्त्वों के बिखरे हुए स्वरूपों को विभिन्न अभिप्राय भूमियों से चेतना को चुनना पड़ता है और भावुकता की महीन से महीन अंतरव्यापिनी मनोदशाओं की रंगीनियों को परखना और उनके उलझे हुए गरम और सरद झोकों को सुलझाकर अभिव्यक्ति के लिए फिर अद्वितीयता की एकतानता लानी पड़ती है। इस व्यापार में जो क्लिष्ट शब्द स्वाभाविक बहाव में उतराने लगते हैं अथवा अभिव्यक्ति में दुरूहता आ जाती है वह शब्दकोष के अन्वेषण के सहारे निर्मित नहीं होती। वह निराकार को साकार करने की चेष्टा का फल है और उसे समझना साधना का वरदान है। केवल किसी दूसरे विषय में एम० ए० अथवा बी० ए० पास करने से यह योग्यता उत्पन्न नहीं हो सकती कि आप मातृभाषा के नाम पर जो कुछ भी उदात्त साहित्य लिखा जाता है उसे समझ ही लें और न समझने पर संस्कृत मिश्रित हिंदी के विरोधी हो जायँ।

पारिभाषिक शब्द

पारिभाषिक शब्दों के निर्माण पर ध्यान दीजिए। इसका प्रचार बहुत किया जा रहा है कि अँगरेजी पारिभाषिक शब्दों की अंतरराष्ट्रीय स्थिति है। वे योरप के सब देशों में प्रचलित हैं। अमेरिका ने भी उन्हें ग्रहण किया है। एक बड़े भूभाग पर उनका प्रभाव है। यह तो सत्य है कि जहाँ-जहाँ अँगरेजी मातृभाषा और साहित्य भाषा है वहाँ-वहाँ उसके ही पारिभाषिक शब्दों का प्रचार है परंतु वह सभी देशों में ग्रहीत है यह भ्रामक है। पारिभाषिक शब्दों की सीमा बड़ी विस्तृत है। न्याय, शासन, राजनीति, भूगोल, खगोल, साहित्य-शास्त्र, दर्शन, कला, समस्त क्रियात्मक विद्याएँ, विनोद और मनोरंजन के साधन, ओषधि विज्ञान, तथा विज्ञान की अनेकानेक शाखाएँ, उद्योग व्यापार, अर्थ शास्त्र, सैन्य शास्त्र इत्यादि इत्यादि सभी विषयों में तो पारिभाषिक शब्द आते हैं। यह कैसे सम्भव है उन सबको ही हम विदेशी भाषा से ग्रहण करें। और फिर एक और भी कठिनाई है। बहुत से पारिभाषिक शब्दों के मूल में भारतीय चेतना अपना पृथक् मंतव्य रखती है। ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद का जैसे का तैसा भाव न पैन्थीइज्म और न पेननथीइज्म शब्द से व्यक्त होता है। भारतीय परम्परा के अनुसार विकास की जो स्वतंत्र गति किसी विद्या में दिखाई देती है अँगरेजी शब्दों के

आरोप से उसमें व्याघात उपस्थित होगा। अँगरेजी में इस समय २० लाख के लगभग पारिभाषिक शब्द हैं। हिंदी का समस्त शब्दकोष दो ढाई लाख शब्दों से अधिक नहीं है। इस छोटी संख्या में उतनी बड़ी अँगरेजी शब्द-संख्या मिलाना कहाँ तक हिंदी के लिये-उचित है। सामान्य भाषा का विरला ही कोई ऐसा शब्द होगा जो किसी न किसी विज्ञान की शाखा में जाकर पारिभाषिक न बन जाता हो। एक दो तीन दस सौ—मोनो एसिड, डाइ बेसिक, ट्राइमेन्शनल, डेकामीटर, हेक्टी ग्रेफ। इन शब्दों में मोनो का अर्थ है एक डाइ का द्वि, ट्राइ का त्रि, डेका का दशक और हेक्टो का शत है। इसी प्रकार शरीर के अंगों को ले लीजिए। राइनो प्लास्टिंग में राइनो का अर्थ नासिका है। डर्मिटाइटीस में डर्म का अर्थ चर्म है। स्टेथोस्कोप में स्टेथो का अर्थ छाती है। ये शब्द पारिभाषिक हैं, इसलिए इनमें हमारे शब्द न रहकर अँगरेजी और उसके द्वारा ग्रीक और लैटिन के शब्द ही प्रयुक्त होंगे। सामान्य धातुओं को लीजिए। उनका प्रयोग भी पारिभाषिक शब्दावली में न हो सकेगा। ऊपर दिए हुए शब्द स्टेथोस्कोप का अर्थ देखना है। सिनेमेटोग्राफ में सिनेमेटो का अर्थ चलना है।

कुछ व्यक्तियों का मत है कि शब्द तो अँगरेजी के ले लेना चाहिए किंतु व्याकरण अपनी होनी चाहिए। इन लोगों ने भी दूर तक विचार नहीं किया। अँगरेजी शब्दों के साथ अँगरेजी व्याकरण भी कुछ अंश तक आयेगा। यदि हमने "इन्स्पेक्टर" शब्द को लिया तो "इन्स्पेक्शन" और "इन्स्पेक्टिंग" अवश्य लेना होगा। इसी प्रकार "इंस्पेक्ट्रेस" भी। मेमेलिया और मैमल दोनों ही शब्द इकट्ठे आयेंगे। इनमें से मेमेलिया लैटिन का बहुवचन है। लेजिस्लेशन में केवल क्रियापद "लेजिस्लेट" लेने से काम न चलेगा। 'लेजिस्लेटर' और 'लेजिस्लेटिव' भी साथ लेने पड़ेंगे। अँगरेजी के शब्द अथवा विज्ञान के परस्पर शब्द इतनी घनिष्ठता से संबंधित हैं कि एक शब्द को ले लेने से सैकड़ों शब्द साथ आते हैं। फोस्फरस शब्द को लेने से फास्फोजन, फास्फैन, फास्फीन, फास्फोट, फास्फाइट, फास्फोटाइज, फास्फो-रिल, फास्फील, फासी इत्यादि सैकड़ों शब्दों को ग्रहण करना होगा। इससे कितनी बड़ी अस्तव्यस्तता फैल जायगी। अँगरेजी पारिभाषिक शब्द सरल और सुबोध भी नहीं होते कि उन्हें ग्रहण करना आवश्यक है। कम्प्लैनेंट अथवा डिफैन्डेन्ट वादी और प्रतिवादी से सरल कैसे हैं? ये हिंदी शब्द उर्दू शब्द मुद्दई और मुद्दालय से कम रुचिकर भी नहीं हैं। सरलवादी संप्रदाय के लोग हिंदुस्तानी के नाम पर एक बात और कहते हैं। वे कहते हैं कि यदि अनुवाद ही करना है तो पारिभाषिक शब्द जहाँ तक सरल और सुबोध रूप में

अनुवादित किये जा सकें वह अत्यंत सुंदर है। ये लोग डाक्टर रघुवीर के संस्कृत मूल से प्राप्त बड़े शब्दों को कृत्रिम दुरूह और दुग्राह्य समझते हैं। पर सरलीकरण का यह प्रयास उतना सरल नहीं जितना वे समझते हैं। मूलभूत ऐक्य भी बना रहे और अनुवाद की सुबोधता भी सुरक्षित रहे इसे भुलाया नहीं जा सकता। अँगरेजी के ये शब्द लीजिए—

Telegraph, Telegram, Telivision, Telephone, Telescope, Teleprinter, Telepathy इत्यादि शब्द के मूल Tele मिलता है। इनको अनुवाद करते समय यदि Tele शब्द के भाव की आवृत्ति सबमें नहीं होगी तो अनुवाद कदापि शुद्ध नहीं कहा जा सकता। किसी को तार विधि कहना, किसी को केवल तार कहना, किसी को विद्युत् चित्र कहना इत्यादि मनमाने अनुवाद उपहास्यास्पद ही माने जायँगे। अनुवादक को संस्कृत के मूल में जाना ही पड़ेगा और वह किसी ऐसे धातुरूप को पकड़ेगा जिससे सब शब्दों के आरंभ में जोड़ देने से 'टेली' का भाव मिल जाय। यदि हम टेलीग्राम को दूर लेख, टेलीग्राफ को दूर लिख, टेलीफोन को दूर भाष, टेलीस्कोप को दूर देख, टेलीविजन को दूर दृष्टि कहें तो ये अनुवाद चाहे जितने अप्रयुक्त प्रतीत हों शुद्ध अवश्य होंगे और वैज्ञानिक समझे जायँगे। पाठ्य पुस्तकों में इन्हीं को ग्रहण करना चाहिए। हाँ, बोलचाल में इनके प्रयोग की जिद्द अभी तब तक न करनी चाहिए जब तक साहित्य और आलेख में उतने अभ्यस्त न हो जायँ कि विद्यार्थियों के कण्ठ में घर कर लें। आज भी हम अपने बालकों को वनस्पति शास्त्र पढ़ाते समय पीपल को पीपल के नाम से नहीं पढ़ाते। उसे Ficus Religiosa कहते हैं। दूसरे प्रसिद्ध वृक्ष को देखिए। केवल दो अक्षरों के हिंदी शब्द बट को हमारे बच्चे Ficus bengholeusea के नाम से याद करते हैं। पक्षियों के नाम देखिए। कबूतर (Columbia livia) कहलाता है। बिचारा तोता Opis thoeomi fornis Psittaci कहलाता है। कौए को Corous Splendens अथवा Coruns Corone कहते हैं। साधारणतया पक्षी का लम्बा नाम देखिए। उसे Passeri formis ploceus कहते हैं। बिचारे विद्यार्थियों को रटते रटते नाक में प्राण हैं। और इसे हम उचित कहते हैं। इन विदेशी शब्दों की उच्चारण-विधि हमारे छात्रों के वाक् यंत्रों को भ्रष्ट करके उन्हें अयोग्य बना रही है। भारतीय नादरूप के लिए बच्चों के अनुकरणशील और प्रभावशील कण्ठ विदेशी बने जा रहे हैं। और इस सारी अव्यवस्था को हम रुचिकर कहकर अंतरराष्ट्रीयता के नाम पर अपनी दास-भावना का परिचय देते हैं। हमारे सब बालक विश्व के बड़े वैज्ञानिक बनने नहीं जा रहे हैं। उनके कण्ठों को विदेशी ध्वनि के अस्वाभाविक आघात से

भ्रष्ट क्यों किया जा रहा है। जिन होनहार छात्रों को विश्व के प्रांगण में उच्च वैज्ञानिक बनना है वे स्वयं अपनी भाषा के लम्बे अध्ययन से अपने कण्ठों को पुष्ट करने के बाद विदेशी शब्दों को और भाषाओं को सीख लेंगे। तब उनके कण्ठों को अरक्षित रहने का भय नहीं। अतएव हम सबका यह स्पष्ट मत होना चाहिए कि समस्त पारिभाषिक शब्द संस्कृत के मूल से निकाले जायँ और उनका भाव और मंतव्य अक्षुण्ण रखा जाय। इससे अंतरप्रदेशीय सुबोधता भी बनी रहेगी और भारतीयता की रक्षा भी होगी। हाँ, अनुवाद करने में सब प्रदेशों में एक ही नीति का परिचालन हो जिससे एक ही देश में एक ही तत्त्व के लिए अनेक शब्द न निकल पड़ें।

देवनागरी अंक और लिपि

अंकों के लिए एक विचित्र व्यवस्था की योजना समझाई जाती है। कहा जाता है कि हमें अँगरेजी अंकों को जैसे का तैसा ग्रहण कर लेना चाहिए। जो अंक इस देश से गये तथा अरब पहुँच कर उनका रूप बदला और आज परिवर्तित होकर अँगरेजी अंकों के रूप में सामने दिखाई देते हैं उनके संबंध में यह कहना कि उन्हें इस परिवर्तित रूप में ग्रहण किया जाय मूल भारतीय रूप में नहीं उपहास की बात नहीं तो और क्या है। रोमन अंक नितांत भिन्न हैं। पर अँगरेजी के अंक तो यहीं के अंकों के विकृत रूप हैं। हमारी दृष्टि की स्वाभाविक आकांक्षा को इससे अनमिल वर्तन का झटका लगेगा।

इसके साथ ही हिंदी में प्रयुक्त देवनारिगी लिपि के संबंध में भी यह अवश्य समझ लेना है कि वह संसार की सभी लिपियों से अधिक वैज्ञानिक है। इस लेख में न इतना स्थान है और न इसका यह मंतव्य ही है कि विस्तार के साथ उसकी वैज्ञानिकता की व्याख्या की जाय परंतु यह अवश्य निवेदन करना है कि इसके लिखने में विलम्ब होने के कारण, अथवा इसमें मात्राओं की पाइयों की अधिकता के कारण, अथवा मुद्रण-संबंधी कठिनाइयों के कारण अथवा टेलीप्रिंटर और टाइपराटर की व्यवस्था के कारण देवनागरी लिपि परिवर्तन करने की चेष्टा करना उसके रूप को विकृत करना है। कल और मशीनें लिपि के अनुकूल ढलना सीखें और वैज्ञानिकों और अविष्कारकों को अपनी बुद्धि इस ओर लगानी चाहिए। होता यह है कि मशीनों की सुविधा के लिए लिपि सुधारी जाती है। यदि यह लिपि थोड़ी देर में लिखी जाती है तो कौन आकाश गिरा पड़ता है। ऐसा टाइपराइटर मैंने देखा है कि जिसके निकालनेवाले ने थोड़े फेर-फार से सारे अक्षरों, मात्राओं, संयुक्ताक्षरों, अंकों तथा अन्य चिह्नों की व्यवस्था कर दी है। रोमन लिपि में कम अक्षर हैं। वह शीघ्रता से लिखी जाती है। उर्दू लिपि

भी लिखने में त्वरापूर्ण है। परंतु इन दोनों लिपियों में ध्वनियों के सीधे रूप और उनकी अनेकरूपी विवृत्तियाँ उस सीमा तक अंकित नहीं की जा सकतीं जितनी देव-नागरी लिपि में की जा सकती हैं। माना कि रोमन लिपि का बड़ा प्रचार है, फिर क्या अपने समस्त संस्कृत साहित्य को, देवनागरी लिपि हटा कर, अपाठ्य बना दिया जाय ? उच्चारण-अभ्यास की भाँति पढ़ने की क्षमता के लिए दृष्टि-अभ्यास भी धीरे धीरे निर्माण होता है। शताब्दियों के संपर्क द्वारा भारतीयों ने देवनागरी लिखने और पढ़ने की क्षमता अपने नेत्रों में रमा पाई है। लिपि-विपर्यय से यह क्षमता एकदम लुप्त नहीं हो सकती और नये अभ्यास के लिए एक युग की आवश्यकता सामने आ जायगी। युगों के लंबे प्रयोग से ही बड़े धीरे-धीरे अक्षरों के रूप में परिवर्तन होता है। वह उसी प्रकार अपरिलक्ष्य रहता है जिस प्रकार ध्वनि-विकार और भाषा-विकार का धीमा परिवर्तन अपरिलक्ष्य रहता है। अतएव किसी सहसा आज्ञा-पत्र से जिस प्रकार वाक्यंत्र अथवा श्रुतिपथ नये नाद के अपरिचय को त्याग नहीं सकते और उससे सहसा अभ्यस्त नहीं हो सकते उसी प्रकार नेत्र भी लिपिविपर्यय के आकस्मिक सुधार को सुख से स्वीकार नहीं कर सकते। हाँ, यह दूसरी बात है कि दूसरी भाषाओं की नई ध्वनियों के आगमन के लिए लिपि में नई योजनाएँ उपस्थित की जायँ। यह तो देवनागरी को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है।

हिंदी का महत्त्व

हिंदी भी एक उच्च भाषा है। खड़ी बोली की प्राचीनता न सही, उसमें अवधी और ब्रज का ऊँचा से ऊँचा साहित्य भरा है। उसमें संतों ने भक्ति और चिंतना का मेल किया है। उसमें रीतिकालीन कलाकारों ने भाषा ही को नहीं माँजा, जीवन की सांसारिकता और साहित्य की शास्त्रीयता का सामंजस्य स्थापित किया। उसमें सारे रसों को सुंदरता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। जीवन के वैविध्य के साथ जीवनयापन कला का उज्ज्वलरूप भी संगृहीत है। मुसलमानों की भारतीयता भी हिंदी में मौजूद है। यहाँ की संस्कृति का उन पर कितना प्रभाव पड़ा, यह उन्हीं की कलम ने अंकित किया है। निराकार को मांसपिंड में बाँधना और मानव-मांसपिंड को ऊपर उठा ले जाकर भगवान् बना देना हिंदी की ही सबसे बड़ी देन है। परमब्रह्म भगवान् जिस लचीली सीढ़ी के सहारे स्वर्ग से उतरकर भारतवर्ष में राम कृष्ण बने और दशरथनंदन तथा वसुदेवसुवन जिस जीने से वैकुंठ तक चढ़ गये और वहीं बैठे-बैठे आज भी चमक रहे हैं वह हिंदी में ही है। उर्दू ने खुद आनेवाले ईश्वर का नाम तो खुदा बतला दिया परंतु

मानवमन को रमानेवाली उसकी लीलाओं को विस्तार न दे सकी और हिंदी इस ओर बहुत आगे बढ़ गई। माना कि हिंदी को भी यह देन संस्कृत की है परंतु जिस योग्यता से इस भावना को हिंदी ने पकड़ा और उसे सार्वभौमिकता और सार्वकालीनता दी वह हिंदी की अद्वितीय शक्ति है। उसने सारे भारतीयों को संस्कृति की एकसूत्रता देने का प्रयास किया। राम और कृष्ण के पुलक और विषाद सबके पुलक और विषाद बन गये। यह परंपरा जैसी की तैसी आज भी अनेक रूपों में हिंदी-साहित्य में उतरती चली आ रही है। निराकार शक्तियों में रमण करनेवाले भावुक चिंतकों ने रहस्यमय छायावाद को अपनाया और वस्तु तथा शैली दोनों में अक्षमता दिखाई। इस समय फिर भौतिकता के झटके को सबसे आगे बढ़कर हिंदी ही एक भारतीय रूप देना चाहती है। प्रगतिवाद को भारतीयता प्रदान करने की क्षमता केवल हिंदी ही में है क्योंकि उसके पास अतीत का बलवान् अध्यात्मवाद है। दूसरी भाषाएँ विदेशी तत्वों का अंध अनुकरण करके थोड़े समय तक वाहवाही लूट लें। वस्तु और शैली दोनों दिशाओं का प्रगतिपूर्ण वातावरण हिंदी ही भारतवर्ष के अनुकूल दे रही है।

यह कोई नहीं कहता कि हिंदी की तुलना अँगरेजी इत्यादि समुन्नत भाषाओं से आज की जा सकती है, परंतु हर दिशा में वह अग्रसर हो रही है। कथा, कहानी, नाटक, प्रबंध, समीक्षा, काव्य, इतिहास, जीवनी, भूगोल, खगोल, विज्ञान, दर्शन, सभी विषयों में संक्रमण युग की दुर्बलता के साथ हिंदी आगे बढ़ रही है। बड़े-बड़े मनीषियों ने अँगरेजी से हटकर हिंदी की श्रीवृद्धि करना आरंभ कर दिया है। ये सब शुभ लक्षण हैं। हिंदी की नाद-योजना संस्कृत की गतानुगति की पूरी-पूरी उत्तराधिकारिणी है और भारतीय कण्ठ-क्षमता के बिलकुल अनुकूल है। यहाँ की उच्चारण-क्षमता को बल देनेवाला और उसकी योग्यता को बढ़ानेवाला शब्द-भार हिंदी में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। संस्कृत शब्दों की अनैसर्गिक योजना जो बोली में मिलकर खटकने लगती है वह साहित्य में मिलकर किस स्वाभाविकता के साथ मंत्र-ध्वनि के गौरव और प्रभाव का स्मरण दिलाती है। विनयपत्रिका का यह शिव-स्तोत्र देखिए—

देव ! मोहतम-तरणि, हर, रुद्र, शंकरशरण,
हरण-भयशोक, लोकाभिरामं।
बालशशिभाल, सुविशाललोचन-कमल,
काम-शतकोटि-लावण्यधामं ॥

कंबु, कुंदेंदु-कर्पूर-विग्रह रुचिर,
तरुण-रविकोटि तनु तेज भ्राजै ।
भस्म सर्वांग, अर्द्धांग शैलात्मजा,
व्याल-नृकपाल-माला बिराजै ॥
मौलि संकुल-जटामुकुट-विद्युच्छटा,
तटिनि बरबारि हरिचरण-पूतं ।
श्रवण कुंडल, गरलकंठ करुणाकंद,
सच्चिदानंद वंदेऽवधूतं ॥
सूल-सायक-पिनाकासिकर सत्रुवन—
दहन इव धूमध्वज, वृषभ-यानं ।
व्याघ्र-गज-चर्म्म परिधान, विज्ञान-घन,
सिद्ध-सुर-मुनि-मनुज-सेव्यमानं ॥
तांडवित-नृत्य पर, डमरु डिमडिम-प्रवर,
अशुभ इव भांति कल्याणराशी ।
महाकल्पांत ब्रह्मांडमंडल-दवन,
भवन कैलाश, आसीन काशी ॥
तज्ञ, सर्वज्ञ, यज्ञेश, अच्युत, विभो,
विश्व भवदंशसंभव, पुरारी ।
ब्रह्मेंद्र-चंद्रार्क-वरुणाग्नि- वसुमरुत-यम,
अर्चि भवदंघ्रि सर्व्वाधिकारी ॥
अकल, निरुपाधि, निर्गुण, निरंजन, ब्रह्म,
कर्मपथमेकमजनिर्विकारं ।
अखिल विग्रह, उग्ररूप शिव भूपसुर,
सर्वगत, शर्व, सर्वोपकारं ॥
ज्ञान, वैराग्य, धन, धर्म, कैवल्य सुख,
सुभग सौभाग्य शिव सानुकूलं ।
तदपि नर मूढ़ आरूढ़ संसार-पथ
भ्रमत भव विमुख-तव-पादमूलं ॥

नष्टमति, दुष्ट अति, कष्टरत, खेदगत
दास तुलसी शंभु शरण आया।
देहि कामारि श्री रामपदपंकजे
भक्तिमनवरत गतभेदमाया॥

गंगाजी की स्तुति का यह दूसरा पद देखिए—

जयति जय सुरसरी जगदखिल-पावनी।
विष्णु-पदकंज मकरंद-इव अंबु बर बहसि, दुख दहसि अघवृंद-विद्रावनी।
मिलित जल पात्र अज-युक्तहरिचरनरज, विरजवरवारित्रिपुरारिसिर-धामिनी।
जह्नु-कन्या धन्य, पुन्यकृत सगरसुत, भूधर-द्रोनि-विद्दरनि बहुनामिनी॥
यक्ष गंधर्व मुनि किन्नरोरग दनुज मनुज मज्जहि सुकृतपुंज जुतकामिनी।
स्वर्गसोपान, विज्ञान-ज्ञानप्रदे! मोहमदमदन-पाथोज-हिमजामिनी॥
हरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर, मध्य धारा विशद विश्वअभिरामिनी।
नील पर्यंक कृत शयन सर्पेश जनु सहसशीशावली स्रोत सुरस्वामिनी॥
अमितमहिमा अमितरूप भूपावली-मुकुटमनि-वंदिते! लोकत्रयगामिनी।
देहिरघुबीरपदप्रीतिनिर्भरमातु! दासतुलसीत्रासहरणि भवभामिनी॥

क्यों न भारतीयों का मंत्रोच्चारण का यह अनुराग शब्द ब्रह्म से उनका साक्षात्कार करा दे! इस नाद में साकारत्व है जिसका ध्यान जप के साथ चलता है और इस नाद में हमारी ऊँची-ऊँची भावना और चिंतना, जिसे हम अपनी अद्वितीय संस्कृति की परम्परा कह सकते हैं, गुप्त और प्रकट दोनों रूप में निवास करती है।

हिंदी गद्यपरम्परा और भारतेंदुजी का योग

प्रारंभिक हिंदी

हिंदी भाषा का विकास अभी तक दसवीं शताब्दी से माना गया है। आज तक के प्रामाणिक इतिहासकारों का यही मत है। परंतु पुरातत्त्व के अद्वितीय विद्वान् त्रिपिटिकाचार्य राहुल सांकृत्यायन ने अपनी नवीन शोध द्वारा इस तिथि को बहुत पीछे कर दिया है। मिश्रबंधुओं ने 'पुष्य' नामक कवि का उल्लेख करके हिंदी की जन्म-तिथि आठवीं शताब्दी मानी थी, परंतु 'पुष्य' और उसकी कृतियों का कुछ पता न लगने के कारण मिश्रबंधुओं की हिंदी की जन्म-तिथि प्रामाणिक न बन सकी। राहुलजी ने कई 'सिद्ध' कवियों को खोज निकाला है जो सात सौ पचास से लेकर बारह सौ तक के बीच में हुए हैं। उनकी कृतियों का उल्लेख करते हुए भाषा की दृष्टि से राहुलजी ने उनकी समीक्षा भी की है। इन 'सिद्ध' लेखकों ने अपने सिद्धांतों का प्रचार अपनी बोलचाल की भाषा में किया था। अपने को विद्वान् समझनेवाले अन्य सिद्ध किसी न किसी मुर्दा भाषा से चिपटकर अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करते रहे। न उनके सिद्धांतों का ही प्रचार बढ़ा और न उनका कोई स्थान साहित्य-क्षेत्र ही में रह गया। हिंदी में लिखनेवाले सिद्ध कवियों ने गद्य का प्रयोग सम्भाषणों के लिए, वार्तालाप के लिए और समझने-समझाने के लिए सीमित रखा। अतएव उसके कोई उदाहरण नहीं मिलते। उस युग के मानसिक विकास को देखते हुए पद्य का प्रभाव ही अक्षुण्ण था, अतएव ये सब सिद्ध पद्यकार भी थे।

इनकी कविताओं में कहीं कहीं पर कबीर की रसात्मकता का चुटीलापन है और कहीं कहीं पर गौतम बुद्ध के सिद्धांतों का रूखा पद्यमय वर्णन। इन कवियों का आलोक हिंदी कविता के क्रम-विकास पर एक नया प्रकाश डालता है। अभी तक कबीरदास की कविता की मौलिकता पर जो नाना प्रकार के विचार व्यक्त किये जाते हैं वे सब इन 'सिद्धों' के पढ़ने के पश्चात् ऊटपटाँग जँचते हैं। कबीर की अध्यात्मप्रियता, उनका योग-वर्णन, उनका निर्गुण-निरूपण, उनका रहस्यवाद, उनका भारतीय धर्मग्रंथों पर आक्रमण, उनकी वाद-विवाद-प्रियता इत्यादि विषयों पर खूब लिखा-पढ़ी होती है। युगधर्म का प्रभाव भी उनमें बहुत ढूँढ़ा जाता है। उनका कबीर-पंथ एक मौलिक संप्रदाय के रूप में सामने रखा जाता है।

बात वास्तव में यह है कि कबीर की प्रतिभा उतनी अनाश्रित न थी जितनी समझी जाती है। कबीर उस शृंखला की एक मोटी कड़ी हैं जो उनके पूर्ववर्ती 'सिद्ध' संप्रदाय को उनके परवर्ती 'नाथ' संप्रदाय से जोड़ती है। कबीर उस महा प्रवाह के शक्तिसम्पन्न जलचक्र हैं जिसकी अथश्री सिद्धसम्प्रदाय वाले और इतिश्री नाथ-संप्रदाय वाले थे। मालूम ऐसा होता है कि साधुओं का एक वर्ग गौतम बुद्ध के समय से ही सिद्धों के रूप में भारतीय भावना को प्रवाहित करता आया है। कबीर ने इस सम्प्रदाय को अपने व्यक्तित्व के आलोक में और संगठित किया। यह क्रम घटता-बढ़ता परिवर्तित होता नाथों के समय तक चला आया। बहुत से प्रतिभा-सम्पन्न साधु समय समय पर उत्पन्न होकर अपनी निजी स्फूर्ति और प्रेरणा से इसमें नए नए परिवर्तन करते आये। वर्तमान युग का राधास्वामी सम्प्रदाय इसी साधु सम्प्रदाय का सबसे अर्वाचीन स्वरूप है।

राहुलजी ने जिन सिद्ध कवियों का उल्लेख करके हिंदी की उत्पत्ति-तिथि को आगे बढ़ाया है उनके कुछ नाम ये हैं।

१ सरहपा, २ शबरपा, ३ आर्यदेव या कर्णरीपा, ४ लूहिपाद, ५ भूसुकु, ६ वीणापा, ७ निरूपा, ८ दारिकपा, ९ डोम्भिपा, १० कम्बलपाद, ११ जालंधरपाद, १२ कुक्कुरिया, १३ गुण्डरीपाद, १४ मनिपा, १५ कणहपा, १६ तांनिपा, १७ महीपा, १८ भादेपा, १९ कङ्कणपाद, २० जयानन्त, २१ तिलोपा, २२ नाड (नारो) पा, २३ शान्तिपा—इन सब का पूर्ण परिचय और इनकी कृतियों की समीक्षा राहुलजी ने की है। हमारा यहाँ केवल गद्य से ही संबंध है अतएव यह प्रसंङ्ग अनावश्यक समझकर यहीं समाप्त किया जाता है। पुरातत्त्व के दूसरे विद्वान् स्वर्गीय श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने भी राहुलजी की शोध की प्रशंसा करते हुए उसे स्वीकार किया है। हमें इस विषय की अधिक चर्चा यहाँ नहीं करनी है। भारतवर्ष की भाषाओं की विकास-धारा से कितनी शाखाएँ फूटीं, कब कब फूटीं और इनका क्या क्या नाम पड़ा इसका उत्तर हमें हिंदी भाषा के इतिहास और भाषा-विज्ञान की ओर ले जायगा, परंतु जिस शाखा-विशेष को हिंदी नाम दिया गया उसके स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा का पहला शंखनाद पद्य के रूप में था, गद्य में नहीं। बाद में कितने ही सुंदर काव्य रचे गए, परंतु सब पद्य में। यह क्रम १७वीं शताब्दी तक जारी रहा।

गद्य का महत्त्व

यह बात निर्विवाद है कि किसी राष्ट्र अथवा युग के साहित्य की आत्मा से परिचय प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु प्रायः सदैव उसके काव्य के उपवन में पदार्पण

करते चले आये हैं। कविता का अंचल पकड़कर वे साहित्य की महत्ता से साक्षात्कार करते रहे हैं और ज्ञानकोष के पद्यात्मक अंश से प्रभावित होकर उन्होंने साहित्य के मूल्य को आँका है। किंतु इसका वह अभिप्राय नहीं कि जन साधारण में प्रचलित विचार-विनिमय के साधन, अर्थात् गद्य का, साहित्य के सृजनोद्योग में कोई अंश ही नहीं रहता। अपने नित्य-प्रति के सम्भाषणों में जिस कथन-प्रणाली को आधार बनाकर हम अपने हृद्गत भाव, शोक, हर्ष, रोष आदि प्रकट करते हैं; जिसे सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री, पुरुष, समान रूप से व्यवहार में लाते हैं, उसकी उपादेयता कविता अथवा पद्य के सम्मुख नगण्य नहीं है। आधुनिक समाज में, जब कि शिक्षा, संस्कृत और साहित्य का विकसित और प्रौढ़ स्वरूप हमारे सम्मुख है, हम देखते हैं कि पद्य ही साहित्य के शृंगार का एक-मात्र साधन नहीं है। इस वैज्ञानिक युग में ऐहिकता के प्रति ज्ञानार्जन अनिवार्य-सा हो रहा है। ज्ञान के विविध स्वरूप और विचित्र क्षेत्रों की ऊहापोह अब हमारा अभीष्ट रहता है। नित्य प्रति जनता में लेख्य विषयों की गणना-वृद्धि होती जाती है। ऐसी स्थिति में साहित्य-सरोवर में जलविहार करने के हेतु हम पद्य-रूपी एक ही डाँड़ के सहारे अपनी जीवन-नौका को लेकर ध्येय तक नहीं पहुँच सकते।

हम अपने साधारण क्रियात्मक जीवन में अपने आलाप-सम्भाषण और वादविवाद में संसार की ऐहिकता से लिप्त रहते हैं। स्वयं कवितामय होने का अवकाश और सौभाग्य कभी कभी मिलता है। यही कारण है कि हमारी गति और प्रणाली अधिकांशतः विचारात्मक अर्थात् बुद्धि, अनुभव और दुनियादारी से संबंधित है। जीवन के संघर्ष में कविता उपेक्षित है। उसमें कविता का बहुत कम अंश है। गद्य हमारे लिए बागडोर है, उसका महत्त्व सर्वतोमुखी है।

किसी भी जाति के बौद्धिक विकास की कसौटी उसकी वैज्ञानिक उन्नति होती है। विभिन्न कलाओं का विकास, उद्योग-धंधों की प्रचुरता, सामाजिक उन्नति आदि से ही राष्ट्र शिक्षित कहा जाता है। अतएव हमारे मानसिक स्फुरण में गद्य की महत्ता और उपादेयता सर्वमान्य है। इसके अतिरिक्त स्वतः साहित्य के भी अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पद्य की पहुँच नहीं; और यदि ऐसे स्थलों में पद्य अपना पैर रोपता है तो यह उसकी मूर्खता और लेखकों की उद्दण्डता ही समझना चाहिए। पदार्थ-विज्ञान, समाज-विज्ञान, चिकित्सा-विधान, अर्थ, राजनीति आदि तथा अन्यान्य उपयोगी कलाओं का विवेचन यदि पद्य-बद्ध सम्मुख आये तो हास्यास्पद और अनुचित होगा। इस संबंध में संस्कृत लेखकों का प्रयास अपने समय की समाज-गत रुचि को देखते हुए भले ही युक्तिसंगत कहा जा सके; किंतु यह स्वाभाविक है कि केवल पद्य में बाँधकर ही ज्योतिष, तर्क,

धर्म-शास्त्र आदि का प्रचार और प्रसार जनसाधारण तक नहीं किया जा सकता। एक शिक्षित राष्ट्र का निर्माण गद्य के बल पर ही होना स्पष्ट है। गद्य ही मानव जीवन की समीक्षा-प्रणाली है, और यही वास्तविक संसार के चित्रण की उपयुक्त तूलिका है।

साहित्य में गद्य के समुचित स्थान का निर्देश करते समय स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब गद्य ही राष्ट्र की शिक्षोन्नति का महत्त्वपूर्ण साधन है तो प्रत्येक देश के साहित्य में पद्य का प्रचार अपेक्षाकृत पूर्वगामी क्यों देखा जाता है? इस संबंध में हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। इस तथ्य की ऊहापोह बहुत कुछ ऐतिहासिक घटनाक्रम पर आधारित है। साथ ही इसके कुछ प्राकृतिक कारण भी हैं। समाज-शास्त्र और सभ्यता का इतिहास इस बात का द्योतक है कि आदिकाल में, जब मनुष्य ने कोई उल्लेखनीय सामाजिक दृढ़ता न अंगीकार की थी, हमारी आवश्यकताएँ न्यून थीं। जीवन एक संघर्ष न था और संतोष सहज-प्राप्त था। तत्त्वचिंतन के स्थान पर आत्मगत-भावोद्वेगों के नैसर्गिक अभिव्यंजन में ही सुख की उपलब्धि थी, तथा ज्ञान का भण्डार परिमित था। साहित्य का प्राथमिक स्वरूप ऐसी स्थिति में व्यंजनात्मक हुआ। उसमें विश्लेषण अथवा आलोचना का अंश न्यून होने से भाषा का आरम्भ अधिकतर कविता से होता है।

गद्य के आविर्भूत होने में विलम्ब होने का कारण उस समय की देश की शासन-व्यवस्था अथवा अल्पावस्था से उत्पन्न मनुष्य के जीवन का अस्त-व्यस्त और आपदाकुल होना भी है। आक्रमण, युद्ध और पलायन नित्य की घटनाएँ थीं। किसी विषय के गूढ़ चिंतन का किसी को अवकाश न था तथा शांत वातावरण में कुछ दिनों रह कर किसी विधेयात्मक साहित्य का प्रणयन करना एक दुस्तर कार्य था। धर्म अथवा युद्ध ही ऐसे विषय थे जिनसे समाज की रुचि आकृष्ट होती थी। इस कारण भी धर्म प्राण संस्कृत-साहित्य का रुझान पद्य की ओर ही रहा। समाज का ज्ञान-कोष बहुविषयक न था और न बहुत गहन ही। उस समय एक प्रथा-सी थी, वर्णित विषय को संक्षेप में कहने की और ऐसे ढंग से कहने की कि वह जनरव बन जाय। विषय के पद्यात्मक अंश को स्मरण रखना गद्य की अपेक्षा कुछ सरल होता भी है, तथा आशय को संक्षेप में स्पष्ट कर देने की पद्य में कुछ अद्भुत क्षमता होती है। संभवतः पद्य के प्रसार का यह भी एक प्रयोजन रहा है।

हमारा सामाजिक जीवन जब तक पार्थिवतापूर्ण नहीं होने पाता, वह कविता का कानन रहता है। सभ्यता के मण्डप के नीचे जब तक संसार नहीं आया था, उसकी मानसिक अवस्था दुनियादारी से दूर थी। तब हमारी व्यावहारिक बुद्धि में न अधिक वेग आया था, न विशेष प्रबलता ही दिखाई देती थी। सरल जीवन और अमल-

धवल मानस के मध्य में वे दिवस काव्योचित वातावरण के विधायक थे। वायु में अंतर की स्वर-लहरी निनादित रहती थी अतः उस समय तक गद्य की आवश्यकता अथवा उपयोगिता कोसों दूर थी। इसका कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि पद्य-रचना की एक दीर्घकाल-व्यापी बयार-सी बह चली। जब संस्कृत के आधार पर अपभ्रंश भाषाओं में साहित्य का सृजन होने लगा तब भी पद्य ही विषय-प्रकाशन का प्रचलित साधन था।

संस्कृत का साहित्य-कोष, यद्यपि पर्याप्त मात्रा में गद्यांश था किंतु संस्कृत प्रचलित व्यावहारिक बातचीत का माध्यम न थी। लोगों में इसे पढ़ने का धैर्य न था। वे इससे उदासीन थे। अपनी प्रचलित पाठ्य पुस्तकों की पद्यात्मक शैली उन्हें ग्राह्य थी, किंतु संस्कृत विद्वानों के गद्य से वे ऊबते थे। वास्तव में बाण और दण्डी प्रभृति संस्कृत के गंभीर विद्वान् जैसा गद्य लिखते थे वह था भी अत्यधिक अलङ्कारिक और आडम्बरपूर्ण। इनके गद्य की भाषा पद्य का जामा ओढ़े कविता-विषयक शुष्क उपादानों से अत्यधिक आवृत है। गद्य का यह वेश जनरुचि को पसंद न आया और इसका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि हिंदी लेखकों ने हिंदी गद्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया। लोग रीति काव्य लिखना ऐसे गद्य से अपेक्षाकृत सरल और सुबोध समझ कर पद्य में ही अपनी उक्तियों का चमत्कार दिखाते रहे। संस्कृत गद्य से अरुचि होने के कारण हिंदी-काव्य के क्षेत्र में भी एक ऐसी धारा का उद्गमन हुआ जिसमें अति साधारण विषय-वर्णन को पद्य के ढाँचे में ढाल कर कविता का रूप दिया गया था।

खड़ी बोली

वर्तमान प्रचलित गद्य की भाषा (खड़ी बोली) के उद्गमस्थल अथवा आविर्भाव-काल का ठीक ठीक निर्देश करना कठिन है। हिंदी गद्य का आरंभ विक्रमीय संवत् १४०७ के लगभग माना गया है। यह हिंदी गद्य वस्तुतः व्रज गद्य है। गोरखनाथ ने अपना 'सिष्ट प्रमाण' इस समय गद्य में लिखा। इस समय के गद्य-लेखकों में गोरखनाथ, गोकुलनाथ, गंग भट्ट, नाभादास, अमरसिंह कायस्थ आदि की रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। काशी के इतिहास-लेखकों ने जटमल का नाम भी इन्हीं लेखकों में गिनाया है। वास्तव में जटमल ने कोई गद्य-पुस्तक नहीं लिखी, कम से कम मुझे देखने को नहीं मिली। उसकी पुस्तक पद्य में है। उस पुस्तक का गद्यानुवाद फोर्ट विलियम के अधिकारियों ने कराया था। इस अनुवाद को गद्य में देखकर विज्ञ लेखकों को यह भ्रम हो गया कि उक्त पुस्तक गद्य में है। ऊपर के गद्य-लेखकों की भाषा तथा शैली

अत्यंत अनगढ़, अनियंत्रित तथा शिथिल है। वास्तव में इस युग की भाषा के रूप-निरूपण की जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, वह पण्डिताऊ पोथियों, वैष्णव उपदेशों तथा राजकीय पत्र-व्यवहार में ही देख पड़ी है। यह ब्रज गद्य स्थायी न बन सका। टीकाकारों के हाथों में पड़कर यह अकाल में ही नष्ट हो गया। विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी तक इस ब्रज-गद्य का पूर्ण ह्रास हो गया।

गोरखनाथ की एक पुस्तक से कुछ अंश यहाँ उद्धृत है—"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप हैं शरीर जिन्ह के नित्य गायें तें चेतन्नि अरु आनन्दमय होतू है। मैं जुहौं गोरिष सों मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ ? आतम जोति निश्चल है अन्तहकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै। स्वामी......तुम्ह तो सतगुरु, अम्ह तो सिष सबद एक पूछिवा, दया करि कहिबा, मनि न करब रोस।"

गोकुलनाथ-कृत ब्रजभाषा के दो गद्य ग्रंथ "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" तथा "दो सौ वैष्णवों की वार्ता" का उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक है। इन कथाओं में बोलचाल की ब्रजभाषा देख पड़ती है; यथा—

"सो श्रीनन्दग्राम में रहतो हतो। सो खण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो; ऐसो वाको नेत्र हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खण्डन पारय्यो हतो।"

ऊपर के गद्य अंश की शैली प्रचुर मात्रा में अव्यवस्थित और सचिक्कण ब्रज है। किंतु इसके उपरांत गद्य लेखन का यथेष्ट प्रचार न होने के कारण, ब्रज-गद्य पनप न पाया। काव्यों की टीकाओं का गद्य इतना लचर, भ्रष्ट और अशक्त दिखायी दिया कि उसकी लड़खड़ाहट और उपांगता ने मूल का भी मूलोच्छेदन कर डाला। रामचंद्रिका की टीका की दयनीय भाषा का यह उद्धरण है—

"राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यो हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़िके गयो॥"

टीका :—"सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित है, अंसु कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कलिन्दगिरि-शृङ्ग ते हंस-समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है हंसन के सदृश स्वेत छत्र है और सूर्य्यन के सदृश अनेक रंग नग जटित मुकुट हैं।"

ऊपर के उद्धरणों से यह प्रकट है कि इस समय तक साहित्य में गद्य की किंचित् प्रौढ़ता नहीं प्राप्त हुई थी। अतः आगे चलकर गद्य में स्थूल ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली

सुगमता से ग्रहण कर ली गई। ब्रजभाषा वास्तव में पद्य की भाषा समझी जाती थी और उसके प्रांतीय प्रयोग सुबोध न थे। मुसलमानों को उसके समझने में कठिनता होती थी। उसकी अनेकरूपता, उसके शब्दों तथा धातुओं के मनमाने अनेक प्रकार के प्रयोग, उसको दुरूह बनाये हुए थे। कविता के लिए उसमें जो गुण समझे जाते थे, गद्य के प्रयोग के लिए वही दुर्गुण सिद्ध हुए। अपने असाधारण ढलाव और अद्वितीय लोच के कारण ब्रज गद्य में ग्रहण न की जा सकी।

खड़ी बोली अपने आदि रूप में केवल बोल-चाल में व्यवहृत होती थी। तत्कालीन दिल्ली और मेरठ तथा उसके समीप की प्रचलित भाषा के नमूने खड़ी बोली का प्रामाणिक निर्माण करते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान हिंदी (खड़ी बोली) का प्रारम्भिक स्थल मुगलकालीन दिल्ली का समीपवर्ती प्रांत था। संयोग पाकर खड़ी बोली पहेलियों, मुकरियों और ग्राम-गीतों में आई। इस समय संस्कृत का गौरव बहुत कुछ लुप्त हो चुका था और मुस्लिम-संस्कृति के अणु तथा उनकी भाषा का रंग हमारी बोली पर अधिकाधिक चढ़ रहा था। वास्तव में उस समय की व्यवहृत भाषा का "हिंदी" नाम मुसलमानों द्वारा ही दिया हुआ है। सर्वप्रथम खुसरो ने खड़ी बोली में पहेलियाँ गूँथ कर हिंदी को साहित्य में बरता। पंद्रहवीं शताब्दी में कबीर ने भी इसे अपनी कविता में स्थान दिया और उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ाई। किंतु अभी तक इस भाषा में गद्य का निर्माण नहीं के बराबर हुआ था। इस काल में प्रौढ़ गद्य का सृजन न हो सकने का कारण यह भी था कि इस समय तक किसी देश-व्यापी आंदोलन की चर्चा न चली थी। न समाज में उपदेश और वाद-विवाद का ही प्रचार दिखाई देता था। खड़ी बोली में अभी तक भाव-प्रकाशन का यथेष्ट बल भी न आया था। वास्तव में मनोविनोद ही साहित्योन्नति के समारम्भ का हेतु बना। खड़ी बोली का आरम्भ कहानी कथाओं द्वारा ही देखा गया है।

बहुत शीघ्र ही खड़ी बोली के क्षेत्र का विस्तार होने लगा। इसका प्रसार उत्तर भारत तक ही सीमित न रहा, वरन् बंगाल, बिहार और दक्खिन में भी इसने द्रुतवेग से प्रवेश पाया। इसके प्रचार और विस्तार में देश की ऐतिहासिक घटनाओं ने असाधारण योग दिया। दिल्ली की अवनति, मराठों के उत्कर्ष और फिर अँगरेजों के आगमन से इसके विकास के उपादान संगृहीत होते गये।

मुसलमानों की राजकीय सत्ता के छिन्न होते ही उत्तर और दक्षिण दोनों ही ओर से आक्रमण होने लगे और दिल्ली का शासन डगमगाने लगा। अहमदशाह दुर्रानी और मराठों के आघातों से बचने के लिए दिल्ली और आगरा का वैभव खिसक

कर बंगाल और बिहार में जा टिका। इन मुसलमानों के साथ खड़ी बोली बहुत शीघ्र सुदूर पूर्व तक व्याप्त हो गई। इन्हीं दिनों अँगरेजों की भी बंगाल में प्रभुता और प्रधानता बढ़ रही थी। भारत और भारतीयों के जीवन में अँगरेजों ने ज्यों ज्यों अपने अधिकारों का क्षेत्र विस्तृत किया, एक वैज्ञानिक युगांतर घटित होता गया। एक ओर वाणिज्य और व्यापार का विकास दृष्टिगत होता था; दूसरी ओर आवागमन के विभिन्न नवीन साधनों की उत्पत्ति होती जाती थी। मुद्रणकला का प्रचार सम्यक् रूप से हो ही चला था; अतः समाज में शिक्षित समुदाय की वृद्धि हुई और गद्य साहित्य की खपत होना अधिकाधिक सम्भव हो गया। अब भारतीय जनता विभिन्न वैज्ञानिक विषयों से उत्तरोत्तर परिचित हो रही थी। समाज-शास्त्र, राजनीति, न्याय, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि विषयों की पुस्तकों की आवश्यकता स्पष्टतर हुई। साथ ही रेल, तार, डाकखानों आदि ने हमारे रहन-सहन, आचार-विचार में परिवर्तन पैदा कर दिया।

इस नवीन युग के नितांत नवीन मण्डल में लोगों की साहित्यिक रुचि में उलट-फेर होना स्वाभाविक था। लेखकों में पूर्वकालिक लक्षण-काव्य के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा के भाव उदित हुए और क्रमशः गद्य के समीचीन स्वरूप का कलेवर सँवारा जाने लगा।

इस समय समाज के प्रत्येक अंग में ऐहिक तथा जीवनोपयोगी साहित्य के लिए गद्य अपेक्षित था। अँगरेजों को भी पारस्परिक परिचय बढ़ाने के लिए बोलचाल की भाषा का आश्रय लेना पड़ा। ईसाई मत के प्रचार में भी खड़ी बोली ही उपयुक्त माध्यम थी। इस प्रकार खड़ी बोली सरल और आमफहम होने के कारण मुसलमानों की भाँति अँगरेजों द्वारा भी अपनाई गई। मुगल-दरबारियों के ही सदृश अँगरेजों को भी अपने वाणिज्य के उत्कर्ष में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए जो बाबू रखने पड़े उन्हें देश की प्रचलित भाषा खड़ी बोली में व्यवहार-कुशल होना अनिवार्य था। गद्य में विकास और शोधन के चिह्न भी अब स्पष्ट हो रहे थे। विरामादि चिह्नों के प्रयोग को लोग समझने लगे थे और व्याकरण संबंधी नियमबद्धता स्वीकृत हो रही थी। अकबर के समय में गंग कवि की भाषा के निम्नांकित अवतरण से तुलना करने से यह विदित हो सकता है।

गंग कवि का प्रसिद्ध लेख देखिए—

"सिद्ध श्री १०८ श्री श्री पातशाह जी श्री दलपति जी अकबर साह जी अमरवास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और अमरवास भरने लगा है। जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुर्निस बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ कर जाया करे

अपनी अपनी मिसल ले। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की झूलें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम रहे।

उपरोक्त अनगढ़ तथा शिथिल वाक्य-विन्यास से निम्नांकित अंश की तुलना कीजिए—

"अब कान रखके, आँखें मिला के, सम्मुख होके टुक इधर उधर देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल की पंखड़ी जैसे होंठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

यहाँ हमें अधिक व्यंजकता और परिमार्जन लक्षित होता है। इंशा अल्ला खाँ के गद्य लेख खड़ी बोली को साहित्यिक स्वरूप देते हैं। आपके साथ, संवत् १८६० के समीप तीन अन्य सज्जन गद्याकाश में चमके। वे हैं मुंशी सदासुख लाल 'नियाज,' लल्लूलाल और सदल मिश्र। इन चारों लेखकों की प्रतिभापूर्ण शैली ने गद्यनिर्माण के पथ को हिंदी के आदियुग में प्रशस्त और आलोकपूर्ण बनाया।

चार आचार्य

इन लेखकों की शैलियों में यद्यपि परस्पर गहरी भिन्नता थी, किंतु अपने काल का यथार्थ दर्पण होने के कारण देश के परम्परागत साहित्य में वे ग्रहण कर ली गईं। मुंशी सदासुखलाल-द्वारा निर्मित गद्य हमारे गद्य के विकास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार है। इनके द्वारा किये गये हिंदी के साहित्यिक प्रयोग से गद्य का एक नियमित रूप से आरम्भ हुआ।

सदासुख लाल "नियाज" दिल्ली-निवासी थे। इनका जन्म संवत् १८०३ में हुआ था। आप फारसी के विद्वान् ग्रंथकार तथा शायर थे। अपनी प्रौढ़ावस्था में ये कम्पनी की अधीनता में एक अच्छे पद पर नियुक्त हुए। ६५ वर्ष की अवस्था में आपने कम्पनी की नौकरी छोड़ दी और प्रयाग में आकर अपनी शेष आयु भगवद्भजन में व्यतीत करने लगे। इनका परलोकवास ७८ वर्ष की आयु में हुआ। आपका प्रामाणिक गद्य "सुख सागर" में मिलता है। यह ग्रंथ श्रीमद्भागवत का स्वतंत्र अनुवाद है।

अभी तक खड़ी बोली में उर्दू का साम्राज्य था। शिक्षित-वर्ग के 'शिष्ट' वार्तालाप का आधिक्य रहता था। पंडितों, संतों और कथावाचकों की प्रचलित भाषा में संस्कृत का पुट रहने से मुसलमान लोग उसे "भाखा" कहते थे। सदासुख लाल ने जब यह देखा कि लोग 'भाखा' के चलन को बंद करने में लगे हैं और अँगरेजी शिक्षा-प्राप्त समुदाय भी इसकी अवहेलना कर रहा है, तो उन्होंने इसी संस्कृत-मिश्रित बोल-

-चाल की भाषा को अपने अनुवादित ग्रंथ में प्रयुक्त किया। आपकी हिंदी प्रांतीयता लिये हुए ठेठ ग्रामीण होने के साथ साथ संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्दों को अपने अंक में लिये है। इस प्रकार हिंदुओं की इस शिष्ट बोलचाल की भाषा पर जो दिल्ली से लेकर सुदूर पूर्व पर्यंत प्रचलित थी, आपने सर्वप्रथम साहित्यिक छाप लगा दी। 'सुखसागर' का प्रणयन आपने 'स्वान्त:सुखाय' ही किया था, अन्य किसी की प्रेरणा से नहीं। अपनी इच्छावश रचे हुए इस धार्मिक आख्यान को कथावाचकों का योगदान मिलने से वे अपने हिंदी गद्य को साहित्यिक छवि देने में सफल भी हुए। उनके अनुवादित ग्रंथ 'सुखसागर' का एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है, वह प्राप्त हो और जिससे निज स्वरूप में लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये, और फुसलाइये, और सत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये, और धन द्रव्य इकठौर कीजिये, और मन को, जो तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

उपरोक्त उद्धरण की भाषा शांत तथा स्थिर है और उसमें चलताऊपन का स्पंदन है। इसमें फारसी या अरबी का एक भी शब्द नहीं देख पड़ता। यद्यपि आपने उर्दू में पर्याप्त पद्य-रचना की थी और उसमें भागवत, रामायण, प्रबोध-चंद्रोदय आदि का अनुवाद करके भगवान् का गुणानुवाद किया है; किंतु 'सुखसागर' में आपने भाषा का प्रचलित पंडिताऊपन सुरक्षित रक्खा है। आपकी शैली में इंशाअल्ला खाँ की लपक-झपक और मुहावरेबंदी नहीं है, प्रत्युत विषय के अनुकूल शांत प्रवाह है; साथ ही यह इस बात की भी द्योतक है कि उर्दू ही उस समय की प्रचलित भाषा न थी।

साहित्य का आरंभिक काल गूढ़ विचारों के गहन विवेचन का नहीं होता है। इसका कारण सम्भवत: यही है कि इस समय भाषा में व्यंजना-शक्ति का समुचित प्रादुर्भाव नहीं हो पाता है, तथा उसमें तथ्य की विवेचना के लिए अपेक्षित भाव-प्रकाशन का बल भी उचित परिमाण में जागृत नहीं हो पाता। अत: मनोविनोद अथवा किसी धर्म-भावना की परिपुष्टि, जिसमें लोक-रुचि स्वत: खिंची रहती है, साहित्य का एक ऐसा

आधार रह जाता है जिसके द्वारा समाज की रुचि पठन-पाठन के प्रति आकर्षित होती है। अत: इंशाअल्ला खाँ का कहानी लेकर आना स्वाभाविक ही था।

इंशा ने अपनी "रानी केतकी की कहानी" संवत् १८५५ और १८६० के अंतर्गत लिखी। आप दिल्ली के निवासी थे। राजदरबार में इनके पिता का यथेष्ट सम्मान था। इनका बचपन बड़ा सरल और प्रमोदमय रहा। आरम्भ में इन्होंने कविता लिखना शुरू की। राजदरबार में बादशाह शाहआलम ने इनकी शायरी को प्रशंसायुक्त उत्तेजना दी। गदर के बाद आप लखनऊ चले आये। यहाँ इनकी रँगीली तबियत से चंचलता प्रस्फुटित हुआ करती थी। ये उर्दू-फारसी के मर्मज्ञ और कवि थे ही; आपने संकल्प किया कि एक ऐसी कहानी लिखी जाय "जिसमें हिंदी छुट और किसी बोली का पुट" न मिले। वह "बाहर की बोली और गँवारी" से मुक्त हिंदवी भाषा में हो। आपकी कहानी पूर्णत: मौलिक है। अन्य किसी कथा अथवा आख्यान पर आधारित नहीं। न इसका हेतु कोई तत्कालीन उद्देश्य की प्रेरणा ही था। इसमें संदेह नहीं कि इस कहानी की भाषा में आश्चर्यजनक हिंदीपन है। भाषा की चुलबुलाहट और रोचकता, मुहाविरेबंदी और अनुप्रासों के संयोग तथा वाक्यांशों में तुकांत की कर्ण-प्रियता आदि पर इनकी अपनी छाप लगी है।

इंशाअल्ला खाँ की भाषा-शैली में उर्दू का प्रवाह है। यह उनके मुसल्मानीपन का लक्षण है। वास्तव में 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा हिंदी ही है। ऐसा ही उन्होंने घोषित भी किया है। हाँ, वाक्यविन्यास अनेक स्थलों पर उर्दू के तद्रूप हैं। इसमें संदेह नहीं कि आपकी भाषा अपने काल के गद्यकारों में "सबसे चटकीली, मटकीली, मुहाविरेदार और चलती है," किंतु इसका परिधान और शृंगार इतना आडम्बर-पूर्ण है कि इसमें उच्च गद्य का समावेश दुस्तर है। मनोविनोद के लिए यह फड़कती हुई चलती है, किंतु अन्य किसी साहित्यिक लक्ष्य तक पहुँचने में यह पंगु है। हाँ, अपने कथानक के लिए यह सर्वथा उपयुक्त है और पाठकों की रुचि को आकृष्ट करने के लिए इसमें प्रबल वेग है। इनकी शैली में काल्पनिक और शाब्दिक दोनों ही चमत्कार देख पड़ते हैं। कहानी के निम्नांकित अंश से इंशा साहब की भाषा की एक झाँकी मिल सकती है।

"दहना हाथ मुँह पर फेर कर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद और लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से बहुत चंचल है, अचपलाहट में अपनी चौकड़ी भूल जाय।"

उपरोक्त अंश भाषा की दृष्टि में अपने काल का परिमार्जित और प्रवाहयुक्त कहा जाना चाहिए। यह सोचकर कि उनका कथानक अन्य किसी ग्रंथ अथवा कथा पर आधारित न होकर पूर्णतया कल्पना-प्रसूत है, तथा इस दृष्टि से कि यह आज से सवा सौ वर्ष पहले के एक मुसल्मान सज्जन की लिखी हिंदी है, यह कहना पड़ता है कि इंशा साहब इस नवीन शैली की उद्भावना के कारण वर्तमान हिंदी संसार के प्रशंसा के भागी हैं। आपने अपनी शैली द्वारा बाद के अनेक कीतिमान हिंदी लेखकों के लिए मार्ग निर्देशित किया है। इस शैली में हमें केवल शब्द-बाहुल्य ही नहीं, किंतु भाव-प्रवरता भी मिलती है। उसकी हास्यप्रियता और मनोरंजन-वृत्ति ने भाषा में वह असाधारण व्यंजना-शक्ति दे दी है जो सम्भवतः उस समय के चार आचार्यों में से अन्य किसी के भी गद्य में न थी। हाँ, आगे चलकर प्रतापनारायण मिश्र की भाषा में जो प्रवाह और जिंदादिली देख पड़ी वह बहुत कुछ इंशा साहब की सरिता का एक स्रोत है।

उपरोक्त कथन का यह आशय नहीं कि इंशाअल्ला खाँ का गद्य सर्वथा दोषरहित है। उनका "आतियाँ" 'जातियाँ' का प्रयोग दूषित तथा पुरानी परित्यक्त परिपाटी का है। 'घरवालियाँ' 'वह लातियाँ' आदि शब्दों का उर्दूपन बहुत ही निम्नकोटि का है। इसके अतिरिक्त आपकी शैली में बौद्धिकता अथवा मननशीलता का कोई स्थान न होना उसका एकांगीपन प्रदर्शित करता है।

हिंदी गद्य के उन्नायकों में इंशा साहब के समकक्ष सदल मिश्र का पद बहुत ऊँचा और प्रतिष्ठित है। आपने कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिस्ट के आदेश से खड़ी बोली में 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इस ग्रंथ की भाषा बोलचाल का व्यावहारिक रूप है। सीधी-सादी शैली में आपने लल्लूलालजी की तरह शब्दों का रूप विकृत नहीं होने दिया। न आपकी वाक्य-योजना में पद्यात्मक भाषा के अनुरूप पदविन्यास ही है। इसके स्थान पर मुहाविरेबंदी और दोहरे पदों के प्रयोग से शैली में यथेष्ट स्फूर्ति आ गई है। आपका शब्दभाण्डार अत्यधिक चलताऊ ढंग का है। भाषा को सँवारने का प्रयास आपमें बहुत कम मिलता है, तथा स्थान स्थान पर पूर्वी बोली के समावेश से स्वच्छता की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया है। हाँ, उर्दू के ढंग के मुहाविरों के प्रयोग से यह नवीनता की ओर अग्रसर है। आपकी शैली यद्यपि फारसी और अरबी के प्रभाव से बिलकुल अछूती नहीं है, फिर भी सदासुखलाल की भाँति यह पंडिताऊपन लिये है। गद्यालोचकों के मत से मिश्रजी की भाषा एकरस नहीं है। वस्तुतः आपकी हिंदी की गति स्वच्छंद है। आपने भी इंशा साहब की भाँति वाक्य-निर्माण

में शब्दों का उलट-फेर किया है; यथा—'जल विहार हैं करते,' 'अब ही हुआ है क्या' 'और' के स्थान में 'औ' तथा 'वो' दोनों का प्रयोग है। बहुवचन प्रयोग भी एक ही प्रकार का नहीं है जैसे 'हाथन' 'सहसन' के साथ 'कोटिन्ह' 'बहुतेरन्ह' आदि। हाँ, आपके मुहाविरों में आजकल की हिंदी की सजीवता का संकेत है; जैसे 'लड़कई से आज तक, सुग्गा सा पढ़ाया'। इनके लिखे 'नासिकेतोपाख्यान' से निम्नांकित अवतरण प्रस्तुत है—

"राजा रघु ऐसे कहते हुए वहाँ से तुरंत हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य बात कही थी सो पहले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार-पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा कहने लगी कि महाराज जो यह सत्य है तो आप ही लोग भेज लड़के समेत झट उसको बुला ही लीजिये क्योंकि अब मारे शोक के मेरी छाती फटती है। कब मैं सुंदर बालक सहित चंद्रावती का मुँह, कि जो बन के रहने से भोर के चंद्रमा सा मलीन हुआ होगा, देखोंगी। देखो, यह कर्म का खेल, कहाँ इहाँ नाना भाँति भोग-विलास में वो फूलन्ह के बिछौने पर सुख से जिसके दिन रात बीतते थे, सो अब जंगल में कंदमूल खा काँटे कुश पर स्यारों के चहुँदिश डरावने शब्द सुनि कैसे विपति को काटती होगी।"

उपरोक्त अंश से स्पष्ट है कि मिश्रजी का गद्य नितांत सीधा सादा है। शाब्दिकता अथवा रसीलेपन के स्थान पर स्थूल-व्यंजना प्रणाली ही प्रयुक्त की गई है। यहाँ पर लल्लूलालजी की तरह न व्रज का परिधान है न पद्यात्मिकता। यह केवल व्यवहारोपयोगी खड़ी बोली की एक प्रतिलिपि है।

लल्लूलाल का जन्म संवत् १८२० तथा मृत्यु संवत् १८८२ में हुई थी। आगरा-निवासी, लल्लूलालजी का प्रामाणिक गद्य ग्रंथ 'प्रेमसागर' है। इसमें श्री मद्भागवत दशमस्कंध की कृष्ण-कथा है। आपने भी कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में जान गिलक्रिस्ट साहब की अधीनता में रह कर अँगरेज कर्मचारियों को भारतीय भाषा का ज्ञान कराने के उद्देश्य से इस गद्य-ग्रंथ का प्रणयन किया था। प्रेमसागर की भाषा इस बात की परिचायक है कि उस समय तक साहित्य में गद्य पद्य के प्रभाव से मुक्त न हो पाया था। पुस्तक की भाषा खड़ी बोली होने पर भी इसमें व्रज भाषा का प्राधान्य परिलक्षित है। संभवत: लेखक के आगरा निवासी होने के कारण इसमें ब्रज की प्रबलता है। इसके अतिरिक्त आप उर्दू के प्रभाव से बचना चाहते थे। अतएव आपकी शैली सदल मिश्र की भाँति चलताऊ और व्यावहारिक नहीं है। उर्दू से मुक्त और ब्रज तथा संस्कृत-

मिश्रित खड़ी बोली की अपनी एक शैली की उद्भावना करने में, आपने भाषा आडम्बर-पूर्ण और अस्वाभाविक बना दी।

इनकी वाक्य-रचना में पारस्परिक तल्लीनता न होने से भाषा के प्रवाह में स्थिरता नहीं लाई जा सकी। वास्तव में आपकी भाषा बहुत कुछ गोकुलनाथ आदि की प्राचीन शैली की ओर झुकती हुई है। किंतु स्थान-स्थान पर तुकबंदी, अनुप्रास तथा वाक्यों के यथेष्ट बड़े होने से वह पुरानी बर्बरता नहीं रहने पाई है। गढ़ी हुई होने पर भी इसमें शालीनता है और वह मार्जित है। 'प्रेमसागर' की भाषा कथा वार्ता और पंडिताऊ ढर्रे पर है। यही कारण है कि इसमें मुहाविरों का प्रयोग अथवा अन्य किसी प्रकार का भाषा-सौष्ठव बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। स्वर्गीय पंडित रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की सी व्रजरंजित खड़ी बोली है'। नीचे का अंश 'प्रेमसागर' से उद्धृत है—

"श्री शुकदेव मुनि बोले कि—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस, प्रचण्ड पशु-पत्ती, जीव-जन्तुओं की दशा विचार, चारों ओर से दल, बादल साथ ले, लड़ने को चढ़ आया। तिस समय जो घन गरजता था सोई धौंसा बजता था और वर्ण-वर्ण की घटा जो घिर आई थी, सोई शूरबीर रावत थे; तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर कड़खेतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ बाणों की सी झड़ी लगी थी। इस धूमधाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म, खेत छोड़, अपना जी ले, भागा; तब मेघ पिया ने वर्षा से पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था, तिसका भोग कर लिया।"

अनुवादित ग्रंथ 'प्रेमसागर' के अतिरिक्त श्रीलल्लूलाल ने चार अन्य पुस्तकें व्रजभाषा की कथाओं के आधार पर लिखी हैं, जिनके नाम हैं—सिंहासन बत्तीसी, बैतालपचीसी, शकुंतला नाटक और माधोनल।

उपरोक्त चारों गद्यकारों का रचनाकाल संवत् १८६० का समीपवर्ती है। इनमें से पूर्णतः मौलिक गद्य लेखक इंशा साहब ही ठहरते हैं। आपकी शैली भी स्वतंत्र है। जिस प्रकार इनकी "रानी केतकी की कहानी" का कोई आधार-ग्रंथ न था, उसी तरह उनका आलेख भी किसी पूर्ववर्ती के गद्य का अनुकरण नहीं कर रहा है। उसका वेश नितांत नवीन और चाल-ढाल निराली ही है; किंतु इसमें केवल मनोविनोद की ही सृजन-शक्ति थी। अतः एकांगी होने के कारण इसे हम प्रौढ़ गद्य का स्वरूप स्वीकार नहीं करते हैं। इसी प्रकार लल्लूलालजी की रचना भी, यद्यपि हिंदी गद्य का प्रारंभिक

साहित्यिक प्रयोग भले ही कहलाता है, किंतु इसमें व्यावहारिकता की कमी तथा समय से उलटे लौटने की प्रवृत्ति होने से, हिंदी का बोधगम्य स्वरूप नहीं मिलता। आपकी शैली का प्रयोग सार्वभौमिक भी नहीं है। हाँ, सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में हमें आधुनिक हिंदी का मूल-रूप लक्षित हो जाता है। मिश्रजी की शैली लल्लूलाल-जी की अपेक्षा अधिक गठीली और विशद भी है। व्यञ्जना और भाव-प्रकाशन की दृष्टि से वह अधिक सचिक्कण जँचती है। किंतु सदासुखलाल का आविर्भाव मिश्रजी से पहले का है, तथा भाषा-संबंधी उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त यह महत्त्वपूर्ण विशेषता पाई जाती है कि आपने किसी अन्य के आदेशानुसार नहीं, प्रत्युत स्वांत:सुखाय ही अपनी लेखनी में 'भाखा' के लुप्तप्राय प्रभाव को फिर से जागरित किया है—आपका स्थान अधिक महत्त्वशाली है। शैली की दृष्टि से भी मुंशीजी की भाषा सर्वत्र व्यावहारोपयोगी है और इसमें आधुनिक गद्य का आदि रूप प्रचुर मात्रा में देखने में मिल जाता है। अतएव सदासुखजी को हिंदी-गद्य के निर्माणकों में प्रथम स्थान देना चाहिए।

गद्य के निर्माण में विराम

संवत् १६६० के लगभग हिंदी गद्य की स्थापना तो हो गई, किंतु विकास का क्रम न आरम्भ हो पाया। खड़ी बोली के इन अधिष्ठाताओं के सद् प्रयास की प्रतिक्रिया बहुत दिनों बाद तक न देख पड़ी। गद्य-रचना ने इसके बाद ही एक दीर्घ-कालव्यापी निष्क्रियता का अवकाश ले लिया। सिपाही-विद्रोह (सं० १६१४) के आरम्भ तक फिर कोई उल्लेखनीय गद्य का पता नहीं मिलता। विद्रोह के बाद जब देश का सामाजिक और राजनैतिक वायुमण्डल बहुत कुछ परिवर्तित हो गया और साथ ही समाज के जीवन में कुछ स्थिरता आई तब हिंदी गद्य को परम्परागत साहित्य का स्वरूप और गौरव मिला। विगत साठ वर्षीय गद्य-क्षेत्र की निष्क्रियता के कारणों की ओर भी यहाँ संकेत कर देना प्रासंगिक जान पड़ता है।

अँगरेजों ने अपने आरम्भिक काल, आगमन के दिनों में, भारतीय भाषा से परिचित होने के निमित्त हिंदी लेखकों को आश्रय दिया था। उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी में बाबूगीरी तथा कालेज में अध्यापन कार्य देकर उनसे हिंदी सीखी। जब उनकी व्यापार व्यवहार संबंधी इस आवश्यकता की पूर्ति हो गई तो भाषाविद् गद्य लेखकों का यह आधार लुप्त हो गया। ऐसी स्थिति में हिंदी गद्य के विकास का यह द्वार भी बंद हो गया। इसके अतिरिक्त "नासिकेतोपाख्यान" और "प्रेमसागर" जैसी हिंदी

की पुस्तकें, जो गिलक्रिस्ट साहब के आदेश-निर्देशानुसार लिखी गई थीं, वे अँगरेजों को प्रभावित न कर सकीं। इन पुस्तकों द्वारा हमारी सांस्कृतिक अवस्था का बहुत बुरा चित्र उनको मिला। कंपनी के कर्मचरियों को अब अँगरेजी शिक्षित बंगाली बाबुओं की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने अँगरेजी पठन-पाठन का क्षेत्र तैयार करने का प्रयास आरंभ कर दिया। मैकाले की शिक्षा-योजना के व्यापक रूप धारण करते ही अँगरेजी शिक्षा का प्रसार और आदर होने लगा। इस प्रकार हिंदी अब न अँगरेजों के सम्पर्क में जीविकोपार्जन का साधन थी और न किसी अन्य प्रतिष्ठित राज-दरबार ही की साहित्यिक भाषा।

अँगरेजों ने जब राज्य-विस्तार की ओर अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं तो देश में भी यत्र-तत्र राजनैतिक विपर्यय दृष्टिगत होने लगा। समाज में अशांत वातावरण प्रकट हो जाने से साहित्य-निर्माण का फिर सुयोग कहाँ? इन दिनों देश में कोई धार्मिक आंदोलन भी प्रचलित न था जो विषय के खंडन-मंडन करने तथा मत-मतांतर को प्रकट में लाने के लिए गद्य-ग्रंथ लिखे जाते। हाँ, ईसाइयत का प्रसार निर्बाध गति से बढ़ रहा था। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने कार्य-संपादन में हिंदी से सहायता भी ली। बाइबिल का अनुवाद सुबोध भाषा में अवश्य हुआ, किंतु शासन-कार्य न्यायालयों की बोली तथा लिपि उर्दू और फारसी ही थी। इस समय हिंदी खड़ी बोली का वह रूप विकसित हुआ जो उर्दू-लिपि में लिखा जाता था और जिसमें न केवल फारसी और अरबी लिपि की ही प्रधानता रहती थी प्रत्युत उनके व्याकरण का भी हिदी खड़ी बोली के साथ बेजोड़ मिलाप दिखाई देता था।

खड़ी बोली का यह स्वरूप उर्दू भाषा के नाम से विख्यात हो गया। यह उर्दू भाषा कभी-कभी देवनागरी लिपि में लिखी गयी; किंतु कचहरियों में उर्दू लिपि का ही अधिकार था। इस प्रकार उर्दू को प्रोत्साहन मिलने से जनता में भी उर्दू के प्रति अनुरक्ति बढ़ी। संवत् १८६० में दिल्ली से एक उर्दू अखबार प्रकाशित हुआ। सारांश यह कि एक ओर तो मैकाले की शिक्षा-योजना के अनुसार अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से हिदी को इस काल में धक्का लग रहा था, दूसरी ओर हिंदी के समक्ष उर्दू की उन्नति पहले प्रारम्भ हो गयी।

राजा शिवप्रसाद

संवत् १६०२ में राजा शिवप्रसाद ने बनारस से "बनारस अखबार" निकाला। इस की लिपि यद्यपि नागरी थी किंतु शब्द-भंडार उर्दू ही था। इस समय उर्दू ही शिक्षित वर्ग की खड़ी बोली हो रही थी।

हाँ, आगरे में पादरियों की "स्कूल बुक सोसाइटी" से "कथा सार" प्रभृत जो अनुवादित पुस्तकें निकल रहीं थीं उनकी भाषा अवश्य शुद्ध और पंडिताऊ हिंदी थी। अँगरेजी स्कूलों की शिक्षा विषयक पुस्तकों की जो माँग उत्पन्न हुई उसकी भाषा में उर्दू-दानी न घुस सकी। आगरे की उक्त सोसाइटी के लिए ओंकार जी भट्ट ने "भूगोल सार" और बद्रीलाल शर्मा ने "रसायन प्रकाश" लिखा। कलकत्ते में भी एक स्कूल बुक सोसाइटी ने "पदार्थ विद्या सागर" तथा अन्य विज्ञान संबंधी पुस्तकें प्रकाशित की थीं। इस प्रकार मिर्जापुर में भी ईसाइयों के "आरफन प्रेस" ने शिक्षा-संबंधिनी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं।

वास्तव में ईसाइयों ने ही शिक्षाविषयक पुस्तकों का प्रकाशन सर्वप्रथम अपने हाथ में लिया और हिंदी गद्य के विस्तार में उस समय अच्छी सहायता दी। किंतु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नवशिक्षित लोगों की अनुरक्ति 'भाखा' से हट कर उर्दू की ओर जा रही थी और वृद्ध लोगों का 'भाखा' के प्रति एक धार्मिक भाव ही रह गया था। अतः ईसाई मिशनरियों का सदुद्योग गद्य के विकास में जनता द्वारा अधिक व्यापक स्वरूप न पा सका। इस काल की प्रचलित हिंदी का उल्लेख करते हुए बालमुकुंद गुप्त ने एक स्थल पर लिखा है—"हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी, ऐसी स्थिति में यदि राजा शिवप्रसाद के "बनारस अखबार" की भाषा 'उर्दू एमुअल्ला' दिखाई पड़ती है तो आश्चर्य न होना चाहिए।" अस्तु, नीचे दिये हुए अवतरण से पत्र की भाषा संबंधी जानकारी मिल सकती है—

"यहाँ जो नया पाठशला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। देखकर लोग पाठशाले के कितने मकानों की खूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजवीज करते हैं कि जमा से ज्यादा लगा होगा और हर तरफ से लायक तारीफ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

फिर भी इस में यत्र-तत्र शुद्ध हिंदी शब्दों की झलक मिल जाती है। कारक और क्रियाएँ तो पूर्ण रूप से हिंदी ही की हैं। उपरोक्त अवतरण से प्रकट है कि नागरी अक्षरों में लिखी जाने वाली 'उर्दू' उस काल की हिंदी है। राजा शिवप्रसाद के लिए ऐसी स्थिति में भाषा के शोधन का कार्य अत्यंत दुस्तर था। संवत् १९१३ में जब वे सरकारी स्कूलों में शिक्षा-विभाग की ओर से इंस्पेक्टर नियुक्त हुए तो उनके लिए एक यह समस्या उपस्थित थी कि शिक्षा विषयक पाठ्य-पुस्तकों की भाषा का रूप कैसा

हो। उनके अनेक मुसलमान सहयोगी, जिनका शिक्षा-विभाग में प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व था, 'भाखा' से बुरी तरह अनखनाया करते थे। उनमें से कुछ तो हिंदी के ऐसे प्रबल विरोधी थे कि हिंदी को वे 'मुश्किल जबान' कह कर उसके पढ़ाने की व्यवस्था तक न होने देना चाहते थे। उन्होंने इसे हिंदुओं की 'मजहबी जबान' और 'गवाँरी बोली' समझा। अस्तु, जब किसी प्रकार हिंदी ने उन स्कूलों के पाठ्य-क्रम में स्थान पाया तो पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता उत्पन्न हुई।

राजा शिवप्रसाद ने अपने मित्रों सहित समय की लहर पर दृष्टि डालते हुए हिंदी के उत्थान में उस कशमकश के युग में जो पाठ्य-पुस्तकें लिखीं उनकी भाषा ठेठ हिंदी के साथ फारसी-अरबी के प्रचलित शब्दों को लिए थी। राजा साहब ने अपनी हिंदी में उर्दू का प्राधान्य स्वीकार किया है और उर्दू-दाँ होने की दुहाई देते हुए अपने सिद्धांत की प्रतिष्ठा में हिंदी को जिस स्वरूप में व्यवहृत किया है वह भाव उनके लिए "भाषा का इतिहास" शीर्षक लेख के, निम्नांकित अंश में, यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम फहम और खास पसंद हों, अर्थात् जिनको ज्यादा आदमी समझ सकते हैं और जो वहाँ कि पढ़े-लिखे, आलिम, फ़ाजिल, पंडित, विद्वान् की बोल-चाल में छोड़े नहीं गये हैं।"

यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि शिक्षा-विभाग से सान्निध्य होने के पूर्व राजा साहब का सरल हिंदी के प्रति अनुराग था जैसा कि उनके लिखे हुए 'इतिहास तिमिर-नाशक' की भाषा से स्पष्ट है, किंतु कुछ ही दिनों के पश्चात् वे निरंतर उर्दू-दाँ बन गये। 'इतिहास तिमिर नाशक' की भाषा में रोचकता और अच्छा प्रवाह है। किंतु राजा साहब द्वारा निर्मित सब ग्रंथों की भाषा एक सी नहीं है। कहीं पर यदि वे 'उर्दू मुअल्ला' हैं तो अन्यत्र सुबोध। और वस्तुतः आम फहम के निकट भी। 'इतिहास तिमिर-नाशक' से एक अवतरण यहाँ प्रस्तुत है—

"निदान अब जरा औरंगजेब की फौज पर निगाह करनी चाहिए जरा इसके सरदारों के घोड़ों को देखना चाहिए दुम और पालें बिलकुल रँगी हुई सोने-चाँदी के साज सिर से पैर तक लदे हुए कँलगियाँ बहुत लम्बी-लम्बी पैरों में झाँझनें बँधी हुई मोटे इतने कि जितने लम्बे शायद उसी के करीब-करीब चौड़े और चारजामें उन पर मखमली जरदोजी बड़े भारी दोनों तरफ लटकते हुए सवार घोड़ों से भी जियादा देखने के लायक हैं।"

हमें यहाँ विरामादि चिन्हों का पूर्ण बहिष्कार देखने में आता है। राजा शिवप्रसाद ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कहानियाँ लिखी हैं जैसे 'राजा भोज का सपना' 'वीरसिंह का वृत्तांत' 'आलसियों का कोड़ा' आदि। कहते हैं हिंदी-प्रचार की बलवती इच्छा ने ही राजा साहब को उर्दू शैली का आश्रय ग्रहण कराया। अधिक शक्तिसम्पन्न मुसलमानों के मुँह से छीनी हुई जो हिंदी हो सकती थी वही राजा शिवप्रसाद की हिंदी थी। किंतु वे अपनी अस्वाभाविक 'आम फहम' भाषा को समाज-प्रचलित स्वरूप देने में असफल ही कहे जायँगे।

देश की सांस्कृतिक वृत्तियाँ खड़ी बोली को इस परिवर्तित रूप में अपने अंक में भला कैसे स्थान देतीं? लोगों को उसका यह परिवर्तन अखरा और राजा लक्ष्मणसिंह अपने पत्र 'प्रजाहितैषी' को लेकर सम्मुख आये। आपने इस पत्र द्वारा वास्तविक हिंदी को प्रोत्साहन दिया। राजा शिवप्रसाद के दूसरे विरोधी नवीनचंद्र राय थे। ये आर्यसमाजी तो न थे, परंतु विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा के बड़े समर्थक थे। इन्होंने भी अपने प्रबंधों द्वारा राजा शिवप्रसाद की भाषा का जवाब दिया था। काशी से एक दूसरा पत्र 'सुधारक' नामक भी निकला। इसके प्रकाशन में तारामोहन मित्र आदि का प्रयास था। इसकी भाषा 'बनारस अखबार' से कहीं अधिक सुधरी हुई थी। आगरे से भी मुंशी सदासुखलाल के सम्पादकत्व में 'बुद्धि-प्रकाश' का उदय हुआ। इस पत्र में अपने समय की परिमार्जित हिंदी के भली प्रकार दर्शन मिले। इस पत्र से केवल एक वाक्य के उद्धरण से ही इसकी विशेषता सिद्ध हो जाती है।

"स्त्रियों में संतोष, नम्रता और प्रीति यह सब गुण कर्ता ने उत्पन्न किये हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना-पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं।"

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा लक्ष्मणसिंह के पत्र 'प्रजाहितैषी' में भी 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का अनुवाद शुद्ध और सरस हिंदी में प्रकाशित होता था। इसने हिंदी को सुधारने में प्रशंसनीय और महान् उद्योग किया। 'शकुन्तला' की भाषा में हिंदी के ठेठ शब्दों के साथ बहुत दिनों पहले से प्रचलित सरल, सरस-संस्कृत शब्दों का समावेश है। भाषा का शोधन जैसा कुछ आपके हाथों हुआ वह स्मरणीय रहेगा। नीचे लिखे अंश से आपकी भावपूर्ण और गठीली हिंदी का नमूना मिल जाता है।

"तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो ? क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।"

भारतेंदु के पूर्ववर्ती लेखक

ऊपर के अवतरण में राजा शिवप्रसाद की व्यवहृत् हिंदी और फारसी, अरबी की लड़खड़ाहट नहीं है; प्रत्युत उर्दू के सदुद्योगी बहिष्कार के साथ पूर्वप्रचलित सरस संस्कृत शब्दों का प्रयोग है । इसी समय स्वामी दयानंद आर्य-समाज की पताका लेकर अवतीर्ण हुए। अपने धार्मिक आंदोलन को लोकव्यापी बनाते हुए उन्होंने हिंदी के भाषाविषयक संघर्ष में अपना निजी स्थान बना लिया।

स्वामीजी संस्कृत के विद्वान् तथा काठियावाड़-निवासी होने के कारण गुजराती के अच्छे ज्ञाता थे। स्वामी दयानंद के युग तक हिंदी-साहित्य कथा-कहानियों की सीमा को पार न कर सका था। स्वामीजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिंदी के गद्य भाग को समुन्नत बनाया । सामाजिक, दार्शनिक तथा राजनैतिक विषयों पर सबसे पहले उन्हीं की लेखनी खुली। स्वामीजी सामाजिक जीवन के लिए भीषण वायु-चक्र थे। इनके आन्दोलन ने हिंदी को उठाया और उसमें विचार-साहित्य की सृष्टि हुई। दयानंदजी का एक मण्डल है। आर्यसमाज का हिंदी-साहित्य में निजी मत है। नाथूराम शर्मा, पद्मसिंह शर्मा, प्रो० इंद्र, वंशीधर विद्यालंकार, भूदेव शर्मा विद्यालंकार इत्यादि लेखकों पर आर्यसमाज की छाप है। जहाँ तक स्वामी दयानंदजी का संबंध है, उनकी हिंदी संस्कृत के पंडितों की है। उसमें रोचकता और शालीनता न होकर, संस्कृत के तत्सम शब्दों के आधिक्य से कर्कशता और रूखापन आ गया है। स्वामीजी सब के लिए 'सर्व' प्रयुक्त करते थे। आपके लिखे 'सत्यार्थ प्रकाश' 'वेदार्थ प्रकाश' 'संस्कार विधि' 'ऋग्वेदादि भाषा' की हिंदी वस्तुतः 'आर्यभाषा' है। उसमें खड़ी बोली की सुगठित सजीवता नहीं।

स्वामी दयानंदजी के अतिरिक्त अन्य और दो लेखकों ने आर्यसमाज के मञ्च से हिंदी लिखी। ये भीमसेन शर्मा और ज्वालादत्त शर्मा हैं। ये दोनों सज्जन स्वामीजी के विश्वसनीय तथा निकटवर्ती शिष्य थे। आर्यसमाज का प्रचार करते हुए इन्होंने हिंदी का भी प्रचार-कार्य किया। भीमसेन का हिंदी में संस्कृत शब्दों का समर्थन निराला है।

उर्दू शब्दों तक को आपने संस्कृत का जामा पहनाया और संस्कृत के धातु रूपों में उनकी उत्पत्ति ढूँढ़ी है। 'शिकायत' को 'शिक्षायत्न,' लिखते थे। संस्कृत को ही आपने हिंदी शब्द के कोष का एकमात्र स्रोत स्वीकार किया है।

श्रद्धाराम फल्लौरी (पंजाबी) स्वामी दयानंद के विरोध में साहित्यिक योग दे रहे थे। उनकी भाषा में पंजाबीपने की प्रांतीयता अधिक है। साधारण प्रकार से काव्य और कला पर आर्यसमाज का प्रभाव बहुत सरस नहीं पड़ा; परंतु हिंदी गद्य के निर्माण में उसके अनुयायियों ने काफी योग दिया है। इस समय तक हिंदी के सभी लेखक अपनी अपनी शैली रखते थे। हर एक अपने अलग ढंग से भाषा पर रंग चढ़ा रहा था। एक ओर यदि राजा शिवप्रसाद उर्दू की हामी भरते थे तो ठीक उनके विपरीत स्वामी दयानंद और भीमसेन आदि संस्कृत को एकमात्र आधार मानते थे। वास्तविक हिंदी का स्वरूप पहिचानने वाले राजा लक्ष्मणसिंह प्रभृति इनेगिने सज्जन ही थे। ऐसे समय में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपनी प्रतिभा द्वारा हिंदी को एक युगांतरकारी योग दिया। अब सिपाही-विद्रोह शांत हो चुका था। अगरेजों के शासन की नींव दृढ़ हो गई थी और सामाज में शांत वातावरण देख पड़ने लगा था। अतः अब लेखकों में भाषाविषयक राष्ट्रीयता का उदय होना स्वाभाविक था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदुजी अपनी असाधारण मेधा-शक्ति द्वारा साहित्याकाश में खूब चमके। आपके पिता बाबू गोपालचंद्रजी व्रजभाषा के बड़े कुशल लेखक तथा कवि थे। पिता द्वारा भारतेंदुजी को बाल्यावास्था में ही काव्यानुरक्ति हुई। सर्वप्रथम इनकी प्रतिभा ने कविता-कानन में ही विहार किया। युवाकाल में पदार्पण करते करते इन्होंने साहित्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपनी छाप लगा दी। बँगला से रूपांतरित 'विद्या सुन्दर' नाटक आप की पहली कृति है। इसके बाद आपने 'वैदकी हिंसा हिंसा न भवति' शीर्षक एक मौलिक प्रहसन लिखा। फिर तो 'कर्पूरमंजरी' 'सत्य हरिश्चंद्र', 'चन्द्रावली नाटिका', 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'नील देवी' आदि कई नाटकों का प्रणयन कया। ये नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक सभी वर्ग के हैं।

देश इस समय शिक्षा की ओर द्रुत वेग से अग्रसर हो रहा था। साहित्य के प्रति शिक्षित वर्ग की परिवर्तित अभिरुचि को निहार कर और सम्भवतः बँगला के नाटक उपन्यासों की ओर दृष्टि डालकर ही उपरोक्त नाटकों की रचना हुई। भारतेंदुजी ने अपने छोटे से साहित्यिक जीवन में तीन पत्रिकाएँ निकालीं, 'कवि वचन सुधा',

'हरिश्चन्द्र मेग्जीन' अथवा 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' और 'बालाबोधिनी'। आप स्त्री-शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे। 'बालाबोधिनी' का जन्म स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार करने के ही उद्देश्य से हुआ था। इन्होंने इतिहास विषयक पुस्तकें भी लिखीं। 'काश्मीर कुसुम' 'बादशाह दर्पण' लिख चुकने के बाद वे उपन्यास-रचना की ओर झुके; किंतु उनके शीघ्र परलोक गमन से कोई उपन्यास पूर्ण रूप से देखने को न मिला।

भारतेंदुजी की प्रतिभा का विकास सर्वतोमुखी था। आपने भाषा और साहित्य दोनों का ही रूप सँवारा। काव्याराधन में संलग्न रहते हुए भी उन्होंने गद्य की भाषा का जैसा महत्त्वपूर्ण परिमार्जन किया है, वह वास्तव में उन्हीं का काम है। उनके नाटकों से हिंदी में एक नवीन क्षेत्र की स्थापना हुई। समाज का जीवन अब जिस प्रकार अधिक शिक्षित और सुसंस्कृत हो रहा था, साहित्य उतना उन्नत न हो पाया था। समाज से साहित्य पिछड़ रहा था। भारतेंदु के मौलिक नाटकों से जन-रुचि संतुष्ट हुई तथा समाज और साहित्य के मध्य संधि स्थिर हुई।

अनेक लोगों के मत में भारतेंदु ने गद्य की सेवा गौण रूप से ही की है। उनका प्रधान व्यक्तित्व कवि और नाटककार का ही है। किंतु तब भी उनके नाटकों का गद्य उनकी हिंदीविषयक सिद्धांत रूप से स्वीकृत शैली का परिचायक है। उर्दू और संस्कृत दोनों के ही आवरण से हिंदी के वास्तविक परिधान की आपने रक्षा की है। हिंदी को राष्ट्रीय रंग से रँगने का संकल्प धारण किये हुए देश-हितैषी भारतेंदुजी को राजा शिवप्रसाद की उर्दूदानी अत्यंत हेय मालूम होती थी। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने उर्दू को कोई स्थान दिया ही नहीं। भारतेंदु सदृश व्यक्ति से भाषाविषयक किसी प्रकार का पक्षपात सम्भव न था। आपने उर्दू शब्दों का व्यवहार किया किंतु एक नवीन सुंदरता से। उर्दू में प्रयुक्त शब्दों को पहले आपने खड़ी बोली का हिंदी स्वरूप दिया और अपनी हिंदी-विषयक राष्ट्रीय भावना की रक्षा करते हुए उनका व्यवहार किया। 'कफन', 'कलेजा' 'जाफत', 'खजाना' आदि शब्दों के नीचे आप बिंदु नहीं लगाते थे। इसी प्रकार संस्कृत के भी तत्सम शब्दों के स्थान पर आपने सुंदर तद्भव शब्द ही प्रयुक्त किये हैं, जैसे 'हिया', 'भले मानुष' 'आपुस', 'लच्छन', 'आँचल', 'जोबन' 'अचरज', आदि। जिन बाहरी शब्दों को आपने मिलाया है वे आज हिंदी के निजी हो गये हैं। आपके इस सदुद्योग से हिंदी में स्थिरता के साथ साथ समीचीनता आ गई।

वास्तव में इस दृष्टि से आपका स्थान महान् है। उर्दू और संस्कृत के बीच संधि-स्थल बनाने में और इन दोनों शैलीविषयक प्रभावों में परस्पर ग्रंथि-बंधन करने में आप

ही पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। इन सब कारणों से हम कह सकते हैं कि भाषा का मार्जन जैसा कुछ भारतेंदुजी के हाथों हुआ है वैसा आपके पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक साहित्यकारों में से किसी ने भी नहीं किया। आपकी लिखी हिंदी में शिष्टता और नागरिकता है। यहाँ हमें प्रतापनारायण मिश्र की सी अनागरिकता नहीं मिलती। नाटकों की भाषा और कथोपकथन सरस, भावमय, कोमल और सरल हैं।

भारतेंदुजी ने गद्य में काव्य का सौंदर्य लाकर एक नई प्रकार की सजीविता प्रवाहित की है जिसके द्वारा जनसाधारण की रुचि उर्दू से हटकर हिंदी की ओर आकृष्ट हुई। आपने ही सर्वप्रथम गद्य की भाषा में हास्य के साथ व्यंग का पुट दिया। भावों की सम्यक व्यंजना के साथ हास्य और व्यंग की बानगी इनकी शैली में मिलती है। अस्तु, आपकी भाषा में पहली बार वे सब लक्षण देखने को मिले जो आधुनिक गद्य के जीवनदायक अणु कहलायेंगे। आपकी शैली में भावोद्वेग है और गम्भीरता भी; हाँ, तथ्य-निरूपण करते समय उसमें प्रौढ़ता के साथ क्लिष्टता भी आ गई है। इनकी शैली की यह विशेषता है कि वह सरस, परिमार्जित, और सहृदय होते हुए भी देश-काल के सर्वथा अनुकूल है। 'हरिश्चंद्र हिंदी' और भारतेंदु जी के सम्पर्क ने कई लेखक और कवि उत्पन्न किये। उन मित्रों और सहयोगियों का खासा 'हरिश्चंद्र मंडल' बन गया। राजनैतिक उलट-फेर के पश्चात् देश में जो सामयिक-सामाजिक परिवर्तन की बयार बही और उसके प्रभाव से देश की भाषा, भाव-रुचि आदि में एक नवीनता के साथ साथ शिक्षित वर्ग की भावनाओं में जो राष्ट्रीयता व्यापक हुई, उन सबका, सम्यक आधार 'हरिश्चंद्र मंडली' के जिंदा-दिल लेखकों की लेखनी का ही कौशल है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के अवसान के बाद उनकी मंडली के देदीप्यमान रत्नों ने उनके निर्देशित क्षेत्र पर हिंदी की श्रीवृद्धि की। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवास दास, बाबू-तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास आदि के नामों का उल्लेख भारतेंदुजी के साथ ही होना चाहिए। उन्होंने अपने जीवन में भाषा का जो स्वरूप स्थिर कर दिया था उसके अनुरूप अब गद्य के विकास की आवश्यकता थी। शिक्षा का सम्यक प्रसार-प्रचार हो जाने से अब इसके विभिन्न क्षेत्र झलकने लगे थे। आलेख विषयों की भी वृद्धि हुई। इतिहास और स्त्री-शिक्षा पर स्वयं भारतेंदुजी अपनी लेखनी संचालित कर चुके थे। अतः गद्य के विकास के प्रमुख प्रांगण निबंध-रचना की ओर बालकृष्ण भट्ट और प्रताप-नारायन मिश्र अग्रसर हुए।

गद्य के अभ्युत्थान में संलग्न उपरोक्त लेखकों ने पत्र-पत्रिकाएँ संचालित की और सम्पादन-कार्य में प्रवृत्त हुए। इन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा गद्य की विभिन्न शैलियाँ उदित हुईं और हिंदी में प्रौढ़ता आने लगी। उस समय के कुछ पत्रों की तालिका यहाँ दी जाती है।

अल्मोड़ा अखबार	(	सम्पादक	सदानंद सलवाल	)
हिंदी दीप्ति प्रकाश	(	,,	कीर्तिप्रसाद खत्री	)
बिहार बंधु	(	,,	केशवराम भट्ट	)
सदादर्श	(	,,	श्रीनिवासदास	)
काशी पत्रिका	(	,,	लक्ष्मीशंकर मिश्र	)
भारत बंधु	(	,,	बाबू तोताराम	)
भारत मित्र	(	,,	रुद्रदत्त	)
मित्र-विलास	(	,,	कन्हैयालाल	)
हिंदी प्रदीप	(	,,	बालकृष्ण भट्ट	)
सार सुधानिधि	(	,,	सदानंद मिश्र	)
उचित वक्ता	(	,,	दुर्गाप्रसाद मिश्र	)
सज्जन कीर्ति सुधाकर	(	,,	वंशीधर	)
आर्य-दर्पण	(	,,	बख्तावरसिंह	)
भारत सुदशा प्रवर्तक	(	,,	गणेशप्रसाद	)
आनंद कादम्बिनी	(	,,	बद्रीनारायण चौधरी	)
कवि कुलकुंज दिवाकर	(	,,	रामनाथ शुक्ल	)
दिनकर प्रकाश	(	,,	रामदास वर्मा	)
धर्म दिवाकार	(	,,	देवकीनंदन त्रिपाठी	)
प्रयाग-समाचार	(	,,	देवीसहाय	)
पीयूष प्रवाह	(	,,	अम्बिका दत्त व्यास	)
ब्राह्मण	(	,,	प्रतापनारायण मिश्र	)
भारत-जीवन	(	,,	रामकृष्ण वर्मा	)
भारतेन्दु	(	,,	राधाचरण गोस्वामी	)
शुभचिंतक	(	,,	सीताराम	)
सदाचार मार्तण्ड	(	,,	लालचंद शास्त्री	)
हिंदोस्थान	(	,,	राजा रामपालसिंह	)

इनमें से 'ब्राह्मण,' 'हिंदीप्रदीप', 'हिंदी कादम्बिनी,' शुद्ध साहित्यिक पत्र थे। 'भारत मित्र,' 'बिहार बंधु,' 'आर्य-दर्पण' और 'हिंदोस्थान' ने भी हिंदी की अच्छी सेवाएँ की। अन्य अनेक पत्रों का जीवन बहुत छोटा रहा। 'भारतबंधु,' 'पीयूष प्रवाह' और 'भारत जीवन' का भी नाम उल्लेखनीय है।

भारतेंदुजी के बाद के गद्य-लेखक

कानपुर के प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि भारतेंदु से लेखन-कला-संबंधी बड़ी घनिष्ठता मानते थे किंतु फिर भी आपकी शैली उनका अनुगमन नहीं करती है। इनकी भाषा विनोद, कटूक्तियों और कहावतों की वशवर्तिनी है, अतः इसमें भारतेंदु जी की शिष्टता और नागरिकता नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र ,एक प्रेमी तथा मौजी जीव थे। शहर में रहते हुए वे शहर के आचार व्यवहार की कृत्रिमता से दूर रहते थे। उनकी स्थानिकता-प्रधान भाषा में मार्मिक हास्य रहता था। उनकी जैसी वाग्विदग्धता उस समय तक के किसी भी लेखक में नहीं मिलती है। वे केवल साहित्यिक ही न थे, वरन् एक उद्भट समाज-सुधारक और सार्वजनिक जीवन में तत्पर रहनेवाले एक विनोदी नागरिक भी थे। 'ब्राह्मण' में साहित्यिक वार्ता के साथ-साथ मनोरंजन-मिश्रित समाज-शिक्षा रहती थी।

आपके लिखे निबंधों की भाषा में प्रौढ़ हास्य, रोचकता और सुबोधता निखरा करती थी। इनकी शैली में पाठकों के प्रति एक आत्मीयता निहित है। प्रतापनारायण मिश्र का सैयद इंशा अल्ला से एक दिशा में शैलीविषयक साम्य स्थिर किया जा सकता है। उनके द्वारा सृजित साहित्य में उनका व्यक्तित्व तथा विचित्र चमत्कार मिलता है। उनके लेख विभिन्न-विषयक होते थे। यह समझना भूल है कि उनकी शैली नितांत हास्य-रसात्मक है। गंभीर विषयों पर लिखते हुए आपने बड़ी संयत और सच्चिक्कण भाषा व्यवहृत की है। उनके लिखे लेखों के शीर्षक से विभिन्नता और विचित्रिता दोनों ही लक्षित हैं, जैसे 'समझदार की मौत है' 'मरे का मारैं शाहमदार' 'इसे रोना समझो चाहे गाना' 'बात,' 'वृद्ध' 'भौं,' 'धोखा' आदि। 'दशहरा और मुहर्रम' शीर्षक लेख के निम्नलिखित अवतरण से उनके मर्मभेदी विनोदशील होने का परिचय मिलता है—यह तो समझिये यह देश कौन है? वही न जहाँ पूज्य मूर्तियाँ भी, दो एक को छोड़ चक्र वा त्रिशूल वा खड्ग वा धनुष से खाली नहीं हैं, जहाँ धर्म-ग्रंथ में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहाँ शृंगार रस में भी भूचाल और कटाक्ष बाण तेग अदाव कमाने अब्र-का वर्णन होता है। यहाँ से लड़ाई-भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना मानो सर्वनाश हो जाना है। इसी हिंदुस्तान में कोई

वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भाँति वीरता भी लस्टम पस्टम बनी ही है, पर क्या कीजिए, अवसर न मिलने ही से "बँधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वान गये तोंदिआय।"

उपरोक्त उद्धरण से उनकी सजीव प्रकृति झलकती है, किंतु अधिकतर इनमें तार्किकता अथवा मननशीलता का अभाव ही देख पड़ता है। शैली अवश्य एक विशेष प्रकार के चमत्कार से पूर्ण है। उन्होंने गम्भीर विषयों पर भी लिखा है, जैसे 'काल,' 'स्वार्थ,' 'शिव मूर्ति' 'सोने का डण्डा' और 'पौंडा' आदि। यहाँ पर उनके 'शिव मूर्ति' का आरम्भिक अंश दिया जाता है।

'हमारे ग्राम-देव भगवान् भूतनाथ अकथ्य, अप्रतर्क्य एवं अचिन्त्य हैं। तो भी उनमें भक्त जन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं। अत: उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं। और प्रेम-दृष्टि से अपने हृदय मंदिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथातथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तो भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बक-बक है और विश्वास के आगे मनःशांति कारक सत्य है।

महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवे और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो सम्भव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का बोध कर लें। केवल एक अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलनेवाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूनेवाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करनेवाला खम्भे के समान, कहेगा। यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है और न खम्भे के। पर कहनेवालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। पूरा-पूरा वर्णन वा पूरा साक्षात् कर लें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा अनंत मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिलकुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे? सिद्धांत यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे।'

प्रातापनारायण की भाषा यथेष्ट परिमार्जित नहीं है। विरामादि चिह्नों का प्रायः अभाव है। व्याकरण-संबंधी भूलें भी आपने की हैं और कहीं कहीं विचित्र लिपि-दोष

भी हैं। उनके निबंधों में अधिकतर पांडित्य-प्रदर्शन की वृत्ति नहीं है। इस के स्थान पर वे तरल हास्य के पेंदे में नैतिकता की शिक्षा जमा देते हैं।

बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र के समसामयिक थे। उन्होंने भी उच्च कोटि के निबंध लिखे हैं। आपने अपनी शैली प्रवाह-मुक्त बनाने में भाषा की शुद्धता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। आपने उर्दू का आश्रय लिया वह भी भारतेंदुजी से कहीं अधिक आगे बढ़ कर। फारसी के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में, इनके लेखों में, बिंधे पड़े हैं। भाषा को व्यापक बनाने में आप इतने तल्लीन रहते थे कि आपने अनेक स्थलों पर अँगरेजी शब्दों में ही भाव प्रकाशन किया है। इनकी शैली में इनके व्यक्तित्व की अच्छी छाप है। इनका शब्द-भंडार अधिक शिष्ट और समादृत है। आपके गद्य में काव्य की सुकुमारता और भाव-प्रवरता है। प्रतापनारायण मिश्र की भाँति इन्होंने भी अपने लेखों के विचित्र-विचित्र विषय चुने हैं, जैसे 'आँख' 'कान', 'नाक' 'बातचीत' आदि। इन्होंने 'कल्पना' 'आत्मनिर्भरता' शीर्षक गम्भीर भावात्ममक लेख भी लिखे हैं। इनमें एक तीव्र साहित्यिक लगन थी। 'हिंदी प्रदीप' इनके ही सम्पादन में प्रकाशित होता था, जो करीब ३२ वर्ष तक अनवरत रूप से हिंदी की सेवा करता रहा। इस पत्र में विभिन्न विषय में लेख छपते थे।

आपके गद्य में कहावतों की अपेक्षा मुहाविरेबंदी अधिक रहती थी। मिश्रजी की अपेक्षा आपका हास्य भी अधिक तीखा होता था। इनके निबंध प्रायः छोटे होते थे और विशेषतया वे अँगरेजी शिक्षित जनता के लिए अच्छी पाठ-सामग्री होते थे। भट्ट जी के आलेख की कुछ बानगी निम्नांकित अवतरण से मिल सकती हैं—

"समाज के बंधन में भी देखिए, तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी कानूनों के द्वारा वैसे नहीं हो सकते, जैसे समाज के एक एक मनुष्य के अलग-अलग अपने संशोधन अपने आप करने से हो सकते है।

"कड़े से कड़े कानून आलसी समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या फिजूलखर्ची को किफायतशार या परिमित व्ययशील, शराबी को परहेजगार, क्रोधी को शांत या सहन-शील, सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी का धनाढ्य, भीरु डरपोक को वीर, धुरीण, झूठे गपोड़ियों को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एकपत्नी व्रतधारी, इत्यादि नहीं बना सकता; किंतु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं।"

"सच पूछो, तो जाति या कौम भी, सुधरे हुये, ऐसे ही एक एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति का एक एक आदमी, यदि अलग अलग अपने को सुधारे, तो जाति-की-जाति या समाज का समाज सुधर जाय।"

"सभ्यता और है क्या ? यही की सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य, आबाल, वृद्ध, वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाये जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वह जाति अर्द्धशिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी, अलग-अलग एक एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह कौम की तनुज्जुली कौम के एक एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थपरता और भाँति भाँति की बुराइयों का ग्रैण्डटोटल है। इन गुणों और अवगुणों को जाति धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन।"

निबंध-रचना में भट्ट जी प्रतापनारायण मिश्र से बौद्धिकता के क्षेत्र में अधिक उच्च नहीं ठहरते हैं। उनके लेखों के विषयों का क्षेत्र अधिक व्यापक है। उनके विचित्र लेखों में 'भकुआ, कौन कौन है; 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है;' 'ईश्वर क्या ही ठठोल है, (शीर्षक लेखों का उल्लेख होता है। 'चरित्र शोधन' 'प्रेम और भक्ति) शीर्षक लेख गम्भीर और शिक्षाप्रद हैं। उनके कल्पना-प्रसूत लेख यद्यपि अत्यधिक महत्त्व के हैं किंतु उनमें मिश्रजी की जैसी सजीवता और तरलता नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र की शैली चाहे कितनी टेढ़ी-मेढ़ी क्यों न कही जाय, उसके पास बैठकर अनेक लेखकों ने जीवन ग्रहण किया और अथक रूप से उनके पद-चिह्न उपासक कहलाये; किंतु ऐसी किसी विशेषता के दर्शन हमें भट्ट जी की कृतियों में नहीं मिलते।

'प्रेमघन' जी मिर्जापुर निवासी थे। स्वाभाविक साधारण रूप से कुछ लिखना शायद आप निरसार समझते थे। बड़े लम्बे-लम्बे वाक्यों में लेखनी का चमत्कार दिखाना उनका अभीष्ट रहता था। वे कोई लेख लिखकर जब तक उसका कई बार परिष्कार और मार्जन नहीं कर लेते थे तब तक छपने नहीं देते थे। इस कारण इनकी शैली सबसे विलक्षण है। भाषा के सानुप्रास प्रयोग से इसमें दुरूहता आ गई है। यह कहिए कि इस समय तक भारतेंदुजी, मिश्रजी, भट्टजी आदि के प्रयास स्वरूप भाषा में यथेष्ट बल और व्यंजकता का समावेश हो चुका था; अन्यथा 'प्रेमघन' जी की शैली का कोई महत्त्व न रहता। आपने "आनंद कदंबिनी" मासिक और "नागरी नीरद" साप्ताहिक को जन्म दिया था। 'भारत सौभाग्य' और

"वीरांगना रहस्य" नामक नाटक आपकी कृतियाँ हैं। नीचे अवतरण से आपकी भाषा विषयक जानकारी मिल सकती है—

"दिव्य देवी महारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े-बड़े उद्योग और मेल से दुख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गई। ईश्वर का कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुख की रेल-पेल और कभी उसी पर सुख की कलोल है।"

उक्त वाक्य में एक अत्यंत साधारण घटना अर्थात् रानी बड़हर के कोर्ट आफ वार्ड्स से गद्दी पाने की ओर संकेत है। यह आपके पत्र की समाचार-सामग्री की भाषा है। 'प्रेमघन' जी इस प्रकार की वाक्य-रचना में अभ्यस्त थे। इन्होंने भाषा को जन-साधारण के लिए बोधगम्य होने की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। आप में भाषा के परिमार्जन की एक सनक सी थी जिसके वंशवर्ती होकर आपके हाथ से भाषा का चलताऊपन नष्ट हुआ जाता था। शब्द चयन सुंदर होने से यद्यपि शैली में बर्बरता नहीं आई है किंतु वह अनगढ़ अवश्य हो गई है। उस काल में हिंदी गद्य इतना अधिक विकसित नहीं हुआ था कि साधारण समाचार भी ललित और अनुप्रासिक भाषा में प्रकाशित होते। वास्तव में जिस प्रकार आपने भाषा को सँवारा वह उद्देश्यहीन कहा जा सकता है। आपके लम्बे लट्ठमारू वाक्य में प्रवाह के स्थान पर शिथिलता और झटके हैं, तथा शब्दालंकारिकता भी कर्कश है। आपके लिखे शीर्षक तक काव्योपम रूप लिये रहते थे। ऊपर के अवतरण में यदि आप कर सकते तो 'कलोल' को भी अनुप्रास भिड़ाने के लिए 'कलेल' कर डाला होता। वास्तव में आपके लेखों में वाक्यों के बड़े-बड़े लोथड़े, बहते, अटकते और उछलते चलते हैं।

आपने एक कार्य विशेष महत्त्व का किया है। आलोचनात्मक लेख के यह प्रथम हिंदी लेखक माने जाते हैं। 'बंग-विजेता' तथा 'संयोगिता-स्वयंवर' की आपने विशद और तीव्र आलोचनाएँ लिखी हैं, यद्यपि ये रचनाएँ बहुत पुराने ढंग की हैं। वास्तव में जिस युग में 'प्रेमघन' जी हुए हैं उस युग की हिंदी की शैली साहित्यिक विकास में इनका बहुत कम अंश है और साहित्यिकों में आपका कोई स्थान नहीं है। भारतेंदुजी के सहवर्ती लेखकों में श्रीनिवासदास का नाम भी आता है। इन्होंने 'परीक्षा गुरु' नामक हिंदी का उपन्यास लिखा और 'तप्ता संवरण' 'संयोगिता स्वयंवर' 'रणधीर-प्रेम मोहिनी' नाटक लिखे हैं। इनकी भाषा में अपनी मण्डली के अन्य लेखकों की अपेक्षा फारसी के तत्सम् शब्दों का अधिक जमघट है। अन्य उपरोक्त लेखकों ने खड़ी बोली गद्य में उर्दू का प्रवेश बंद कर दिया था। श्रीनिवासदास ने अपनी शैली में उर्दू की

प्रबलता को रोकते हुए एक बार फिर इसका संयत व्यवहार किया। इनमें उपन्यास की हिंदी इस कारण से सुबोध और प्रवाहयुक्त है, किंतु यह शुद्ध कहलाने योग्य नहीं है। अभी तक प्राय: सभी लोगों ने व्याकरण के नियमों में मनमानी खींचातानी की थी। लालाजी भी इस नियम के अपवाद न हो सके। आपके वाक्यों में दिल्लीवाल शब्दों का पैबंद लगा मिलता है। आपने बहुधा अँगरेजी ढंग पर वाक्य-योजना की है जैसा कि इस वाक्य में स्पष्ट है "मुझे आप की यह बात बिलकुल अनोखी मालूम होती है। भला, परोपकारादि शुभ कार्यों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है, पंडित पुरुषोत्तमदास ने कहा।"

इनके नाटकों की शैली समुचित वात्तिक और भारतेंदुजी की परिपाटी की है। आपके सभी ग्रंथों में प्राय: आपके अनुभवशील व्यक्तित्व और बहुज्ञता का परिचय मिलता है।

मुहाविरों के प्रयोग से इन्होंने भी अपनी शैली सजीव की है। आपके लेखों में विनोद, व्यंग अथवा चमत्कारिक वाक्य-विन्यास न होने पर भी, सुबोधता, व्यावहारिकता और रोचकता रहती थी; फिर भी आपका स्थान साधारण कोटि के लेखकों ही में गिनना चाहिए।

ठाकुर जगमोहनसिंह के उल्लेख बिना 'भारतेंदु मंडली' की चर्चा अधूरी रह जायगी। आप विजयराघवगढ़ के राजकुमार और भारतेंदुजी के निकट मित्र थे। ठाकुर साहब संस्कृत के विद्वान् थे और अँगरेजी के भी अच्छे ज्ञाता थे। विद्वान् और सहृदय जगमोहनसिंह ने सुंदर गद्य-रचना की है। आपकी भाषा में काव्योपम माधुर्य के साथ, शैली की प्रौढ़ता है। आपका प्रकृति-वर्णन स्वाभाविक नैसर्गिकता लिये है। पंडित रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में इन्होंने "नरक्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के अपर क्षेत्रों के मेल में देखा है।"

भट्ट जी की भाँति ठाकुर जगमोहनसिंह ने गद्य में जो काव्य की धारा बहाई है, उसका प्रवाह सरल वाक्य-रचना के क्षेत्र में अधिक ग्राही और सुस्थिर हुआ है। इनकी शैली में विरामादि चिह्नों का भी प्रयोग सम्यक् रूप से हुआ है। आपके रचित 'श्यामास्वप्न' में हृदयस्पर्शी सरसता है। एक छोटा सा उद्धरण आपके गद्य का परिचायकस्वरूप प्रस्तुत है।

"इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ के आम पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × × पुराने टूटे-फूटे दिवालें इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमान्त के झाड़, जहाँ झुण्ड के झुण्ड कौवे और बगुले बसेरा लेते हैं, गवँई की शोभा बताते हैं। पौ फटते

श्रोर गोधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो।"

परिमार्जन श्रौर इतनी शिष्टता होने पर भी हम उपरोक्त उदाहरण में देखेंगे कि ठाकुर साहब 'अभिराम', 'ग्राम,' 'आराम,' 'विश्राम,' 'ग्राम' आदि शब्दों का जमघट एकत्र करके एक विशेष प्रकार का मार्दव उत्पन्न करना चाहते हैं, जिसमें बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' की यमक-प्रियता झलकती है। इसने शैली की स्वाभाविकता बहुत कुछ नष्ट कर दी है। 'गँवई' और 'गैयों' शब्दों का अनागरिक प्रयोग भी खटकता है।

अलीगढ़ के तोताराम जी वकील भी भारतेंदु जी के समसामयिक थे। इन्होंने भी "भारतबंधु" नाम का एक पत्र निकाला था। भारतेंदु जी के सम्पर्क से आप में हिंदी के प्रति लगन उत्पन्न हुई थी। आप "हरिश्चंद्र चंद्रिका" के प्रतिष्ठित लेखकों में गिने जाते थे। आपके लिखे नाटक इसी पत्रिका में प्रकाशित होते थे। इनके द्वारा संचालित "भाषा संवर्द्धनी सभा" उन दिनों की एक साहित्यिक गोष्ठी थी। आपने पहले 'केटीकृतांत' नामक नाटक का अनुवाद किया। आपका दूसरा नाटक "कीर्तिकेतु" है। आपका "स्त्री सुबोधनी" नामक स्त्री-शिक्षाविषयक ग्रंथ आज भी गृहस्थों की एक वस्तु है। आपकी भाषा साधारण और व्यावहारिक होती थी। हिन्दी गद्य की शैली के निर्माण में आपका विशेष व्यक्तित्व नहीं आँका जाता; क्योंकि आपने किसी प्रकार की नवीन उद्भावना नहीं प्रकट की है। आपकी शैली, भाषा के विकास की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं रखती।

भारतेंदु मंडल से सामीप्य प्राप्त केशवराम भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, मोहनलाल, विष्णुलाल पाँड्या तथा राधाचरण गोस्वामी का नाम हिंदी के उन्नायकों में स्मरणीय है। केशवराम भट्ट ने बिहार प्रांत में "बिहार बन्धु" नाटक साहित्यिक पत्र द्वारा हिंदी की सेवा की। आपने 'सज्जाद सम्बुल' और "शमशादसौसन" नामक दो नाटक भी लिखे। आपके उल्लेख में उर्दू की प्रधानता रहती थी। अतः इनके नाटक भी, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, उर्दू की ही तर्ज पर हैं।

श्री अम्बिकादत्त व्यास संस्कृत के विद्वान् और हिंदी के अच्छे कवि थे। आप उन दिनों सनातन धर्म के प्रसिद्ध उपदेशक थे। 'बिहारी-बिहार' नामक काव्य ग्रंथ में आपने बिहारी, के दोहों की विशद-विवेचना की है। गद्य-साहित्य में आपका योग विशेष महत्त्व का न होते हुए भी आपकी छोटी-छोटी कई पुस्तकें मिलती हैं। उनमें से कुछ के नाम ये हैं 'गो संकट नाटक', 'ललिता नाटक', 'गद्य-काव्य-मीमांसा।'

श्री राधाचरण गोस्वामी ने 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' से प्रोत्साहित हो 'भारतेंदु' नामक पत्र निकाला। इनके लिखित गद्य-ग्रंथ अधिकतर बँगलानुवाद ही हैं, फिर भी आपका "विदेश यात्रा विचार" तथा "विधवा विवाह विवरण" स्वतंत्र ग्रंथ हैं। श्री मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या आपके समय के प्रतिष्ठित पुरातत्त्व और इतिहास विषयक लेखक थे। आपने 'हरिश्चंद्र' के संचालन में सराहनीय योग दिया था। आपने अपनी कृति 'रासो-संरक्षा' से 'पृथ्वीराज रासो' की सत्यता का समर्थन किया है। इस कृति का वास्तव में अधिक ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। आपने अपनी प्रतिभा अंधविश्वास पर आश्रित रासो की व्यर्थ की प्रतिष्ठा स्थापित करने में व्यय की है।

भारतेंदु काल के साहित्योदय में जो प्रतिभाशाली आत्माएँ प्रकाशान्वित हुईं, उनका पूरा परिचय उस समय तक न मिल सकेगा जब तक उनकी सामूहिक रूप से की गई सेवाओं की ओर भी एक बार दृष्टि-विक्षेप न किया जाय। उस समय के पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख अन्यत्र हम कर चुके हैं; यहाँ इस बात के भी दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि 'हरिश्चंद्र मंडल' के सभी सदस्यों का अपना अपना एक निजी पत्र था। इन पत्रों के प्रकाशन से लेखन-शैली के सम्यक् निरूपण में बड़ी सहायता मिली। अभी तक भारतेंदु जी के ही निर्देशित क्षेत्र पर साहित्य की श्री-वृद्धि हो रही थी। लाहौर से कलकत्ता पर्यंत प्रायः सभी नगरों से एक न एक पत्र प्रकाशित हो रहा था। क्रमशः भाषा-भाषियों का एक अच्छा क्षेत्र इन पत्र-पाठकों में ही तैयार होने लगा। शीघ्र ही भारतेंदु जी के उल्लिखित मित्रों की सजीवता और जिंदा-दिली से विभिन्न विषयक गद्य-सामग्री का निर्माण दृष्टिगत होने लगा।

शिक्षा के सम्यक प्रसार और समाज-विज्ञान की विभिन्न धाराओं का क्रमशः विकास हो जाने से स्त्री-शिक्षा, इतिहास, भूगोल, पुरातत्त्व, आयुर्वेद, धर्म आदि की किसी न किसी प्रकार की गवेषणापूर्ण कही जानेवाली विवेचना अब आरम्भ हो गई थी। प्रौढ़ गद्य में नाटक, उपन्यास, समालोचना आदि का समावेश हो ही चुका था। धीरे-धीरे अन्यान्य विचारात्मक और वर्णात्मक विषयों की ओर साहित्यिकों की रुचि झुकी और गद्य काव्य, यात्रा-वर्णन आदि धड़ल्ले के साथ सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे। यद्यपि स्वयं भारतेंदु जी की भाषा में व्याकरण की भूलें रहती थीं तथापि हिंदी का वास्तविक अभ्युत्थान, सच पूछा जाय तो, इसी युग में हुआ।

प्रताप नारायण मिश्र तथा उनके अन्य सहयोगी एक एक संस्था के सदृश थे यद्यपि यह कहना ठीक है कि भारतेंदु काल के साहित्य-सेवियों में स्वयं भारतेंदु को छोड़ कर अन्य लेखक यदि आज हुए होते तो वस्तु अथवा शैली की आधुनिक कसौटी पर कदाचित्

ही कोई टिक सकता; किंतु अपने युग में ये लोग अवश्य महत्त्व रखते हैं। इन साहित्य मनीषियों ने विभिन्न केंद्रों में अपना अपना क्षेत्र निर्धारित कर लिया और असीम तत्परता तथा लगन से वे हिंदी की उन्नति में लीन हो गये।

प्रतापनारायण मिश्र "हिंदी हिंदू, हिंदुस्तान" की भेरी बजाते हुए स्थान-स्थान पर व्याख्यानों द्वारा हिंदी-प्रचार करते थे। गौरीदत्तजी नागरी प्रचार का झण्डा लिए दौड़ा करते थे। आपने "गौरी नागरी कोष" नामक एक शब्दकोष भी तैयार किया। स्थान स्थान पर भारतेंदुजी के नाटकों का बहुत काल तक अभिनय होता रहा। हिंदी भाषा और नागरी की उपयोगिता पर, सर्वत्र आये दिन व्याख्यान हुआ करते थे।

इस समय के प्राय: हिंदी के समस्त हिमायती इसे कोई भाषा बनाने के लिए अधिक परिश्रम कर रहे थे।

कई स्थानों पर हिंदी-प्रचार के लिए सभा-समितियाँ स्थापित हुईं। तोताराम की भाषा-संवर्द्धिनी सभा की भाँति प्रयाग में भी नागरी प्रवर्धिनी सभा की स्थापना हुई। प्रान्तीय शासकों के पास आये दिन डैप्यूटेशन और मैमोरेण्डम पहुँचा करते थे। सारांश यह कि हिंदी के उन्नायकों ने इस समय नागरी प्रचार के लिए असीम त्याग और सतत-उद्योग किये और इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत हिंदी-प्रचार ने उत्तरोत्तर विशदता धारण की—

काशी के श्यामसुंदरदास, रामनारायण मिश्र और शिवकुमारसिंह ठाकुर आदि ने अपने छात्र-जीवन में ही हिन्दी-प्रचार का बीड़ा उठाया और "काशी नागरी प्रचारिणी सभा" की स्थापना की। "इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति श्यामसुंदरदास जी के त्याग और सतत परिश्रम का फल है।" आरंभ में इस सभा के कार्य-कलाप में राधाकृष्ण-दास, लक्ष्मीशंकर मिश्र, रामदीनसिंह, रामकृष्ण वर्मा, गदाधरसिंह और कीर्तिप्रसाद खत्री ने सहयोग और सहायता दी। इस सभा का उद्देश्य था नागरी प्रचार और साहित्य की श्रीवृद्धि। असाधारण सभा ने अपने प्रारंभिक काल में नागरी प्रचार द्वारा हिंदी-साहित्य के प्रणयन तथा प्रकाशन में योग दिया। कुछ ही दिनों में इसकी सेवाओं के फल स्वरूप जनता का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ और विभिन्न नगरों में इसकी शाखाएँ देख पड़ने लगीं।

संवत् १६५५ में एक बड़ा प्रभावशाली डैप्युटेशन नागरी का मैमोरियल लेकर लाट साहब से मिला। इस डैप्युटेशन में आवागढ़, अयोध्या और माँडा के राजा तथा महामना मदनमोहन मालवीय जैसे हितैषी व्यक्ति गये थे। मालवीय जी ने "अदा-लती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" नामक अँगरेजी में एक पुस्तक भी लिखी और नागरी

न्यायालय की भाषा से वहिष्कृत रखने से प्रजा पर होने वाले अहित पर विस्तृत प्रकाश डाला। नागरी की उपयोगिता से शासकों को प्रभावित करने और उसे अदालती लिपि बनाने के आंदोलन के नायक महामना मालवीयजी ही थे। अंत में यह दीर्घ-कालव्यापी आंदोलन सफल हुआ और संवत् १६५७ में अदालती लिपि में नागरी प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हुई।

संवत् १६५७ तक का समय हिंदी के उत्थान का पहला युग माना जाता है। इस युग में गद्य के विकास पर सिंहावलोकन की दृष्टि से एक बार इस समय की प्रकाशित रचनाओं का उल्लेख करना समीचीन समझ पड़ता है।

श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' पहला मौखिक उपन्यास है। इसके बाद राधाकृष्णदास का "निस्सहाय हिन्दू," बालकृष्ण भट्ट का "नूतन ब्रह्मचारी" तथा "सौ अजान और एक सुजान" प्रकाशित हुए। बँगला में इस समय भी उपन्यास-रचना प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी, तथा वे अपेक्षाकृत उच्च श्रेणी के भी होते थे। अतएव इन ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों का शीघ्र अनुवाद किया जाने लगा।

बाबू गदाधरसिंह ने 'बंगविजेता' और "दुर्गेशनन्दिनी" का अनुवाद किया। राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता,' तथा अन्य छोटे-छोटे कई अनुवाद किये। प्रतापनारायण मिश्र के 'राजसिंह,' 'इंदिरा,' 'राधारानी' तथा 'युगुलाङ्गुलीय' अनुवादित उपन्यास हैं। राधाचरण गोस्वामी ने भी इन्हीं दिनों 'विरजा' 'जावित्री' और 'मृणमयी' का अनुवाद किया। कुछ ही समय में बँगला से अनुवादित उपन्यासों का ढेर जमा होने लगा और इसकी गति बहुत दिनों तक वेगवती रही। इसी काल के उत्तरार्ध में रामकृष्ण वर्मा अपनी वृत्तांत-माला को लेकर अवतीर्ण हुए और कार्तिकप्रसाद खत्री ने "इला" "प्रमीला" "जया" और "मधुमालती" प्रकाशित की। पूर्वोक्त मिश्रजी और गदाधरसिंह की भाषा इस युग की सरल संस्कृत प्रधान हिंदी थी।

मिश्र जी के उपन्यासों की भाषा उतनी रोचक और चटपटी नहीं है जैसी कि उनके साधारणतया मौलिक गद्य में होती थी। अनुवाद-ग्रंथ होने पर यहाँ पर आपकी भाषा अपेक्षाकृत संयत और शिष्ट है। इन उपन्यासों में बँगला के मुहाविरे और अनेक शब्द तक यथारूप मिलते हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद ने जब नाटकों का प्रणयन आरम्भ किया उस समय मौलिक नाटकों का प्रायः अभाव था। उन्होंने ब्रजभाषा के केवल दो नाटक "आनन्द

रघुनन्दन" और "नहुष" को मौलिक स्वीकार किया है। आपने अल्प समय में ही एक दजन से अधिक नाटक और प्रहसन लिख दिये।

भारतेंदु के मौलिक नाटक निम्नलिखित हैं—"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति," "विषस्य विषमौषधम्" "चन्द्रावली," "भारत दुर्दशा," "नीलदेवी," "अन्धेर नगरी," "प्रेम योगिनी," और "सती प्रताप" (अपूर्ण)

अनुवादित नाटकों के नाम ये हैं:—'विद्या सुन्दर', 'पाखंड विडम्बन,' 'धनञ्जय-विजय', 'कर्पूर-मंजरी', 'मुद्राराक्षस', 'सत्य हरिश्चंद्र'। रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति में यह बंगलानुवाद है।

भारतेंदु जी की परिपाटी पर प्रतापनारायण मिश्र ने भी नाटक-रचना की। उनके मौलिक नाटकों की नामावली नीचे दी जाती है—'कलिकौतुक रूपक', 'कलि प्रभाव', 'हठी हमीर,' 'गो सङ्कट', 'जुवारी खुवारी'। बदरीनारायण चौधरी ने 'भारत सौभाग्य', 'वीराङ्गना रहस्य,' "वृद्ध विलाप" "प्रयाग समागमन्" लिखा। श्रीनिवासदास के 'रणधीर प्रेम' 'मोहिनी' 'संयोगिता स्वयंवर' और 'तप्ताअंवरण" तथा तोताराम के केटोकृतान्त' का उल्लेख अन्यत्र हो ही चुका है। अम्बिकादत्त व्यास के 'गो सकंट नाटक' 'ललिता नाटक', 'मरहठा नाटक" 'भारत सौभाग्य' तथा राधाकृष्णदास का 'दु:खिनी बाला" "महाराणा प्रताप" भारतेंदु परिपाटी के अंतर्गत ही गिने जायेंगे।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतेंदु काल बहुत अंशों में हिंदी नाटकों का प्रथम रचना काल कहा जा सकता है। किंतु इन नाटकों में भारतेंदु कृत, तथा दो एक को छोड़कर शेष सब साधारण रूपक हैं; जिसमें सुंदर चरित्र-चित्रण, फुर्तीले कथोपकथन, जीवन के घात-प्रतिघात के स्थली का सर्वथा अभाव है।

भारतेंदु-के सहवर्ती विभिन्न विषयों पर प्रबंध-लेखक भी थे। इनके सभी आलेख--विषय यद्यपि विवेचनापूर्ण अथवा गृढ़ विचारात्मक नहीं होते थे फिर भी इनकी रचनाओं में प्रौढ़ गद्य का आभास मिल जाता है। किंतु नाटकों और उपन्यासों की भाँति प्रबंध-लेखन-धारा-वेग न धारण कर पाई और इसमें परंपरा से शीघ्र शिथिलता आ गई। वस्तुतः हिंदी में निबंध-लेखकों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती थी। इस परम्परा को जीवित रखनेवालों के नाम हैं—माधवप्रसाद मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी और गोविंदनारायण मिश्र।

साहित्य में पद्य की प्राचीनता

साहित्य साहित्यिक नहीं होता। साहित्य की व्याख्या साहित्य का निर्माण नहीं करती। लक्षण ग्रंथकारों ने कविता को साहित्यिक बनाने के लिए जिन उपादानों की सृष्टि की है वे साहित्य नहीं हैं। साहित्यिकता के विलासी साहित्य के मर्म को कारा में बाँधने की चेष्टा करते हैं और उसके प्रवाह को नष्ट करते हैं। कभी-कभी वे मूल के स्थान पर दल और देवता के स्थान पर मूर्ति की स्थापना करते हैं। अधिकतर तो 'साहित्यिकता' के बोझ में दबकर साहित्य पिस जाता है। यह बात भारतीय काव्य-विधान की ही नहीं है, वरन् पाश्चात्य देशों में भी देखने में आती है। हाँ, यहाँ के लोग उसकी निस्सारता बहुत बाद में समझ पाये, परंतु पश्चिम कुछ शीघ्र समझ गया। इधर साहित्यिकता का आदर्श पलट रहा है। उसकी रूप-रेखा बदल रही है। आज की 'साहित्यिक' कविता प्राचीन 'साहित्यिक' मापदण्ड से अधिकतर भिन्न है। वह गद्य के निकट पहुँच गई है; नीरसता, कवित्वहीनता के कारण नहीं, वरन् उन सब प्रतिबंधों को उखाड़ फेंकने के कारण, जो 'साहित्यिकता' के नाम पर गद्य और पद्य के बीच खड़े थे। यह एक बार समझ लेना होगा कि अच्छे साहित्य के लिए, चाहे वह गद्य हो अथवा पद्य, पूर्ण मानसिक विकास की आवश्यकता है। गद्य-पद्य एक हो जाय, इसके लिए उतना ही विलम्ब है जितना 'मनुष्य' को पूर्ण मनुष्य हो जाने में देरी है।

गद्य और पद्य का ऐक्य मानव-समाज की उन्नति का अंतिम उत्कर्ष है। सभ्यता के चरम विकास में मानवता का जो चरमस्वरूप हमारे समक्ष आवेगा वह न गद्य में लिखेगा और न पद्य में। उसका बोलना और लिखना गद्य-पद्य से परे और गद्य-पद्य का समन्वय होगा। उसमें मर्म का चुटीलापन होगा, उसमें राग का वेग होगा, उसमें मनोवृत्तियों का विस्फोट होगा, परंतु उसमें साथ ही साथ कथन का सुलझाव होगा, चिंतन का नया खण्ड होगा, प्रतिपादन-प्रणाली में नया तर्क होगा। आज हम जिसे हृदय के उफान का बेसिलसिलापन समझते हैं, उस समय उसमें हम दर्शन की तार्किकता और प्रतिपादन-प्रणाली का क्रम देखेंगे। आज हमारा हृदय साधु की जटा की भाँति चिपका हुआ है, इसीलिए उसकी प्रेरणा में बिलगाव नहीं। अतएव रागात्मक चित्र उलझे हुए और अतार्किक निकलते हैं। मस्तिष्क की सहायता से चिंतन के प्रकाश में गुम्फित होने के पूर्व उन्हें सुलझाना पड़ता है। तब यह बात न रहेगी। बुद्धि का अंतिम चिंतन ही हृदय का कोष

होगा। बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से हृदय में जो कसमसाहट उत्पन्न होगी, उसमें बुद्धि का चिन्तन-कोष ही फूट निकलेगा और उसी की अभिव्यक्ति हम काव्य में देखेंगे। काव्य में और दर्शन में विषय को छोड़कर और कोई भेद नहीं रह जायगा। विज्ञान और कला का स्थूल भेद नष्ट हो जायगा। रहस्यवाद का स्थान व्यक्तिवाद ले लेगा और छायावाद को बिंववाद अपदस्थ करेगा। प्रज्ञात्मक और रागात्मक प्रणाली का भेद मिट जायगा। पुस्तकों में गिनाये हुये छन्दों के प्रतिबंध को अनैसर्गिक समझकर छोड़ दिया जायगा और अभिव्यंजन-प्रणाली संगीत के सूक्ष्म गतियों के बल पर स्वत: निश्चित होगी।

अभी युगों तक यह गद्य-पद्य का भेद चलता रहेगा। इस विभेद को मिटा देने के प्रयास तो आज भी परिलक्षित हो रहे हैं, परंतु उस स्वरूप का संकेत, जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, अभी नहीं मिलता। पशु-स्वरूप में तो जीव राग-मय होता ही है, परंतु विकास के सोपान में 'मनुष्य' की परिस्थिति तक पहुँचकर, प्राणी चिंतना की चिनगारी को जितना ही फूँक-फूँक कर उद्दीप्त करता है, उतना ही अधिक उन्नत होता जाता है। यहाँ तक कि उसको अपनी भावना-शक्ति को सजगता के अधीन करना पड़ता है। होते होते चिंतना-शक्ति ही केवल भावनिधि की वस्तु रह जाती है और मनुष्य अपने पूर्ण-स्वरूप में आकर टिकता है।

हम देखते हैं कि विश्व में जहाँ कहीं भी साहित्य संरक्षित है, सबसे पहले पद्य के ही स्वरूप दिखाई देते हैं गद्य के नहीं। यह क्यों? यह इसलिए नहीं कि मनुष्य पर संगीत का प्रभाव बहुत पुराना है और संगीत का अनुशासन मानना सभ्यता का चिह्न है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक देश के साहित्य के आदि-युग में मनुष्य गद्य-प्रधान युग की अपेक्षा कम सभ्य थे। भावमय, रागमय, भड़-भड़-मय परिस्थिति में पले हुए व्यक्ति की कृतियों में भी चिंतना की सामग्री हो सकती है और इससे उसके विकास और उसकी सभ्यता का ऊँचा मोल आँका जा सकता है, परंतु एक बात निश्चय ही थी, कि आकार विधान का उनका अभिव्यञ्जन, पद्य और कथित संगीत के रूप में उनकी चिंतना की उलटी गंगा बहाता था। वर्ष दो वर्ष के बच्चों के समक्ष, माता जो मनमें आता है गाती है; इधर-उधर के बाजे टन-टन बजाती है और बच्चों को यह सब बहुत अच्छा लगता है। परंतु बच्चे की संगीत-प्रियता का न यह अर्थ है कि विश्व में संगीत-कला का सार्वभौमिक प्रभाव है और न यह अर्थ है कि बच्चे की समझ अथवा सभ्यता इतनी सजग होती है कि वह माता के गानों का कला की दृष्टि से आनन्द लेता है। इसका केवल यह

अर्थ है कि अर्थविहीन बेसिलसिले के नाद से प्राणी के भावात्मक स्वरूप का ऐसा सान्निध्य है कि बचपन में, जब तक उसमें चिंतना की सजगता उदय नहीं होती, तब तक वह असभ्यों की भाँति अथवा पशुओं की तरह अपने को उससे बहला लेता है। चिंतना के उदय होने पर भी हम जो उसी प्रकार का लगाव स्थिर रखते हैं उसका कारण भी पुरातन असभ्य संस्कार ही हैं।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कवि अथवा कविता-प्रेमी, संगीताचार्य्य अथवा संगीत-रसिक असभ्य अथवा अर्धसभ्य हैं। जिस काव्य अथवा संगीत के सिद्धान्तों को स्थिर रखने में चिंतना का विकास तथा भावना का परिष्कार होता हो, वे कलायें असभ्यता की प्रतिकृति नहीं हो सकतीं। जब हृदय की स्फूर्ति में बुद्धि के ही उत्कर्ष का स्वरूप है तो फिर असभ्यता की बात ही क्या है। स्मरण-शक्ति की सहायता के लिए यहाँ के विद्वानों ने ज्योतिष, तर्क, वैद्यक आदि सभी विज्ञान ग्रंथों को पद्यमय स्वरूप दे डाला। इस स्मरण-शक्ति के मूल में पशुवृत्ति है। यह स्मरण-शक्ति जो नाद का सहारा लेकर ही टिक सकती है—असंस्कृत है। छन्दों के मूर्त आकार से हटकर अमूर्त पर टिकने का अभ्यास करना शिक्षित-मेधा का उन्नत प्रयास है।

संसार के साहित्य में पद्य क्यों सर्वप्रथम मिलता है—इसके और भी कारण हैं। ९९ प्रतिशत भाव-प्रधान लोगों के लिए गद्य का लिखना नीरस, अनाकर्षक तथा सारहीन था। यदि उनसे बन पड़ता तो गद्य में बोलते भी नहीं। उस समय की बोलियों के प्रमाण कम मिलते हैं। बहुत सम्भव है कि थोड़ा टेढ़ापन उनमें भी हो। बोली में भी पद्य-प्रयोग के लोग कैसे उत्सुक थे इसके कुछ उदाहरण नाटकों में मिल सकते हैं। बोलने के स्थान में पात्र गाते हैं, इस प्रवृत्ति की भरमार संस्कृत रूपकों में भी देखने में आती है। कुछ नाटक तो ऐसे हैं जिनमें गद्य भाग से पद्य-भाग कहीं अधिक हैं और गद्य में सरलता से लिखे जानेवाले इतिवृत्तात्मक स्थलों को भी तुकबंदियों में बाँध दिया गया है। आजकल भी पिछलगों की भाँति यह दोष नाटकों में वर्तमान है।

प्राचीन काल में स्मरण-शक्ति बड़ी प्रबल थी, अतएव शास्त्रों का बहुत कुछ स्वरूप लिपिबद्ध नहीं हुआ। गद्य कैसे दिखाई देता। शासन-संबन्धी आज्ञाओं का उल्लेख कहीं-कहीं थोड़ी सी पंक्तियों में—उदाहरण के रूप में—दिखाई देता है। आने-जाने की सुविधाएँ न थीं, रेल, तार और डाकघर न थे। पत्रों को कैसे भेजा जाता? छापेखानों की अनुपस्थिति में पुस्तकों की प्रतिलिपि करना उतना

ही दुस्साध्य था जितना गौरीशंकर पर चढ़ना । सभ्यता का जो कुछ विकास हुआ था वह भावना के कटहरे में बंद था और वह छंदों के रूप में ही निर्मित हुआ ।

यह बात निर्विवाद है कि किसी राष्ट्र अथवा युग के साहित्य की आत्मा से परिचय प्राप्त करने के जिज्ञासु प्रायः सदैव उसके काव्य के उपवन में पदार्पण करते चले आये हैं । कविता का अंचल पकड़कर यह साहित्य की महत्ता से साक्षात्कार करते रहे हैं और ज्ञानकोष के पद्यात्मक अंश से प्रभावित होकर उन्होंने साहित्य के मूल्य को आँका है । किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जन-साधारण में प्रचलित विचार-विनिमय के साधन, अर्थात् गद्य का, साहित्य के सृजनोद्योग में कोई अंश ही नहीं रहता । अपने नित्य प्रति के सम्भाषणों में जिस कथन प्रणाली को आधार बनाकर हम अपने हृदगत भाव, शोक, हर्ष, रोष आदि प्रकट करते हैं, जिसे सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, समान रूप से व्यवहार में लाते हैं, उसकी उपादेयता कविता अथवा पद्य के सम्मुख नगण्य नहीं है । आधुनिक समाज में, जब कि शिक्षा, संस्कृत और साहित्य का विकसित एवं प्रौढ़ स्वरूप हमारे सम्मुख है, हम देखते हैं कि पद्य ही साहित्य के शृंगार का एकमात्र साधन नहीं है । इस वैज्ञानिक युग में ऐहिकता के प्रति ज्ञानार्जन अनिवार्य-सा हो गया है । ज्ञान के विविध स्वरूप और विचित्र क्षेत्रों की ऊहापोह अब हमारा अभीष्ट रहता है । नित्य प्रति जनता में लेख्य-विषयों की गणना-वृद्धि होती जा रही है । ऐसी स्थिति में साहित्य सरोवर में जलविहार करने के हेतु हम पद्य रूपी एक ही डाँड़ के सहारे अपनी जीवन-नौका को लेकर ध्येय तक नहीं पहुँच सकते ।

हम अपने साधारण क्रियात्मक जीवन में, अपने आलाप, सम्भाषण और वाद-विवाद में, संसार की ऐहिकता से लिप्त रहते हैं । स्वयं कवितामय होने का अवकाश और सौभाग्य कभी कभी मिलता है । यही कारण है कि हमारी गति और प्रणाली अधिकांशतः विचारात्मक अर्थात् बुद्धि, अनुभव और दुनियादारी से सम्बन्धित है । जीवन के संघर्ष में कविता का बहुत कम अंश अपेक्षित है । गद्य हमारे लिए बागडोर है इसका महत्त्व सर्वतोमुखी है ।

किसी भी जाति के बौद्धिक विकास की कसौटी उसकी वैज्ञानिक उन्नति है । विभिन्न कलाओं का विकास, उद्योग धंधों की प्रचुरता, सामाजिक उन्नति आदि से ही राष्ट्र शिक्षित कहा जाता है । अतएव हमारे मानसिक स्फुरण में गद्य की महत्ता और उपादेयता सर्वमान्य है । इसके अतिरिक्त स्वतः साहित्य के भी अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ

पद्य की पहुँच नहीं और यदि ऐसे स्थलों में पद्य अपना पैर रोपता भी है तो उसकी मूर्खता और लेखकों की उद्दण्डता ही समझना चाहिए। पदार्थ-विज्ञान, समाज-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, अर्थ, राजनीति आदि तथा अन्यान्य उपयोगी विद्याओं का विवेचन यदि पद्य-बद्ध संमुख आये तो हास्यास्पद एवं अनुचित होगा। इस संबंध में संस्कृत लेखकों का प्रयास अपने समाज की समाजगत रुचि को देखते हुए भले ही युक्तिसंगत कहा जा सके; किंतु यह स्वाभाविक है कि केवल पद्य ही में बाँधकर ज्योतिष, तर्क, धर्म-शास्त्र आदि का प्रचार और प्रसार जन-साधारण तक नहीं किया जा सकता। एक शिक्षित राष्ट्र का निर्माण गद्य ही के बल पर होना स्पष्ट है। गद्य ही मानव-जीवन की समीक्षा प्रणाली है, और यही वास्तविक संसार के चित्रण की उपयुक्त तूलिका है।

साहित्य में गद्य के समुचित स्थान का निर्देश करते समय स्वभावतः प्रश्न उठता है कि जब गद्य ही राष्ट्र की शिक्षोन्नति का महत्त्वपूर्ण साधन है तो प्रत्येक देश के साहित्य में पद्य का प्रचार अपेक्षाकृत पूर्वगामी क्यों देखा जाता है? इस संबंध में हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। इस तथ्य की ऊहापोह बहुत कुछ ऐतिहासिक घटनाक्रम पर आधारित है। साथ ही इसके कुछ प्राकृतिक कारण भी हैं। समाज-शास्त्र और सभ्यता का इतिहास इस बात का द्योतक है कि आदि काल में, जब मनुष्य ने कोई भी उल्लेखनीय सामाजिक दृढ़ता न अङ्गीकार की थी, हमारी आवश्यकताएँ न्यून थीं। जीवन आज का सा संघर्ष न था और संतोष सहज प्राप्त था। तत्त्व चिंतन के स्थान पर आत्मगत-भावोद्वेगों के नैसर्गिक अभिव्यंजन में ही सुख की उपलब्धि थी, तथा ज्ञान का भण्डार परिमित था। साहित्य का प्राथमिक स्वरूप ऐसी स्थिति में व्यंजनात्मक हुआ। उसमें विश्लेषण अथवा आलोचना का अंश न्यून होने से भाषा का आरम्भ अधिकतर कविता से होता है।

गद्य के आविर्भूत होने में विलंब होने का कारण उस समय की देश की शासन-व्यवस्था अथवा अल्पावस्था से उत्पन्न मनुष्य के जीवन का अस्त-व्यस्त और आपदाकुल होना भी है। आक्रमण, युद्ध और पलायन नित्य की घटनाएँ थीं। किसी विषय के गूढ़ चिंतन का किसी को अवकाश न था, तथा शांत वातावरण में कुछ दिनों रहकर किसी विधेयात्मक साहित्य का प्रणयन करना एक दुस्तर कार्य था। धर्म अथवा युद्ध ही ऐसे विषय थे जिनसे समाज की रुचि आकृष्ट होती थी। इसी कारण धर्म-प्राण, संस्कृत-साहित्य का सम्मान पद्य की ओर ही रहा। समाज का ज्ञानकोष बहुविषयक न था और न बहुत गहन ही। उस समय एक

प्रथा सी थी, वर्णित विषय को संक्षेप में कहने की और ऐसे ढंग से कहने की कि वह जनरव बन जाय। विषय के पद्यात्मक अंश को स्मरण रखना गद्य की अपेक्षा कुछ सरल होता भी है, तथा आशय को संक्षेप में स्पष्ट कर देने की पद्य में कुछ अद्भुत क्षमता होती है। सम्भवतः पद्य के प्रसार का यही भी एक प्रयोजन रहा है।

हमारा सामाजिक जीवन जब तक पार्थिवतापूर्ण नहीं होने पाता वह कविता का कानन रहता है। सभ्यता के मण्डप के नीचे जब तक संसार नहीं आया था, उसकी मानसिक अवस्था दुनियादारी से दूर थी। तब हमारी व्यावहारिक बुद्धि में न अधिक वेग आया था, न विशेष प्रबलता ही दिखाई देती थी। सरल जीवन और अमल-धवल मानस के मध्य में वे दिवस काव्योचित वातावरण के विधायक थे। वायु में अंतर की स्वर-लहरी निनादित रहती थी। अतः उस समय तक गद्य की आवश्यकता अथवा उपयोगिता कोसों दूर थी। उसका कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि पद्य रचना की एक दीर्घकालव्यापी बयार सी चल पड़ी। जब संस्कृत के आधार पर अपभ्रंश भाषाओं में साहित्य का सृजन होने लगा तब भी पद्य ही विषय-प्रकाशन का प्रचलित साधन था।

संस्कृत का साहित्य-कोष, यद्यपि पर्याप्त मात्रा में गद्यांश था, किंतु संस्कृत प्रचलित व्यावहारिक बातचीत का माध्यम न थी। लोगों में इसे समझने का धैर्य न था। वे इससे उदासीन थे। अपनी प्रचलित भाषा में पाठ्य-पुस्तकों की पद्यात्मक शैली उन्हें ग्राह्य थी, किंतु संस्कृत विद्वानों के गद्य से वे ऊबते थे। वास्तव में बाण और दण्डी प्रभृत संस्कृत के वाग्मीवर जैसा गद्य लिखते थे वह था भी अत्यधिक अलंकारिक और आडम्बरपूर्ण। उनके गद्य की भाषा पद्य का जामा ओढ़े कविता-विषयक शुष्क उपादानों से अत्यधिक आवृत्त है। गद्य का यह वेश जन-रुचि को ज्ञानगम्य न था और इसका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि हिंदी-लेखकों ने हिंदी गद्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया। लोग रीति-काव्य लिखना ऐसे गद्य से अपेक्षाकृत सरल और सुबोध समझकर पद्य ही में अपनी उक्तियों का चमत्कार दिखाते थे। संस्कृत गद्य से भय होने के कारण हिंदी काव्य के क्षेत्र में भी एक ऐसी धारा का उद्गमन हुआ जिसमें अति साधारण विषय वर्णन को पद्य के साँचे में ढाल कर कविता का रूप दिया गया था। गद्य का पुष्ट आविर्भाव वर्तमान घटना है। अँगरेजों के आने के समय से उसका विकास हुआ। विचारों में अनेकरूपता आई। ज्ञातव्य विषयों की तालिका विस्तृत हुई। मानसिक ऊहापोह द्वारा सिद्धांतों और वादों का खंडन-मंडन चल निकला। गद्य को रूप ग्रहण करने का अवसर मिला। उसमें

अभिव्यंजन का वैविध्य उदय हुआ। गद्य के स्वरूप के इसी विकास के इतिहास में काव्य और गद्य की वर्ण संकरी संतान का नाम गद्य काव्य पड़ा।

सत्यं शिवं सुंदरम्

इधर कुछ समय से भारतीय साहित्य में 'सत्यं शिवं सुंदरम्' वाक्य-खंड की बड़ी धूम रही और उसका बहुत प्रयोग होता है। अंग्रेज-कवि 'कीट्स' का यह कथन कि 'सत्य ही सौंदर्य है और सौंदर्य ही सत्य है' ऊपर के कथन से मिलता-जुलता है। इस पर भी समीक्षकों ने मनमानी व्याख्या की है। 'सुंदरम्' शब्द उक्त वाक्य-खंड का अंतिम शब्द हैं। 'सुंदर' से ही 'सौंदर्य' शब्द बनता है। सु + उन्द + अरन् 'सुंदर' बनाते हैं। सुंदर के भाव को ही सौंदर्य कहेंगे (भाव:——ष्यञ्)। 'उन्द' धातु का अर्थ है गीला करना। सत्य का अर्थ वास्तविक नहीं है। गोचर विश्व को यथार्थ कह सकते हैं, पर सत्य नहीं। इंद्रियों की शक्ति सीमित है। उनसे प्राप्त ज्ञान भी सीमित ही रहेगा। एक इंच की रेखा चाहे कितनी भी सावधानी से खींची या देखी जाय वह या तो बाल के बराबर बड़ी होगी या छोटी। समस्त गोचर ज्ञान इसी प्रकार अशुद्ध है। विश्व के नाना रूप-व्यापार, जिन्हें 'कार्लमार्क्स' निजेतर वास्तविकता (Objective reality) कहता है, सत्य नहीं कहे जा सकते। ससीम ज्ञान, असीम ज्ञान को आत्मलीन नहीं कर सकता। वास्तविकता में प्रतिक्षण परिवर्तन शीलता अत्यंत आलस्य-रूप में अमर भाव से बैठी है। क्षण क्षण संवर्धमान सौंदर्यवाली 'बिहारी' की नायिका* की भाँति इस विश्व का पल-पल का परिवर्तित स्वरूप बड़े-से-बड़े अभिमानी वैज्ञानिक के ज्ञान में भी ठीक-ठीक समा नहीं पाता। इस परिवर्तनशीलता से अभिशप्त वास्तविकता सत्य नहीं कही जा सकती। हाँ, जितने काल तक जिस रूप व्यापार में इंद्रियों को जितना टिकाऊ-पन देख पड़े उतने काल तक वह रूप-व्यापार सत्य समझा जाता है। पर इंद्रियों की अक्षमता में परिवर्तन की सूक्ष्मता का दुर्लक्ष्य सत्य की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। यदि अस्थायी सत्यों को एकत्र किया जाय तो न जाने कितने ही असत्य सत्य एकत्र होकर सत्य के असली स्वरूप को ही घपले में डाल देंगे। बहुत बार इन आंशिक सत्यों में स्वयं विरोध दिखाई देगा। पर विश्व के कार्य के लिए यदि इन आंशिक सत्यों की पूरी-पूरी परीक्षा कर ली जाय, तो कुछ स्थान और समय के भीतर ये सत्य

---

* लिखन बैठि वाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे क्रूर॥

का प्रतिनिधित्व करके विश्व-संस्तरण-कार्य में योग दे सकते हैं। पर हैं ये असत्य ही।

फिर सत्य क्या है? एक दार्शनिक कहेगा कि व्यक्त जगत् का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु चिरंतन तो है, पर परिवर्तनशील है—वह इंद्रियगम्य नहीं, केवल चिंतनागम्य है। अतएव, जैसे परमाणु का स्वरूप केवल मानसिक प्रत्यय है, वास्तविक नहीं; वैसे ही उसका सत्य भी केवल मानसिक प्रत्यय ही समझा जायगा। पर इन परमाणुओं के मूल में परस्पर संघात करने की आकांक्षा रहती है—इनमें आकर्षण और विकर्षण रहता है। सारी अभिव्यक्ति के मूल में परमाणुओं के ये गुण कार्य करते हैं। दार्शनिक भाषा में परमाणुओं के इन गुणों को हम उनका धर्म कहेंगे। परिणाम यह निकला कि व्यक्त-स्वरूप-व्यापार वास्तविक हो सकते हैं, पर असत्य होते हैं और धर्म अवास्तविक होने पर भी सत्य है।

इस उक्ति को और भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है। यह विश्व अगणित रूप-व्यापारों का गत्यात्मक पिण्ड है। इसके उद्भव, साधन और लय या रूप-परिवर्तन में असंख्य व्यापार और उपव्यापार, क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ काम करती हैं। इन व्यापारों और क्रियाओं की प्रेरणा में अनेकानेक धर्म काम करते रहते हैं। ये सारे धर्म सत्य हैं। धर्मों का समूह भी सत्य है। समस्त धर्मों का यदि समाहार कल्पित किया जा सकता है और यदि उन सबका विकेंद्रण किसी एक मान्य केंद्र से माना जा सकता है, तो वही असीम व्यवस्था है, ईश्वर है, ब्रह्म है, प्रेरक प्रधान है, निखिल सत्ता है, जड़ प्रकृति का चेतन रूप है, परिवर्तन का रहस्य है और वही सत्य है। फिर 'सत्य' और 'शिव' का क्या संबंध है? यदि सत्य की तरह शिव का अर्थ भी ईश्वर ही है तो 'सत्य' और 'शिव' एक हैं। जो सत्य है वह शिव (ईश्वर) होगा ही, और वही सौंदर्य भी होगा। विश्व के परिवर्तनशील स्वरूपों पर, उपादेयता के आधार पर, टिका हुआ सौंदर्य अस्थायी ही होगा, अतएव उसे असत्य ही कहा जायगा। पूर्ण सत्य वही सौंदर्य है, जो ईश्वर है, जो चिरंतन है, जो सत्य है। परंतु 'शिव' का अर्थ 'कल्याण' है। तो फिर कल्याण और सत्य का क्या संबंध है? प्रकृति के सारे व्यापार किसी व्यवस्था के संकेत पर चलते हैं। इस इंगित को हमने धर्म कहा है। इसी व्यवस्था में नास्तिक वैज्ञानिकों का विकास, वेदांतियों की अनिर्वचनीयता, धार्मिकों की मंगलाशा और बौद्धों का कर्मवाद—सभी की व्याख्या छिपी रहती है। अपने भीतर की प्रेरणा से ही धर्मकलाप जागरूक और गतिमान है। इन धर्मों की संरक्षा और

निर्वाह-क्षमता इन्हीं धर्मों के भीतर मिलती है—For Law its own Security—और इसी को धर्मों का शिवत्त्व या उनकी कल्याण स्थापना का रूप कहा जायगा। निष्कर्ष यह कि धर्मों में शिवत्त्व रहता है। सत्य और शिव का यही अभिन्न संबंध है। अतः जो सत्य है वह शिव अवश्य है।

अब समझना यह है कि सत्य और शिव सुंदर भी किस प्रकार होता है। सत्य का अनिर्विकार अज या ब्रह्मरूप अथवा उसका वैज्ञानिकोंवाला जड़वादी प्रकृति रूप और उसका सविकार जन्मलेवा 'एकोऽहम् बहुस्याम्' वाला माया-रूप अथवा वैज्ञानिकोंवाला रूपव्यापार का गत्यात्मक रूप, दोनों का मिलाने वाला शिव है—एक को दूसरे से जोड़ने वाली शृंखला 'शिव' है। अविकार शिवत्व धर्मों से ही सविकार होता है, जड़ प्रकृति शिवत्व से ही गत्यात्मक प्रतीत होती है। पर अविकार को सविकार और जड़ को चेतन बनाने की व्यवस्था—जो शिव का ही दूसरा नाम है—अपने 'स्व' में 'स्थ' रहने से ही कृतकार्य होती है। हम पहले कह चुके हैं कि अमर नियमों और धर्मों को ही व्यवस्था कहते हैं। इन धर्मों की नैसर्गिक प्रवृत्ति को चाहे हम आध्यात्मिक नियोजना कहें, चाहे विकास का औचित्यपूर्ण मार्ग कहें, उस पर चलना ही 'स्व में 'स्थ' रहना है। अपने समस्त धर्मों के साथ किसी परिस्थिति, किसी पिण्ड, किसी रूप व्यापार का 'स्व' बनता है और उन्हीं धर्मों में उस पिण्ड, उस परिस्थित, उस रूप-व्यापार का बँधे चलने का नाम 'स्व' में 'स्थ' है। अतएव सत्य का नैसर्गिक स्वरूप स्वस्थ हैं—और कल्याण या शिव का भी। यह 'स्वस्थ' ही वास्तव में 'सुंदर' का दूसरा नाम है। साधारण दृष्टि देखिए कि जो पशु, पक्षी-प्राणी या स्त्री-पुरुष स्वस्थ होते हैं, बड़े सुंदर दिखाई देते हैं। गिलहरी, बिल्ली, बंदर आदि अपने-अपने रूप में अच्छे लगते हैं और सुंदर मालूम होते हैं। 'स्वस्थ' का अर्थ पहलवानी करके पुट्ठे फुला लेना नहीं है। ग्रीवा तथा वक्षस्थल को व्यायाम द्वारा मोटा-चौड़ा कर लेना नैसर्गिक विकास नहीं है। अतः वह स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। कसरती पहलवान शक्तिशाली हो सकता है; पर स्वस्थ नहीं। मोटे-चौड़े व्यायामी पहलवान में सुंदरता देखना शक्ति की अनावश्यक उपासना करना है। एकांगी उपासना से मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है और मानव अतिवाद का अभ्यासी हो जाता है। इंद्रजाली के आश्चर्यजनक प्रदर्शन में भी कुछ लोग सौंदर्य देखते है। वास्तव में सौंदर्य का मूल्याकन दोनों स्थलों पर एक-सा है। वास्तविक सौंदर्य तो 'स्व' में 'स्थ' रहने से हो सकता है। स्वस्थ ही सौंदर्य है। अतएव सत्य, शिव और सुंदर—तीनों एक ही हैं केवल नाम-भेद से इनके रूप अलग-अलग समझे जाते और दिखाई देते हैं। वैसे विश्व में सत्य का विश्लेषण-क्षेत्र विज्ञान है, शिवं का विश्लेषण-क्षेत्र धर्म और नीतिशास्त्र है तथा सुंदर का

विश्लेषण-क्षेत्र हैं ललित कलाएँ। 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के इस विवेचन से एक महान् भ्रम उत्पन्न हो सकता है। हमने अन्यत्र कहा है कि यौन-व्यापारी मानव अपनी स्थिति-धारणा की संरक्षा अपने व्यापार के ही लिए—सृष्टि-संवर्धन के ही लिए चाहता है। स्थिति धारणा उसे उपादेयता के नाते सृष्टि से संपर्क कराती है। उपादेयत्व ही सौंदर्य की सृष्टि करता है। सौंदर्य का सूतिगृह घोर ऐहिकता है। परन्तु 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के आरम्भ में सौंदर्य की जो व्याख्या की गई है वह बिलकुल दूसरे प्रकार की है।

यहाँ 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के प्रसंग में सौंदर्य का जो विवेचन हुआ है वह निस्सीम सौंदर्य का विवेचन है। 'सत्यं शिवं' का भी विवेचन निस्सीम सत्य और निस्सीम शिव के रूप में ही किया गया है। उसमें अखंड सत्य, शिव और सुंदर को बोधगम्य कराने का प्रयास किया गया है और उनका सामंजस्य भी स्थिर किया गया है। यह केवल चिंतना के काम का 'सत्य, शिव और सुंदर का ऊहापोह' प्रतिदिन के सत्य, शिव और सुंदर से इतर है। जैसा अन्यत्र कहा गया है कि जितने अधिक काल तक जो वास्तविकता चिरंतनत का आवरण पहने रह सकती है उतने अधिक काल तक वह सत्य है—चाहे वह आगे चलकर मिथ्या ही क्यों न प्रमाणित हो, वैसे ही, स्थान-भेद और काल-भेद से, जो पर्िस्थिति जितने काल तक कल्याणकर प्रतीत होती है उतने ही काल तक शिव है, और चिरंतनता के आवरण में होने के कारण सत्य भी है—चाहे वह आगे चल कर या स्थान-काल-भेद से अशुभ एवं अभद्र ही क्यों न प्रतीत हो। ठीक उसी प्रकार जितने अधिक काल तक पार्थिव या अपार्थिव उपादेयता के कारण किसी परिस्थिति में आकर्षण का टिकाऊपन रहेगा उतने काल तक उसमें सौंदर्य भी रहेगा—चाहे आगे चलकर उपादेयता के नष्ट हो जाने के कारण उसमें कोई आकर्षण न रहे और यहाँ तक कि वह असुंदर और कुरूप प्रतीत होने लगे—चिरंतनता का आभास भी मिलेगा और मङ्गल का रूप भी दिखाई देगा, चाहे वह थोड़े ही काल के लिए हो; अतएव उसमें सत्य और शिव दोनों विद्यमान रहेंगे। 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के व्यक्त रूप, ससीम रूप और खंड रूप का यही सामंजस्य है।

अब, यह समझ लेना चाहिए कि सौंदर्य का प्राणी पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है। मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विश्लेषण करना इस लेख का उद्देश्य नहीं। मनुष्य पर किसी सुंदर वस्तु या सुंदर व्यक्ति का प्रभाव दो प्रकार का होता है—उसमें दो प्रकार की भावनाएँ जागरित होती हैं। या तो वह उस सौंदर्य को शारीरिक जकड़ या मानसिक घेरे में लाने की विह्वलता व्यक्त करेगा या उस पर निज को उत्सर्ग करने को विकल हो उठेगा। पहले

में निज का विस्तार और पर को लपेट लेने की व्यवस्था है तथा दूसरे में पर का विस्तार और निज के लय होने की बात है। चाहे आप 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर 'अहं' से प्रारंभ करें और चाहे 'सोहम्' कह कर 'स' अर्थात् उससे आरंभ करें—बात एक ही है।

'बुंद समुद्र समान, यह अचरज कासों कहौं;
हेरनहार हेरान, मुहमद आपुहि-आप में।

चाहे बूंद में समुद्र पैठ जाय या 'हेरनहार' (पता लगानेवाला) स्वयं जिसका पता लगाया जाता है उसमें खो जाय या लय हो जाय—बात एक ही है। दोनों प्रकार के भावों का मूल एक ही है। जब सौंदर्य का अत्यंत महान् और बृहत् प्रभाव पड़ता है और उसके समक्ष अपनी अत्यंत लघुता का आभास मिलने लगता है—चाहे गुणों का हो, चाहे स्वरूप का हो, चाहे दोनों का संमिलित हो—तब निज के निछावर होने की बात बली हो जाती है। किसी (प्रिय ?) की मोटर के नीचे दबकर मरना भी प्रेमी अपना सौभाग्य समझता है। परंतु जब दर्शक और सौंदर्य के बीच यह विषमता नहीं रहती तब सौंदर्य के ऊपर अपने को निछावर करने या उसका प्रयोग करने की आकांक्षा उत्पन्न होती हैं। वास्तव में सौंदर्य के प्रमाणाधिक्य की ओर ही न्यून का उत्सर्ग होता है। जहाँ निज के मिटने या उत्सर्ग होने की भावना होती है वहाँ उसे लौकिक भाषा में 'प्रेम' कहते हैं। और, जहाँ 'पर' को 'निज' के प्रयोग के लिये प्रेरित करने की इच्छा होती है वहाँ उसे 'मोह' कहते हैं। गुणजात या रूपजात सौंदर्य के कारण प्रेम और मोह उत्पन्न होते हैं। पदार्थों के लिए मोह या लोभ ही होता है, प्रेम नहीं। जिन पदार्थों का ऐहिक प्रयोग संभव नहीं उनका मानसिक परितोष के लिए प्रयोग किया जाता है।

पर यहाँ यह समझ लेना है कि सुंदर गुलाब के पुष्प को मसलकर खा जाने की वृत्ति से लेकर गुलाब को सूँघने, उसके चित्र बनाने, उसके महा सौंदर्य को देखकर घंटों नेत्र बंद कर मुग्ध होने, अपने को भुलाकर अक्षय महा सौंदर्य में तन्मय हो जाने, रहस्यमय रसास्वादन करने और समाधिस्थ हो जाने तक—यह सब एक ही पथ के विभिन्न विश्राम-स्थल है। खिली हुई चाँदनी में एकांत टीले से झरते हुए रजत-प्रवाह के निर्झर का चाहे जल पीने के लिए लालायित हो और जल पीकर प्यास बुझावे, चाहे समस्त वातावरण के भीतर उस समूचे सौंदर्य का घूँट-घूँट पान करे और मुग्ध होकर मस्त हो जाय। मन, समस्त इंद्रियों की संकुल मध्यस्थता से ही, सौंदर्य का रसास्वादन करता है। पर रसास्वादन करनेवाला केवल मन है, इंद्रियाँ मध्यस्थ मात्र हैं। किंतु प्रत्येक सुंदर वस्तु के साथ किसी एक या एक से अधिक इंद्रिय की मध्यस्थता

प्रमुख होती है और अन्य इंद्रियों की गौण। उदाहरण के लिए गुलाब का पुष्प लीजिए। इसके रसास्वादन की प्रमुख इंद्रिय घ्राणेंद्रिय है। दूसरी इंद्रिय नेत्रेंद्रिय है। वैसे तो रसेंनद्रिय भी गुलाब के स्वाद की कल्पना किसी-न-किसी विकार के साथ मन में पहुँचा ही देती है—जैसे नेत्र आकार-सौंदर्य और नासिका घ्राण-सौंदर्य पहुँचा देती है। स्पर्शेंद्रिय (त्वगिंद्रिय) भी स्पर्श-कोमलता का सौंदर्य पहुँचा देती है। पर प्रधान रसास्वादक मन ही है। वहीं इंद्रियाँ अपना-अपना रस केंद्रित करती हैं। मन इंद्रियों के ही द्वारा शक्ति बाहर फेंककर पदार्थों की सुंदरता के साथ संपर्क-लाभ करता है। इंद्रियों में स्फूर्ति-संचालन एक ही केंद्र (मन) से होता है, अतः कभी अप्रधान इंद्रिय में प्रधान से अधिक स्फूर्ति पहुँच जाती है और पुष्प को सूँघने के स्थान में व्यक्ति उसे खाने लगता है। सौंदर्य-प्रयोग का इस प्रकार का इंद्रिय-भ्रम बहुधा हो जाया करता है। काम-व्यापार के संबंध में जो नाना प्रकार के नैतिक और अनैतिक, उचित और अनुचित प्रयोग देखे-सुने जाते हैं, उनका कारण यही भ्रम है।

काम-व्यापार अथवा यौन-व्यापार, वास्तव में—जैसा आरंभ में ही कहा गया है—प्राणी का सबसे प्रमुख और सबसे वेग-संपन्न रूप है। जो सौंदर्य सीधे इस व्यापार को उत्तेजित करता है वह सबसे गहरा और सबसे विस्तृत प्रभाव वाला होता है। मन को रसास्वादन-क्षमता का पूरा-पूरा पाठ यौन-व्यापार के स्वरूप में ही मिला है। अतएव, इसी में वह सबसे अधिक सौंदर्य देखता है। विश्व के समस्त व्यापारों में अधिक पुरुषत्व-संपन्न (यौन व्यापार की अधिक क्षमता रखनेवाला) प्राणी अधिक सतेज, सजग, ओजपूर्ण तथा स्फूर्तिशाली रहता है। ऐसा बली बैल जिसकी कामशक्ति छीन ली गई है, और ऐसा साँड जो कामशक्ति-संपन्न है—दोनों के बल-वीर्य, पौरुष-पराक्रम और ओज-व्यक्तित्व में जो महान् अंतर दिखाई देता है उससे काम-शक्ति का व्यापक महत्त्व बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। जीवन के सब क्षेत्रों में आगे वही प्राणी रहता है जिसमें सबसे अधिक सृष्टि-संवर्धन का बल है। कभी-कभी निज की कामशक्ति क्षीण होने पर भी व्यक्ति को माता-पिता के रजोवीर्य में काम बल प्रभूत मात्रा में मिल जाता है। परम्परा और गतानुगति के सहारे चिंतना के विस्तार में यही शक्ति कभी-कभी ऊँची-से-ऊँची संस्कृति का निर्माण करती है। सौंदर्य को ढूँढ निकालने की तो इसमें अनुपम क्षमता होती है। काम-व्यापारियों के संसार में जो झगड़े चलते रहते हैं, दाँव-पेंच के जो घात-प्रतिघात प्रतिदिन होते रहते हैं—उनसे चोट खाकर प्राणी हाय-हाय भी करता है। व्यक्ति इस परिस्थिति से भाग खड़ा होना चाहता है, पर लगाव छोड़ना नहीं चाहता। यदि वह कवि हुआ तो एक ऐसे लोक में इसका ताना-बाना सजाता है, जिसमें वेदना और दुःख का

नाम तक नहीं रहता, केवल सुख और आनंद का ही साम्राज्य रहता है। वह इस लगाव की परिभाषा ही बदल देता है। संस्कृत का प्रसिद्ध कवि 'भवभूति' कहता है—

> "अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु य—
> द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः
> कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
> भद्रं तस्य सुमनुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।"

पर यह तो केवल कवि कल्पना है जो तरुणों को भुला सकती और लंका, उर्वशी, नंदन-वन, कल्पतरु, अलकापुरी, चिंतामणि, इंद्रशचीवाले स्वर्ग की भाँति केवल कल्पनाओं में ही रहती है। 'सर वाल्टर स्काट' कहता है कि 'सच्चा प्रेम इच्छा-पूर्ति के साथ समाप्त नहीं होता' (With dead desire it does not die)। वास्तव में इस प्रकार की उक्तियाँ काम-स्वरूप के शुद्धीकरण का मौखिक प्रयास मात्र हैं—काम-वृत्ति को सँवार कर उसे नैतिकता का वस्त्र पहनाने का प्रयास है। यह कौन कह सकता है कि काम-तृप्ति के बाद सुंदर से सुंदर प्रियतम में प्रेमी का पूर्ववत् रमणवेग रहता है और प्रिय का सौंदर्य पूर्ववत् ही चोट करता है—एक क्षण पूर्व और एक क्षण पश्चात् में क्या अंतर आ जाता है? यह विसर्जन की थकान ही है जो इस प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। पिता-माता, पुत्र-पुत्री, और भाई-बहन के आकर्षणों में फ्रूड साहब का काम-वासना न भी मानें, तो भी रक्त का सान्निध्य तो होता ही है और रक्त में एक प्रकार के परमाणुओं का आकर्षण नैसर्गिक है। सहवास का अवकाश इस आकर्षण को बढ़ा देता है।

बात यह है कि पशु में काम-व्यापार की अधिकता रहती है, पर मानव उसके नियंत्रण में अपना विकास देखता है। वह समष्टिवादी है—संघ-स्थापना और समाज-स्थापना उसका प्रमुख उद्देश्य है; वह मिलकर उन्नति करता है। अतएव उसने विवाह की व्यवस्था की और स्थूल काम-भावना को नीच स्थान देने लगा। उच्छृंखल कामाचरण से समाज के छिन्न-भिन्न होने की संभावना है। इसको सँभालने के लिए नीति-शास्त्र रचे गये और काम-व्यापार को ऊँचा नाम 'प्रेम' दिया गया। पर इससे यह सत्य छिपाया नहीं जा सकता कि विज्ञान की मौलिक खोज, ललित कला की महीन सूझ और जीवन के उदात्त स्वरूपों तक पहुँच अधिकतर उसी मनुष्य के लिए सरल और सुगम है जिसमें सृष्टि-संवर्धन-शक्ति असाधारण है।

इस कथन से भ्रमवश कोई यह न समझ ले कि व्यभिचारी ही बड़ा आदमी और कलाकार हो सकता है या बड़ा आदमी बनने के लिए कामी और व्यभिचारी होना

परमावश्यक है ! व्यभिचारी तो इस शक्ति का दुरुपयोग करता है। पुरुषत्व के अपव्यय करने की क्षमता तो निसर्ग ने सब मनुष्यों को दी है। वे जितना चाहें जान में और अनजान में, अपना क्षय कर सकते हैं। पर यहाँ तो काम-बल की बात कही जाती है। इस बल के उद्रेक में ही सौंदर्य की सृष्टि का रहस्य है।

ऊपर यह कहा गया है कि इंद्रियों के घोर प्रयोग में जकड़ा हुआ सौंदर्य और मुग्ध कर देनेवाले या मस्त करके समाधिस्थ कर देनेवाले सौंदर्य में केवल सीढ़ियों का अंतर है, प्रकार का नहीं। दोनों पार्थिव हैं। वास्तव में भीतरी चेतना इंद्रियों की मध्यस्थता से ही वाह्य पदार्थों में सम्पर्क उपलब्ध करती हैं। इस प्रयोग में उसकी स्थिति धारणा कहीं अनुकूलता और कहीं प्रतिकूलता प्राप्त करती है। अनुकूलता में सुख मिलता है। इन्हीं अनुकूल वाह्य परिस्थितियों में वे सब परिस्थितियाँ सम्मिलित हैं जिन्हें सुंदरता का स्वरूप कभी न कभी मिला है। सुख के अतिरेक में मध्यस्थ का ध्यान छूट जाता है और चेतना सीधे विषय में रमण करने लगती है। अत्यन्त प्यासे का जल से संबंध जुड़ जाता है—जल पहुँचानेवाली पाइप की टोंटी पर ध्यान नहीं रहता। सुख की परमावस्था को ही 'रस' कहते हैं। परंतु सुख एकंगा होता है, रस में व्यापकता रहती है। सारी अनुकूल परिस्थितियों के त्याग में और प्रतिकूल परिस्थिति के सजग स्वीकार में भी एक विराग का रस होता है; उसे सुख न कहेंगे, उसे आनंद कहेंगे। साधारण बोली में सुख की परमावस्था को आनंद कहते हैं, परंतु दुख की परमावस्था में भी अनुकूलता-लाभ करके रमण करनेवाला प्राणी आनंद प्राप्त कर सकता है। अतएव, अनुराग में तो सौंदर्य होता ही है, विराग में भी होता है। रस की परमावस्था में जो आनंद मिलता है उसमें भोक्ता, भोग्य या भोगना—किसी का भी ध्यान नहीं रहता। थोड़े समय तक चेतना को अपना आभास अवश्य रहता है, परंतु शीघ्र ही वह भी भूल जाता है और एक मूर्छा की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। रसानुभूति, उसके प्रत्यय, उसके उपकरण—सब पार्थिव हैं। अतएव रसास्वादन का सारा धरातल भौतिक है। सौंदर्य के रसास्वादन-कर्त्ता में वासना-रूप में रसास्वादन-क्षमता छिपी रहती है, यह आचार्य मानते हैं और यह सत्य भी है। निज के निर्माणवाले रजोवीर्य में माता-पिता की आकांक्षाओं से लेकर जीवन-भर के सारे वातावरण से प्राप्त संस्कार और समय समय के अशेष-शेष के संपर्क की अनुभूतियाँ, जिन्हें यौन-व्यापारी ने स्थितिधारणा के लिए आकलित किया है, मानव अपने चेतना-कोष में संगृहीत करता चलता है। तादृश परिस्थिति को बाहर पाकर ये अनुभूतियाँ झंकृत हो उठती हैं। बाहरी बल पाकर इन्हें उद्दीप्ति मिलती है, और ये कभी-कभी आनंद की परिस्थिति तक पहुँच जाती हैं।

आनंद की परमावस्था को आप 'मस्ती' कहें, आत्मविस्मृति कहें, उन्माद कहें, मूर्छा कहें, 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहें; परंतु बात एक ही है। अनुभूति-कोष की अमीरी में ही बाह्य जगत् के साथ व्यक्ति की संघर्ष-क्षमता की योग्यता भी छिपी रहती है। सौंदर्यानुभव-क्षमता का विकसित रूप उसकी व्यापकता है। इस वृत्ति की योग्यता के विस्तार में सौंदर्य प्राणी से उतर कर जड़ तक पहुंच जाता है। जड़ में सौंदर्य का प्रभाव उसे चेतन कर देता है—"जहँ-जहँ राम-लखन-सिय जाहीं, करहिं मेघ तहँ-तहँ परछाहीं"—तथा चेतन को मुग्ध करके उसे जड़ कर देता है। तुलसीदास जी ने भरत के सौंदर्य-चित्र में लिखा है—

"जो न होत जग जनम भरत को, अचर सचर चर अचर करत को।"

इसी तरह उन्होंने रामचंद्रजी के परम सौंदर्य का मादक प्रभाव भी बड़ी सुंदरता से अंकित किया है। वानरी सेना के साथ रामचंद्रजी सागर-सेतु पार कर रहे हैं। उनकी अनुपम रूप-माधुरी का पान करने के लिए सारे जल-जंतु पानी के ऊपर निकल आये हैं।

"देखन कहँ प्रभु करुना-कंदा, प्रगट भये सब जलचर-बृंदा।
मकर नक्र नाना झख व्याला, सत जोजन तन परम बिसाला।
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे, मन हरषित सब भये सुखारे।
तिनकी ओट न देखिय बारी, मगन भये हरि-रूप निहारी।"*

सौंदर्य के पहले अवतरण में 'करुना-कंदा' वाला शिव-रूप भी संमिलित है और 'प्रभुहिं' तथा 'हरि' शब्दों द्वारा सत्य-रूप की प्रतिष्ठा भी कवि ने की है। 'सत्यं शिवं सुंदरम्' की कैसी मनोहर झाँकी है।

स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक आलोचनात्मक पुस्तक में एक स्थल पर लिखा है कि शक्ति और शील के साथ गोस्वामी जी ने सौंदर्य

---

* राक्षस शत्रु भी भगवान् रामचंद्र जी के अलौकिक सौंदर्य पर मुग्ध हो गये थे—

"प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी, थकित भये रजनीचर झारी।
सचिव बोलि बोले खर-दूषन, यह कोउ नृप बालक नर भूषण॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते, देखे जिते हते हम केते।
हम भरि जन्म सुनहु सब, भाई देखी नहिं असि सुंदरताई।
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा, बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।"

का अनूठा सामंजस्य किया है। वास्तव में इस प्रसंग में शुक्ल जी के समक्ष सौंदर्य का सीमित रूप—अर्थात् साधारण बोलचाल का ही रूप—है, अन्यथा वह ऐसा न लिखते। शील तो सौंदर्य का उपकरण मात्र है या सहायक है। कालिदास अपने 'शाकुंतल' में स्पष्ट लिखते हैं—"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।" अन्यत्र भी कहा है—"न तादृशाः आकृतिविशेषाः गुणविरोधिनोभवन्ति" शूद्रक कवि कहते हैं—'नह्याकृतिःसुसदृशं विजहाति वृत्तम्" अर्थात् आकृत के अनुकूल ही शील हुआ करता है। भवभूति कहते हैं—"भिद्तवासद्दृत्त मोहशस्य निर्माणस्य" विद्धशाल भंजिका कहती हैं—"आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः" कालिदास ने भी अन्यत्र कहा है—"अहो सर्वस्वस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्पति।" इन उक्तियों से यह प्रमाणित होता है कि संस्कृत कवियों में यह रूढ़ि सी थी कि सुंदर आकृति गुणों का होना व्यक्त करती है।

यह बतलाया भी जा चुका है कि नीतिमत्ता तथा कार्य-पटुता, जिसे शील का व्यवहार-पक्ष कह सकते हैं, सौंदर्य स्थापना का प्रमुख अंग है। शक्ति तो शील के भीतर की वस्तु है। शील से अलग खड़ी हुई शक्ति, एकांगी होने के कारण, किसी भी नायक की शोभा नहीं हो सकती चाहे वह प्राचीन साहित्य का हो या अर्वाचीन साहित्य का।

स्वर्गीय पंडित रामचंद्र शुक्ल

एक समीक्षा

परिचय

लेखनी पर विषाद का भारी बोझ है, फिर भी हिंदी साहित्य के उस अद्वितीय विद्वान से उऋण होने की आकांक्षा है। मेरे साहित्यिक जीवन के आरंभ से ही स्वर्गीय शुक्ल जी ने मुझे बड़ा प्रभावित किया है। उनकी समस्त कृतियों को मुझे मनोयोग से पढ़ने का अवकाश मिला है और उनके व्यक्तित्त्व का भी थोड़ा बहुत सान्निध्य उपलब्ध रहा है।

बस्ती जिले के किसी साधारण ग्राम में शुक्लजी का सन् १८८४ में जन्म हुआ था। १६०६ में इन्होंने इंट्रेंस पास किया और फिर कालेज की शिक्षा छोड़कर वकालत की ओर मुड़ गये। वकालत की परीक्षा की इनकी विफलता ने इनके जीवन को उचित और सीधे मार्ग पर ला खड़ा किया। मिर्जापुर मिशन हाईस्कूल की ड्राइंग मास्टरी इन्हें बहुत काल तक टिका न सकी। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदर-दास की दृष्टि इन पर पड़ी और ये काशी पहुँचे। 'इंडियन पीपुल' में 'विषैले जंतु' शीर्षक इनकी लेख माला ने वैसे तो इन्हें लोगों से परिचित करा दिया था परंतु 'प्रेमधन' जी की 'आनंद कादंबिनी' और 'सरस्वती' के इनके गवेषणापूर्ण लेखों ने इन्हें अधिक प्रसिद्ध कर दिया। परिणाम स्वरूप सन् १६०८ में ये "हिंदी शब्द सागर" के सहायक संपादक के रूप में काम करने लगे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का संपादन भी इन्होंने आठ नौ वर्ष तक किया। काशी विश्वविद्यालय के हिंदी प्रोफेसर की नियुक्ति के बाद इनकी साहित्यिक सेवायें अधिक ठोस होने लगीं। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास के अवकाश ग्रहण करने के बाद हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के ये अध्यक्ष बनाये गये।

शुक्ल जी ने साहित्य सेवा कई दिशाओं में आरंभ की। अन्य बड़े-बड़े ग्रंथों के साथ उन्होंने 'वीरसिंहदेव चरित' का भी संपादन किया। उनके निबंधों का संग्रह पहले 'विचार-वीथी' के रूप में सामने आया और फिर दो भागों में,

अधिक परिवर्धित रूप में, इंडियन प्रेस से 'चिंतामणि' बनकर निकला। इसी पुस्तक पर हिंदी साहित्य सम्मेलन ने शुक्लजी को मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया। उस वर्ष के निर्णायकों में मैं भी था। मुझे बड़ा संतोष है कि मैंने अपना मत 'चितामणि' के पक्ष में दिया था। वैसे तो साहित्य के उस महारथी की पीठ ठोकने के लिये किसी दूसरे की आवश्यकता न थी, पीठ ठोकने का काम स्वयं शुक्लजी ने ही रक्खा था। इस प्रदेश की हिंदुस्तानी ऐकेडेमी ने भी उनके इतिहास पर पाँच सौ रुपये का पुरस्कार देकर औचित्य का परिचय दिया था।

साहित्य मीमांसा के अतिरिक्त शुक्ल जी का रुझान इतिहास और दर्शन की ओर भी पर्याप्त था। उन्होंने मैगस्थनीज के भारतीय विवरण का हिंदी में अनुवाद किया और फारस का एक अच्छा प्रामाणिक इतिहास, बड़ी छान-बीन के साथ, हिदी में लिखा। योरप के प्रसिद्ध दार्शनिक हेकेल के 'रिडिल आव दी यूनिवर्स' को 'विश्व-प्रपंच' के नाम से हिंदी में अनुवाद ही नहीं किया उसकी भूमिका लिखकर अपने प्रकांड दार्शनिक ज्ञान का परिचय दिया। सर पी० माधवराव के 'माइनर हिंट्स' को 'राज्य प्रबंध शिक्षा' नाम देकर और एडिसन के 'ऐसे आन इमैजिनेशन' को 'कल्पना का आनंद' शीर्षक देकर उन्होंने दो और सुंदर अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। वे पूर्ण रूप से मौलिक रचनाएँ प्रतीत होती हैं। बँगला के प्रसिद्ध लेखक राखालदास के दो उपन्यासों का रूपांतर 'करुणा' और 'शशांक' देखते ही बनता है। 'आदर्श जीवन' को तो जिन विद्यार्थियों ने हाईस्कूल कक्षा में पढ़ा होगा वही उनकी अनुवाद-कुशलता के कायल होंगे। मूल का पूरा-पूरा आनंद उपस्थित है। बाबू राधाकृष्ण दास के जीवन-चरित्र को उपस्थित करके उन्होंने जीवनवृत्त लिखने की परिपाटी का आदर्श उपस्थित कर दिया। इंदौर साहित्य संमेलन के साहित्य परिषद् के सभापति की हैसियत से इन्होंने जो भाषण दिया वह स्वयं एक छोटी पुस्तक है। भाषण के विचारों से चाहे सबका मेल न खाय परंतु लेखक के तर्क और उसकी प्रवाहपूर्ण शैली से बचकर सम्हली हुई समीक्षा करना सरल नहीं। यही बात उनकी रहस्यवाद नाम की छोटी पुस्तक की है। विदेशी समीक्षकों की युक्तियों को ऐसी कुशलता के साथ सजाया है कि गहरे आघात के सामूहिक प्रभाव से पीछा छुड़ाकर लेखक के एकांगेपन को ताड़ लेना सरल नहीं।

पं० रामचंद्र शुक्ल की शैली में अनुपम उलझाव था। वाक्य चाहे छोटे-छोटे हों चाहे बड़े, उनमें बड़ा बल था। एक ही विचार को कई बार कई प्रकार से कहकर

वे अपने लेखों को दुरूह होने से बचा लेते थे। तत्सम शब्दों का प्रयोग आवश्यक होने पर ही करते थे परंतु उनके तद्भवों में ग्रामीणता और अनागरिकता कभी नहीं आई। दार्शनिक प्रबंध उनके अपेक्षाकृत छोटे होते थे। उनकी शैली भी चिंतना प्रधान होती थी। अन्यत्र तर्क और बुद्धि को उकसानेवाले वाक्यों में भी रागात्मिकता बराबर मिलती है। इसी से वे शुष्क नहीं हो पाये। किसी की प्रशंसा करने में वे कभी-कभी एक दो वाक्य बिलकुल काव्यमय लिख दिया करते थे और किसी के मिथ्या पाखंड पर आघात करने के लिए अत्यंत परुष वाक्यों का भी प्रयोग करते थे। महत्ता के निर्माण में उनके वाक्यों में श्रद्धा की वेगवती गरिमा रहती थी और क्षुद्रता के ध्वंस में उनके वाक्यों में क्रोध की धड़धड़ाहट दूर से सुनाई देती थी। शब्दों के आकार के बड़े होने के साथ-साथ वाक्यों का लट भी लम्बा हो जाया करता था। विषयों की गम्भीरता ने उनकी अभिव्यंजना को भी गंभीर बना दिया था। बिना कई बार पढ़े वे साधारण विद्यार्थी की समझ में नहीं आते। पर वे अस्पष्ट अथवा रहस्यमय कहीं नहीं हैं। न जाने कितने शब्द और मुहावरे उन्होंने गढ़ कर नये चला दिये।

पं० रामचंद्र शुक्ल के सबसे बड़े पुत्र पं० केशवचंद्र शुक्ल से मुझे ज्ञात हुआ कि अभी शुक्लजी की बहुत सी सामग्री अप्रकाशित है। उनका एक लक्षण ग्रंथ लगभग छः सौ पृष्ठों का लिखा रक्खा है। बहुत सी कवितायें भी अभी अप्रकाशित पड़ी हैं। उनके इतिहास का नवीन संस्करण अभी संवर्धित होने को था। कुछ नये कवियों पर तो लिखे हुए उनके प्रबंध अब इतिहास में जोड़े गये हैं।

शुक्लजी की कविता

शुक्ल जी का सबसे प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ 'बुद्ध चरित्र' है। ब्रज भाषा में लिखा हुआ यह एक प्रबंध काव्य है। ब्रज भाषा के शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की बान से कदाचित् ही कोई बड़ा से बड़ा कवि बचा होगा। केवल शुक्लजी ही इसके अपवाद हैं। एक ही शब्द के अनेक रूपों के प्रयोग की सदोष परिपाटी से भी ये दूर रहे। मँजी हुई प्रांजल ब्रज का आज का सुसंस्कृत निखरा हुआ रूप 'बुद्ध चरित्र' में मिलेगा। 'क्लेश' अथवा 'क्लेस' न लिखकर बराबर उसका तत्सम रूप 'क्लेश' ही को उन्होंने अपनाया है। विवरण का समूचापन और विभावन व्यापार का भरा-पूरा चित्र 'बुद्ध चरित्र' की सर्वोपरि विशेषता है। दृष्टिपथ की वे सुई भी नहीं भूलते और फिर भी उबा देनेवाली नीरस बहुलता भी नहीं है। कवि बहुज्ञ है पर उसके ज्ञान का बोझ वस्तु-स्थिति को दबा नहीं पाता। इसी से कथा कहीं ढीली नहीं हो पाई। रसों

की निष्पत्ति में बरबरता नहीं है। नागरिकता की एक चेतन हिचक उनका नियंत्रण करती है। बुद्ध के जीवन में ही "करामातों" की उतनी भीड़-भाड़ नहीं, जितनी ईसामसीह के जीवन में है। इसीलिए 'बुद्ध चरित्र' के भीतर समाचीनता का अच्छा प्रवेश हो पाया है। समसामयिक वातावरण देकर कवि ने जीवन के लिए सीधे और पैने आदेश भी संकेत किये हैं। कुँवर सिद्धार्थ की बढ़ती हुई प्रतिभा—तुलसी के राम की प्रतिभा से होड़ लेती हुई "गुरु गृह गये पढ़न रघुराई, अल्प काल विद्या सब आई।"—

सहसा अंतरिक्ष को आच्छादित करती हुई दिखाई देने लगती है।

'बुद्ध चरित्र' की सबसे बड़ी विशेषता अभिव्यंजना की सरलता और अभिधा का प्रश्रय है। एक दो स्थलों को छोड़कर जैसे "ऊर्णदायिनी जननि" (पृष्ठ ११२) जहाँ कोष के ढूँढ़े हुए शब्द भी मिल जायँगे, सर्वत्र प्रसाद गुण मिलेगा। यही सरलता 'बुद्ध चरित्र' का गुण है और यही उसका दोष है।

प्रयोगों के सूक्ष्म संकेत न भी हों परंतु ध्वन्यात्मक उक्तियों की भारी कमी खटक जाती है। जिस छंद को लेकर 'बुद्ध चरित्र' आरंभ होता हैं उसमें यथेष्ट संगीत बल नहीं है। कहीं-कहीं अनुप्रास प्रियता के मोह से "प्रीति पसरी" में 'पसरी' एक अत्यंत पुराना प्रयोग अपनाना पड़ा। अवतारों की प्रेरणा में जो शुक्ल जी ने, अनुवाद के ही रूप में सही, गीता की भारती से भिन्न वाणी सुनाई है वह भक्तों की अनुमति नहीं पा सकी। 'बुद्ध चरित' में कोई न कोई अलौकिक रूप, व्यक्ति अथवा परिस्थिति कथानक को नाटकीय ढंग से सहसा मोड़ देती है। यह यहाँ की पुरानी परिपाटी अवश्य है पर युग के मनोभाव से मेल नहीं खाती। चमत्कारों से लिपटा हुआ जीवन हमारे नेत्रों को प्रखर आलोक से चकाचौंध कर सकता है पर हमें अपने से दूर ही रखता है। असंभाव्य घटनाओं की समस्त चित्रकारी गौतम बुद्ध के भक्तों की आदर्श प्रतिमा चमकाने में सफल अवश्य हुई, पर हम उन्हें अपने बीच से खो बैठे। पर यह न भूलना चाहिए कि शुक्लजी अर्नाल्ड के 'लाइट आव् एशिया' का अनुवाद कर रहे थे। उन्होंने कई स्थलों पर स्वतंत्रता का अवलंबन किया, पर वे इस सीमा तक बढ़ जाना कदाचित् उचित न समझते होंगे। 'बुद्ध चरित' में वेगवती रस की मस्ती नहीं है। अरूप को एकदम सरूप करके जो अव्यक्त के ऊपर श्रद्धा टिकाने के अभ्यास का प्रसार हो सकता था वह भी अवतारी उपासना के कारण न हो सका।

खड़ी बोली की कविता के क्षेत्र में शुक्लजी श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के आदर्शों से ही अधिक प्रभावित थे। द्विवेदीजी अँगरेजी कवि वर्डस्वर्थ की भाँति नित्य की

बोल-चाल की भाषा को ही कविता का श्रेष्ठ माध्यम समझते थे। अंतर केवल इतना है कि वर्डस्वर्थ जहाँ भी अपने आदर्श का मोह छोड़कर ऊपर उठा, केवल वहीं वह कवि के रूप में सफल हुआ है। अन्यत्र उसकी रचनाएँ केवल गद्य गान होकर रह गई हैं। परंतु द्विवेदीजी अपने आदर्श से चिपके रहे अतएव वे कुशल कवि नहीं हो सके। स्वयं शुक्लजी ने लिखा है कि द्विवेदी युग की रचनाएँ गद्यात्मक ही रहीं। शुक्लजी इसके अपवाद न थे। उनकी खड़ी बोली की रचना का कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"नगर से दूर कुछ गाँव की सी बस्ती एक
हरे भरे खेतों के समीप अति अभिराम ॥
जहाँ पत्रजाल अंतराल से झलकते हैं
लाल खपरैल, श्वेत छज्जों के सँवारे धाम ॥
बीचोबीच वटवृक्ष खड़ा है विशाल एक
झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटाएँ थाम ॥
चढ़ी मंजु मालती लता है जहाँ छाई हुई
पत्थर की पट्टियों की चौकियाँ पड़ी हैं श्याम ॥
भूरी हरी घास आस पास, फूली सरसों है
पीली-पीली विंदियों का चारों ओर है प्रसार ॥
कुछ दूर विरल, सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार ॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार ॥
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमंडल से
धुँधली सी नीली नगमाला उठी धुँवाँधार ॥
अंकित नीलाभ रक्तगर्भ श्वेत सुमनों से
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में ॥
फलियाँ हैं करतीं संकेत जहाँ मुड़ते हैं
और अधिकार न ज्ञान इस काल में ॥
बैठते हैं प्रीति भोज हेतु आस पास सब
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में ॥
हाँक पर एक साथ पंखों ने सराटे भरे
हम मेड़ पार हुए एक ही उछाल में ॥"

पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता, वर्णन की संकुलता, बिंबग्रहण के लिए पूरी चौकसी के साथ चित्रण, विभावन व्यापार की पूर्णता, ऊँची कविता के सभी लक्षण ऊपर की पंक्तियों में हैं। कवि की पैनी दृष्टि संदर्भ के किसी भी आकर्षण को छोड़ती नहीं। परंतु फोटोग्राफी ही तो कविता नहीं है। इतिहासकार युद्धों की तिथिवार तालिका यदि बिना रुके हुए गिनाता चला जाय तो भी एक कौतूहल और मनोरंजन होता है। हम उसकी मेधा की प्रशंसा करते हैं। हम शुक्लजी के चित्रों की भी द्रुत आनयन क्षमता पर प्रसन्न होते हैं। यहीं उनकी प्रखर कल्पना से साक्षात्कार होता है। द्रुत गति से अतीत के चित्रों को यथातथ्य बिठाये जानेवाली शक्ति ही को तो मेधा कहते हैं। परंतु इन पंक्तियों में वह हृदय की लपेट कहाँ है जिसके बिना स्वयं शुक्लजी केशव को 'हृदय हीन' कवि कहते हैं। बाह्य पदार्थों का मानसिक ज्ञान तो है पर हृदय के तल से भावनिधि में डूबकर ये पंक्तियाँ कहाँ निकली हैं? और देखिये—

"देख देव मंदिर पुराना एक बैठे हम
वाटिका की ओर वहाँ छाया कुछ आती है॥
काली पड़ी पत्थर की पट्टियाँ पड़ी हैं कई
घेर जिन्हें घास फेर दिन का दिखाती है॥

क्यारियाँ कहीं हैं लुप्त पथ में उठी हैं झाड़
बाड़ की न आड़ कहीं दृष्टि बाँध पाती है॥
नर ने जो रूप यहाँ भूमि को दिया था कभी
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है॥

मानव के हाथ से निकाले जो गये थे कभी
धीरे-धीरे फिर उन्हें लाकर बसाती है॥
फूलों के पड़ोस में मकोय बेर और बबूल
बसे हैं, न रोक टोक कुछ भी की जाती है॥

सुख के या रुचि के विरुद्ध एक जीव के ही
होने से न माता कृपा अपनी हटाती है॥
देती है पवन जल धूप सब को समान
दाख औ बबूल में न भेद भाव लाती है॥"

यहाँ भी तन्मयता का अभाव ही है। पंक्ति की पंक्ति इसी प्रकार की इति-

वृत्तात्मक मिलेंगी। जहाँ इतनी बातों को स्मरण रखने से चित्र पूरा हो गया है वहाँ भावाघ.त के धीमे होने से काव्य का पूरा रूप उनमें नहीं उतर सका। कहा जा सकता है कि रामायण में भी तो 'आगे चले बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक परवत नियराई' ऐसी इतिवृत्तात्मक पंक्तियाँ हैं। प्रबंध काव्य के भीतर ऐसी पंक्तियों का आ जाना क्षम्य है। सर्वत्र रस में डुबाये रखना किसी भी प्रबंधकाव्यकार के लिये संभव नहीं है। यह कथन नितांत सत्य है किंतु कृती चित्रकार विश्वविश्रुत मल्लप्रधान गामा के महान और पुष्ट आकार के साथ-साथ उसके अवयवों का गतिलाघव और क्षिप्र संचालन जब एक ही चित्र में प्रदर्शित करता है तो वह उसके दक्षिण प्रकोष्ठ में बँधा हुआ रक्षाबंधन भी दिखा दिया करता है। परंतु दर्शकों का ध्यान संचित शक्ति के अवतार के ऊपर ही टिका रहता है सूखे सूत्र की ओर नहीं जाता। उसी प्रकार कुशल प्रबंधकार कथानक को ढकेलनेवाले इतिवृत्तात्मक प्रसंगों को भी दो सरस प्रसंगों के बीच इस प्रकार जड़ देता है कि उन प्रसंगों की नीरसता का ध्यान आये बिना पाठक एक सरस प्रसंग से दूसरे सरस प्रसंग तक पहुँच जाता है। यही गोस्वामी जी की विशेषता है।

शुक्ल जी की ऊपर की पंक्तियों में अंतिम चार पंक्तियाँ निष्कर्षवाही पंक्तियाँ हैं। निष्कर्षवाही पक्तियों ही वास्तव में चिंतनशील पाठकों के लिए सब कुछ होती हैं। उन्हीं को काव्य का दर्शन कहते हैं। ऊँची चिंतन और गहरी तन्मयता का ग्रंथिबंधन ही अच्छे काव्य की विशेषता है। शुक्लजी की पंक्तियों का उथला विचार नीरस भावना के ऊपरी धरातल पर अंकुरित हुआ और मुरझा कर रह गया। आगे की पंक्तियों में रीतिकाल के कवियों का पूरा साज उपस्थित है—

"प्रखर प्रणय पूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की
ललक लपट भरी भूमि भभराई है।
पीवर पवन लोट-लोट धूलि धूसरित
झपट रहा है। बड़ी धूम की बँधाई है॥"

इन पंक्तियों में ब्रजभाषा के नाद सौंदर्य और वर्ण—माधुर्य का अवाहन किया गया है। खड़ी बोली के रंध्रों से पुरानी ब्रज बंशी बज रही है। पहली पंक्ति का अनुप्रास, 'ललक लपट' की लक्षणा और दूर का श्लेष, तीसरी पंक्ति में छेकानुप्रास की लड़ी यही इन पंक्तियों का चमत्कार है, फिर भी इन पंक्तियों में गद्यात्मकता नहीं है। जब जब शुक्लजी ब्रज की ओर झुके हैं तब तब उनकी पंक्तियों में रस एकत्रित हो सका है।

जिस युग में शुक्लजी ने खड़ी बोली को कविता के लिए अपनाया था उस युग में खड़ी बोली में अभिव्यंजना की अनेकरूपता न थी। वास्तव में बहुत से कलाकारों के सामुहिक और निरंतर प्रयोग से कोई भाषा बहुत काल में जाकर मँजती है, और तभी उसमें अभिव्यंजना की अनेकरूपता और सुकुमार भाव और विचार अच्छे ढंग से व्यक्त करने का सौकर्य आता है। वैसे भी शुक्लजी को काव्य क्षेत्र में वह स्थान प्राप्त न हो सका जो उन्हें साहित्य के दूसरे क्षेत्रों में प्राप्त हुआ है। इस दिशा में उनकी सेवाएँ गौण और साधारण हैं। कोई यह कदापि नहीं कह सकता कि उनका रुझान काव्य रचना की ओर न था परंतु उफनते हुए कवित्व को समेटे रहनेवाला व्यक्तित्व उन्हें प्राप्त न हो सका था। वे चिंतन प्रधान थे। वे काव्य के पैने पारखी थे, परंतु कविता से सृजन के लिए जिन भीतरी गहरे धक्कों की आवश्यकता होती है वे उनमें धीमे थे।

प्रबंधकार शुक्लजी

शुक्लजी ने बड़े-बड़े कई आलोचनात्मक प्रबंध लिखे हैं। उनमें साहित्य की विवेचना है। मनुष्य के प्रमुख मनोभावों पर भी उनके कुछ अच्छे निबंध हैं। किसी भी साहित्यिक कृति की समीक्षा करते समय समालोचक, को अन्य कृतियों के बीच में, कलाकार के व्यक्तित्त्व की छाया के भीतर, उसे देखता और दिखाता है। गुण दोषों का ताना बाना पूरते समय समीक्षक का ध्यान साहित्य सिद्धांतों की आदर्श रूपरेखा से हटता नहीं। वह आदर्श रूपरेखा देशी भी हो सकती है और विदेशी भी। कुशल समालोचक तो अपने महान् अध्ययन और अनुभव के बल पर समीक्षा सूत्रों को स्वयं प्रस्तुत करता है। उनमें देशी-विदेशी का झगड़ा नहीं होता। सर्वदेशीयता और सर्वकालीनता की छाप उन पर होती है। चिंतना का पूरा प्रयोग निष्कर्षों और सिद्धांतों के सामंजस्य के लिए परमावश्यक है। पर कविता की प्रेषणीयता परखने के लिए हृदय को छोड़ा नहीं जा सकता। उसे समय-समय पर उकसा कर पंक्तियों की कसौटी के लिए सजग रखना पड़ता है। अतएव साहित्य-समीक्षा के लिए लेखक को हृदय और मस्तिष्क का पूर्ण सोहाग स्थापित रखना पड़ता है। शैली में प्रज्ञात्मक और रागात्मक भेद का पालन करना असंभव हो जाता है।

परंतु मानव मनोभावों के ऊहापोह में प्रबंधकार को हृदय से एकदम हटकर मस्तिष्क पर ही टिकना पड़ता है। 'रागात्मक अभिव्यंजना का बहुत कम अवकाश रह जाता है। उसे तो पूरा-पूरा दार्शनिक बनना पड़ता है। मानव मनोभावों का

उसे शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों प्रकार का ज्ञान होना चाहिए । जिस मनोभाव को वह अपने प्रबंध का विषय चुनता है उसे पहले पहल साधारण सर्व सुबोध अर्थ के स्थूलतल से क्रमशः ऊपर उठाता हुआ नाना सूक्ष्म अर्थ भूमियों की स्पष्ट झाँकी दिखाता चला जाता है । उसकी व्याख्या और समीक्षा की पैनी दृष्टि से मनोभाव का कोई दुरूह से दुरूह संकेत अछूता नहीं रह पाता । जितनी प्रकार की अंतरदशाओं से उक्त मनोभाव का साम्य और वैषम्य है, जितनी मानसिक गतियाँ उस मनोभाव से परिचालित अथवा उसकी उपस्थिति से परिचालित होती है उन सब की सुलझी हुई व्याख्या मनोभाव के प्रबंध लेखक को देनी पड़ती है । इस महान् मानसिक चिंतन के लिए बुद्धि पर चेतनता का भारी बोझ पड़ता है जिसको सँभाल ले जाना अभ्यास से ही संभव है । सुलझी विचारधारा, तार्किक उतार चढ़ाव, दूर तक बिना थके ले जानेवाला सिलसिला, खुली हुई अर्थगुंफना, सब की एक साथ आवश्यकता पड़ती है । प्रस्तुत मनोभाव के कक्ष में यदि कहीं से घुस कर कोई भ्रांत धारणा बैठ गई है तो उसे भी ध्वंस करना पड़ता है ।

आजकल देखा गया है कि जीवन की अनेकरूपता में वादों की भी अनेकरूपता साथ-साथ चला करती है । जो जिस क्षेत्र के जिस वाद का पोषक है वह उस वाद विशेष का विस्तार और पोषण सब से चाहता है । किसी मनोभाव के विश्लेषण में भी यह आसक्ति काम करती रहती है । एक अध्यात्मवादी मानव प्रवृत्तियों और मनोभावों में एक अलौकिक और आध्यात्मिक प्रेरणा की सूचना देना अपना कर्तव्य समझेगा । प्रवृत्ति विशेष के कारण को भौतिक और लौकिक व्यवस्थाएँ पूरा-पूरा समझा नहीं सकतीं, ऐसा उसका विश्वास होता है । दूसरी ओर भौतिकवादी किसी भी मनोभाव की नाना प्रवृत्तियों की संगति बैठाने के लिए विश्लेषण करते समय इन्हीं लौकिक और भौतिक आधारों को ही सब कुछ मानकर उन्हें खोजता है । इतरलोक प्रभाव के झमेले को वह भ्रम समझता है । ईश्वरवादी नास्तिक, धार्मिक और अधार्मिक, सभी लोग अपने वाद की ओर अपनी व्याख्या को घसीटते हैं । परंतु एक सच्चा दार्शनिक जिस मनोभाव की भी व्याख्या करता है, उसे इन इकंगे आक्रमणों से बचाये रखता है । वह तो उसका सच्चा निस्पृह चित्र खींचता है । पं० रामचंद्र शुक्ल के प्रबंधों से पता चलता है कि उनमें निष्पक्ष और निर्मल बुद्धि प्रचुर मात्रा में थी । इसीलिए उनके प्रबंध बहुत सुंदर बन पड़े हैं । हिंदी में ही नहीं, दूसरी भाषा में भी ऐसे प्रबंध बड़ी कठिनता से मिलेंगे ।

पहिले भाग में प्रथम दस प्रबंध 'भाव या मनोविकार', 'उत्साह', 'श्रद्धा', 'भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा' और 'ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय', 'क्रोध' पर हैं, अन्य प्रबंध साहित्य की आलोचना पर हैं। 'कविता क्या है?' 'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र', 'तुलसी का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्म भूमि', 'काव्य में लोक मंगल की साधना', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' पर शेष निबंध लिखे गये हैं। मानव मनोभावों पर जितने प्रबंध लिखे गये हैं उनकी भाषा सरल, विचार गहन परंतु बोधगम्य हैं। शैली पूर्ण प्रज्ञात्मक है। तद्भव शब्दों से ही काम अधिकतर चलाया गया है। मनोभावों की समीक्षा अथवा व्याख्या-विस्तार में सहेतुकता और सामंजस्यपूर्ण शृंखला है। एक ही विचार को अच्छी प्रकार समझानेवाले एक कुशल अध्यापक की भाँति कई बार कहने के कारण पुनरुक्ति अवश्य हो गई है। पर वह खटकती नहीं। बुद्धि बिना प्रयास के समझती चलती है। मनोविज्ञान का शास्त्रीय ज्ञान और मानवता का मनोभावात्मक व्यापक और गहरा अनुभव और उसके व्यवहार पक्ष की पूरी जानकारी सब शुक्लजी में प्रचुर मात्रा में थी। उन्होंने मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण विज्ञान, दर्शन शास्त्र इत्यादि की नयी देशी-विदेशी कृतियों को ध्यानपूर्वक पढ़ा था और मनोभावों की क्रीड़ाभूमि मनुष्य को भी नेत्र खोल कर परखा था। साहित्य के आलोचनात्मक प्रबंधों में चिंतामणि में कोई नवीनता नहीं। जिन विषयों पर, विस्तार के साथ, प्रबंधों के रूप में, अलग अलग लिखा गया है उन सबका मूल रूप और संक्षिप्त प्रकरण उनके साहित्य के इतिहास तथा उनके आलोचना ग्रंथों में मिल जायगा।

'कविता क्या है?' इस प्रबंध की कुछ पंक्तियाँ आगे दी जाती हैं—

"जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ संचार, मकरंदलोलुप मधुप गुंजार, कोकिल कलित निकुंज और शीतल सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिंदु मंडित मरकताभ शाद्वल जाल, अत्यंत विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं वे तमाशबीन हैं। सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"

शुक्लजी के ये विचार अधिक संयत या नियंत्रित नहीं। विषयी साधारणतया वह कहलाता है जो विषयों—मूर्त पदार्थों—के इंद्रिय सुख को भोगने में आनंद लेता

है। परंतु व्यापारों के आकर्षक स्वरूपों से प्रभावित होना और उनके भावपूर्ण रूपों का परिचय करना इंद्रिय संभोग सुख की लालसा कदापि नहीं है। किसी भी उद्दीप्त मनोभाव के मेल में जगत-गति कैसे चलती है, अशेष और शेष का समन्वय कैसे होता है, यह स्थूल इंद्रिय परायणता से पृथक् वस्तु है। वैसे तो यह भी कहा जा सकता है और कहा भी गया है कि समस्त काव्य कामुकता के विस्फोट का रूप है। भाव, रस अथवा संगीतसौंदर्य की संकुलित चोट व्यक्ति के भाव रूप पर पड़ती है इंद्रियों में मंथन उत्पन्न नहीं करती। भाव जगत की भड़भड़ एक दूसरे जगत् की क्रांति है। उसे भोग्य वस्तु से उत्पन्न हुई इंद्रियों की ऐंठन न समझना चाहिए।

सीताहरण को देखकर कोई परस्त्री को चुराने नहीं दौड़ पड़ता और न अभिज्ञानशाकुंतल का अभिनय देखकर कोई प्रणय व्यापार आरंभ कर देता है। और फिर जिन रूप व्यापारों की योजना शुक्लजी ने अपने वाक्यों में ऊपर की है उनमें तो किसी प्रकार का अशुद्ध और अमंगल जीवन व्यापार भी नहीं है।

उनकी आगे की उक्ति पर थोड़ा ध्यान दीजिए। शुक्लजी निसर्ग की भद्रता, विचित्रता, भव्यता, व्यापकता के रूप व्यापारों के प्रति तल्लीनता में रमण करनेवालों को तमाशबीन समझते हैं। उन्हें सच्चे भावुक या सहृदय नहीं समझते। कोई पूछे क्या औत्सुक्य एक भाव नहीं है? क्या अद्भुत एक रस नहीं है? क्या मानव-जीवन को अपने आस-पास से ऊब कर निसर्ग में रमण करने का अधिकार नहीं है? तन्मयता की निधियों को अपनी दुनिया की उपमाओं से तौल कर कुछ कहना भी उसके लिए मना है; और फिर सर्वत्र कुछ इने-गिने रसों की उपलब्धि के लिए परेशान रहना सच्ची काव्य मर्मज्ञता तो नहीं है। भाव की उद्दीप्ति अधिक बढ़कर स्थायी भाव हो जाती है और उसी की पकी हुई स्थिति रस है। सर्वत्र इसी पके हुए रूप तक पहुँचना संभव नहीं। किसी भाव विशेष पर आघात करनेवाली, किसी स्थायीभाव की झाँकी दिखा देनेवाली, अथवा किसी चमत्कार के वाहन पर चढ़कर प्रसन्न कर देनेवाली उक्ति क्या किसी प्रकार का मनोरंजन नहीं करती? फिर उसे योंही टाल देना कहाँ तक उचित है?

पुराने आचार्यों ने मनोरंजन को भी काव्य का लक्षण माना है। रस तक प्रत्येक उक्ति पहुँचे बिना कविता नहीं हो सकती, यह भावना कविता की गंभीरता और गुरुत्व को उतना नहीं बढ़ाती जितना उसके क्षेत्र को सीमित कर देती है। शुक्लजी की समीक्षा-प्रणाली का यह तर्क खटकता है। इस स्थल पर दोनों वाक्यों में 'ही' का प्रयोग बहुत कुछ शुक्लजी के विचारों को सँभाल लेता है। पर ऐसा कदाचित् ही

कोई कवि हो जो इन्हीं वस्तु व्यापारों को बैठा बैठा कर गिनाया क ः। शुक्लजी के इन उद्गारों में वर्तमान कविता की बाह्य रचना और चमत्कारपूर्ण प्रबंध गुंफना के प्रति रोष झलकता है। यही उनकी अतिरंजना का कारण है।

इतिहासकार शुक्लजी

इतिहास लेखक भी एक निर्मल समीक्षक होता है। शुक्लजी की आलोचना शक्ति ने उन्हें हिंदी साहित्य का उत्तम इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ किया है। युग की प्रेरित और प्रेरक प्रवृत्तियों का सामंजस्य, साहित्य की विभूतियों की गतानुगति की परंपरा के सहारे स्थापित करना ही साहित्य का इतिहास है। अपने रुचि विशेष के कवि को उसकी समस्त आसपास की आलोक परिधि के भीवर देखना और दिखाना उसकी आलोचना प्रस्तुत करना है, परंतु उसकी निज की सीमा को सब ओर से नाँघ जाना और दृष्टि को इतने विस्तार के साथ व्यापक आकाश पर फैला देना कि अपना कवि और अनेक कवियों की लड़ी में नील पत्रक पर चमकता दिखाई दे, साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करना है। ऐसी परिस्थिति में कोई अपना नहीं रह जाता और सब अपने हो जाते हैं।

शुक्लजी के पास यह निर्मोही मोह था। उनकी दृष्टि बड़ी शुद्ध, सहानुभूति-पूर्ण और उदार थी।

हिंदी साहित्य का काल विभाग उनका नितांत मौलिक है। उन्होंने योंही विभिन्न वर्गों को खड़ा नहीं किया। हिंदी साहित्य की समस्त प्रवृत्तियाँ उनकी खूब परखी हुई हैं। नये संस्करण में उन्होंने राहुल सांकृत्यायन और काशीप्रसादजी जायसवाल की खोज को अपना कर अपने इतिहास को समीचीन बना दिया है।

हिंदी साहित्य के भक्त काल की जैसी उत्तम और सुबोध व्याख्या शुक्लजी ने दी है वैसी अन्यत्र न मिलेगी। निर्गुण और सगुण भक्ति धारा दोनों का इतिहास बड़ा विद्वत्तापूर्ण है। राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का जन्म किस प्रकार हुआ उसकी भी अनूठी चर्चा है। रीति युग के कलाकारों का ऊहापोह भी सुंदर है। ये कलाकार आचार्य-काव्य के कलापक्ष को उदाहृत कर देने में कहाँ तक सफल और विफल हुए हैं इसका भी बड़ी विद्वत्ता के साथ प्रतिपादन है। हिंदी गद्य का इतिहास प्रस्तुत करने में भी समस्त सामग्री का बड़ी सावधानी से प्रयोग किया गया है।

उनके साहित्य में यदि कहने की कहीं गुंजाइश दिखाई देती है तो वर्तमान काल की व्याख्या में। रुग्ण और जर्जर शरीर, वृद्धावस्था और अध्यापक का व्यस्त कार्यक्रम,

उन्हें अधिक अध्ययन करने से अवश्य रोकता होगा। पर कारण एक और भी था।
हिंदी कविता के छायावादी रूप से, आरंभ से ही, शुक्लजी सहयोग न कर सके। यह
कविता जितनी पुरानी है उतना ही उनका विरोध भी पुराना है। उनका विरोध कुछ
सीमा तक उचित भी था। उक्तिवैचित्र्य की ऊटपटांग नक्काशी खोद कर उसे ये नये
कवि कविता के नाम से पुकारने लगे थे। इसे छायावाद का नाम दे दिया गया था।
छायावाद के प्रकृत रूप से ये लोग बहुत दूर थे। शुक्लजी ने इसी से छायावाद के
खिलौनों को पहले खिलवाड़ बतलाया और फिर कुछ इकंगे होकर रहस्यवाद के पीछे
पड़ गये। जायसी की भूमिका में जिस रहस्यवाद की प्रशंसा उन्होंने की है उसी
रहस्यवाद को इधर के कवियों के अपना लेने के कारण बुरा-भला कहा है। हिंदी में
रहस्यवाद नामक अपनी पुस्तिका में विदेशी समालोचकों के रहस्यवाद विरोधी
अवतरणों को देकर रहस्यवादी कविता को ध्वंस करने का प्रयास किया है। हिंदी
साहित्य के नये संस्करण में उनके विचारों की कट्टरता यद्यपि उतनी नहीं रह गई
फिर भी स्थान-स्थान पर छायावादी कवियों की खूब खबर ली गई है। कुछ उदाहरण
देखिए—

"बहुत से नये रसिक प्रस्वेद गंधयुक्त चिपचिपाती और भिनभिनाती भाषा
को ही सब कुछ समझने लगे हैं।"

"ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-
उधर मिलने लगे।"

"छायावाद और कलावाद के सहसा आ धमकने से वर्तमान काव्य का बहुत सा
अंश एक बँधी हुई लीक के भीतर सिमट गया।"

"प्रसादजी का ध्यान शरीर विकारों पर विशेष जमता है।"

संभव है शुक्लजी को छायावादी कवियों को पूरा-पूरा पढ़ने और उनकी निर्मा-
ण क परंपराओं को पूरा-पूरा परखने का अवकाश न रहा हो। पर यह आवश्य है कि
उनके बँधे हुए निष्कर्ष झुकना नहीं जानते। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा
'नवीन', अज्ञेय, आरसीप्रसाद, बच्चन, रामकुमार वर्मा और बहुत अंशों में उदयशंकर
भट्ट को सूक्ष्मता और ध्यान से पढ़ने का उन्हें अवकाश नहीं मिला और यदि मिला
भी तो एक चलताऊ ढंग का। इस काल के नाटकों, उपन्यासों, छोटी कहानियों, गद्य-
गीतों, एकांकी नाटकों का भी उनका पूरा-पूरा परिचय न था, नहीं तो उनकी
व्यापक चर्चा मिलती। वर्तमान युग के पुष्ट शैलीवाले प्रबंध रचयिता माखनलाल
चतुर्वेदी, स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी, कृष्णकांत मालवीय, बनारसीदास चतुर्वेदी,

रामनरेश त्रिपाठी, जैनेंद्रकुमार के प्रबंधों को जिसने पढ़ा है वह उनकी चर्चा उचित रूप से कैसे न करेगा ? स्वर्गीय रामदास गौड़ तो बनारसी होकर भी इतिहास में स्थान न पा सके, यह आश्चर्य की बात है। 'विज्ञान' की हिंदी सेवा की हैसियत से न सही, पर उन्होंने दर्जनों प्रबंध नितांत साहित्यिक शैली में लिखे हैं। विषय यद्यपि उनका वैज्ञानिक हो रहा है। उनका 'भुनगा-पुराण' हिंदी साहित्य का अनुपम रत्न है। उन्होंने वैज्ञानिक विषयों पर अनेक कविताएँ भी लिखी हैं जो द्विवेदी युग की गद्यात्मक रचनाओं से बुरी नहीं हैं। गौड़जी को इतिहास में उचित स्थान अवश्य मिलना चाहिए था।

शुक्लजी कुशल आलोचक थे। थोड़ों का थोड़ा भी पढ़कर वे एक ऐसी पृष्ठभूमि खड़ी कर देते थे कि जिसमें निष्कर्षों के सबल प्राण निवास कर सकें। उससे विपरीत अथवा पृथक् सोचना कठिन ही नहीं असंभव था। अपनी बनाई हुई पोशाक कवि को पहना कर फिर उसकी तस्वीर खींचना शुक्लजी खूब जानते थे। पुराने समय के साहित्य के इतिहास में संत-साहित्य को समझाते समय जहाँ शुक्लजी ने उसके आध्यात्मिक महत्त्व और पवित्र धर्म विधान को सहानुभूति के साथ समझाने का प्रयास नहीं किया, केवल भाषा के दोष, विचारों के पिष्टपेषण और लोकबाह्य उपदेशों की ही निंदा करते रहे, वहाँ दूसरी ओर नितांत अनिवार्य आवश्यकताओं की कमी को भाग्य के बहाने टाल देने की बात और अत्यंत प्रयोजनीय आर्थिक वर्ग संघर्ष से बचाववाद-वाले सिद्धांत के प्रतिकूल भी कुछ नहीं कहा। शोषकों के शोषण के लिए संतों ने भाग्यवाद से पूछकर आध्यात्मिक मुहर लगा दी। "हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ" चाहे शुक्लजी के आराध्य तुलसी ने ही क्यों न कहा हो इसकी खुलकर आलोचना होनी चाहिए थी।

'रीति काल' का नाम रीति काल क्यों रक्खा गया यह भी समझ में नहीं आता। "विशिष्ट पद रचना रीतिः" वामन की उक्ति है, परंतु रीतिकाल के अंतर्गत केवल रीतियों की ही व्याख्या थोड़े ही है। अधिकतर तो अलंकार, रस, नायिका भेद, छंद इत्यादि की व्याख्या मिलती है। इस स्थल पर कोई अधिक व्यापक शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। शुक्लजी ने इस युग के अंतर्गत आए हुए कवियों का उचित सम्मान नहीं किया। चमत्कार और उक्तिवैचित्र्य का मनोरंजन भी अह्लादकर होता है। केवल रस को ही सब महत्त्व दे डालना संस्कृत साहित्य से बड़े भाग को निकाल फेंकना है।

'पृथ्वी राज रासो' की प्रामाणिकता के प्रतिकूल पर्याप्त प्रमाण देने पर भी उसे शुक्लजी वीर गाथा काल से हटा नहीं पाये। ओझाजी की उक्तियों को भी निरा-

धार प्रमाणित नहीं कर सके। इतिहास में ऐसे और भी अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ शुक्ल-जी के निष्कर्ष की ईमानदारी तो दिखाई देती है पर सच्चाई का अभाव है।

शुक्लजी के साहित्य के इतिहास के नये संस्करण में तद्भव शब्दों के लिखने की बान कई स्थलों पर मिलती है। "गड़बड़झाला" शब्द कई बार आया है। भाषा और वाक्य भी कहीं-कहीं पर ढीले हैं। मालूम यह होता है कि नये संस्करण का नया भाग बड़ी शीघ्रता में लिखा गया है। साहित्य के इतिहास का सबसे बड़ा गुण होना चाहिए उसकी संक्षिप्त शैली। पोथा-पंथी इतिहास नहीं। घटनाओं और व्यक्तियों का आजायबघर भी इतिहास नहीं। चुने हुए कुछ चुस्त वाक्यों में निष्कर्षों को, चाहे वे व्यक्ति के संबंध में हों चाहे प्रवृत्तियों के संबंध में ज्ञानकोष (Encyclopedia) की रचना की ऐसी संकेतात्मक पद्धति में व्यक्त करना चाहिए कि वे वाक्य पाठकों के कंठ में बस जायँ। शुक्लजी इस ढंग को सर्वत्र नहीं निभा सके, नहीं तो उनका इति-हास बेजोड़ हो जाता।

जायसी और शुक्लजी

मलिक मुहम्मद जायसी पर शुक्लजी ने जो आलोचना लिखी है वह उनकी सब आलोचनाओं में श्रेष्ठ है। वैसे शुक्लजी ने तुलसी पर आलोचना लिख कर बड़ी प्रशंसा प्राप्त की है और वास्तव में तुलसी विषयक समीक्षा बहुत सुंदर आलो-चना ग्रंथ भी है। परंतु शुक्लजी की ख्याति-प्रसार का कारण गोस्वामी तुलसीदास की जनप्रियता भी बहुत है। तुलसीदासजी की रामायण न जाने किस समय से हिंदू जनता का प्रिय ग्रंथ बना हुआ है। धर्म ग्रंथ की भाँति उसे लोग पढ़ते और सुनते हैं। गोस्वामीजी की इसी लोकप्रियता से शुक्लजी की आलोचना का खूब प्रचार हुआ और उनकी कीर्ति फैली। फिर यह भी निस्संकोच कहा जायगा कि आलोचना के तत्त्वों के आधार पर जितनी अच्छी साहित्य समीक्षा जायसी की बन पड़ी है उतनी और किसी कवि की नहीं बन पड़ी। स्थान-स्थान पर पाद टिप्पणियाँ देकर जायसी के संपा-दित ग्रंथों की उपयोगिता बढ़ा दी गई है। २७१ पृष्ठ की भूमिका स्वयं एक स्वतंत्र ग्रंथ है। उच्छ्वासों का वैज्ञानिक ढंग से विभाजन किया गया है। प्रेममार्गी कवियों की प्रेरणा वाली समस्त परिस्थितियों का परिचय ऐतिहासिक ढंग से कराया गया है। जायसी का जीवनवृत्त ऐतिहासिक खोज के आधार पर निर्माण किया गया है। कथा का कितना भाग ऐतिहासिक है और कितना काल्पनिक, वर्णनों में कितनी वास्तविकता है और कितनी ऊहा, यह भी खोल कर रख दिया गया है। समस्त कहानी का लक्ष्य

लोक-कर्तव्य न होकर साहस, दृढ़ता, वीरता, प्रेमोन्माद का निदर्शन करना है। इसके भीतर रत्नसेन की प्रेमकथा का दार्शनिक चित्रण है। वस्तु वर्णन अद्वितीय है। नाना रसों को व्यक्त करने वाली उक्तियों को भी शुक्लजी ने बड़ी मार्मिकता से एकत्र किया है। अलंकारों की मीमांसा, सूफीमत की व्याख्या, रहस्यवाद का इतिहास और जायसी का उसका निर्वाह ये प्रकरण तो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण हैं। हिंदी में इनकी समता नहीं की जा सकती। शुक्लजी की भाषा प्रवाहपूर्ण और बोलती हुई है। जायसी की भ्रांतियों को भी दिखलाया गया है।

यह अवश्य है कि कहीं कहीं शुक्लजी किसी विचार विशेष को अपने ढंग से समझाने की धुन में तर्क विस्तार का इतना अधिक आश्रय लेते हैं कि निर्मित पृष्ठ भूमि अतिरंजित दिखाई देती है। जायसी के प्रेम विधान के वर्गीकरण का प्रयास भी इसी प्रकार का है। वास्तव में चार प्रकार के वर्गीकृत प्रेम में दूसरे और चौथे में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। प्रेम का एकंगा रूप भारतीय साहित्य की विशेषता नहीं है। यहाँ तो उभयपक्ष की समान तीव्रता सर्वत्र मिलेगी। जायसी के प्रेम को प्रेम-साधना की एकांत भूमि से उतार कर उसमें लोकपक्ष के परमाणुओं को ढूँढ़ना बुद्धि का अपव्यय है। शुक्लजी एक स्थल पर कहते हैं—

"इश्क की मसनवियों के समान पद्मावत लोकपक्ष शून्य नहीं है।"

आगे कहते हैं—

"कवि ने जगह-जगह पद्मावती को जैसे चंद्र, कमल इत्यादि के रूप में देखा है वैसे ही उसे प्रथम समागम से डरते हुए सपत्नी से झगड़ते और प्रिय के अनुकूल लोकव्यापार करते भी देखा है। राघव चेतन के निकाले जाने पर राजा और राज्य के अनिष्ट की आशंका से पद्मावती उस ब्राह्मण को अपना खास कंगन देकर संतुष्ट बनाना चाहती है। प्रेम का लोकपक्ष कैसा सुंदर है।"

विचारों में घोर अतिरंजना है। राघव चेतन को कंगन देने का अभिप्राय पति को अनिष्ट से रक्षित रखने का था और प्रिय की रक्षा की भावना प्रेम का व्यक्तिपक्ष ही है लोकपक्ष नहीं। प्रेम का लोकपक्ष व्यक्पिक्ष से अधिक पूज्य है यह लेकर चलने वाले शुक्लजी जायसी को उठाने के लिए राघव चेतन का उदाहरण ढूँढ़ते हैं। ऐसा उदाहरण भी समस्त कथा में अकेला ही है।

'पद्मावत' के अंत में जायसी ने समस्त कथानक को एक अन्योक्ति बताया है। कथा के पात्रों की संगति भी उसके साथ बैठाई गई है। पर कथा के समस्त प्रसंग इसके व्यक्त और एकपक्षीय हैं तथा अभिधेयार्थ का इतना अधिक सहारा लिया गया है

और ऐहिक उपादानों का इतना खुला हुआ प्रयोग हुआ है कि यत्र-तत्र व्यक्त से अव्यक्त की झाँकियाँ दिखा देने से कथा अन्योक्ति नहीं कही जा सकती है। इधर-उधर के प्रयोगों के अनुसार समासोक्ति और अन्योक्ति दोनों प्रयोगों के रूप मिलेंगे। बात यह है कि कथा लिखने के पश्चात् उसकी पार्थिवता के प्रायश्चित के लिए अन्योक्ति की ध्वनि निकालना जायसी की बाद की सूझ है। कथा लिखने के पहले यह भावना न थी। यदि ऐसा होता तो मंगल का लक्ष्य लेकर वस्तु विस्तार किया जाता।

जायसी एक दक्ष प्रबंधकार हैं यह भी कहना ठीक नहीं। इस संबंध में भी शुक्लजी ने जायसी का पक्षपात किया है। यद्यपि स्वयं उन्हें ऐसे उदाहरण देने पड़े जिनके कारण कथा सीधा मार्ग छोड़कर विषमताओं में जा गिरी है। केवल मुट्ठी भर परिस्थितियाँ भी औत्सुक्य को उकसाने की क्षमता के साथ खोली नहीं जा सकीं। मार्मिक स्थलों का आनयन भी सर्वत्र कुशलता के साथ नहीं किया गया। स्वभावचित्रण में जायसी और भी कच्चे हैं। स्वयं शुक्लजी कहते हैं—

"आरंभ ही में हम यह कह देना अच्छा समझते हैं कि जायसी का ध्यान स्वभावचित्रण की ओर वैसा न था।"

फिर भी रत्नसेन के चरित्रचित्रण में चरित्रविधान के चार रूप बनाकर खड़ा करना अनावश्यक सा प्रतीत होता है। जायसी के निर्बल पात्रों को सबल बनाने का प्रयास पक्षपातपूर्ण है। परिस्थिति में बेमेल चलने वाले उनके अस्वाभाविक पात्र किसी प्रकार भी कलात्मक नहीं कहे जा सकते। अंत में स्वयं शुक्लजी को कहना पड़ा—

"सामान्यत: यही कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण जायसी में बहुत कम है।"

वास्तव में बात यह है कि जायसी की कथावस्तु क्षीण और शिथिल है। पात्र सीधे खड़े नहीं हो सकते। वे लड़खड़ाते हैं। एक कुशल प्रबंधकार सुंदर नाना मनोरम परिस्थितियों को सामने रखते हुए घटनाओं और वर्णनों की सामंजस्यपूर्ण संकुलता से छलकती हुई कथावस्तु को औत्सुक्य की बलवान पटरियों पर वेग से आगे बढ़ाता जाता है। वह विषम अध्ययन और जगतगति की व्यापक अनुभूति द्वारा अपने अंत:करण में निर्मित मौलिक रूपों को ही सशक्त पात्रों के रूप में बाहर रखता है, जो भुलाये नहीं भूलते और मिटाये नहीं मिटते। वह जीवन के गहरे तलों का घात-प्रतिघात गंभीरता, सरसता और मनोरंजकता के साथ सहगामिनी और विरोधगामिनी वृत्तियों के मेल में सामने रख देता है। ऐसा कलाकार इस जीवन और अतींद्रिय जगत की भाव-विभोर झाँकियाँ ही सामने नहीं रखता। वह समस्त आकांक्षाओं और चिंतनाओं को

उकसा दिया करता है। उसकी शैली में शब्दों का बोझ और मृदंग का सारहीन नाद नहीं रहता। आघातप्रेषणीयता और अर्थरमणीयता भी सूक्ष्म ध्वनियों के सहारे उत्पन्न हो जाती है। यदि कोई आज के इस प्रबंध सौकर्य के तत्त्वों के सहारे जायसी का निरीक्षण करेगा तो उनके साथ न्याय नहीं कर सकता।

शुक्लजी ने जायसी की बहुत सी पंक्तियों को सूक्तियों के नाम से काव्यक्षेत्र से अलग कर दिया है। ये पंक्तियाँ रस सिक्त न होकर भी रमणीय अर्थ प्रतिपादन कर सकती हैं। सूक्तियों को यदि सच्चे काव्य से बाहर कर दिया जाय तो उसका क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो जायगा। दूर की सूझ वाली मनोरंजनप्रधान पंक्तियाँ जहाँ तक वास्तविकता की महीन से महीन डोर से तनी रहती हैं वहाँ तक काव्य के ही अंतर्गत आयेंगी।

जायसी की भूमिका में कई ऐसे प्रकरण हैं जो स्वतंत्र प्रबंध हैं। अनेक निष्कर्ष अवश्य यत्र-तत्र जायसी द्वारा उदाहृत है। 'मत और सिद्धांत', 'अलंकार' तथा 'जायसी का रहस्यवाद' ऐसे ही प्रकरण है। जितनी विद्वता के साथ इन विषयों का प्रतिपादन और इनकी प्रतिष्ठा हुई है उससे इनकी पृथक और एकांत स्थिति का आभास स्पष्ट मिल जाता है। इसलिये समूची पुस्तक के बीच ये अकेले खड़े हुए से दीखने लगते है। परंतु यदि इन विद्वत्तापूर्ण प्रसंगों को निकाल दिया जाय तो पुस्तक का कलेवर बड़ा ही छोटा पड़ जायगा।

जायसी पर शुक्लजी का बड़ा आभार है। ठेठ पूर्वी अवधी के उनके ग्रंथ वैसे ही आजकल अधिकांश हिंदी-भाषियों के लिए सुबोध नहीं। यदि शुक्लजी की उत्तम आलोचना ने जायसी के प्रति लोगों का ध्यान न खींचा होता तो कोई इस कवि को पढ़ने का कष्टसाध्य प्रयोग न करता। भाषा के कारण ठेठ अवधी प्रांत के रहने वालों को छोड़कर उनकी पुस्तकें सभी के लिये कठिन प्रतीत होतीं। इधर खड़ी बोली का गद्य और पद्य में प्रसार बढ़ गया है और घर में कालेज और स्कूल की पढ़ी गृहलक्ष्मियों के आ जाने से स्वयं अवध से यह बोली बहिष्कृत है। ब्रजभाषा के पुराने ग्रंथों का भी यही हाल है। एक रामायण अपनी लोकप्रियता के कारण कुछ सँभली हुई है। पर आज के कालेज के विद्यार्थी अवधी और ब्रज को पढ़ते समय प्रत्येक क्रियापद और शब्द का अर्थ बिना लिखे नहीं समझ पाते। पंद्रह वर्ष पूर्व यह बात न थी। यदि शुक्लजी ने जायसी के लिये इतना महान प्रयास न किया होता, तो जायसी चंदवरदाई की भाँति अलमारियों में ही सजे रह जाते।

सूरदास और शुक्लजी

सूरदास के काव्य पर शुक्लजी ने बहुत ही सुलझा हुआ और ७७ पृष्ठों का संक्षिप्त प्रबंध 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका के रूप में लिखा है। इसके अतिरिक्त यदि उन्होंने और कुछ सूर पर लिखा हो तो वह मेरे देखने में नहीं आया। इधर यह सुना था कि उनका दो सौ पृष्ठों का एक ग्रंथ सूर पर अप्रकाशित पड़ा है। प्रकाशित भूमिका में बड़ी सुंदरता के साथ उन्होंने हिंदी में गीतकाव्य की अवतारणा की रूपरेखा समझाई है। सूरदास के काव्य को समस्त मानसिक परिस्थितियों की व्याख्या अच्छे उदाहरणों के साथ की है। बालकाल और यौवनकाल के रूप को लेकर कृष्ण की नाना लीलाओं और क्रीड़ाओं को सूक्ष्मता से और कोमलता से सूर ने किस प्रकार दिखाया है यह भी बड़े अच्छे ढंग से शुक्लजी ने लिख दिया है। सूर के काव्य की समीक्षा में शुक्लजी का बहुत स्पष्ट यह कह देना कि लोक-संग्रह के प्रदर्शन में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई नितांत उचित है। यदि सूर रामायण के कुछ उदाहरण भी इसके लिए दे देते तो और अच्छा होता। वैसे तो कृष्ण के स्वभाव और रूप-चित्रण में भी उस ओर उनका ध्यान नहीं गया। भाषा के मधुर और कोमल उदाहरण, भावों के सुकुमार तंतु, परिस्थिति की रमणीयता के सुंदर-सुंदर उदाहरण देकर कुशल आलोचक ने सूर के प्रति हिंदी भाषा-भाषियों का ध्यान खींचकर बड़ा उपकार किया है।

एक सच्चे तथ्य निरूपक की भाँति सूर के काव्य में उन्होंने बहुत से भरती के पद, निरर्थक शब्द, पाद पूर्ति की बेढंगी विधि, वाक्यशिथिलता, उबा देनेवाली आवृत्ति को भी निहारा है। पर उन्होंने कूटों और अलंकारों की कट्टर योजनाओं, केवल रूप सादृश्य और चमत्कार वाले रूपकों और अश्लील निबंधनाओं के उदाहरण न देकर सूर के प्रति अश्रद्धा नहीं उत्पन्न होने दी। यह बहुत अच्छा किया। रासलीला, मानलीला, चीरहरण लीला आदि कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनके कारण भगवान का असली रूप समझने में इस युग के बड़े-बड़े सतर्क भक्तों को भी दिक्कत होती है और वैष्णवों को भी उन लीलाओं को अन्योक्ति के ताने-बाने में सजाना पड़ता है। शुक्लजी ने ऐसा कोई प्रयास नहीं किया। यह विषय उनकी समीक्षा से अछूता रहा। यह भी अच्छा है।

शुक्लजी सूर को तुलसी की अपेक्षा अधिक साम्प्रदायिक समझते हैं। कारण यह है कि उनका ग्रंथारंभ गणेश की वंदना से स्मार्त वैष्णवों की भाँति नहीं होता। शुक्ल-

जी का कहना है कि तुलसी अपने सब ग्रंथों का आरंभ गणेशवंदना से करते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि तुलसी के ग्रंथों को बड़े मनोयोग से पढ़कर भी उन्होंने यह कैसे लिख दिया कि उनके सब ग्रंथ गणेश की वंदना से आरंभ होते हैं। और फिर अपने उपास्य के ध्यान और नाम से ग्रंथ आरंभ करना कोई कट्टरता नहीं। तब तो बिहारी जैसे रसिक कवि भी राधा नागरी की आराधना करने के कारण साम्प्रदायिक हो जायँगे। सूर के संबंध में यह न भूलना चाहिए कि कृष्ण के रूप में इन्होंने विष्णु की ही आराधना की है। तुलसी के लिए तो यह भी कहा जा सकता है कि—

"का बरनौं छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेउ हाथ।।"

पर राम कृष्ण के भेदवाली ऐसी कोई कट्टरता का प्रमाण सूर के प्रसंग में प्रसिद्ध नहीं है।

शुक्लजी ने एक स्थल पर उन तीन कारणों को बतलाया है जिनके कारण मानस में स्थान-स्थान पर गोस्वामीजी जो राम में देवत्व का आरोप करते चलते हैं उसका निराकरण हो जाय। वास्तव में शुक्लजी की यह एक बड़ी कष्टसाध्य कल्पना है। यह बात नहीं। जैसा शुक्लजी ने लिख दिया है, कि मानस के अतिरिक्त अन्यत्र देवत्व का आरोप गोस्वामी जी ने किया ही नहीं। देवत्व का आरोप सूर ने भी स्थान-स्थान पर किया है।

भक्ति के आवेश को न रोक सकने के लिए भगवान् की मूर्ति अक्षुण्ण रखना इन दोनों कवियों के लिए चाहे जितना आवश्यक रहा हो, पर काव्य-कला के साथ ही इसकी संगति कठिनता से ही बैठेगी।

शुक्लजी ने वात्सल्य और शृंगार के दोनों रूपों की ओर सूर की दृष्टि को अधिक परखने की कोशिश की है। इसी से और प्रबल भाव छूट गये हैं। दैन्य, प्रणति, आत्मनकार, आत्मोत्सर्ग, विनय, आत्मग्लानि, भगवान् कृष्ण का एकाकी सहारा, अपने घोर पापी रूप का स्पष्ट साक्षात्कार, आत्मनिरीक्षण आदि न जाने भक्ति-भावना की कितनी ऊँची अभिव्यंजनाएँ गोपियों और कृष्ण के संयोग-वियोग लीलाओं से बचकर भी सूर के मुख से निकली हैं। उनका संकेत आलोचना में नहीं है। यह खटक जाता है। वात्सल्य के प्रसंग में शुक्लजी ने स्वभावोक्ति की मीमांसा करते-करते उसे अलंकारों के बाहर खदेड़ दिया। अन्य ग्रंथों में भी उन्होंने यही प्रसंग दिया है। मुझ पर भी पहले उनकी उक्ति

का बड़ा प्रभाव पड़ा था। पर प्राचीन आचार्यों का अधिक मनोयोग से अनुशीलन करने के पश्चात् मैं समझता हूँ कि शुक्लजी का तर्क सदोष है। इस छोटे से लेख में इस विषय की समीक्षा अप्रासंगिक होगी।

सूर पर शुक्लजी के उत्तम प्रबंध को पढ़ जाने पर यह प्रश्न अनायास सामने आ जाता है कि क्या बात है कि जिस कुशल समालोचक ने तुलसी और जायसी पर इतना सुंदर लंबा ग्रंथ लिख डाला वह सूर ऐसे महान् कवि पर केवल ७७ पृष्ठ का एक छोटा प्रबंध लिख कर संतोष कर ले। उन्होंने सूर की सब दिशाओं-वाली समालोचना नहीं की जैसी और कवियों की की है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि प्रगीत काव्य-पद्धति पर शुक्लजी का उतना अनुराग नहीं है। सूर केवल प्रगीत काव्य के कवि हैं। प्रबंधों की अनुकृति पद्धति से वे इतने प्रभावित हैं कि सच्चा काव्य वे उसी में देखते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा भी है—

"काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं। अनुकृत या प्रकृत और अतिरंजित या प्रगीत। कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय-समय पर जगती रहती है उसी से ऐसे रूप व्यापार हमारे सामने लाते बनेंगे जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं, और उसी भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती जिसको सामान्यत: सबका हृदय अपना सकता है।"

ऊपर का अवतरण यह स्पष्ट कर देता है कि शुक्लजी अनुकृत कलाकार को अर्थात् प्रबंध काव्य लेखक को गीत काव्य रचयिता से अधिक ऊँचा स्थान देते हैं। सूरदास गीत काव्य की ही सृष्टि अधिकतर करते रहे। अतएव उन्हें शुक्लजी की सहृदयता अधिक न मिल सकी।

प्रबंध काव्य में जीवन के अनेक रूपों की मार्मिक व्यंजना होती है, यह ठीक है। प्रबंध काव्यकार के ज्ञानविस्तार और अनुभूतियों में व्यापकता होनी चाहिए। इससे अधिक से अधिक यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि खूब घूमा फिरा है और उसने कोमल स्पंदनशील हृदय लेकर विश्व में फेरा डाला है। वह बहुश्रुत और बहुज्ञ है। ज्ञानेंद्रियों का मुँह खोलकर विश्व की प्रतिक्रियाओं को उसने पिया है। परंतु शुक्लजी का ध्यान इस ओर नहीं गया कि कवि की आयु प्रबंधकाव्यों से आरंभ होकर गीता में समाप्त होती है। यह आवश्यक नहीं कि सब कवि पहले प्रबंधकाव्य लिखें और फिर

गीत काव्य लिखें, परंतु गीतों में ही कवि होता है। स्वानुभूति का कोष गीतों में ही फूट निकलता है। अपना निजीपन, अपना संदेश, अपना भार वह गीतों ही के द्वारा उतारता है। गीतों के निश्छल उद्‌गार उसकी आत्मा के रूप होते हैं। हिंदी के श्रेष्ठ कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त को देखिये। प्रबंधों से उन्होंने आरंभ किया था परंतु 'साकेत' में और कहीं-कहीं 'यशोधरा' और 'द्वापर' में जहाँ पर भी उनका व्यक्तित्व भीतर से धक्का देने लगता है उनके गीतों की धारा बह निकलती है। कवि का खुला हुआ हृदय सामने आ जाता है। कवि कुछ कहता है, संदेश देता है, आपबीती सुनाता है, चाहे किसी के द्वारा। समस्त प्रबन्ध पटुता मारी-मारी घूमती है। किसकी ? उस महान् कवि की जो इस युग का श्रेष्ठ प्रबंध रचयिता है।

गीतों की रस गागरी छलकाने के लिए भी विश्व की अनेक रूपात्मक अनुभूति अपेक्षित है। जीवन के नाना मार्मिक पक्षों की जानकारी ही नहीं, उनकी चोट भी कवि के पास होनी चाहिए। समस्त वास्तविकता, विवरणात्मकता, विभावन व्यापार तथा साक्षात् और परोक्ष अनुभूतियाँ भी अत्यंत आवश्यक हैं। पर भाव जगत् में ये ऐसी घुल-मिल जायें कि कोई ताड़ न सके। अर्ध सजग, और असजग अवस्थाओं में यह समस्त मिश्रण व्यापार प्रत्येक ऊँचे कवि में हुआ करता है। उसका सजग रूप स्वयं उसे निहार नहीं पाता। नवनीत सामने रहता है, दूध और दही का आभास भी नहीं मिलता।

जब आत्मानुभूति का सच्चा उफान निज के साथ अभिन्न होकर गीत के मुक्तकों में बह निकलता है तो गीत काव्यकार प्रबंधरचयिताओं से श्रेष्ठ क्यों न ठहराया जाय, यह समझ में नहीं आता। कदाचित् अनुभूति-शून्य आकाश में बिना डोरे के उड़नेवाले गीतों को ही देखकर शुक्लजी ने यह भ्रांति की है।

शुक्लजी और गोस्वामी तुलसीदास

शुक्लजी की सबसे बड़ी ख्याति उनकी तुलसीदास विषयक आलोचना के कारण हुई। यह आलोचना अच्छी भी बन पड़ी है। शुक्लजी की इस आलोचना का विषय गोस्वामीजी का रामचरितमानस ही प्रधानतया रहा है। फिर भी गोस्वामीजी की कला को जितनी सजगता के साथ पं० रामचंद्र शुक्ल ने निहारा है उतनी सजगता से किसी और आलोचक ने नहीं देखा। जीवनवृत्त संबंधी समस्त ज्ञातव्य बातों को तार्किक ढंग से सजाया गया है। आविर्भाव काल की विशेषताएँ, गोस्वामीजी का जन्म, उनका कुल, उनके ग्रंथों की सूची, और बाह्य और आभ्यंतर साध्य पर उनका मूल्य निरूपण,

जीवन संबंधी नाना घटनाओं का उल्लेख, यह सब बहुत अच्छी प्रकार ऊहापोह के साथ दिया गया है। 'मंगलाशा।' में गोस्वामीजी की जीवन और विश्व संबंधी दार्शनिकता की भी मीमांसा है। आलोचक स्वयं रागात्मक शैली को छोड़ नहीं सका है। वह काव्य लिखने लगा है। यह नितांत सत्य है कि भगवान रामचंद्र को तुलसीदास ने समझा और समझाया और तुलसीदासजी को शुक्लजी ने खूब समझा और समझाया है। शुक्लजी ने इतनी व्यापक आलोचना में गोस्वामीजी की मानवेतर विभूतियों के संबंध में विस्तार के साथ नहीं कहा यह आश्चर्य की बात है। इनका वर्णन यों ही चलताऊ ढंग का है जिससे उनका कोई विशद ज्ञान नहीं होता। तुलसीदास के अलंकार प्रयोग के विषय में शुक्लजी कहते हैं कि वे बिंब ग्रहण कराने में बड़े पटु हैं। उनकी उक्तियाँ अतिशयोक्ति के कोरे लदाव से दबी नहीं रहतीं। अन्य रीतिकाल के कवियों के उदाहरण देकर उनकी हँसी उड़ाई है। पर गोस्वामीजी की ऐसी-ऐसी उक्तियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया—

"पलँग पीठ तजि गोद हिँडोरा।
सिय न दीन पग अवनि कठोरा॥"

क्या एक अत्यंत रुग्ण राजयक्ष्मा से पीली पड़ी हुई चलने में अशक्त रमणी का चित्र सामने नहीं आ जाता? बिंब ग्रहण में कौन-सा सौकर्य है। यह अतिशयोक्ति तो सादृश्य का पल्ला छुड़ा कर दूर-दूर भागने वाली है।

शुक्लजी की गोस्वामी जी संबंधी इस विशद आलोचना के कई विवरणों में एकंगेपन के कारण विचारांतर के लिए पूरा अवकाश है। आलोचना का समस्त बोझ इस विचार पर टिका हुआ है कि गोस्वामीजी ने लोकधर्म की प्रमुख रूप में प्रतिष्ठा की है। इस विचार को स्थापित करने के लिए शुक्लजी ने आलोचना खंड के आरंभ से समस्त प्रतिभा का व्यय किया है। युक्तियों में इतना बल है और शुक्लजी की शैली में इतना आकर्षण है कि बहाव के वेग में रुक कर उनके कथित सिद्धांत का मूल्य निरूपण करना बहुत ही जागरूक समीक्षक का काम है। वास्तव में जब से पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपनी आलोचना द्वारा गोस्वामीजी की कविता में लोकधर्म का दिग्दर्शन कराया तब से परवर्ती सारे आलोचकों का ध्यान उस ओर से हटता ही नहीं। लोकधर्म के गहरे रंग की ऐनक लगाने से उनका व्यक्तिगत साधुधर्म धूमिल दिखाई देने लगा है। परंतु यह न भूलना चाहिए कि उन्होंने समाजसुधार के लिए, लोकधर्म के नाम पर, जो कुछ भी किया वह गौण था। प्रधानता तो वैयक्तिक उन्नति की ही थी, नहीं तो मीरा को यह परामर्श न देते—

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।"

साधु धर्म में गुरु का स्थान सर्वोच्च है। स्थान-स्थान पर उन्होंने गुरु की प्रशंसा की है। यह भी नहीं कि पं० रामचंद्र शुक्ल के कथनानुसार उन्होंने अपने सब ग्रंथों का गणेश की ही वंदना से आरंभ किया हो। गुरु की वंदना से भी उनके ग्रंथों का आरंभ हुआ है। वे ब्राह्मण थे। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। उन्होंने ब्राह्मणवाद का पक्षपात किया है। प्राचीन रूढ़ियों की रक्षा के लिए प्रयत्न किया है। तीर्थ, व्रत, नियम, उपवास, माला, तिलक, गंगास्नान इत्यादि की ओर उन्होंने प्रवृत्ति पैदा की है। परंतु साधु धर्म का संमान उनके हृदय में बहुत बड़ा है। वैयक्तिक पवित्रता की समता में सारी रूढ़ियाँ उड़ जाती हैं। रामचंद्र शबरी के जूठे बेर खा लेते हैं और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ अछूत निषाद को गले लगाते हैं। इन उदाहरणों से लोकधर्म की पुष्टि में यह कह देना कि उनका किसी जाति से विरोध न था उतना सत्य नहीं जितना सत्य यह है कि वैयक्तिक पवित्रता की धारा में उनका लोकधर्म मारा-मारा फिरता है। गोस्वामीजी वहीं तक लोकधर्म के साथ थे जहाँ तक साधु धर्म से उसका विरोध न था। इधर-उधर के अवतरणों से जहाँ कहीं भी गोस्वामीजी साधु धर्म से उतरे हुए प्रतीत होते हैं उसका कारण यह नहीं है कि लोकधर्म की वेदी पर साधु धर्म की बलि दी गई है, वरन् उन स्थलों पर गोस्वामीजी ने रूढ़ियों की रक्षा करके मनमानी उच्छृंखलता को दबाया है। विभीषण भ्रातृद्रोह और देशद्रोह करके लोकधर्म का अच्छा उदाहरण उपस्थित नहीं करता। शत्रु से मिल कर सुग्रीव का भाई को मरवाना और उसकी स्त्री को ब्याह लेना लोकधर्म का अच्छा आदर्श नहीं। मंदोदरी पति को शत्रु रामचंद्र के समक्ष 'खल खद्योत दिवाकर जैसा' कहकर भारतीय ललनाओं के समक्ष लोकधर्म का कोई ऊँचा आदर्श उपस्थित नहीं करती। इन पात्रों का साधु पात्रों में परिगणन केवल साधुधर्म के बल पर किया गया है, लोकधर्म के बल पर नहीं।

यह ठीक है कि गोस्वामीजी को सृष्टि के दुष्ट स्वरूपों का वैसा ही सूक्ष्म परिज्ञान था जैसा कि साधु चरित्रों का और दुष्टों को सुधारने के लौकिक प्रयासों को कहीं-कहीं पर साधु प्रयोगों के आदर्शवाद के झमेले से वे अच्छा समझते हैं परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने उन लौकिक नियमों को आदर्श माना है। लोकधर्म के इस सीमा तक वे अनुयायी न थे। यह ठीक है कि सृष्टि के आदि से ही सब लोग एक से भले नहीं हुए। यह विकासवाद के भी प्रतिकूल है। सारा राष्ट्र एक गाल पर थप्पड़

खाकर दूसरा गाल नहीं फेर सकता, यह भी किसी हद तक ठीक है। परंतु इस कारण साधु सिद्धांतों के विकास के लिये समाज को न तैयार करना सर्वथा ठीक नहीं। साधु-प्रवर गोस्वामीजी ऐसा घोर अन्याय नहीं कर सकते थे। महात्मा गांधी यह समझ कर भी कि उनका अहिंसात्मक आंदोलन लोकधर्म के स्वरूप में गृहीत नहीं हो रहा था, उसमें हेर फेर करने को तैयार न थे। वरन् समस्त राष्ट्र को अपने साथ ले चलने का प्रयास करते थे। गोस्वामीजी यदि महात्मा थे तो वे दूसरी बात कर ही कैसे सकते थे ?

महात्मा तुलसीदास को इस भावना से खाली समझना उन्हें नीचा गिराने का प्रयास करना है। संसार की बुराई और भलाई दोनों का उन्हें ज्ञान था। दोनों को ही वे उस अखंड सत्ता की दो विभिन्न परिस्थितियाँ समझते हैं। इसीलिए उन्होंने उसी भक्ति से खलों और दुष्टों की वंदना की है जिस भक्ति से साधुओं और देवताओं की।

"सगुन छीर अवगुन जल ताता।
मिलइ रचइ परपंच विधाता॥"

और एक स्थल पर कहा है—

"जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंसगुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥"

इस विश्व में उन्नतिशील विकासप्रिय सज्जनों के लिए हंस संज्ञा है।

एक बड़े कवि के लिए अभिव्यक्ति की दोनों विभूतियों का ज्ञान अपेक्षित है। अन्यथा काव्य में वह वेग नहीं आ सकता। बुरे पात्रों के सहारे अच्छे पात्रों का उत्कर्ष बढ़ता है। बूट जितने ही काले होंगे गोरा पैर उतना ही चमकेगा। इस पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति से गोस्वामीजी के लोकधर्म से कोई संबंध नहीं। गोस्वामीजी ने साकार भगवान् की अभिव्यक्ति केवल इसीलिए की है कि लोग उनके भगवान् को जानें और उनके प्रति भक्ति करें। रामचरित चित्रण केवल इसी प्रकार से सुंदर हो सकता है जिस प्रकार से गोस्वामीजी ने किया है। यदि मानस में लोकधर्म के दर्शन होते हैं तो उसका श्रेय उनके उपास्य देव को है, वाल्मीकिजी को है, प्रसन्नराघवकार को है, और अनेक पूर्ववर्ती रामचरित लेखकों को है। उनकी यदि कोई निजी विशेषता है तो वह उनका साधु धर्म है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पं० रामचंद्र शुक्ल ने गोस्वामीजी की आलोचना में उन्हें लोकधर्म प्रचारक की ऐसी मोटी और आलोकमयी वर्दी पहना दी है कि दूसरे आलोचकों के नेत्र सबसे पहिले उसी से चकाचौंध हो जाते हैं। जितने ग्रंथ बाद में

निकले सभी में इसी सिद्धांत को अक्षुण्ण मानकर इसी के आस-पास फेरी लगाई गई है। यह मनोभाव सत्समालोचना के प्रतिकूल है। विज्ञ लेखक श्रीयुत शुक्लजी की आलोचना को यदि सावधानी से कई बार पढ़ा जाय तो अनेक ऐसे स्थान मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने लोकधर्म को आवश्यकता से अधिक ढूँढ़ा है। उसकी अतिरंजना की है। अपने ज्ञान की प्रतिच्छाया को गोस्वामीजी के काव्य कानन में स्थान दिया है। रामायण में अवश्य लिखा है कि—

"पूजिय विप्र ज्ञान गुन हीना।
शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना॥"

इन पंक्तियों को लोकधर्म की व्याख्या के उदाहरण के रूप में पेश करके गोस्वामीजी की रूढ़ि आसक्ति को छिपाने के प्रयास से यह कहीं अच्छा है कि यह स्वीकार कर लिया जाय कि यह उक्ति उनके अंतस्तल को खोलकर सीधी सामने यह बात रख देती है कि ब्राह्मणों के जन्मजात बड़प्पन और शूद्रों की जन्मजात हेयता का उन्हें विश्वास था। इसका कारण यह कदापि नहीं कि उनका पक्षपात किसी वर्ग-विशेष के साथ था। उन्होंने तो चलन की एक परिपाटी सामने रखी थी। वह इस विषमता को ईश्वर की आवश्यक देन समझते थे। लोकधर्म की प्रतिष्ठा में तो बलवती सामाजिक व्यवस्था काम किया करती है। पर समाज के दो वर्गों के प्रति व्यापार की यह विषमता किसी भी सामाजिक व्यवस्था का उतना अनुगमन नहीं है जितना दैवी विधि निषेध का एक भक्त का समझा और परखा हुआ आध्यात्मिक आदेश है। वह भगवान की संसार के लिए दी हुई आज्ञा को मानना सब कुछ समझता है। अतएव इन पंक्तियों में भक्त गोस्वामीजी के निश्छल उद्‌गार हैं जिसमें ईश्वरीयता का स्वीकार है। लोकधर्म का विचार कदापि प्रधान नहीं है।

अभिव्यंजना कौशल की ओर ध्यान दीजिए तो अकेले एक बात गोस्वामी जी को बहुत ऊँचा उठा देती है। गोस्वामीजी की किसी वृत्ति में रसात्मकता का तूफान नहीं है। विश्व के सभी बड़े से बड़े काव्यों में यही बात है। गोस्वामीजी की गहरी से गहरी भावना में विस्फोट का झकझोर नहीं है। परंतु यह बात नहीं है कि वे रुला या हँसा न सकें। ऊँची कला का चिह्न ऊँची गतिविधि है। ऊँचे विषय का चिह्न है व्यापक सहृदयता।

कवि के लिए हकलाना उतना ही बड़ा दोष है जितना वक्ता के लिए। काव्य निर्माण में काव्यगत परिस्थितियों को समय-समय पर छोड़ देना और उनकी अभिव्यक्ति न करना जानबूझ कर काव्य को दुरूह बनाना है। एक सुंदर रंगीन तितली का

सौंदर्य जब तक हम गुलाब के लाल फूल के आसन पर अनुभव करते हैं तब तक वह उछल कर घास की पतली सींक पर झूलने लगती है। यहाँ भी उसके स्वरूप का पूर्ण निरीक्षण नहीं हो पाता कि वायु में गोते खाती हुई नीम की ऊँची चोटी पर जा बैठती है। यह वृत्त काव्य में अच्छी नहीं। इधर की हिंदी कविता का यह बड़ा भारी दोष है। गोस्वामी तुलसीदासजी इस चंचलता से कोसों दूर हैं। सौंदर्य के गत्यात्मक निर्माण के लिए भी बिना लगाम की कल्पना व्यर्थ है।

गोस्वामीजी का सब से बड़ा गुण उनके जीवन की निष्कपटता और उक्ति की निश्छलता है। अपने विषय में वे लिखते हैं।—

"जे जनमें कलिकाल कराला।
करतब बायस वेष मराला॥
चलहिं कुपंथ वेद मग छाड़े।
कपट कलेवर कलिमल भाड़े॥
वंचक भगत कहाइ राम के।
किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी।
धिग धर्मध्वज धंधक घोरी॥"

यह बंचक उक्ति नहीं है और न इसमें अतिरंजना ही है। इसमें उनका निजी स्वीकार है। पाप के स्वीकार का यह भाव विरलों में दिखाई देता है। गोस्वामीजी की इन पंक्तियों के समक्ष उनकी लोकधर्म और साधुधर्म की सारी उक्तियाँ न्योछावर हैं। इससे पतितों को बड़ा सहारा मिलता है। गोस्वामीजी की इस विशेषता के समक्ष उनकी रूढ़िगत उक्तियाँ, परंपरा के विधि-निषेध, अनुदार मतमतांतर, संस्कृत उतरन का बेधड़क प्रयोग, उपमाओं और रूपकों की अमौलिकता, देवत्वप्रतिष्ठा का स्थान-स्थान पर प्रयास, भावों की आवृत्ति इत्यादि इत्यादि सब अवगुण कुछ नहीं रह जाते।